Peer Reviewed Journal

ISSN2454-2725

सयुंक्त अंक

अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका

जनकृति

अक्टूबर –दिसंबर 2021

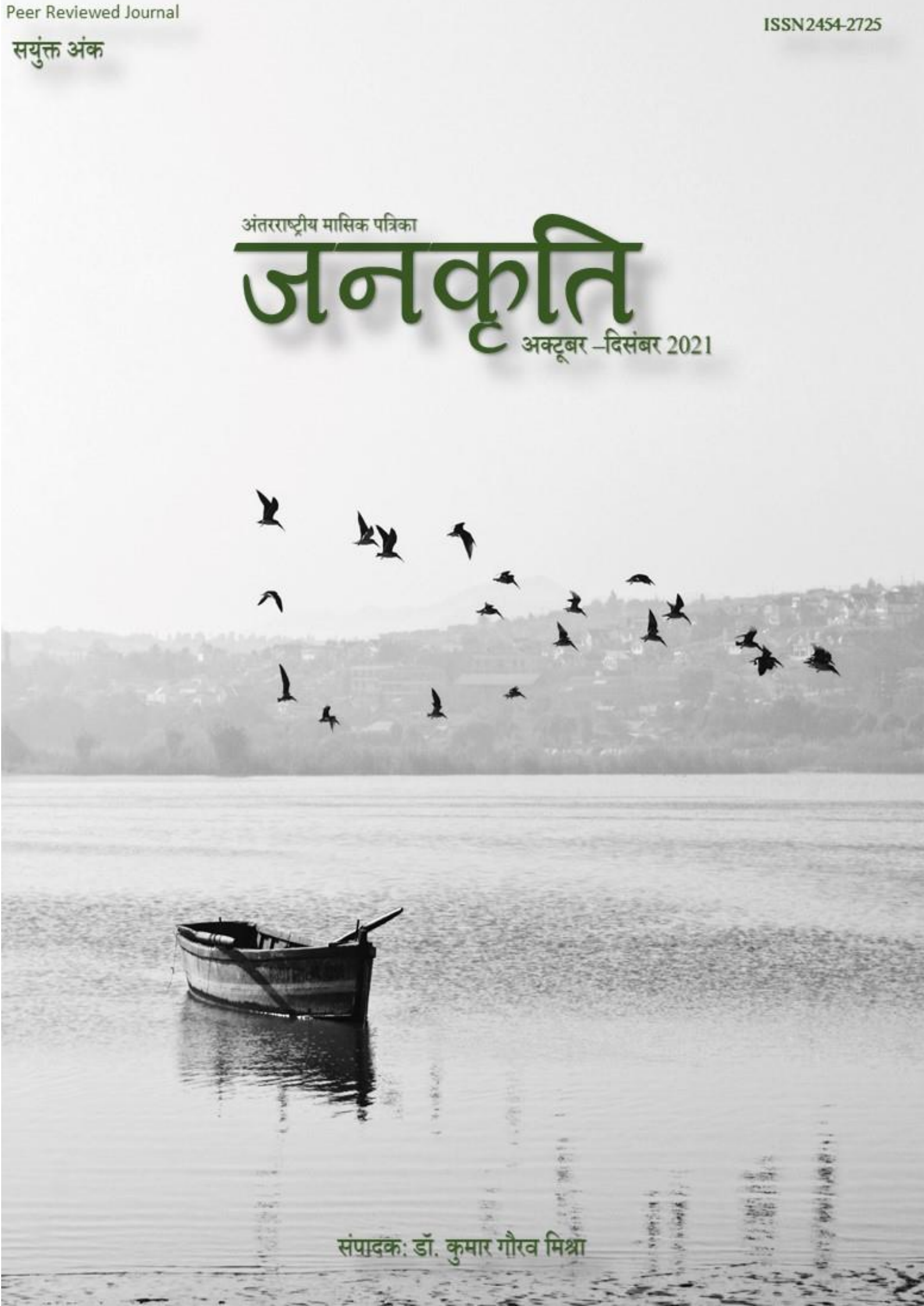

संपादक: डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

Volume 7, Issue 78-80, October-December 2021
(Peer-Reviewed / Refreed)

ISSN: 2454-2725
(विशेषज्ञ समीक्षित)

जनकृति

अक्टूबर-दिसंबर 2021 (सयुंक्त अंक)

प्रकाशक
जनकृति संस्था
संपादकीय कार्यालय
फ्लैट जी-2, बागेश्वरी अपार्टमेंट,
आर्यापुरी, रातू रोड़, रांची, 834001, झारखंड, भारत
ईमेल: jankritipatrika@gmail.com
वेबसाईट: www.jankriti.com
संपर्क: 8805408656

इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए प्रकाशक से अनुमति आवश्यक है।

वर्ष 7, अंक 78-80, अक्टूबर-दिसंबर 2021 (सयुंक्त अंक) ISSN: 2454-2725

जनकृति

परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा (अमेरिका), प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय (मुंबई), प्रो. रमा (दिल्ली)
डॉ. हरीश नवल (दिल्ली), डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली), डॉ. प्रेम जन्मेजय (दिल्ली),
डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा (दिल्ली), प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (उज्जैन), प्रो. कपिल कुमार (दिल्ली), प्रो. जितेंद्र श्रीवास्तव (दिल्ली),
प्रो. रत्नेश विश्वक्सेन (झारखंड)

संपादक

डॉ. कुमार गौरव मिश्रा
(सहायक प्रोफ़ेसर, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

सहायक संपादक

डॉ. पुनीत बिसारिया
(एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश)

संपादन मण्डल/विशेषज्ञ समिति

डॉ. सदानन्द काशीनाथ भोसले
(प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ , महाराष्ट्र)
डॉ. दीपेन्द्र सिंह जाड़ेजा
(प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महाराजा सयाजीराव बड़ौदा विश्वविद्यालय, वड़ोदरा)
डॉ. नाम देव (प्रोफ़ेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. प्रज्ञा (प्रोफ़ेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रचना सिंह (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रूपा सिंह (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, बाबु शोभा राम गोवेरमेंट आर्ट कॉलेज, राजस्थान)
डॉ. पल्लवी (सहायक प्रोफ़ेसर, तेजपूर विश्वविद्यालय, असम)
डॉ. मोहसिन खान (एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जेएसएम कॉलेज, रायगढ़, महाराष्ट्र)
डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा (सहायक प्रोफ़ेसर, मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम)
डॉ. प्रवीण कुमार (सहायक प्रोफ़ेसर, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश)
डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी (सहायक प्रोफ़ेसर, जेआरएन राजस्थान विद्यापीठ, राजस्थान)
डॉ. अंबिकेश त्रिपाठी (सहायक प्रोफ़ेसर, गांधी एवं शांति विभाग, महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
डॉ. ज्ञान प्रकाश (सहायक प्रोफ़ेसर, बिहार)

संपादन सहयोग

श्री चन्दन कुमार (शोधार्थी, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा)
राकेश कुमार (शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संस्थापक सदस्य

कविता सिंह चौहान (मुंबई)
डॉ. जैनेन्द्र कुमार (बिहार)

अंतरराष्ट्रीय सदस्य

प्रो. अरुण प्रकाश मिश्रा (स्लोवेनिया), डॉ. इंदु चंद्रा (फ़िजी), डॉ. सोनिया तनेजा (स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी), डॉ. अनिता कपूर (अमेरिका)
राकेश माथुर (लंदन), रिद्मा (श्री लंका), मीना चोपड़ा (कैनेडा), पूजा अनिल (स्पेन)

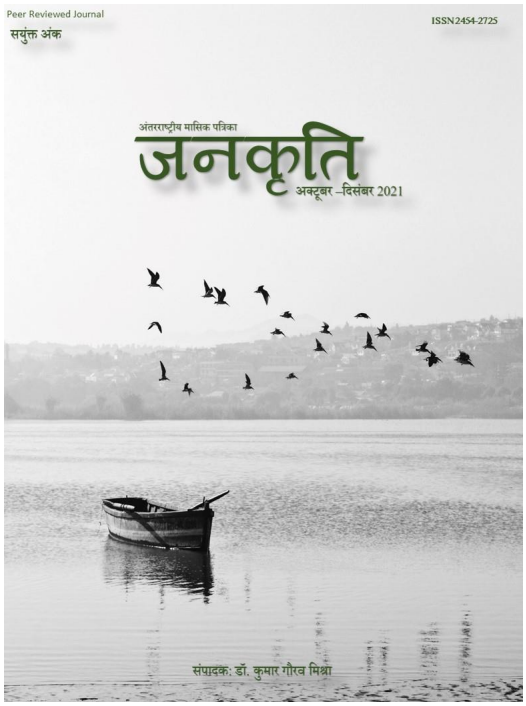

आप सभी पाठकों के समक्ष जनकृति का अक्टूबर-दिसंबर सयुंक्त अंक प्रस्तुत है। इस अंक में आप साहित्य, कला, पत्रकारिता, इतिहास, राजनीति इत्यादि क्षेत्रों के महत्वपूर्ण विषयों पर आधारित शोध आलेख, लेख पढ़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त अंक में आप साहित्यिक रचनाएँ भी पढ़ सकते हैं।

जनकृति एक बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका है। यह पूर्ण रूप से विमर्श केन्द्रित पत्रिका है, जहां आप विभिन्न अनुशासन के नवीन विषयों को एकसाथ पढ़ सकते हैं। पत्रिका में एक ओर जहां साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएँ प्रकाशित की जाती है वहीं नवीन विषयों पर लेख, शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। अकादमिक क्षेत्र में शोध की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। शोध आलेखों का चयन विभिन्न क्षेत्रों के विषय विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है, जो विषय की नवीनता, मौलिकता, तथ्य इत्यादि के आधार पर चयन करते हैं। जनकृति के माध्यम से हम सृजनात्मक, वैचारिक वातावरण के निर्माण हेतु प्रतिबद्ध है।

-डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

अनुक्रम

संपादकीय 4

कला-विमर्श

सज्जलक से शर्विलक : गौण पात्र से प्रधान नायक तक / मोदी राकेश नारायणदास 8

मानव-मन की आकांक्षाओं के दमन को चित्रित करता नाटक 'अंजो दीदी'/ सिमरन 18

दलित एवं आदिवासी-विमर्श

स्त्री पर पारिवारिक हिंसा का दंश और दलित आत्मकथाएँ / डॉ. रितु अहलावत 24

गाड़िया लोहार(प्रतिज्ञा और वचन से बंधी एक जनजाति)का अवलोकन / रमाकांत 33

जयपाल सिंह मुंडा एक आदिवासी नायक / मोहन 39

स्त्री-विमर्श

मुकुट बिहारी वर्मा' कृत 'स्त्री समस्या': एक अध्ययन / मिन्नु जोसेफ 45

जनजातीय स्त्री के सशक्तीकरण की प्रतिष्ठा करता अनुज लुगुन का काव्य संग्रह 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी'/ डॉ. कुमारी उर्वशी 49

' माई ' : स्त्री संवेदना का ज्वलंत दस्तावेज़/ आतिरा कृष्णन 57

'आदर्श संबंधों की चाह में तनावग्रस्त नारी : आप न बदलेंगे'/ डॉ. सोमाभाई जी. पटेल 62

कहानीकार यशपाल का नारीवादी दृष्टिकोण/ डॉ. आशा कुमारी 68

किन्नर-विमर्श

सभ्य समाज की जरूरत है किन्नर विमर्श / नेहा झा 72

हिंदी कहानियों में किन्नर समाज / डॉ. शिराजोद्दीन 79

अल्पसंख्यक-विमर्श

मुस्लिम औरतों की सच्ची अक्कासी 'सूखी रेत' गुड़िया का घर' में / डॉ. बेनजीर 86

मीडिया-विमर्श

ब्रिटिश राज में हिन्दी पत्रकारिता/ डॉ. विवेक कुमार जायसवाल 93

हिंदी पत्रकारिता का धर्म : अतीत, वर्तमान और भविष्य / डॉ. अजीत कुमार पुरी 105

न्यू मीड़िया एवं संस्कृति/ माधवी 112

भाषिक-विमर्श

लेख- पूर्वोत्तर भारत का भाषिक परिदृश्य और हिंदी का भविष्य / वीरेन्द्र परमार 118

हिंदी-उर्दू विवाद की प्रमुख बहसें / कुलदीप सिंह 125

शिक्षा-विमर्श

Women Education in Ancient India: A Rethinking/ Runismita Pritipuspa 134

ग्रामीण ओडिशा में लड़कियों की शिक्षा: समस्याएं और आगे का रास्ता / कल्याणी प्रधान 138

समसामयिक चिंतन

Transgenics in Atwood's Oryx and Crake / Priyanka 145

दर्शन

गांधी जी के योगदर्शन की आधुनिक प्रासंगिकता / पवन चन्द्र 151

धर्म एवं संस्कृति

दत्तोपंत ठेंगड़ी का धर्म सम्बन्धी विचार / सुमीत कुमार गुप्ता 158

राजनीतिक विज्ञान

वैदिक वाङ्मय में निहित प्रजातांत्रिक सिद्धान्त / डॉ. शम्भु कुमार झा 163

बौद्ध संघ के विकास यात्रा में राजव्यवस्था / जगन्नाथ कुमार यादव 169

साहित्यिक-विमर्श

मध्यकालीन महाजनी सभ्यता में पीड़ित गरीब किसान और सूरदास / अनिल कुमार 175

'काल खड़ा सिर ऊपरे': आज के संदर्भ में कबीर / डॉ. बिमलेंदु तीर्थंकर 179

हिन्दी साहित्येतिहास की समस्याएँ/ प्रवीन वर्मा 184

मुक्तिबोध द्वारा विकसित कला का समाजशात्र/ डॉ. सुधांशु भूषण नाथ तिवारी 189

विद्यानिवास मिश्र के मूल्य-बोध का समकालीन संदर्भ: (तुम चंदन हम पानी के विशेष संदर्भ में)/ रोशन कुमार प्रसाद 200

वादों के दायरे और कुंवर नारायण/ डॉ. अनंत विजय पालीवाल 208

वर्तमान बेरोजगारी का नया कलेवर और अन्वेषण उपन्यास की प्रासंगिकता/ पूजा मदान, प्रो. आलोक गुप्त 215

मन के किमियागार रचनाकार दोस्तोवस्की और मुक्तिबोध/ डॉ. भारती शुक्ला 219

मध्यम वर्गीय परिवार में बचपन (विशेष सन्दर्भ प्रेमचंद की कहानियां)/ अभिषेक रंजन 231

'आँच की जाँच' के मायने/ मनीषा 236

जैनेन्द्र की कहानियों में स्त्री, 'जान्ह्वी' के विशेष सन्दर्भ में/ कुमकुम पाण्डेय 241

छायावादी कविताओं में मातृभूमि का चित्रण / डॉ. जाहिदुल दीवान 245

'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए': पूर्वी बंगाल की दास्तान'/ डॉ. प्रियंका 253

आधुनिक जीवन की झलक में 'चक्रव्यूह'/ अखिला आर 261

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का महत्व/ मुकेश कुमार 267

THE FIRE OF SONAKHAN "SONAKHAN KE AAGI" - AN EPIC HEROIC CHHATTISGARHI VERSIFICATION OF BRAVEHEART VEERNARANYAN SINGH BY LAXMAN MASTURIYA/ Dr Vineeta Diwan, Mr Arun Jaiswal 273

 ISSN: 2454-2725

लेख

कोविड़ 19 के परिप्रेक्ष्य में साहित्य और समाज/ डॉ.श्रीलता विष्णु 287

प्रेम का अजब त्रिकोण 'अमृता, साहिर और इमरोज'/ डॉ. हरीश नवल 291

साहित्यिक रचनाएँ

कविता

मोतीलाल दास 294

कहानी

स्पर्श/ पारुल 296

पुस्तक समीक्षा

मध्यकालीन काव्य की नूतन मीमांसा / प्रियंका मिश्रा 298

समीक्ष्य पुस्तक - वज्रपात (कहानी), समीक्षा आलेख - ग्राम और कस्बे के फलक/ सुषमा मुनीन्द्र 302

अलग-अलग भंगिमाओं को समेटता कहानी संग्रह 'गँड़ासा गुरु की शपथ'/ डॉ.मधुलिका बेन पटेल 304

सज्जलक से शर्विलक : गौण पात्र से प्रधान नायक तक

मोदी राकेश नारायणदास
एसो.प्रोफ. नाट्य विभाग
फेकल्टी ऑफ़ परफोर्मिंग आर्ट्स
ध महाराजा सयाजीराव विश्व विद्यालय, बडौदा.
वड़ोदरा ३९० ००१
मोबा. ९८२४ ५८५ ५५०
इमेल: modi.rn-dramatics@msubaroda.ac.in

सारांश:

संस्कृत नाटको में विविध प्रकार के 'रूपक' प्राप्त है। किंतु 'प्रकरण' नामक रूपक अल्प संख्या में है। इसापूर्व में महाकवि भास रचित 'दरिद्रचारुदत्तम' जिसमे समाज के सारे वर्गों का प्रतिनिधित्व नजर आता है। मध्ययुग में इस कृति पर आधारित शूद्रक रचित् 'मृच्छकटिकम' नामक कृति प्राप्त होती है। और इन्ही दोनों कृतियो के आधार पर सन१९५७ में गुजरात के नाट्यकार परीख रसिकलाल नया सर्जन 'शर्विलक' नाम से करते है।

संस्कृत और आधुनिक नाटको के संदर्भ में शायद यह तीन कृतियाँ एसी है जिसका कथानक और चरित्र परिवर्तन के साथ साथ साम्प्रत समाज का प्रतिबिम्ब भी दर्शाती है। वृत के साथ कुछ एक चरित्रभी एसे है जो परिवर्तित होती कृति के साथ उसके लक्षणों के कारण विस्तृत भी हुए है। वैसा ही एक तेजस्वी चरित्र है 'सज्जलक',जो भास की कृति में 'स्वहित' के लिए 'चोरकर्म' करता है। 'मृच्छकटिकम' में शूद्रक उसे उपकथा (क्रांति कथा) का उप-नायक बनाते है, तो श्री परीख उसे 'शर्विलक' नाटक में प्रधान नायक के रूप में प्रस्तुत करते है। जहां 'क्रांति कथा' मुख्य हो जाती है और 'प्रेम कथा' गौण बनती है।

शोध का आशय यही है की तीनों रचनाकारो ने इस चरित्र में कोनसे लक्षण पायें जिससे 'चोरकर्म (सज्जलक) से क्रांतिकारी(शर्विलक)' बनाया।

बीज शब्द: *सज्जलक, चोरकर्म, मदनिका, राजक्रांति, आर्यक, क्षात्रतेज, शर्विलक, लोकहित*

शोध आलेख:

भूमिकार्थआयोजित पात्रा : II [१]

संस्कृत नाटकों में नायकों का हमेशा से ही विशेष महत्व रहा है। यहाँ तक कि संस्कृत नाटककारोंने भी रूपकों में नायक के गुणों पर हमेशा जोर दिया है, और नायक के प्रकारों के बारे में भी अच्छी चर्चा की है। रूपकों के वर्गीकरण में 'नेता, वस्तु और रस' को भी विशेष महत्व दिया जाता है।

नाटककारोंने भी चरित्र-नियोजनके महत्वको स्वीकार किया है। उनका प्रधान उद्देश्य चरित्रको अपने दृष्टिकोण, संस्कृति, वातावरण की मदद से पोषित करना है। चरित्र वह है जो *"रुचि, अरुचि प्रदर्शित करके एक नैतिक उद्देश्य को प्रदर्शित करता है,"* [२] चरित्र नाटककारका आधार है और उसके माध्यम से वह अपना संदेश देता है। एक नाटककार जो पात्रों के चरित्रको यथासंभव स्पष्ट रूप से चित्रित कर सकता है उसे एक सफल नाटककार माना जाता है। जैसे महाकवि भास, शूद्रक और आधुनिक नाटककार श्री. रसिक्लाल छोटालाल परीख...आदि.

नाटक-निर्देशक भी अभिनेता के माध्यमसे संबंधित 'आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य' प्रदर्शन के माध्यम से नाटक प्रदर्शित करता है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र के चौबीसवें अध्यायमें, यह दर्शाया गया है कि सामान्य अभिनयके लिए अनुकूल हावभावको कैसे अपनाया जाए। यह बताता है कि *"प्रत्येक चरित्र का मनोरंजन उसके अपने चरित्र और व्यवहार से होता है।"* [३]

'चरित्र' किसी भी कथानक में विशेष रूप से सहाय कारक होता है। जिस तरह ईंटें किसी भी वास्तुकला के निर्माण में मदद करती हैं, उसी तरह पात्र, सीमेंट हैं जो इन ईंटों को बांधते हैं। नाटककार नाटक में चरित्र-चित्रण के माध्यमसे अपने विचारों में निहित सिद्धांतों को प्रकट करता है। पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर जीवन के संघर्षों को प्रस्तुत करता है।

एसे ही उत्कृष्ट पात्रों के निर्माता हैं, महाकवि भास । उनका चरित्र-विश्व बहुत व्यापक और विविध है। पात्रों का भातीगल चित्रण उनकी रचनाओंमें देखा जा सकता है। उन्होंने अपने तेरह नाटकोंमें लगभग दोसौ तीस पात्रोंकी रचना की है। जैसे, राम, कृष्ण, रावण, घटोत्कच, कर्ण, भरत, वसंतसेना, चारुदत्त... जैसे उच्च वर्ग के पात्र और सज्जलक, विट, चेट, गणिका... जैसे निम्न वर्ग के पात्र देखे जाते हैं। उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों से पात्रों का चयन करके समाजकी पूरी तस्वीर खींचनेकी कोशिश की है। केवल इतना ही नहीं बल्कि कई पात्रोंको मनोवैज्ञानिक रूप से चित्रित किया गया है।

भास रचित 'दरिद्र चारूदतम्' की रचनामें एक चतुर, उज्ज्वल, प्रतिभाशाली और रंगीन चरित्र है, जिसका नाम है 'सज्जलक' । इस रूपक में उनका स्थान 'गौण पात्र' जैसा है, वे थोड़े समय के लिए ही प्रकट होता हैं, फिर भी उनका व्यक्तित्व एक अनूठा आकर्षण पैदा करता है। कवि ने उसके व्यक्तित्व को कलात्मक रूप में विकसित किया है। अन्य पात्रों की तुलना में, यह चरित्र काल्पनिक दुनिया से नहीं है। यहां तक कि दर्शक भी इस चरित्र के साथ आत्मीयता और अपनापन महसूस करते हैं। कवि शूद्रकने 'दरिद्रचारूदतम्' का विस्तार किया और 'मृच्छटकटिकम्' की रचना की, जिसमें यही 'सज्जलक' को 'शर्विलक' में रूपांतरित किया और उसे 'राजक्रांति' की उपकथा का नायक बनाया है! तो, गुजरात के मूर्धन्य नाटककार श्री. रसिक्लाल छोटालाल परीख भी 'शर्विलक' के चुंबकीय आकर्षण से अछूते नहीं हैं !! वह भी शर्विलक को प्रधान नायक के रूप में पेश करते है और हमें सामने एक नया कलेवर नया सर्जन लाते है। अब सवाल यह उठता है कि इस चरित्र के व्यक्तित्वमें किस तरहका चुंबकीय आकर्षण है जो गौण चरित्र से उपकथा का नायक और प्रधान नायक तक विस्तारित हुआ है। और आज भी रचनाकारों सहित हमारे भीतर अंतरंगता की भावना को प्रकट करता है।

'दरिद्रचारूदतम्' का 'सज्जलक' युवा और साहसी है। वह जन्म से ब्राह्मण है (वह अन्य दो कृतिओ में भी ब्राह्मण है) लेकिन यहाँ वह अपनी शक्तियोंका ठीकसे उपयोग नहीं होता । अपने नाम को सार्थक बनाने के लिए वह एक निंदनीय कृत्य यानि 'चोरकर्म' करते नजर आता हैं। हां, वह अपने व्यवसाय में कुशल है। जो उनके कथन से पता चलता है-

'माजार्र प्लवने वृकोऽपसरणे श्येनोगृहालोकने
निद्रा सुप्तमनुष्यवीर्यतुलने संसपणे पन्नग :
मायावर्णशरीरभेद करणे वाग् देशभाषान्तरे

दीपो रात्रिषु संकटे च तिमिरं वायु: स्थले नौजॅले II चारु. ३/११ [४]

उछलने में बिल्ली के समान,तेज भागने में भेड़िया जैसा, घर की वस्तुओं को देखने में बाज पक्षी-सा, सोते हुए मनुष्य की शक्ति की तुलना में नींद सा, सरकने में साँप जैसा, स्थूल शारीर में माया के समान, विभिन्न भाषाओं का अंतर करने में सरस्वती के समान, रात्रि में दीपक-सा संकटो में अंधार जैसा, स्थल पर वायु समान और जल में नाव के समान बन जाता है।

चोरी के व्यवसाय में, वह उचित उपकरण और छेद बनाने के तरीके, उसके प्रकार, सेंघ कहाँ लगाना है, किस आकार में सेंघ करना है, आदि की कला में पारंगत है। इसी के साथ *'नन्विदं दिवा ब्रह्मसूत्रं रात्रो कर्मसूत्रं भविष्यति'* [५] दिन में उसके लिए जो ब्रह्मसूत्र होता है वह रात में कर्मसूत्र बन जाता है। सज्जलक यह सब सिर्फ निर्वाह के लिए नहीं करता। इस प्रकार के कार्य के मूल में मदनिका के प्रति गहरा लगाव है। जो वसंतसेना की 'गुलामी' में बंधी हुइ है और उसे मुक्त कराने के अर्थ में साहसी बन गया है। इसलिए वे कहता हैं, *'किं वा न कारयति मन्मथ :'* [६] कामदेव मनुष्य के पास क्या नहीं करा लेता? ('सज्जलक' के मुख से मानवजीवन का दर्शन रूप यह कथन, दे कर कवि ने सार्थक सन्देश दिया है) चौर्यकर्म करने से पहले वह प्रभु पार्थना करता है, जो उसकी धार्मिक आस्था को व्यक्त करता है, तो अपने इस निंदनीय कार्य से लोक दोष भी देंगे और उसकी सराहना भी करेंगे इस द्विधामय स्थितिका भी अनुभव करता है।

कर्म से चोर होते हुए भी 'सज्जलक' दयालु वृति का हैं। चारुदत्त के घर की दरिद्रता देखकर वह चोरी न करने और खाली हाथ लौटने की सोचता है। तो वहां, स्वप्नमें बडबडानेवाला विदूषक जब उसे 'ब्राह्मणवाद' का शाप देता है और 'स्वर्णालंकार' लेने के लिए कहता है, तो तार्किक रूप से सोच कर 'स्वर्णालंकार' ले भी लेता है। इस प्रकार मानसिक और वास्तविक स्थिति में झूलते चरित्र का चरित्र प्रकट होता है।

सज्जलक, 'प्यार और युद्ध में सब कुछ सही है' कहावत को सही ठहराता है, मदनिका का स्नेह प्राप्त करने हेतू चोरी के आभूषणों लेकर वसंतसेना के भवन में जाता है और मदनिका से मिलता है। मदनिका उसकी पूरी कहानी सुनने के बाद कहती है की, ये सारे अलंकार 'वसंतसेना' के हैं, तब वह दूखी: होकर कहता है कि- "*अज्ञानाद या मया पूर्व शाखा पत्रे पत्रैर्वियोजिता। छायार्थी ग्रीष्मसन्तप्तस्तामेव पुनराश्रित'* ॥[४.५] *'अज्ञानतावश जो शाखा मैंने पहले पत्तों से अलग की थी पुन : गर्मी से पीड़ित होकर मै छाया की कामना से उसी के पास आया हुँ'*।[७] इस प्रकार वह अच्छे बुरे का विवेक भी जानता है। भावीपत्नी की आज्ञा का सम्मान करता है। मदनिका के निर्देशों के बाद, सज्जलकने वसंतसेना को 'स्वर्णालंकार' सौंपते हुए कहा कि उसे चारुदत्त ने भेजा है। वसंतसेना भी उदार भावों से अलंकारो का स्वीकार करती है, और बदले में वह 'मदनिका' को उन्हीं अलंकारो से सजाकर 'वधू' बनाकर बिदाई देती है। तब सज्जलक मन में सोचता है कि *'वसंतसेना के उपकारका बदला कब चूकाऊँगा?'*। [८] और कृतज्ञता भाव से स्वगत कहता हैं- *'शांतम पापम शांतम पापम'*।[९]

महाकवि भास का यह एक गौणपात्र है लेकिन चरित्र तेजस्वी है और यह उनकी चरित्र-चित्रण कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण भी है। जिसने धूर्त और प्रेमी का रूप धारण कर लिया है। यहाँ ऊपर वर्णित उनके कर्म और भावों में,मानव सहज प्रवृत्ति हैं और एक छाप हमारे मन पर अंकित होती है। कवि ने यहाँ उसके चोरकर्म के पीछे एक ठोस मनोवैज्ञानिक

आधार दिया है और वह है 'मदनिका' की प्राप्ति। एसा नटखट और प्रभावशाली व्यक्तित्व को स्वार्थ के लिए काम करते हुए यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार 'दरिद्रचारूदतम्' में हमें 'सज्जलक' के शानदार व्यक्तित्व का उपरी पहलू मिलता है।

इसी रूपक से आकर्षित होकर मध्यकालीन युग के कवि शूद्रक ने 'मृच्छटकटिकम्' की रचना की। कवि इसमें 'राजक्रांति' की गौण कथा को प्रधानकथा (प्रेमकथा) से जोड़ते है। नाट्यशास्त्र में इसे 'प्रकरी' के कहते है। प्रस्तुत कृति में कवि अनेक नये पात्रों की रचना करता है। यहाँ तक की 'सज्जलक' का नाम बदलकर 'शर्विलक' किया और इस चरित्र का विस्तार भी किया। प्रेम कथा में राजक्रांति (राजा पालक की हत्या और आर्यक की राज्य प्राप्ति) की गौणकथा को जोड़ दिया। सबप्लॉट की धुरी 'शर्विलक' के हाथ में दे दी। 'शर्विलक' प्रधान कहानी और गौण कहानी के बीच की कड़ी है। 'दरिद्रचारूदतम्' में 'सज्जलक', जो 'स्व-हित' के लिए कार्य करता है, वह 'मृच्छटकटिकम्' में 'शर्विलक', 'जन-हित' के लिए कार्य करता है।

'मृच्छटकटिकम्' में कवि ने शर्विलक की कहानी को 'मदनिका प्राप्ति' तक अनुसरण करने की प्रयत्न कीया है। पत्नी के रूप में 'मदनिका' की प्राप्ति के बाद, पर्दे के पीछेसे एक उद्घोषणा सुनाई देती है की, *'...जो-जो भी जहाँ हों, वे सब सुन लें । सिद्धों की भविष्यवाणी जानकर कि 'ग्वालेपुत्र आर्यक राजा होगा' राजा पालक ने उसे घर से लाकर कारगर में डाल दिया है...* ।'[१०] यहाँ से क्रांति के लिए सज्ज होकर 'शर्विलक' नए लक्षणों के साथ प्रकट होता है। वह तुरंत अपनी नवविवाहिता पत्नी मदनिका को अपने मित्र रेभिल के वहां पहुचाने की व्यवस्था करता है, और वह अपने दोस्त आर्यक को मुक्त करने के लिए निकल पड़ता है।

यहाँ भी वह गरीब है लेकिन एक एसे पिता का पुत्र है जो चारों वेदों का जानकार और व्रतों का पालन करने वाला है। जो उनके चरित्र को एक ठोस पृष्ठभूमि प्रदान करता है। उसने चोरी के शास्त्र में व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त की है। चारूदत्त के भवन में चोरी से पहले चोरीके कार्य में विशिष्ट एसे विशेषज्ञों के नाम लेता हैं। जिसमें 'कार्तिकेय' चोरों के इष्टदेव है। 'देवव्रत, कनक्षक्ति, भास्करनंदी और योगाचार्य' जैसे गुरुओं को नमस्कार करता है। वह 'योगाचार्य' को अपना गुरु मानता हैं। यहाँ यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शिक्षित है, जबकि 'दरिद्रचारूदतम्' में वह अस्पष्ट प्रतीत होता है।

शर्विलक (सज्जलक की तरह) कुछ नीति-नियमों का पालन करता है। ऊपर वर्णित 'दरिद्र चारूदतम्' के श्लोक ९/११ के गुण यहाँ प्रकट हुए हैं। ऐसे गुण सेना में और जासूसी के क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों को सिखाए जाते हैं। शूद्रक के काल के दौरान सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति बदल गई थी। उज्जयनी में राजा पालक के कुशासन से प्रजा त्रस्त थी। शकार इसका 'प्रतीक' है। उसका अत्याचार राजनीतिक क्रांति की आग में ईंधन पूरने का काम करता हैं। ऐसी परिस्थितिओं का सर्जन करके कवि 'शर्विलक' का मानस क्रांतिकारी बनाता हैं और उसमें पड़े हुए नेतृत्व गुणों को एक नई दिशा देता हैं।

इस नए कर्तव्य के लिए, शूद्रक 'शर्विलक' के कथन के माध्यम से निर्देश करते है कि *'मित्र और नारी दोनों व्यक्तिको बहुत प्रिय होते है । परंतु मित्रका स्थान अन्य सबसे कहीं ऊँचा होता है...'* [११] वह तुरंत नवविवाहिता 'मदनिका' को मित्र रेभिल के पास भेज कर प्रिय मित्र आर्यक को कारागृह से छुड़ाने हेतू निकल जाता है। यहाँ शर्विलक की ऊर्जा प्रेम से पलटकर, तख्तापलट के लिए केन्द्रित होकर सक्रियता में बदल जाती है। अलग होते समय मदनिका उसे सावधान

रहनेका निर्देश देती हैं, तो वह कहता हैं,' *उदयन के अमात्य यौगंधरायण की तरह अपने मित्र के उद्धार के लिए अपने संबंधियों को, अपने भुजबल से ख्याति-प्राप्त विटों को, और राजा द्वारा अपमानित तथा उस पर कुपित राज- कर्मचारीयों को भड़कानेका प्रयत्न करूँगा* ।' [१२] उसका यह कथन तख्तापलट की भावी योजनाओं को प्रतिध्वनित करती है और कवि यह एहसास कराते है की वह कूटनीति भी अच्छी तरह जानता है। क्रांति में 'लोक' का साथ होना बहुत जरूरी है, लेकिन उससे पहले वह दुष्ट शत्रुओं की छावनी में अचानक से हमला करके आर्यक को रिहा करना पसंद करता है। यहाँ कवि शर्विलक का 'सज्जन के साथ सज्जन और दुर्जन के साथ दुर्जन' का चित्रण किया है। इससे शर्विलक का एक नया पहलू सामने आता है।

चौथे अंक में प्रकट होने वाला शर्विलक सीधे दसवें अंक में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है! हां, लेकिन समय-समय पर कवि अपने तख्तापलट के लिए 'लोक-प्रकोप' के तत्वों को परोक्ष रूप से प्रस्तुत करते जाते है । (चंदनक, चारूदत्त, विट इत्यादि) 'शकार' अपने अत्याचारोंसे शर्विलक की योजना को सफल बनाने में सहायता प्रदान करता हैI जो नाटक के अंत में सफल होती दिखाई देती हैI पाँचवाँ और छठा अंक क्रमशः 'अभिसरण' और 'दुर्दिन' के प्रसंग से घिरा हुआ है। 'मिट्टीकी गाड़ी' ये प्रसंग शुरू होने तक शर्विलक आर्यक को बंदीगृह बाहर निकालनेमें सफल होता है। आर्यक, जो प्रवहण के अदल-बदल अवसर पर बच गया था, अनजाने में चारुदत्त के प्रवहण में बैठ जाता है, तब राजा का वफादार सेवक 'चंदनक' आर्यक को सुरक्षा देता है। और शकार के प्रवहणमें बैठी हुई 'वसंतसेना' को एक स्मृति के रुपमे 'तलवार' देता है, और राजा के विश्वासपात्र सेवक 'वीरक' से झगड़ा मोल लेता है। 'चंदनक' की इस घटना से स्पष्ट होता है कि 'शर्विलक' की राजक्रांति की गुप्त गतिविधि 'लोक' के संज्ञान में आ गई है और जो लोग शासन से पीड़ित और त्रस्त हैं वे इसमें शामिल होने लगे हैं।

आर्यक, जो अनजाने में चारुदत्त के प्रवहणमें में बैठ गया था, वह पुष्पकरंडक उद्यान तक पहुँचता है, लेकिन चारुदत्त उसे बचाता है और उसकी बेडीयों को कुएँ में फेंक कर भगाने में उसकी मदद करता है। चारुदत्त शर्विलक की राज क्रांति में भी अप्रत्यक्ष शामिल होता हैं। 'चारुदत्त' को पता नहीं है कि यह 'शर्विलक' वही है जिसने उसके घर से वसंतसेना के अलंकारो की चोरी की थी !! वसंतसेना भी अनजाने में 'शकार' के प्रवहणमें बैठकर 'शकार' के उद्यान में प्रवेश करती है, तो शकार का 'विट' उसे बचाने की कोशिश करता है लेकिन वह असफल होता है। जब वसंतसेना शकार द्वारा मृत:प्राय स्थिति प्राप्त करती है, तो इस घटना से व्यथित 'विट', शकार के खिलाफ अपनी तलवार खींचता है। लेकिन यह महसूस करते हुए कि यहां रहना उचित नहीं है, तो वह 'शर्विलक' के समूह में शामिल होने के लिए निकल जाता हैं।

नौवें अंक में शर्विलक अदृश्य है। चारुदत्त, जो नाटकके आरंभमें देवताओं को 'बलि' देता है , नाटक के अंत में खुद 'बलि' चढ़न की स्थिति में हैं। वहां परदे के पीछे 'राजा पालक' के वध की घोषणा सुनाई देती है। और राजा आर्यक की सूचना पर, 'शर्विलक' चारुदत्त को मुक्त करने के लिए सक्रिय होता है। यहां पहली बार दोनों प्रत्यक्ष होते हैं और शर्विलक संकल्प पूर्ण करने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ रहा है। राजा आर्यक की सूचना से, चारुदत्त को कुशावती का राजा घोषित किया जाता है, वहां अग्निप्रवेश प्रवेश करने के लिए तैयार चारूदत्त की पत्नी 'द्युता' को बचाता है, और 'वसंतसेना' को 'वधूपद' प्रदान करता है। और नाटक भरतवाक्य के साथ समाप्त होता है। उपरोक्त सभी घटनाचक्र को शर्विलक के संदर्भ में समझते हुए, हम महसूस करते है कि यह वास्तव में क्रांतिकारी है।

एक मित्र के लिए मदनिका को छोड़ने वाला 'शर्विलक', लोक समुदायको राजा पालक के विरुद्ध तख्तापलट के लिए उकसाता है। इस नाटक में जनोई से छेद करने वाला ब्राह्मण ही अब क्रांतिकारी बनता है। लेकिन, शूद्रक स्नेह कथा के प्रवाह में जैसे 'शर्विलक' को भूल गये है, वह सीधे नाटक के अंत में, राजा पालक को मारकर और आर्यक को सिंहासन पर बिठाकर ही मंच पर प्रवेश करता है! इस प्रकार, 'शर्विलक' इस नाटक का अनु-नायक है, लेकिन जैसे-जैसे तख्तापलट का आंदोलन पर्दे के पीछे चल रहा है, उसका चरित्र कुछ हद तक क्षितिज के समानांतर ही विकसित होता है।

साहित्य अकादमी की योग्यता प्राप्त है, ऐसी गौरवमयी कृति 'शर्विलक' के रचयिता है, श्री रसिकलाल छोटालाल परीख । 'चारूदत्तम्' का सज्जलक 'साहसे श्री प्रतिवसति' में माननेवाला, ऐसे 'शर्विलक' के चरित्र से आकर्षित होकर, एक नया अनुसर्जन करनेका साहस किया, सिर्फ इतनाही नहीं किंतु 'शर्विलक' के चरित्र को क्षितिज की समानांतरसे विस्तारित किया और उसेके चरित्र को उर्ध्वगति प्रदान करके एक नया ही सर्जन किया 'मृच्छकटीक का राज परिवर्तकार' । 'मृच्छकटीकम्' की गौण कथा का अनु-नायक शर्विलक है, और राजपरिवर्तकी कथा के अंश को प्रधान बना दिया और इसका नायक है 'शर्विलक'। यहाँ प्रणय कथा है, 'शर्विलक और मदनिका' की। तो, नायिका मदनिका भी वारांगना से वीरांगना बन चुकी है। 'राजपरिवर्त' की कथा केंद्रीवर्ती है। वह लिखते हैं कि *"यह शर्विलक सच्चा रिवोल्युशनरी - क्रांतिवादी नहीं - क्रांतिकारी है।"* [१३]

श्री परीख शर्विलक के चरित्र को एक ऐतिहासिक और पौराणिक पृष्ठभूमि देते हैं। शर्विलक महाराज चंडप्रद्योत के महाअमात्य शालंकायन का पुत्र था शुक्रबुद्धि। राजा का ज्येष्ठ पुत्र गोपालक गद्दी पर आया, लेकिन वह बौद्ध धर्म में आस्था रखने वाला (निर्ग्रन्थ) था, इसलिए भरत रोहतकने उसे पदच्युत कर दिया और सिंहासन छोटेभाई 'पालक' को सोंप दिया, गोपालक के पुत्र आर्यक की परवरिश करते हुए, शालंकयनने अपने पुत्र शुक्रबुद्धि को अपने जीवन के अंत में अपना कर्तव्य पूर्ण करने का निर्देश दिया था । क्रांतिकारी के रुपमे उसने 'शर्विलक' उपनाम धारण किया था वह लोकायतमत वादी/तर्फी है। लोक जीवन में 'अर्थ और काम' प्रधान तत्व हैं। ऐसा उनका मानना है। प्रजाका सुख और उसके लिए 'अर्थ और काम' के पुरुषार्थ की सिद्धि हेतू सुराज्यकी आवश्यकताको वह जानता हैं। इसी लिए पालक जैसे दुष्ट राजा को उखाड़ फेंकना और गोपालक पुत्र आर्यक की राजाके रुपमे स्थापना करने में पिता के आदेश के अतिरिक्त लोकायतमत की पुष्टि भी प्रतीत होती है। शर्विलक है तो ब्राह्मण लेकिन उसमें ब्राह्म-क्षात्र तेज है और एक क्रांतिकारी के रूप में, उसका बुद्धितेज और क्षात्रतेज दोनों का परिचय होता है।

शर्विलक का व्यक्तित्व प्रभावशाली है। वह पालक के खिलाफ विद्रोह करने हेतू उज्जयनी आता है। शर्विलक की उपस्थितिसे ही द्युतागार के द्यूतकार भी व्यग्र होते हैं। राजपुरुष और चोर भी परेशान हैं, विद्वानों की मंडली में पंडित भी उनकी राय पूछते हैं। गायिक और नर्तकीयां भी उसके अनुग्रह-व्यंग्य के लिए उत्सुक हैं। लेकिन, सबकी उपेक्षा करने वाली 'मदनिका', जो कल्पलता की तरह है, वो 'शर्विलक' से स्नेह करती है। इन सबके बावजूद उज्जयिनी कभी-कभी 'शर्विलक' को निराश करती है। उनका मानना है कि उज्जयनी के लोग स्मृतिभ्रंश से पीड़ित हैं। राजा पालकने अपने ज्येष्ठ भाई को मारकर उसका राज्य ले लिया इस बात प्रजा को चूभती नहीं है । वसंतसेना जैसी नगरश्री को बलात्कार से वश करने की और चारुदत्त जैसे प्रतिष्ठित संस्कारी व्यक्ति से बदला लेने की धमकी देने वाला ऐसे अनार्य 'शकार' के खिलाफ नगरमें किसी का लहू नहीं खौलता! उसे एक ऐसे नगरमें में जान फूंकनी है जो विलासी और निर्वीर्य हो गया है। उज्जयिनी का 'नरदुर्ग' भेदकर उसे राजपरिवर्त करना है। इसलिए 'माधव, दर्दुरक और नंदनक' जैसे मित्रो को *'राजधर्म का*

पालन न करने वाले राजा को कुत्ते की तरह मार डालो !' [१४] ये मंत्र देते हैं। वह मदनिका के स्नेह का भी स्वीकार करता है। और सोचता है कि मदनिका के माध्यम से राजविप्लव में वसंतसेना और चारुदतकी भी सहायता ली जा सकती है। शर्विलक अपनी सेना को महल में संरक्षक के पास और बंदीगृह में महत्वपूर्ण स्थानों पर रखता है। माधव मरने से पहले राजमुद्रा भी लाता है। दर्दुरक आदि राजा पालक के प्रति लोगों में असंतोष फैलाते हैं और उसके काम में मदद करते हैं।

तो सामने महाअमात्य भरत रोहतक ने आर्यक को पकड़ने की योजना बनाई है। ऐसी सूचना मिलने पर शर्विलक मित्र बचाव के लिए दर्दुरक को भेजता है। और उज्जयनी की रोजाना स्थिति सँभालने हेतू वह खुद उज्जयनी में रहता हैं। लेकिन गहरा कारण यह हो सकता है कि उन्हें मदनिका को छोड़ना पसंद नहीं था।

उसका सारा धन आर्यक के लिए सेना जुटाने में खर्च हो गया, दूसरी सेना के लिए और साथ ही उसे मदनिका को वसंतसेना के बंधन से मुक्त करने के लिए धन की आवश्यकता थी। इसलिए उसने चोरी करने का फैसला किया। और अनजाने में वह चारुदत्त के घर में चोरी करता है। वह चोरशास्त्र का भी विशेषज्ञ हैं। वह अलंकार चुराकर मदनिका को छुड़ाने जाता है। वहां चारुदत्त की तस्वीर देखकर वह हैरान रह जाता है कि उसने वहां चोरी की है। यह जानते हुए कि अलंकर वसंतसेना के है, वह अंतर से अपराधभाव का अनुभव करता है। लेकिन बाहर से साहस के साथ वह मदनिका को समझाता है, कि मदनिका के लिए उसका प्यार अनोखा है। इस तरह के उसके साहसिक कार्य से शंकित बनी मदनिका को यह कहकर चलता बनता है कि *'मदनिका से अधिक गौरवपूर्ण लक्ष्य हैं मेरे पास'* ।[१५] वहां छिपी हुई वसंतसेना उन दोनों को बुलाती है और अलंकारो के बदले में मदनिका का हाथ शर्विलक के हाथ में देकर उसे 'वधूपद' प्रदान करती है। उसी समय नेपथ्य में घोषणा सुनाई देती है की,

नेपथ्यमे: पराजित। समस्त आर्यक सैन्य पराजित। सावधान...। शर्विलक को लगता है कि उसकी योजना विफल हो रही है। मदनिका के स्नेह में, उसे पछतावा होता है कि वह आलसी हो गया है। मदनिकाको मित्र भाव रेभिल के सहारे छोड़कर विप्लव कार्य को और तेज करता हैI

आर्यक को जेल से कैसे छुड़ाया जाए इस बात से शर्विलक चिंतित है । जीर्णोद्धान में वार्ता के दौरान, चारुदत्त सुझाव देते है कि किसी प्रकार से 'यदि राजामुद्रा मिल जाए तो आर्यक को छुड़ाया जा सकता है'। माधव ने मरते वक्त राजमुद्रा शर्विलक को दी थी, लेकिन वह अब मदनिका के पास है। अगर इसे उसके पास जाता है तो प्रतिज्ञा भंग हो जाती हैं। 'चारुदत्तम् और मृच्छकटिकम्' की वारांगना मदनिका इस नाटकमें विरांगना बनकर आती है और यह बात गुप्त रूप से सुनकर प्रगट होकर 'राजमुद्रा' उसके सामने रखती है और लोकविप्लव के कार्य में उसके साथ रहने की अनुमति मांगती है। लेकिन एक बार जब शर्विलक, मदनिका के प्यार में पड़ गया और आलसी हो गया, तो वह अब नहीं चाहता है कि वह उसका सहवास करे। क्योंकि उसे खुद पर भरोसा है। लेकिन आवेश में आकर मदनिका को 'विलासिनी' कह देता है, बाद में उसे इसका पछतावा होता है। मदनिका आघात पाकर कहती है *'आपके शील की परीक्षा लेने नहीं आउंगी'* [१६] कहकर उससे मुंह मोड़ लेती है, तो शर्विलक भावनात्मक रूप से कहता है। *'जाओ, हृदयेश्वरी, मैं तुम्हारा उपयुक्त पति बनूंगा और तुमसे मिलूंगा।'* [१७]

लेकिन मदनिका ने यह दिखाते हुए कि वह क्रांति की साथी है, वह आर्यक को मुक्त कराती है, तो श्वेतपद्माको भी पालक के महेल से भगाने में सहायता करती है और राज्यकी 'शक' प्रजाको राजा पालक के प्रति उकसाती है, और

'शशक' को हमले करनेका का संकेत भी देती है। शर्विलक लोकायतमार्गी हैं। उसे भगवान की पूजा में कोई विश्वास नहीं है। लेकिन वसंतसेना और मदनिका का जब पता नहीं चलता है तो क्षणभर के लिए, अगर उनका पता चले तो वह देवताओं की पूजा करने का भी मन बनाता है। वह उलझन में है कि उज्जयनी में प्रवेश कैसे किया जाए। क्योंकि भरत रोहतक ने पुख्ता इंतजाम किया है, लेकिन खुफिया जानकारी के आधार पर अब वह क्षोत्रिय ब्राह्मणों के वेश में राज्यमें घुसने का फैसला करता है। पालक का यज्ञभूमिमें ही वध करके राजसत्ता को कैसे हथियाना है, इसकी सटीक योजना तय करता है। इन सारी स्थितियोंमें उसकी सूक्ष्म और दूरदृष्टि प्रतीत होती है।

राजा पालकका वध हो गया, विप्लव सिद्ध हो गया है। लेकिन उसे सत्ता की कोई लालसा नहीं है। वह आर्यक के अमात्य बनने के लिए अपने प्रतिद्वंद्वी भरत रोहतक से प्रार्थना करता है। भरत रोहतकको भी अपने कट्टर शत्रु को देखकर कहते हैं, *"धर्मादर्थश्च कामश्च । शालंकायनपुत्र, अगर तु महाअमात्य होकर वैदिक धर्म को अगर दृढ बनाये तो तेरे पिता का सारा वेर भूलने को तैयार हूँ'* । [१८] भरत को प्रतीत होता है कि *"अगर मुझे इसके जैसा पुत्र होता तो?"* [१९] तब शर्विलक जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहेता है की *"मुझे अधिकारों के प्रति आकर्षण नहीं है, मुझे सौन्दर्य का, साहस का आकर्षण है मोक्ष खोजनेमें साहस है, उसका का भी मुझे आकर्षण है। लेकिन मेरी वृत्ति लोगों की आर्थिक सुखकारी में खेलती की है। मुझे मोक्ष के लिए वैराग्य चाहिए, मुझमें वैराग्य नहीं है।"* [२०] यह कहकर भरत रोहतक को अमात्य का पद स्वीकार करने को कहता है। लेकिन भरत रोहतक उसे तुरंत दक्षिणके स्मशान जाने के लिए कहता है।"... वह वहां जाता है, तो उसकी प्रियतमा के शरीर का अंतिम संस्कार कर दिया गया है। वह *"आपके शील की परीक्षा नही आउंगी"* [२१] ऐसे मदनिका के शब्दों को याद करते पछताता है। लोकायत के अनुसार, मानव शरीर केवल चार भूतों से बना है, लेकिन मदनिका के चल बसने से, उन्हें लगता कि मदनिका सिर्फ चार भूतों की मूर्ति नहीं थी। कुछ विशेष थी । वह जानना चाहता है कि यह विशेष तत्व क्या है। आर्यक उसे अपना अमात्य बनने के लिए कहता है लेकिन वह नहीं मानता। वह कहता है: *'मुझे वैराग्य नहीं है । मैंतो अनुराग से प्रेरित हूं ।'* [२२]

लेकिन वसंतसेना उसे अनुरागधर्म समझाती है। वह मदनिका का सच्चा साहसिक हैं, उन्हें तो महाराज आर्यक का लोकद्रष्टा सचिव ही बनना है। तब शर्विलक सोचता है कि राजपरिवर्त की समर्थ नायिका प्रति सही तर्पण तो लोक का कल्याण करने में है। इसलिए, आर्यक का लोकद्रष्टा बनना स्वीकार करता है और इस प्रकार वह अनासक्ति का प्रर्वतक बन जाता है।

नाटक में निर्मित संघर्ष का नायक 'शर्विलक' है। राम-रावण के युद्ध में सत्य और असत्य के पक्ष में सेनाएँ खडी हैं, जीव सटोसटकी बाजी खेली जा रही है, धारा रक्तरंजित है और दोनों ओर रक्तपात का खेल खेला जा रहा है। असत्य के पक्ष में 'पालक, शकार, भरत रोहतक' मारे जाते हैं, तो सत्य की ओर से 'चारूदत्त' मारा जाता है! मदनिका ने आत्महत्या कर ली। क्रांतिकारियों बलिदान देते है और अंत में सत्य की जीत होती है। आर्यक राजा बन जाता है। इस प्रकार शर्विलक एक सच्चा " रिवोल्युशनरी - क्रांतिवादी नहीं - क्रांतिकारी है।" [२३]

निष्कर्ष:

मूल महाकवि भास की कृति 'दरिद्र चारूदतम्' में जो केवल स्नेह के लिए, साहस करनेवाला ब्राह्मण, 'सज्जलक' चोर कर्म करते हुए दिखाया गया है। चोरकर्म के प्रसंग में ही उसकी प्रतिभा का दर्शन होता है, एक गौण चरित्र के रूप में उन्हें यहाँ पर्याप्त जगह नहीं मिली। लेकिन शूद्रके ने उनके व्यक्तित्वके लक्षणों को पहचानते हुए उन्हें 'राजक्रांति' की उपकथा का उपनायक बना दिया, लेकिन क्रांति का आंदोलन तो पर्दे के पीछे ही रखा था, इसलिए उनका चरित्र उतना नहीं उभर पाया, जितना उभरना चाहिए था। क्योंकि प्रधानकथा तो 'प्रेम कथा' है, 'राजक्रांति' नहीं। लेकिन 'शर्विलक' के रचयिता श्री परीख 'राजक्रांति' की कथा को प्रधान बनाते हैं और 'प्रेमकथा/ए' गौण, साथ ही प्रधान नायक के गुणों से भरपूर एसा 'शर्विलक' सही अर्थमें क्रांति करते नजर आते हैं। 'मृच्छकटिकम्' में, आर्यक को शर्विलक द्वारा कारागृह से रिहा कर दिया जाता है, लेकिन 'शर्विलक' में मदनिका, वारांगना से वीरांगना बनकर 'राजमुद्रा' की मदद से आर्यक को मुक्त कराने में मदद करती है। तो, 'शर्विलक' भरत रोहतक और राजा पालक की सभी योजनाओं को उलट देता है। यहाँ वह एक कुशल राजनीतिज्ञ है, एक वीर योद्धा है, शुक्र बुद्धि है, कर्तव्यपरायण है, हाँ चोरकर्म उसके व्यक्तित्व का अभाव है लेकिन वह प्रेम और शौर्य में अद्वितीय है। मदनिका के लिए त्यागवृति है, तो क्रांति हेतू कर्तव्यनिष्ठ है। इस प्रकार एक सफल राजनीतिज्ञ, सच्चा प्रेमी, तपस्वी, क्षमाशील, उदार, वीर और कर्तव्यपरायण अमात्य के रूप में 'शर्विलक' का चरित्र चन्द्रमा की सोलह कलाओं समान खिल उठता है।

संदर्भ:

१. सीताराम चतुर्वेदी (१९६४) *'अभिनव नाट्य शास्त्र'* : (१९६४) इल्लाहाबाद, किताब महल पृ. ११३
२. डॉ. शास्त्री एन (२००९) *महाकवि भास* भोपाल, मध्य प्रदेश ग्रन्थ अकादमी पृ. १८८
३. के. का. शास्त्री : '*संक्षिप्त भरत नाट्य शास्त्र* ' (१९५८) बडौदा, म. स. विश्वविद्यालय पृ.८४-८५
४. पं. पाण्डेय, पी. (१९९५) *'चारुद्त्तम'* वाराणसी, कृष्णदास अकादमी. अंक ३, पृ.११०-१११
५. वही पृ. १०८-१०९
६. वही पृ. १०४-१०५
७. वही पृ. १४२-१४३ अंक ४ श्लोक ५
८. वही पृ. १५६-१५७
९. वही पृ. १५७
१०. मोहन राकेश, (१९९९) 'मृच्छकटिक' नइ दिल्ली, बहावलपुर हाउस, रा. ना. वि., पृ. ७९
११. वही पृ. ७९ अंक ३ श्लोक ११
१२. वही पृ. ८०
१३. परीख, आर. सी (१९८३) 'शर्विलक' अमदावाद, गर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय. पृ. २

(मूल में गुजराती ; अनुवाद हिन्दी में)

१४. वही अं.१ पृ. ४७

१५. वही अं.३ पृ. ११६

१६. वही अं.३ पृ. १३७

१७. वही

१८. वही अं.५ पृ. १९४

१९. वही

२०. वही

२१. वही अं.५ पृ. १९७

२२. वही अं.५ पृ. १९४

२३. वही पृ. २

सन्दर्भ सूची:

१. के. का. शास्त्री : संक्षिप्त भरत नाट्य शास्त्र (गुजराती)

२. अभिनव नाट्य शास्त्र : सीताराम चतुर्वेदी

३. डॉ. रमाकांत त्रिपाठी : संस्कृत नाट्य सिद्धांत

४. डॉ. कृष्णकांत कडकिया : शर्विलक : नाट्य प्रयोग शिल्प नी द्रष्टिऐ (गुजराती)

५. नारायण, हेन्री डब्ल्यू वेल्स : अनु: वीरेंद्र : 'भारत का प्राचीन नाटक '

६. डॉ. शास्त्री नेमिचन्द्र : *महाकवि भास*

७. पं. पाण्डेय, पी. : 'भासनाटकचक्र ' *'चारुद्त्तम'*

८. प्रा. शांतिकुमार एम्. पंड्या प्रा. शुचिता वाय. महेता : 'चारुद्त्तम'

९. डॉ. गंगा सागर राय : 'मृच्छकटिकम'

१०. मोहन राकेश : 'मृच्छकटिकम'

११. डॉ. डी. आर. सुथार: 'मृच्छकटिकम' (गुजराती)

१२. श्रीरसिकलाल छो. परीख : 'शर्विलक' (गुजराती)

मानव-मन की आकांक्षाओं के दमन को चित्रित करता नाटक 'अंजो दीदी'

सिमरन
शोधार्थी (पी-एच.डी.)
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई.मेल.- 996simrank@gmail.com

सारांश

उपेन्द्र नाथ 'अश्क' हिन्दी साहित्य के अन्यतम साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं। अपने लेखन के द्वारा उन्होंने तत्कालीन समाज की समस्याओं को वाणी प्रदान की। उनका सम्पूर्ण लेखन मानव मन के अनेक पक्षों को स्पर्श करने का सार्थक प्रयास है। 1954 में लिखित उनका नाटक 'अंजो दीदी' आजादी के बाद के समाज की मन:स्थिति का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें मानव मन की कुंठाएँ, इच्छाओं के दमन और पीढ़ी के द्वंद्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। असल में अंजो दीदी नाटक अभिजात्य समाज की यांत्रिक मनोवृत्ति की ओर संकेत करता है जिसमें मनुष्य का जीवन एक घड़ी की सुई की भाँति हो गया है, जिसके जीवन में ठहराव की कोई गुंजाइश नहीं दिखलाई पड़ती। स्वयं अंजो कहती है कि 'मैं चाहती हूँ – मेरा घर भी घड़ी ही की तरह चले। हम सब उसके पुर्जे बन जायँ।' किन्तु श्रीपत के माध्यम से नाटककार ने इस आतंक को अंत में समाप्त कर दिया है। नाटक के प्रारंभ में घड़ी की सुई से मनुष्य की तुलना करने वाली अंजो की विचारधारा का, नाटक के अंत में उसके ही पति इन्द्रनारायण द्वारा अस्वीकार, आतंक-मिश्रित-तिलिस्म का टूट जाना है जो नाटककार के आशावादी दृष्टिकोण का सूचक प्रतीत होता है। अतः अश्क जी की दृष्टि मानव मन की कुंठाओं का चित्रण करते हुए, केवल और केवल समस्या को बतलाने की ओर नहीं रही, बल्कि संतुलित समाधान प्रस्तुति की ओर भी रही है और यही उनका आधुनिक भावबोध है।

बीज शब्द - *संत्रास, कुंठा, द्वंद्व, तानाशाह, अतृप्ति, दमन,*

भूमिका

किसी भी समाज के विकास की संभावनाओं का आधार, उस समाज की युवा पीढ़ी मानी जाती है जो उस समाज के विकास में सबसे अधिक योगदान देने का कार्य करती है। भारतीय 'शिष्ट' समाज में बड़ों का आदर, शिष्टता,शालीनता जैसे शब्दों का बालक के भीतर तलाश किया जाना, कोई असामान्य या अनोखी बात नहीं कही जा सकती। भारतीय समाज में इसके इतर 'टाइप' बनने का विरोध करने बालकों या युवाओं को, सदैव ही अशिष्ट, संस्कारहीन और असामान्य की उपाधि दी जाती रही है। इस संदर्भ में हिन्दी के विद्रोही साहित्यकार 'अज्ञेय' के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' के विद्रोही शेखर का उदाहरण प्रस्तुत किया जाए या जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल का, दोनों ही टाइप के सिद्धांत के विरोध के कारण जीवन में अनेक बाधाओं का सामना करते हैं। 'शिष्ट' समाज उनके नवीन विचारों, तर्कों का मानो उपहास करता प्रतीत होता है किन्तु इसके बाद भी यह दोनों ही पात्र नवीन विचारधारा को पुष्ट करने हेतु संघर्षरत रहते हैं, जिसकी सफलता दोनों ही उपन्यासों के अंत से परिलक्षित होती है। शेखर और शशि का साथ रहना और मृणाल का सामान्य जीवन त्यागना, दोनों ही; टाइप ना बनने का अप्रत्यक्ष विद्रोह है जो समाज की परंपरागत विचारधारा में परिवर्तन की माँग करता है। ठीक इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा में परंपरागत जड़ मान्यताओं, रूढ़िवादी विचारधारा आदि के प्रति अस्वीकार की भावना दिखलाई पड़ती है। जिनमें मानव-मन की आकांक्षाओं-अभिलाषाओं के दमन को

सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है।

हिन्दी साहित्य की नाटक विधा को प्रारंभ से ही एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि नाटक एकमात्र ऐसी विधा है जिसकी लोकप्रियता उपन्यास, कहानी, निबंध आदि विधाओं से सदैव अधिक रही है, जिसका मूल कारण यह है कि अन्य विधाओं के लिए उस वर्ग विशेष की आवश्यकता रही है जहाँ का समाज शिक्षित हो, किन्तु नाटक के संदर्भ में यह समस्या नहीं है। हिन्दी और अन्य भाषाओं के ऐसे अनेक रचित नाटक है जिसे विशेष रूप से सामान्य जन को जाग्रत करने हेतु रचा गया था व जिसका उद्देश्य नाटक को मंचन योग्य बनाना था, जिससे समाज तत्कालीन समस्याओं से रूबरू हो सके। भारतेन्दु द्वारा रचित नाटक 'अंधेर नागरी' को भी मंचन हेतु ही लिखा गया था। अस्तु नाटक विधा आरंभिक काल से सम्पूर्ण समाज की जागृति का कार्य कर रही है। सामाजिक उत्थान के लिए भारतेन्दु युग से जिस नाट्य विधा का पदार्पण हुआ, उसका परिपक्व रूप हमें आजादी के बाद के नाटकों में प्राप्त होता है। समकालीन नाटकों में विषवस्तु और रचना-विधान दोनों ही स्तरों पर प्रौढ़तम रूप दर्शनीय है।

शोध आलेख

हिन्दी में नाट्य विधा के उत्थान के पाँच चरण माने जाते हैं – भारतेन्दु, द्विवेदी, प्रसाद, प्रसादोत्तर। प्रसादोत्तर युग के बाद पाँचवा चरण समकालीन नाटक के रूप में प्रारंभ होता है। यह समय आजादी के बाद की समस्याओं को नाटक के माध्यम से वाणी प्रदान करता है। हिन्दी में प्रसादोत्तर काल के बाद, यथार्थ की भूमि पर सामाजिक समस्या को नाट्य लेखन के द्वारा अभिव्यक्त प्रदान की गई। इस युग के नाटककारों के लेखन में समाज की समस्याओं का यथावत चित्रण मिलता है। आरंभिक नाटककारों में प्रेम सहाय, लक्ष्मीनारायण मिश्र , उपेन्द्रनाथ अश्क , सेठ गोविंददास , हरिकृष्ण प्रेमी, विष्णु प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि प्रमुख माने जाते हैं, वहीं बाद के नाटककारों में जगदीशचंद्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल , सुरेन्द्र वर्मा , लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि ने भी तत्कालीन समस्याओं को आधार बनाकर नाट्य विधा को संवर्द्ध किया। वर्तमान काल को नाट्य विधा का पष्ट काल निसन्देह ही माना जा सकता है जिसमें नाटकों में अतियथार्थवाद की प्रचुरता मिलती है, जो समस्या को पूरी नग्नता के साथ चित्रित करता है। किन्तु वर्तमान काल की यह भी एक विडंबना है कि नाट्य विधा के विकास में शिथिलता आ रही है व उसका अस्तित्व अब वैसा नहीं रहा,जैसा आज से तीन-चार दर्शक पूर्व रहा करता था। अतः नाट्य विधा के महत्व को पुन: प्रकाश को लाने हेतु पाठक और दर्शक के भीतर रुचि जागृत करने का प्रयास किया जाना चाहिए, ऐसे नाटकों का मंचन विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं द्वारा कराया जाना चाहिए, जिससे उनके भीतर पुनः इन विधाओं के प्रति रुचि जागृत हो। हिन्दी साहित्य में **उपेन्द्र नाथ 'अश्क'** एक ऐसे साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं जिन्होंने अपने लेखन के द्वारा समकालीन समस्याओं को सरलतम शैली (देश भाषा)में प्रस्तुत किया, किन्तु इसके पश्चात भी उन्हें वह ख्याति प्राप्त नहीं हुई, जिसके वे असल अधिकारी थे। विधा चाहे कहानी हो, नाटक,उपन्यास,एकांकी,संस्मरण या आलोचना उनकी दृष्टि सरलतम लेखन की रही है। लेखन के माध्यम से उन्होंने जन-जन तक अपनी रचनाओं को पहुँचाने का प्रयास किया। नाटक की बात की जाए तो उनके कई नाटक साहित्यिक और व्यवसायिक दोनों ही दृष्टियों से उत्तम माने जाते हैं। उन्होंने कई नाटक लिखे, जिनमें 'लक्ष्मी का स्वागत','स्वर्ग की झलक','छटा बेटा','लौटता हुआ दिन','जय पराजय','देवताओं की छाया','अलग अलग रास्ते', 'भँवर', 'अंजो दीदी' प्रमुख है। उनकी अन्य रचनाओं का नाट्य रूपांतरण भी जगह-जगह प्रस्तुति हेतु किया गया। उनकी लेखन की बारीकियों के कारण ही, सभी विधा की रचना में नाटकीयता के तत्व दिखलाई पड़ते हैं उनकी रचना पाठक के सामने एक जीवंत चित्र प्रस्तुत करती है जिससे पाठक ग्रहण करने में किंचित भी संकोच नही करता

। उनके लेखन में कहीं भी कृत्रिमता या अनावश्यक तत्व नहीं नजर आते और यही उनके लेखन की सबसे प्रमुख विशेषता रही है,जिसके कारण वर्तमान में भी उनकी अनेक रचनाएं प्रासंगिक प्रतीत होती हैं। सन् 1954 में रचित उनका नाटक **'अंजो दीदी'** आजादी के बाद के उस अभिजात्य समाज का चित्र प्रस्तुत करता है जिनका जीवन यांत्रिकता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुका है और जिसका संचालन नाटककार 'अंजो'के माध्यम से संचालित करते हैं। सम्पूर्ण नाटक की केंद्र बिन्दु 'अंजो' और उसकी तानाशाही प्रवृत्ति रही है। आजादी के बाद के सपनों के क्रमशः टूटने और जीवन के यांत्रिक होने की विवशता को यह नाटक चित्रित करता है। नाटक में 'अंजो दीदी' पात्र के माध्यम से यांत्रिक समाज की मॉर्बिड जीवन की ओर संकेत किया गया है कि कैसे समाज और उनकी जीवन-शैली ने मानव को भीतर से बीमार कर दिया है। उसका जीवन एक यंत्र की भाँति हो गया है। कथा के लगभग सभी पात्र – अंजली, इंद्रनारायण ,नीरज, अन्नो, ओमी, मुन्नी, राधू, नीलम और अन्य गौण पात्र भी जीवन के प्रत्येक क्षण को घड़ी की सुई के हिसाब से जीने को विवश है। श्रीपत के इतर कोई भी पात्र अपने जीवन से संतुष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। मानों सभी को बार-बार घड़ी की सुई की भाँति, समय से चलने को विवश किया गया हो। नाटककार ने श्रीपत के द्वारा सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है व नाटककार के विचारों का प्रतिनिधित्व भी श्रीपत के माध्यम से ही होता है।

आजादी के बाद के नाटकों में घुटन, संत्रास ,अकेलेपन, कुंठा व पीढ़ी के द्वंद्व जैसे विषय पर लेखन विशेष रूप से किया गया है। समाजवादी नाटककारों ने इस प्रकार के लेखन के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के निवारण का भरसक प्रयास किया, जिसका एक सफल उदाहरण 'अंजो दीदी' नाटक के रूप में प्रस्तुत है। नाटककार 'अश्क' जी ने नाटक में स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसंगों की सर्जना है जिससे अभिजात्य समाज की आंतरिक स्थिति का नग्न चित्र प्रस्तुत किया जा सके। प्रस्तुत नाटक मानव-मन की आकांक्षाओं-अभिलाषाओं के दमन को वाणी प्रदान करती है। 'अंजो दीदी' यांत्रिक होते समाज का ही एक उदाहरण है कि कैसे सम्पूर्ण समाज मनुष्य ना होकर घड़ी का प्रतीक बनता जा रहा है और जिसका संचालन पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित हो रहा है। डॉ नगेन्द्र 'अंजो दीदी' नाटक के विषय में अपने इतिहास ग्रंथ में लिखते हैं कि-**" 'अंजो दीदी' कदाचित अश्क की सर्वाधिक प्रौढ़ नाटकीय कृति है।"**[1] नाटककार की गहन समझ और दृष्टि इस नाटक को सार्थकता प्रदान करती है। कहीं भी अंजो का चरित्र कृत्रिम प्रतीत नहीं होता, जिसका कारण है अंजो दीदी के नानाजी। सम्पूर्ण नाटक का अध्ययन करने पर अंजो तानाशाह के रूप में दिखलाई पड़ती है किन्तु सूक्ष्मता से कथा पर ध्यान आकृष्ट करने पर पाठक इस समझ को विकसित कर सकेंगे कि अंजो दीदी स्वयं नानाजी के कारण अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के दमन को झेल चुकी है और अब दमन का संचालन उसे विरासत में प्राप्त हो गया है। नाटककार ने मानव मन को अत्यंत गहराई से जानने का प्रयास किया है अंजो के इस चरित्र को स्वाभाविक और स्वीकार्य बनाने हेतु अनेक यत्न किये हैं जो इस प्रसंग में स्पष्ट रूप से दृष्टव्य है – **"हमारे नानाजी कहा करते थे, नौकरों को सदा साफ़-सुथरा रखना चाहिए। जैसे घर के भाग्य का पता देहरी से चलता है वैसे ही मालिकों के स्तर का पता नौकरी के पहरावे से लगता है। गंदे नौकरों से नानाजी को बड़ी चिढ़ थी,उनके साथ रहकर मैं भी वैसी ही हो गयी।"**[2] अंजली (अंजो दीदी) नाटक की पहली दमित पात्र का एक उदाहरण है जो अपने नानाजी के कारण दमित जीवन व्यतीत कर, अब उसी जीवन की अभ्यस्त हो चुकी है और वही जीवन अपने पुत्र नीरज को भी देना चाहती है। उसे किंचित भी उस आंतरिक दमन का अंदाजा नहीं है जो उसे उसके नानाजी ने दिया। वह सदैव अपनी बात को पुष्ट करने के लिए 'नानाजी कहा करते थे' वाक्य का इस्तेमाल करती है जो इस बात का सूचक है कि अंजली अत्यधिक दमन का शिकार रही है उसकी आकांक्षाओं का सबसे अधिक दमन हुआ है किन्तु जिसका कभी प्रत्यक्ष रूप से उसे कभी एहसास तक नहीं

[1](सं)डॉ.,नगेन्द्र,सह(सं)डॉ हरदयाल,(2018).हिन्दी साहित्य का इतिहास.नेशनल पब्लिशिंग हाउस.दिल्ली.पृष्ठ सं-663

[2] अश्क,उपेन्द्रनाथ.(2016)अंजो दीदी.नीलाभ प्रकाशन.इलाहबाद.पृष्ठ संख्या-29

हुआ ! इसी कारण वह अपने पुत्र को नानाजी जैसा बनाने के स्वप्न देखती है वह अन्नो(अनिमा) से नीरज के विषय में कहती है – **"वह हमेशा समय से उठता है समय से डैडी के साथ सैर जाता है ...हमारे नानाजी कहा करते थे वक्त की पाबंदी सभ्यता की पहली निशानी है.. और नीरू काम आराम और खेल के समय का पूरा-पूरा ध्यान रखता है।"**[1] नानाजी की यांत्रिक प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से अंजो के चरित्र के माध्यम से रेखांकित होती है। दमन को झेल चुकी अंजो को दमन का एहसास तक नहीं है वह बार-बार नानाजी के विचारों को गर्व से सबको बताती है जैसे वो जीवन जीने का सबसे सुलभ ढंग हो। नाटककार ने अंजो के चरित्र के मानसिक दमन को चित्रित किया है। दमन की शिकार 'अंजो' अब स्वयं दमन का संचालन करती प्रतीत होती है। अपनी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं की तृप्ति, वह अपने पुत्र के माध्यम से चाहती है। नीरज की बाल सुलभ चंचलता के स्थान पर चेहरे पर गंभीर भाव का होना अंजो की अतृप्ति का ही परिणाम है। अंजो का यांत्रिक चरित्र, नीरज तक पर अनेक पाबंदियाँ लगाता दिखलाई पड़ता है और यही कारण है कि उसकी बाल सुलभ चंचलता दुर्लभ हो गयी है। उसके चरित्र का वर्णन मात्र ही इस बात को प्रमाणित करता देता है – **"नीरज दस-ग्यारह वर्ष का बच्चा है। नीली बुश्शर्ट और सफेद निक्कर पहने, सुंदर, सुकुमार और सुसंस्कृत। लेकिन चेहरा उसका गंभीर है। बाल सुलभ चंचलता का सर्वथा वहाँ अभाव है। उसकी चाल उस बछड़े सी है, जिसने गले में बंधीं रस्सी के साथ समझौता कर लिया हो।"**[2] इस प्रकार नाटककार ने बाल-मन की चंचलता के दमन की ओर संकेत किया है। नाटक के आरंभ में अंजली द्वारा यह कहना कि वह कमरे में ही नाश्ता करता है, इस बात का सूचक है कि परिवार से जिस प्यार की उसे अपेक्षा है सर्वथा शिष्ट बनने के कारण उसका वहाँ अभाव है। नाटक में सभी पात्रों का अप्रत्यक्ष रूप से दमन चित्रित होता है जिस कारण इसके प्रति आरंभ से ही कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता,किन्तु अंजली के भाई श्रीपत के द्वारा नाटककार अश्क जी ने सभी पात्रों की इच्छाओं के दमन को वाणी प्रदान की है। अंजली के यांत्रिक चरित्र के स्पष्ट कारण भी श्रीपत के माध्यम से ही नाटककार प्रकाश में लाते हैं। घर में प्रवेश करने के साथ ही वह अंजली के ऐसे चरित्र होने के कारणों को उद्घाटित कर देता है, वह कहता है –**"हमारे घर में किसी तरह का बंधन नहीं। बात यही है कि स्वर्गीय नानाजी ने अंजो डीदी के दिमाग को जकड़ रखा है। वे थे भी तानाशाह। सदा अपनी राय दूसरों पर लादा करते थे ..... हमारे घर में ऐसा करना महापाप समझा जाता है।"**[3] इस प्रसंग के माध्यम से श्रीपत अंजो की तानाशाही के कारण को परिवार के सामने प्रस्तुत कर देता है और इससे अंजो के चरित्र को और अधिक जीवनंता प्राप्त होती है, उसका चरित्र कहीं भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होता, वहीं यह प्रसंग अंजो की तानाशाही के कारण को भी पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। नाटक के सभी पात्रों के विषय में श्रीपत कहता है कि **-"इस घर के सभी लोग पुर्जे हैं,कसम भगवान की, मशीन के पुर्जे !"**[4]

उपरोक्त प्रसंगों के माध्यम से नाटककार ने मानव मन की इच्छाओं के दमन व उनके कारणों का उल्लेख किया है। अभिजात्य समाज की जीवन-शैली किस प्रकार घड़ी की सुई जैसी होती जा रही है इस ओर भी अश्क जी पाठक का ध्यान केंद्रित करते नजर आते हैं ,जिसका प्रतिनिधित्व श्रीपत के द्वारा किया गया है। सम्पूर्ण नाटक में उसका चरित्र एक ही समान दिखाई पड़ता है उसके चरित्र में पहले अंक से लेकर अंतिम अंक तक कोई भी परिवर्तन देखने को नहीं मिलता। दोनों ही अंकों में उसके आने के पश्चात अनेक सत्य उद्घाटित होते हैं। अंजो के पति इंद्रनारायण की इच्छाओं के साकल श्रीपत के स्पर्श करने भर से स्वयं खुल जाते हैं। उनके नीरस जीवन पर बार-बार श्रीपत अट्टहास करता है किन्तु वे अंजो के

[1] वही.पृष्ठ सं-30
[2] वही-पृष्ठ सं-42
[3] वही.पृष्ठ सं-54
[4] वही.पृष्ठ सं-53

कारण यांत्रिक जीवन जीने को विवश है। नाटककार ने इन्द्रनारायण के विवाहपूर्व जिस प्रकार के जीवन का वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि अंजो की तानाशाही के कारण वे इस जीवन शैली को अपनाने को विवश हुए। कथा के दूसरे अंक के अंत में वे कहते हैं-**"ज़रा-सी गलती पर अपनी सनक में तुमने मेरे पाँच बरस रेगिस्तान बना डाले अंजो, मैं तुम्हें क्या कहूँ। इस कमरे पर बरसों से तुम्हारा जादू तारी है,पर श्रीपत ठीक कहता है,यह जादू टूटना चाहिए,इस घर को उस घड़ी की तरह नहीं, इंसानों की तरह जीना चाहिए।"**[1]

अंजो के पुत्र नीरज की कुंठा और दमन को भी श्रीपत के प्रयासों द्वारा ही स्वर मिला है। शांत और अंजो की आज्ञा को जीवन का अंतिम सत्य मानने वाला उसका पुत्र, श्रीपत के सम्मुख अपनी सभी इच्छों का जिक्र कर देता है उसके भीतर अपनी इच्छा से कुछ कर सकने की पहली उम्मीद उसके मामा के माध्यम से उसे मिलती है किन्तु अंजो के आदर्श नीरज की इच्छाओं का दमन कर देती है, जिसके परिणामस्वरूप ही अपनी अधूरी कामना को वो अपने पुत्र नीलम के माध्यम से फलीभूत करना चाहता है। दमन का यह हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी किस प्रकार हस्तांतरित हो रहा है इस समस्या को सामने लाना ही नाटककार का उद्देश्य है। मनुष्य की जीवन शैली, इच्छाओं व बालकों के नैसर्गिक रुझान का दमन विशेष रूप से इस नाटक में दृष्टव्य है। अंजो का नानाजी द्वारा,नीरज का अंजो द्वारा और नीलू का नीरज और ओमी दमन, उस दमन चक्र का सूचक है जिसका पीढ़ी दर पीढ़ी परिवार के सदस्यों द्वारा हस्तांतरण हो रहा है। नाटककार अश्क जी ने ओमी के माध्यम से एक नई अंजो के चरित्र को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर श्रीपत कहता है – **"मैंने गलत कहा,तुम अंजो दीदी से एक कदम आगे हो। तुम्हें किसी हस्पताल की मेट्रन होना चाहिए।"**[2]इस प्रकार नाटककार ने संकेत किया है कि पीढ़ी दर पीढ़ी उसी मानसिकता को पोषित किया जा रहा है। वही नीलू नीरज की प्रतिच्छाया है, अंजो की मृत्यु के बाद भी सबकुछ घड़ी की सुई के अनुसार ही ओमी करती है। ओमी पुनः अंजो की प्रतिमूर्ति या उससे और अधिक तानाशाह प्रतीत होती है जिसके कारण ही नीलू कवि बनने की इच्छा के बावजूद श्रीपत से कहता है कि –"**पर मम्मी कहती हैं यह सब पागलों के काम हैं ,तुझे कमिशनर बन कर जिलों पर राज करना है ... पापा कहते हैं कि तू क्रिकेट खेला कर , क्रिकेट खेलेगा तो मनकद, हजारों, अमरनाथ की तरह प्रसिद्ध हो जाएगा..।"**[3] दुबला पतला होने के बावजूद नीरज अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को अपनी संतान के माध्यम से फलीभूत करना चाहता है। वहीं ओमी अपनी सास की इच्छा कमिशनर बनाने के स्वप्न को पूरा होते देखना चाहती है। किन्तु नीलू की इच्छा,जो कि कवि बनने की है उसका दोहरा दमन किया जाता है और यह दमन चक्र निरंतर चलता रहता है। नीरज की इच्छाओं का अंजो द्वारा दमन किया गया किन्तु उसका परिणाम अंत में सकारात्मक नहीं दिखाई पड़ता, नीरज आई.सी.एस नहीं बन पाता; अंजो के आदर्श पर दूसरे अंक में नीरज व्यंग्य करता नजर आता है; उसके चरित्र में शिष्टता नहीं है वह अपनी कुंठा बार-बार व्यक्त करने को उतारू रहता है–**"मन क्रिकेट में, आँखें पढ़ाई में, नतीजा तुम्हारे सामने है। न क्रिकेट के कप्तान बने, न आई.सी.एस।"**[4] नीरज के चरित्र की असफलता है कि अंजो ने जो इच्छाएं उसपर थोपी, वही इच्छाएं वह अपने पुत्र नीरू पर थोपता है और उस दमन चक्र को पुनः संचालित करता है। अश्क जी के इस नाटक में सभी चरित्र अपने जीवन से असन्तुष्ट दिखलाई पड़ते हैं। कथाकार **कमलेश्वर** प्रस्तुत नाटक की भूमिका में इस नाटक के विषय में लिखते हैं कि –**"संभवतः हिन्दी नाटकों में अभी तक इतनी निर्मल कहानी भी नहीं आयी। ...इस नाटक में कहीं भी कलुष,वासना या विकृत प्रेम आ ही नहीं पाता। एक अति-साधारण बात को उठा कर**

[1] वहीं.पृष्ठ सं-108
[2] वही.पृष्ठ सं-85
[3] वही.पृष्ठ सं-93
[4] वही.पृष्ठ सं-77

उस वर्ग के जिस यथार्थ का उद्घाटन इसमें हो गया है, वह भी उसकी मुख्य समस्या है यह सहसा दिखाई पड़ने लगता है। प्रेम, अर्थ आदि से परे चारित्रिक मनोवृत्तियाँ, ग्रंथियां और विलक्षणताएं भी हैं, जो आकस्मिक परिस्थितियों के आभाव में जीवन को प्रभावित करके तोड़ती और बनाती रहती है।"[1]

निष्कर्ष – उपेन्द्र नाथ अश्क हिन्दी साहित्य के अन्यतम साहित्यकारों में से एक है। उनका सम्पूर्ण साहित्य यथार्थ की भूमि पर सर्जित हुआ है। उर्दू से अपने लेखन की शुरुआत करने वाले अश्क जी को कथाकार के रूप में हिन्दी प्रेमियों से अत्यधिक प्रेम मिला। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति उन्होंने नाट्य विधा में भी अपना बहुमूल्य योगदान दिया। सन् 1954 में रचित 'अंजो दीदी' के माध्यम से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वह हर विधा में प्रसिद्धि के अधिकारी रहे हैं। उनका यह नाटक विषयवस्तु, रचना-विधान और रंगमंचीयता आदि सभी दृष्टियों से प्रौढ़ता का उत्तम उदाहरण है। इस नाटक के द्वारा अश्क जी ने मानव मन की दमित आकांक्षाओं-अभिलाषाओं का जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है, साथ ही समाज में संतुलन बनाए रखने का संदेश भी अपने प्रतिनिधि पात्र श्रीपत के माध्यम दिया है जिसके द्वारा अंधकारमय जीवन जीने को विवश पात्र भी, आशा की लो को तलाश सके। अतः अश्क जी की यह कृति उनकी प्रौढ़तम नाट्य कृतियों में से सर्वश्रेष्ठ है इसमें संदेह नहीं।

सहायक ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. अश्क,उपेन्द्रनाथ,(2016)अंजो दीदी. नीलाभ प्रकाशन.इलाहबाद

सहायक ग्रंथ

1.बच्चन,हरिवंशराय,(2015)हिन्दी आलोचना के बीज शब्द.वाणी प्रकाशन.नई दिल्ली
2.राय,गोपाल,(2010)हिन्दी उपन्यास का इतिहास.राजकमल प्रकाशन.नई दिल्ली
3.(सं)डॉ.,नगेन्द्र,सह (सं) हरदयाल,(2018)हिन्दी साहित्य का इतिहास.नेशनल पब्लिशिंग हाउस.नई दिल्ली
4.तनेजा,जयदेव,(1978)समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच.तक्षशिला प्रकाशन.नई दिल्ली
5.डॉ.अमरनाथ,(2018),हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली.राजकमल प्रकाशन.नई दिल्ली.

[1] वही.भूमिका से.पृष्ठ सं-18

स्त्री पर पारिवारिक हिंसा का दंश और दलित आत्मकथाएँ

डॉ. रितु अहलावत
मो. नं.- 7683055158
ईमेल- ritialwt@gmail.com

सारांश - *'पारिवारिक हिंसा' रिश्तों के बीच हुई हिंसा से संबंधित है इसके अंतर्गत यौन उत्पीड़न, आर्थिक संसाधनों से वंचित करना, हिंसा, मार-पिटाई, स्वास्थ्य को हानि पहुँचाना, मजाक उड़ाना, अश्लीलता, दुष्कर्म, महिला को निर्बुद्धि सिद्ध करना या अपमानित करना, अपशब्द कहना, उसको मानसिक रूप से उत्पीड़ित करना आदि आता है। महिलाओं के साथ होने वाले इस प्रकार के व्यवहार में केवल भारत ही नहीं बल्कि पूरा विश्व ही कटघरे में खड़ा है। वहीं दलित महिलाएँ तो सामाजिक और पारिवारिक दोनों प्रकार की हिंसा झेलती नजर आती हैं। परिवार के भीतर वे शारीरिक मानसिक, आर्थिक और यौन हिंसा का शिकार बनाई जाती हैं। वे इसके खिलाफ आवाज भी नहीं उठा पाती क्योंकि पितृसत्ता के चलते यह सब झेलना उसे संस्कारगत सिखाया जाता है। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक वह जीवन के सभी पड़ावों में किसी न किसी रूप से हिंसा झेलने को विवश रहती है। दलितों द्वारा लिखी गयी सभी आत्मकथाओं में चाहे वह पुरुष द्वारा लिखी गयी हो या स्वयं स्त्री द्वारा पारिवारिक हिंसा के किससे बड़ी संख्या में मौजूद हैं। वहीं दलित स्त्री द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में तो दलित स्त्री जीवन का मूल दंश पारिवारिक हिंसा नजर आता है।*

बीज शब्द - *दलित स्त्री, दलित आत्मकथाएँ, पारिवारिक हिंसा, पितृसत्ता।*

भूमिका - परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है। परिवार पति, पत्नी और बच्चों के सामूहिक संगठन को कहते हैं। मैकाइवर और पेज के अनुसार "परिवार एक ऐसा समूह है, जो पर्याप्त रूप से निश्चित लैंगिक संबंध पर आधारित होता है और जो इतना स्थायी होता है कि उस द्वारा बच्चों के जन्म व पालन-पोषण की व्यवस्था हो जाती है।"[1] परिवार एक समूह मात्र नहीं वरन यह रिश्तों में बंधा एक मजबूत गठबंधन है जिसे बाँधे रखने के लिए किसी ड़ोर, सूत्र या ज़ंजीर की आवश्कता नहीं है। परिवार मनुष्य जीवन की आधारशीला है जिसमें रहकर वह जीवन आचार, संस्कार और अपनी पहचान को ग्रहण करता है। "मनुष्य अपने जीवन का प्रारम्भ परिवार द्वारा ही करता है और उसी से अपने उन गुणों व विशेषताओं को विकसित करता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्निहित विद्यमान रहता है।"[2] परिवार में निर्भरता का जीवन जीने वाले मनुष्य का वास्तविक रूप परिवर्तन तब हो जाता है जब वह विवाह कर एक परिवार के मुखिया के रूप में उभरता है। पारिवारिक जीवन की जिम्मेदारियों को अपनाकर वह एक पूर्ण मनुष्य होने का दावेदार बन जाता है। इसके साथ ही वह अपने माता-पिता, भाई-बहन और अन्य रिश्तेदारों के साथ भी अपना संबंध पूर्णत: निभाता है। परिवार में रहकर अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करते समय मनुष्य कभी-कभी हिंसक भी हो उठता है। पारिवारिक हिंसा के शिकार मुख्य रूप से स्त्री, बच्चे और वृद्धजन बनते हैं। अधिकतर पारिवारिक हिंसा पुरुष द्वारा उनके रक्त संबंधियों पर की जाती है। साथ ही विवाह के बाद बने रिश्तों में वर्चस्ववादी व्यक्ति द्वारा भी हिंसा की जाती है, जैसे पति-पत्नी का रिश्ता, ननद, सास-ससुर, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी आदि द्वारा नव विवाहिता पर की जाने वाली हिंसा आदि। महिलाओं के साथ घर में होने वाले अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न और पारिवारिक हिंसा का लम्बा चौड़ा इतिहास रहा है। विश्व भर में स्त्री पितृसत्ता से उत्पीड़ित है। "व्यक्ति पहले राष्ट्र के संबंध में हिंसक हुआ, उसके बाद अपने समाज के संबंध में, आजकल

[1] राधिका गोयल, बुक एन्क्लेव प्रकाशक, *समाजशास्त्र के सिद्धांत*, जयपुर, संस्करण : 2007, पृष्ठ-144
[2] राधिका गोयल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत*, वही, पृष्ठ-143

तो हद यह है कि उसने अपने घर-परिवार को भी हिंसा का शिकार बनाना प्रारंभ कर दिया है।"[1] पारिवारिक हिंसा के अंतर्गत यौन उत्पीड़न, आर्थिक संसाधनों से वंचित करना, मार-पिटाई, स्वास्थ्य को हानि पहुँचाना, मजाक उड़ाना, अश्लीलता, दुष्कर्म, महिला को निर्बुद्धि सिद्ध करना या अपमानित करना, अपशब्द कहना, उसको मानसिक रूप से उत्पीड़ित करना, मन मुताबिक निर्णय न लेने के लिए मानसिक दबाव बनाना, किसी कार्य को करने के लिए दबाव डालना, आत्महत्या के लिए उकसाना, तलाक देने की या घर से निकालने की धमकी देना, दहेज़ के नाम पर स्त्री को और उसके परिवरजनों को अपमानित करना आदि अनेकों प्रकार की शारीरिक,मानसिक और आर्थिक हिंसा आती है। विभा देवसरे मानसिक हिंसा के विषय में लिखती हैं "कुकर्मी द्वारा की जा रही मानसिक हिंसा में लगातार मौखिक गाली-गलौज, सताना, अत्यधिक अधिकार प्रदर्शन, महिला को मित्रों और परिवार के सदस्यों से अलग रखना, भौतिक और आर्थिक साधनों को कम कर देना और व्यक्तिगत संपत्ति को नष्ट करना-समिल्लित है।"[2] महिलाओं को अपने पूरे जीवन में इनमे से अनेकों हिंसा का सामना करना पड़ता है। दलित महिला की बात करें तो वह हमारे समाज में परिवार और वर्ग में हाशिए पर जीवन जीने को विवश है। "एक स्त्री के दलित-बोध की पीड़ा, स्त्री होने की पीड़ा के साथ मिलकर और बड़ी हो जाती है। स्त्रियों के मामले में सवर्ण पुरुषों की सोच और दलित पुरुषों की सोच में कोई अंतर नहीं।"[3] वह समाज में जातिवादी हिंसा झेलने के साथ ही पितृसत्ता के चलते पारिवारिक हिंसा भी झेलती को मजबूर है। दलित महिला को आजीविका और अपने अस्तित्व के लिए जीवनभर संघर्ष करना पड़ता है परन्तु उसे अवहेलना और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। मौजूदा ढांचों पर सवाल उठाने या फिर असमानता और दमन को चुनौती देने पर उन्हें हिंसा, अपमान, दुर्व्यवहार व यातना सहनी पड़ती है। दलित महिलाओं को बलात्कार, यौन कर्म, निर्वस्त्र कर घुमाना, डायन घोषित करना आदि अनेकों हिंसा झेलनी पड़ती है। इसके साथ ही वे अशिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ भी झेलने को विवश हैं। हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में दलित स्त्री पर होने वाली असंख्य हिंसा के स्वर सुनाई पड़ते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाले अपराधों में अधिकतम संख्या महिलाओं के विरुद्ध होने वाली हिंसा की होती है, फिर चाहे वह सामाजिक हिंसा हो या पारिवारिक हिंसा। महिलाओं को जीवन के हर स्तर पर पारिवारिक हिंसा से जूझना पड़ता है। पुरुषों की तुलना में शारीरिक रूप से स्त्री का कमजोर होना इसका सबसे बड़ा कारण नजर आता है। इसी कारण जब पुरुष कुछ गलत कार्य करता है और स्त्री उसे रोकती है तो स्त्री को पुरुष द्वारा हिंसा झेलनी पड़ती है। मोहनदास अपनी आत्मकथा में नूर मुहम्मद नाम के कसाई के विषय में बताते हैं कि वह वैश्यालय में जाया करता था। जब उसकी पत्नी अज्जन इस बात का विरोध करने कोठे पर पहुँच जाती तो वह अपनी पत्नी पर हिंसा करता है- "घर आकर वह अज्जन को अपनी जवान बेटियों के सामने ही बुरी तरह से मारता-पीटता था...। रात में जब सब सो जाते तब यह मार-कुटाई होती थी। अज्जन उस बकरी की तरह चीखती थी जिसकी गर्दन पर छुरी चलाई जा रही हो।"[4] ऐसा बोला जाता था कि नूर मुहम्मद तेल लगी लाठी से अपनी पत्नी को नंगा कर के पीटता था। उसके कसाई वाले पेशे ने उसके भीतर की संवेदनाओं को खत्म कर दिया था, वह जानवर और स्त्री में अंतर नहीं समझता था।

बलात्कार अथवा स्त्री की इच्छा के विरुद्ध शारीरिक संबंध बनाना, अप्राकृतिक तरीके से संबंध बनाना, अश्लील साहित्य पढ़ने या चित्र और वीडियो देखने को विवश करना या बच्चों के साथ लैंगिक व्यवहार, अश्लील इशारे कर स्त्री

[1] नरेंद्र शुक्ल(सं.), अविष्कार पब्लिशर्स, घरेलू हिंसा : कारण व निवारण, राजस्थान, प्रथम संस्करण-2011, पृष्ठ-4
[2] विभा देवसरे, आर्य प्रकाश मंडल प्रकाशक, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर*, अजमेर, संस्करण-2008, पृष्ठ-56
[3] हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र*, दिल्ली, तीसरा संस्करण 2014, पृष्ठ-498
[4] मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, *अपने-अपने पिंजरे भाग-1*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1995, आवृत्ति-2009, पृष्ठ-21

को अपमानित करना आदि यौन हिंसा कहलाती है। अधिकांश महिलाएँ पति द्वारा की गयी इस प्रकार की हिंसा के प्रति किसी से कुछ नहीं कह पातीं क्योंकि भारतीय संस्कृति में एक पतिव्रता स्त्री का अपने पति की खामियों को जगजाहिर करना असामाजिक, अशिष्ट और अपमानजनक माना जाता है। पत्नी को यह संस्कार दिए जाते हैं कि उसे अपने साथ हो रहे दुर्व्यवहार को घर की चार दिवारी से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। मोहनदास के बगल वाले घर में रहने वाली महिला अपने पति द्वारा प्रताड़ित किए जाने पर रात में अक्सर ऐसी आवाजें निकालती जो पड़ोसी भी सुनते रहते। ऐसे में मोहनदास की ताई उसे डाँटती है- ""अरी रात भर क्यों चिल्लावे है? तेरा खसम ही तो है।" वह जवाब में कहती, "मइया भौत जुलम करै है।" मौसी प्यार से समझाती-पगली यह जुलम थोड़ी है प्यार करै है।" "पर ऐसा कैसा प्यार...?" वह बीच में बोल उठती। "सभी मरद ऐसई करै है। तुझे पता नई।" मौसी फिर कहती।""[1] इस प्रकार उसे समझा कर उसकी आवाज को दबा दिया गया, सब सहन करना ही उसकी नियति बताया गया। "महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का एक भयानक रूप है घरेलू हिंसा जो प्राय: समाज और जनता के सामने जल्दी नहीं प्रकट हो पाता ...। एक विडंबना यह है कि घरेलू हिंसा का एक बहुत बड़ा जाल घरों के अंदर बचा हुआ है, जो घर के बाहर नहीं आ पाता है। उत्पीड़ित महिला पति के भय, लोक-लाज के भय और समाज में प्रतिष्ठा कम होने के भय से अपना मुँह नहीं खोलती है।"[2] इस वजह से स्त्री-जीवन में पारिवारिक हिंसा खत्म होने का नाम नहीं ले रही है। वे हिंसा को मूक बन बर्दाश्त करती हैं और घुट-घुट कर जीती हैं।

स्त्रियों के विषय में जब कोई बात परिवार के पुरुषों को अखरती है तो वे उनसे बात करने और उनका पक्ष समझने के स्थान पर उनपर हिंसा करने पर उतारू हो जाते हैं। ओमप्रकाश अपना एक अनुभव बताते हैं कि एक दिन उनके पिता और बड़े भाई कुछ वार्तालाप करते हुए बाहर से घर में दाखिल हुए- "अचानक पिताजी गुस्से में उबल पड़े। आंगन में एक डंडा पड़ा हुआ था, उसे उठाकर उन्होंने चाची की पीठ पर जड़ दिया। इस अचानक प्रहार से चाची दोहरी हो गयी थी। उसके मुँह से भयानक चीख निकली थी।"[3] ऐसी स्थिति में किसी भी स्त्री का सकपकाना स्वाभाविक है अत: चाची की भी कुछ ऐसी ही प्रतिप्रिया थी, वह ओमप्रकाश जी की माँ से लिपट गयी और स्वयं को बचाने की गुहार लगाने लगी। आत्मकथा में इस हिंसा का कारण नहीं बताया गया परन्तु यहाँ एक पुरुष का वर्चस्व ही नजर आता है जो बिना किसी वार्तालाप के एक स्त्री को सजा देता हुआ नजर आ रहा है।

स्वयं दलित स्त्रियों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में भी पारिवारिक हिंसा का लम्बा-चौड़ा उल्लेख किया गया है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री का जीवन पग-पग पर विपदाओं से घिरा रहता है। उसकी प्रतिष्ठा का तो कहीं नामोनिशान तक नहीं होता। "पारिवारिक हिंसा में ऐसी अनेक प्रताड़नाएं सम्मिलित हैं जिन्हें गंभीरता की कसौटी पर रखा जा सकता है और इस कसौटी की सबसे जघन्य परिणति 'महिला की हत्या है।"[4] पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के पास कोई अधिकार नहीं होते यदि स्त्री अपने साथ हो रहे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाती है तो सजा उसी को मिलती है। 'दोहरा अभिशाप' में कौशल्या बैसंत्री ने अपनी नानी के साथ होने वाली हिंसा का कई स्थानों पर उल्लेख किया है साथ ही अपने समाज का एक और उदाहरण वे देती हैं कि सखाराम की पत्नी को कार्यस्थल पर एक पुरुष छेड़ता था। जब औरत ने सखाराम से उसकी शिकायत की तब उसने अपनी पत्नी को ही रात भर घर में घुसने नहीं दिया गया और अगली सुबह उस स्त्री के साथ बहुत हिंसक व्यवहार किया गया - "उसके बदन पर सिर्फ चोली थी और वह एक छोटा सा कपड़ा पहने

[1] मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, *अपने-अपने पिंजरे भाग-2*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1995, आवृत्ति-2009, पृष्ठ-37
[2] विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-46
[3] ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, *जूठन भाग-1*, पहला संस्करण-1999, चौथी आवृत्ति-2009, पृष्ठ-37
[4] विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-50

थी। उसके माथे पर सफ़ेद रंग की बिंदिया लगाई गयी और उसके गले में चप्पलों की माला पहनाई गयी। उसे गधे पर बिठाकर पूरी बस्ती में घुमाया गया। बस्ती के लोग हो-हल्ला मचाकर उसे बस्ती के बाहर निकालकर आए... रात में वह बस्ती के कुँए में कूद गयी।"[1] अपने ही पति के द्वारा उसके साथ ऐसा मानवता को शर्मसार कर देने वाला व्यवहार उसे कुँए में कूदकर आत्महत्या कर देने को विवश कर देता है। डॉ. मंजू सुमन के अनुसार दलित समाज सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा होता है और परिवारों में स्त्रियों की स्थिति कुछ ऐसी होती है- "परिवार में किसी प्रकार का संकट, परेशानी और दिक्कत आने पर अंत में समस्या का समाधान लात-घूसों और डंडों से पिटाई करके किया जाता है। इस प्रकार की स्थितियाँ जब सर के ऊपर होकर गुजर जाती हैं, तो वे फांसी लगाकर, विष खाकर, कुँए-तालाब में छलांग लगाकर आत्महत्याएँ कर लेती हैं।"[2] स्पष्ट है कि दलित स्त्री घर के बाहर तो असुरक्षित है ही परन्तु वह घर के भीतर भी सुरक्षित नहीं रहती। 'पत्नी' यह एक ऐसा ओहदा है कि जिसके किसी स्त्री को मिलते ही बहुत सी जिम्मेदारियाँ भी स्वाभाविक रूप से उसे मिल जाती हैं। जिन्हें पूर्ण करने की कोशिशों में स्त्री का पूरा जीवन खप जाता है परन्तु तब भी पति को उसकी सेवाओं से संतुष्टि मिल ही जाएगी इसकी कोई गारंटी नहीं होती। वह घर के हजारों काम बिना शिकायत किए चुपचाप करती है, इस आधार पर उसे एक नौकरानी का दर्जा दे देना न्यायसंगत नहीं, परन्तु कुछ लोग इस बात को नहीं समझते। कौशल्या को अपने जीवन में यह सब झेलना पड़ा। पति(देवेन्द्र) उनका शारीरिक शोषण व हिंसा करता था। कौशल्या लिखती हैं- "अपने मुंह से कहता कि मैं शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना, ख़ुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गन्दी-गन्दी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से। उसकी बहनों ने मुझे बताया था कि वह माँ-बाप, पहली पत्नी को भी पीटता था... देवेन्द्र को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी।"[3] अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए वह कौशल्या जी को पत्नी बना कर घर में लाया था। जब पुरुष एक स्त्री को पत्नी बनाकर अपने घर ले आता है, तो उसका भी यह फर्ज बनता है कि वह स्त्री की भी जरूरतों का ध्यान रखे। परन्तु कौशल्या के पति देवेन्द्र ऐसा नहीं करते थे। वे कौशल्या जी के खर्चों का खयाल न रखकर उनपर आर्थिक हिंसा करते थे। देवेन्द्र घरेलू जरूरत का सामान भी अलमारी में बंद रखता और कहते- "मैंने तुम्हें पालने का ठेका नहीं लिया है। मैंने कहा, शादी के बाद पत्नी को पालने की जिम्मेदारी पति की होती है। मैं भी यहाँ मुफ्त में नहीं खाती। यहाँ काम करती हूँ। तब कहता बाहर जाकर काम करो और खाओ। पत्नी को वह स्वतंत्रता सेनानी भी दासी के रूप में ही देखना चाहता था।"[4] यहाँ यह बात जरूर अखरती है कि जहाँ कौशल्या जी की नानी और माँ अनपढ़ होते हुए भी स्वावलंबी बनी वहीं यह उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद आत्मनिर्भर न बन सकीं। इतने लम्बे अरसे तक वे पति का दुर्व्यवहार सहती रहीं। कौशल्या को जब पाँचवी संतान होने वाली थी तब देवेन्द्र उनके साथ नहीं रुके- "मेरी प्रसूति के दिन एकदम नजदीक थे फिर भी दौरे का कार्यक्रम बनाया। जिस दिन दौरे पर गया हाथ में तीस रूपय पकड़ा दिए और कहा, अस्पताल चली जाना।"[5] इनकी बेटी को भी 102 बुखार था, बावजूद इसके वह कौशल्या के सर पर सारी जिम्मेदारी छोड़ कर चले गये। प्रसूति के बाद वह होस्पिटल में आया और बिना कौशल्या से मिले और बिल अस्पताल का बिल चुकाए वापस लौट गये। वे ड्राइवर को तीस रुपए देकर चले गये जबकि बिल दौ सौ रूपये का था।

जब पारिवारिक झगड़ों के चलते परिवार दो खेमों में बँट जाता है तो एक पक्ष का व्यक्ति दूसरे पक्ष के व्यक्ति के

[1] कौशल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, *दोहरा अभिशाप*, दिल्ली, संस्करण-2012, पृष्ठ-72
[2] मंजू सुमन, गौतम प्रिंटर्स,दलित महिलाऐं, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2013,पृष्ठ-132
[3] कौशल्या बैसंत्री, *दोहरा अभिशाप*, वही, पृष्ठ-104
[4] कौशल्या बैसंत्री, *दोहरा अभिशाप*, वही, पृष्ठ-106
[5] कौशल्या बैसंत्री, *दोहरा अभिशाप*, वही, पृष्ठ-117

लिए मन में इर्ष्या भाव रखने लगता है जिसके चलते परिवार में हिंसा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सूरजपाल के पारिवारिक झगड़े में इनकी बेटी मधुर इनके पक्ष में खड़ी थी जो इनकी पत्नी और बेटे भानु को बर्दाश्त नहीं था। वह अपनी बेटी मधुर से नफरत करने लगी थी। वह समय-समय पर उसे परेशान करती और मारती-पीटती। एक बार मधुर पापा के लिए चाय बनाने रसोई में जाने लगी तो- "विमला ने उसपर थप्पड़ों की बरसात शुरू कर दी। मैं मधुर को छुड़ाने आगे बढ़ा ही था कि भानु ने सोचा कि शयद मैं विमला से झगड़ने जा रहा हूँ, उसने बिना सोचे-समझे मेरे सर के बाल पकड़कर सोफे में दबोच दिया।"[1] यह सब देखकर सूरजपाल अपना मानसिक संतुलन खो बैठे थे। कुछ समझ नहीं आता था कि आखिर यह सब क्यों हो रहा है।

शहरों में पढ़ी-लिखी स्त्री भी हर-रोज न जाने कितनी बार घरेलू हिंसा का शिकार होती है। वे अपने अधिकार और परिवार में अपना स्थान जानते हुए भी अपने साथ हो रही हिंसा के प्रति मौन साधे रहती है। ऐसे में ग्रामीण क्षेत्रों की निरक्षर और अधिकारों के प्रति ज्ञान हीन महिलाओं की स्थिति का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है। ग्रामीण महिलाएँ तो हिंसा को अपनी नियति मान लेती हैं और पुरुष वर्ग हिंसा करने को अपनी मर्दानगी की पहचान मानता है। रूपनारायण के गाँव में हरिशंकर अवस्थी नाम का ब्राह्मण रहता था जो बेहद क्रूर व्यवहार वाला था। गाँव के लोगों के अनुसार वह अपनी पत्नी पर बहुत अत्याचार करता था- "गाँव में गुप-चुप कहा जाता था कि हरिशंकर अवस्थी अपनी पत्नी पर भी अत्याचार करता था जिनको देख-सुन कर लोगों के रोयें खड़े हो जाएँ। वह जलती बीड़ी और सिगरेट से अपनी पत्नी के उरोज और गुप्तांग जलाया करता था।"[2] परिवार चाहे सवर्ण हो या दलित उसमें स्त्री को पितृसत्तात्मकता का सामना करना ही पड़ता है। पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रसित पुरुष चाहे सवर्ण हो या दलित, स्त्री के सम्बन्ध में उनके विचार एक जैसे ही होते हैं। समाज में अपना सम्मान बचाए रखने और पति के द्वारा की जाने वाली हिंसा के भय से वह स्त्री चुप्पी साधे रहती। इस प्रकार की बीमार मानसिकता वाले व्यक्ति स्त्री का जीवन नरक बना देते हैं। ऐसी पुरुषवादी मानसिकता के लोग अपनी बहनों को भी मारते-पीटते हैं। रूपनारायण बताते हैं कि हरिशंकर अवस्थी की बहने छत पर खड़ी थीं- "वहाँ मैंने देखा कि वह छत के ऊपर टहल रही अपनी खूबसूरत बहन को जोर-जोर से मुक्कों से मारते हुए जीने से होकर नीचे के कमरे में ले गया। उसको बांध कर खूब मारा। उसके रोने की आवाजें खूब सुनाई दे रहीं थी।"[3] उसे देख कर घर की स्त्रियाँ काँपती थी। ऐसे व्यक्ति अपनी ताकत और रौब के नशे में परिवार की सभी स्त्रियों को प्रताड़ित किया करते हैं। "महिलाओं के प्रति घरेलू हिंसा हमारे पारिवारिक और सामाजिक जीवन की गंभीर और चिंताजनक वास्तविकता है।"[4] घर की स्त्रियों पर चिल्लाना, उन्हें गालियाँ देना, दहशत में रखना आदि यही ऐसे पुरुषों का जीवन व्यवहार होता है।

परिवार में स्त्री पर जब चाहे कोई इल्जाम लगा कर उसकी पिटाई की जा सकती है। श्यौराज सिंह बेचैन 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' में बताते हैं कि उनके सौतेला पिता बहुत गुस्से वाला था और वह बात-बात पर उनकी माँ पर हिंसा करता था- "भिकारी अम्मा को लाठी-डंडे, क्लाबूत या फरहे से मारता-पीटा करता था."[5]"पारिवारिक हिंसा का सबसे मुख्य कारण यह भी है कि पुरुष का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विक्सित नहीं हो पाता और अपने क्रोध पर नियंत्रण न कर पाने की वजह से या तो हिंसक हो जाता है या नशे का शिकार हो जाता है जिसके कारण हिंसा की प्रवृत्ति और अधिक बढ़ती

[1] सूरजपाल चौहान, वाणी प्रकाशन, *संतप्त*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृष्ठ-107

[2] रूपनारायण सोनकर, शिल्पायन प्रकाशन, *नागफनी*, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ-51

[3] रूपनारायण सोनकर, *नागफनी*, वही, पृष्ठ-52

[4] जी.वी. मधुकर, कल्पाज पब्लिकेशन, *भारतीय नारी और उसका त्याग*, दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ-106

[5] श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन,*मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, दिल्ली, द्वितीय प्रकाशन-2013, पृष्ठ- 29

जाती है."[1] श्यौराज सिंह के चाचा भी इनकी माँ पर हिंसा करते थे। एक बार उन्होंने अपने सौतेले चाचा की जेब से एक रुपया चुरा लिया था। चाचा ने चोरी का इल्जाम उनकी माँ पर लगाया और उनकी बहुत पिटाई की, वे लिखते है- "उसकी कमर पर भिकारी ने पहला वार फरहे से किया। उसके बाद डालचंद ने भी माँ के शरीर पर लाठियाँ बरसाई थीं। उसने सिर बचा कर माँ का सारा शरीर तोड़ दिया था।"[2] उनकी माँ की चीखें ऐसे निकल रही थीं जैसे वे किसी कसाई द्वारा काटी जा रही हों। उन्हें इतनी क्रूरता से मारा गया था कि पूरे शरीर पर घावों के निशान हो गये थे। इस आत्मकथा में स्त्री के साथ पति द्वारा किए गये अन्याय भी देखने को मिलते हैं। लोधी राजपूत नाम का पुरुष अपनी पत्नी चमेली और दो बच्चों के घर में रहते हुए दूसरी औरत को घर ले आया जिससे दुखी होकर चमेली आत्महत्या का प्रयास करती है। यह एक पत्नी के प्रति मानसिक हिंसा ही है। "दूसरे तरह की हिंसा में मानसिक हिंसा प्रमुख है। इस प्रकार की हिंसा कभी-कभी शारीरिक हिंसा से अधिक घातक होती है। इसमें शब्दों का प्रहार महत्वपूर्ण होता है। इसका परिणाम कभी-कभी आत्महत्या के लिए विवश कर देता है।"[3] चमेली के साथ भी मानसिक हिंसा हुई थी जिसके परिणामस्वरूप उसने स्वयं को आग लगा ली जिससे उसका चेहरा और शरीर जल गया। वह अंधी हो गयी और दर-दर की ठोकरें खाने व भीख माँगने को मजबूर हो गयी।

बुरे काम के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को दोषी ठहराना जो उसने किया ही न हो मानसिक हिंसा का कारण बनता है। डॉ. धर्मवीर बहुत से स्थानों पर अपनी बेटियों पर रोक लगाते और उनपर झूठे इल्जाम लगाते नजर आते हैं। वे अपनी बेटियों को न केवल पहरे में रखते थे बल्कि उनको किसी से बात भी नहीं करने देते थे जिसे उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेड़िया' में लिखा है- "मैंने छत पर चारों ओर छह फुट ऊँची जालीदार दीवार कर रखी है। उस दीवार के बनाने का मतलब यही था कि कोई मेरी लड़कियों को बाहर से न देख सके और ये भी किसी से बात न करें।"[4] मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है परन्तु डॉ. धर्मवीर अपनी बेटियों को समाज से काट कर रखना चाहते थे। इतना ही नहीं उनके बताए एक और किस्से से उनकी बिमार मानसिकता और भी स्पष्ट हो जाती है, जब वे लिखते हैं कि उनकी बेटी अनीता अपने पड़ोस के एक नवजात बच्चे को बहुत खिलाने लगी थी जो उन्हें बिल्कुल भी पसंद नहीं था- "मुझे अनीता का उस बालक को खिलाना तब बुरा लगा जब वह उसे उस के पिता से लेती या देती थी। यह मेरे लिए एक घिनौनी बात थी। यह बाप के लिए बर्दाश्त से बाहर की बात थी कि कोई जवान आदमी मेरी जवान बेटी को अपना बच्चा हाथों में थमाए। यह जिस्म से छेड़-छाड़ थी।"[5] इस प्रकार किसी भी स्त्री पर बेतुके आरोप लगाकर उसे समाज में अपमानित करना उसका मान मर्दन करना मानसिक हिंसा के अंतर्गत आता है।

समाज के नियम कायदे स्त्री वर्ग के लिए काफी कड़े रहे हैं, इसके चलते परिवार में उनपर शिकंजा कसा जाता रहा है। तुलसीराम अपनी माँ और स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियों का उदाहरण देकर इस बात की पुष्टि करते हैं। अपनी आत्मकथा मुर्दहिया में वे गाँव की एक लड़की के भाग जाने के बाद दूसरी लड़की की स्थिति कुछ ऐसी बताते हैं- "इस घटना के बाद मठिया की एक अन्य लड़की श्यामा, जो हमारे स्कूल में सातवें दर्जे में पढ़ती थी, की शामत आ गयी। लोग कहने लगे कि वह बाल खोलकर स्कूल जाती है, बेशवा हो गई है। अत: उसकी पढ़ाई छुड़ा दी गयी।"[6] छोटी लड़कियों

[1] नरेंद्र शुक्ल(सं.), घरेलू हिंसा : कारण व निवारण, वही, पृष्ठ-25
[2] श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, दिल्ली, द्वितीय प्रकाशन-2013, पृष्ठ-60
[3] नरेंद्र शुक्ल(सं.), घरेलू हिंसा : कारण व निवारण, वही, पृष्ठ-5
[4] धर्मवीर. वाणी प्रकाशन दिल्ली, *मेरी पत्नी और भेड़िया*, संस्करण-2009, पृष्ठ-791
[5] धर्मवीर. *मेरी पत्नी और भेड़िया*, वही, पृष्ठ-858
[6] तुलसीराम. राजकमल प्रकाशन, *मुर्दहिया*, दिल्ली, पहला संस्करण-2012, तीसरी आवृत्ति-मई, 2015, पृष्ठ-125

के ही नहीं बड़ी औरतों के साथ भी इस प्रकार के दुर्व्यवहार किए जाते थे। तुलसीराम जी अपने पिता के पितृसत्तात्मक व्यवहार के विषय में बताते हैं- "मेरी माँ बस्ती के किसी भी व्यक्ति से बात करती, पिता जी तुरंत उसके चरित्र पर ऊँगली उठाना शुरू कर देते थे। वे माँ को बहुत भद्दी-भद्दी गालियाँ देने लगते थे ...वे अक्सर माँ को फरूही से मारने दौड़ पड़ते थे।"[1] परिवार के मुखिया का ऐसा व्यवहार घर के बेटे के मन में उसके प्रति घृणा पैदा कर देता है। इसके परिणाम स्वरूप तुलसीराम भी अपने पिता के प्रति हिंसक व्यवहार कर बैठते हैं।

भारतीय समाज की यह सबसे बड़ी विडम्बना रही है कि समाज निर्माण में बराबर का महत्व रखने वाली स्त्री को वह सदैव उपेक्षित रखता है। यहाँ तक कि स्वयं स्त्री भी स्त्री को निम्न घोषित करने में पीछे नहीं रहती। भारतीय परिवारों में अधिकतर लड़कियाँ कुपोषित पाई जाती हैं क्योंकि माताएँ दूध-घी, फल आदि जैसी चीजें केवल अपने बेटों को खाने को देती हैं बेटियों को नहीं। शहरों में स्थितियाँ सुधर गयी हैं परन्तु गाँवों में बहुत कम जागरूकता आई है। बच्चों के साथ इस प्रकार का भेदभाव करना पारिवारिक हिंसा के अंतर्गत आता है। सुशीला टाकभौरे की माँ भी उनके साथ ऐसा ही व्यवहार किया करतीं थी। सुशीला अपने भाई के प्रति माँ का अतिरिक्त प्रेम देख कर लिखती है- "माँ उसका ध्यान रखती थीं। अधिक मेहनत मजदूरी करके, पैसे जोड़ कर उसके लिए घी खरीदकर लाती। दूध और अंडा छिपाकर उसे देती। घी लोहे की कोठी में ताला लगाकर रखती ...ठंडी के दिनों में माँ मेथी के दवा के लड्डू बनाकर ताले में रखती। सुबह चाय के साथ पिताजी को देती। "गरम दवाई है"-कहकर हमें नहीं देती।"[2] सुशीला को उनके ऐसे व्यवहार पर गुस्सा आता था। पिता और भाई को दिया जाने वाला अतिरिक्त प्रेम उनके मन में हीन भावना भरता था। विभा देवसरे ऐसी स्थिति को इस प्रकार परिभाषित करती हैं- "पोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं के मामले में लिंग-आधारित भेदभाव महिलाओं के अधिकारों का उल्लंघन माना गया है।"[3] परन्तु भारतीय परिवारों में लड़कियों के साथ अक्सर ऐसा व्यवहार देखने को मिलता है जो लड़कियों के मन को कुंठा से भर देता है।

हिंसा के माध्यम से सदैव से स्त्रियों को चुप करवाया गया है। वे गलत के खिलाफ कुछ बोल न सकें इसलिए उन्हें मार पीट कर रखा जाता है। "कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में अनेक स्थान पर दर्ज हुआ है कि लेखिका पति द्वारा बार-बार पीटी जाती हैं।"[4] सुशीला टाकभौरे के पति सुन्दरलाल टाकभौरे ने उन्हें कभी पत्नी का सम्मान नहीं दिया। सास और ननद इनके पति के सामने इनकी खूब कमियाँ निकालतीं थी और उनकी पिटाई करवातीं, वे अपनी स्थिति के विषय में लिखती हैं कि रेडियो की आवाज ऊँची कर इनकी खूब पिटाई की जाती- "मेरे साथ घर में मारपीट-गाली-गलौज सब कुछ हुआ। बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना, पीठ पर घूंसे मारना-मैंने सब कुछ सहा। बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे... कई बार मुझे लगता, लगातार बाल खींचकर सर पर मारने से कहीं मैं पागल तो नहीं हो गई।"[5] जब सुन्दरलाल इनसे गुस्सा हो जाते तो इन्हें अपमानित करने के लिए इन्हें अपने पैरों में गिरकर माफ़ी माँगने को कहते। सुशीला टाकभौरे का पारिवारिक जीवन अत्यंत वेदनापूर्ण रहा। उन्हें पति, ननद, सास व नंदोई सभी से अपमानित होना पड़ता। दर्द, यातना, उपेक्षा, अमानवीय व्यवहार आदि से उनका जीवन भरा हुआ है। सुशीला जीवन में बहुत लम्बे समय तक आर्थिक हिंसा का शिकार रहीं। सुशीला से मातृसेवा संघ में गंदे कपड़े उठाने की नौकरी करवाई जा रही थी। इनकी

[1] तुलसीराम. *मुर्दहिया*, वही, पृष्ठ-125

[2] सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, *शिकंजे का दर्द*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृष्ठ-66

[3] विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-48

[4] भट्ट, राजेन्द्र(सं). आजकल प्रकाशन विभाग, आजकल, वर्ष-69, अंक : 11; पूर्णांक : 834, मार्च 2014, दिल्ली, पृष्ठ-42

[5] सुशीला टाकभौरे,*शिकंजे का दर्द*, वही, पृष्ठ-196

पूरी तनख्वा सुन्दरलाल ले लेते थे- "ननद के परिवार का पूरा खर्चा उठाने के लिए मुझसे मातृसेवा संघ की नौकरी करवाई जा रही थी। नौकरी करने के बाद भी मेरे लिए खर्चे के रूपये न होने की बात की जाती।"[1] यह आर्थिक हिंसा नहीं तो और क्या था, इनके पास किराए के लिए या लंच के लिए भी पैसे नहीं होते थे।

जब एक दलित स्त्री पैसा कमाने लगती हैं और अपने लिए घर खरीदने चलती है, तब वह घर उसके नहीं उसके पति या पुत्र के नाम खरीदा जाता है। यह भारतीय सामाजिक परम्परा रही है। स्त्री संपत्ति की अधिकारी नहीं हो सकती, उसे इसकी क्या आवश्यकता है। उसे केवल पुरुष वर्ग पर आश्रित रहना है। सुशीला की कमाई से खरीदे जाने वाले फ्लैट के विषय में उनके पति कहते - "मैं अपना यह फ्लैट चिंटू (बेटा) के नाम पर कर दूँगा। तू उसके दरवाजे पर, उसकी मेहरबानी की भीख मांगती हुई बैठी रहना, रिरियाती रहना।"[2] दृष्टव्य है कि इस फ्लैट को खरीदने में सारी आर्थिक जिम्मेदारी सुशीला के ही कन्धों पर थी। पी.एफ., लोन, कर्जा आदि सबकी भरपाई सुशीला की कमाई से होनी थी, बावजूद इसके उन्हीं को भिकारी की स्थिति में पहुंचाने की बातें की जा रहीं थी, ताकि वे हमेशा उनके सामने मस्तक झुकाए रहें और उनकी सारी बातें मानें। "महिलाओं को लिंग-भेद के कारण कानूनी अधिकार, सामाजिक अधिकार और आर्थिक अधिकारों का न मिलना आज भूमंडलीकरण की एक बड़ी चुनौती है।"[3] सुशीला को भी उनके घर में अधिकार हीनता की स्थिति में रहना पड़ा था। यहाँ तक कि अपने द्वारा लिखे काव्य संग्रह और किताबों को भी लम्बे समय तक छपवाना नहीं सकीं थीं क्योंकि उन्हें पति द्वारा घर की जिम्मेदारियाँ दिखाकर रोका जाता रहा था।

निष्कर्ष : दलित आत्मकथाओं में परिवार में होने वाली हिंसा को काफी व्यापक तरीके से मुखरित किया गया है। महिलाओं को परिवार में अपनी भूमिका निभाने के लिए अंसख्य बार हिंसा का शिकार होना पड़ता है। पारिवारिक हिंसा का सबसे ज्यादा शिकार महिलाएँ रही हैं, बच्चों से लेकर बुजुर्ग महिलाएँ पितृसत्ता के कारण हिंसा झेलती रही हैं। दलित महिला को मजदूरी करने के बावजूद घर के भीतर भी काम करने पड़ते हैं, दोहरी श्रमिक जिन्दगी उसे गुजारनी पड़ती है। सामाजिक तौर पर देखा जाए तो दलित महिला और पुरुष को समान रूप से हिंसा झेलनी पड़ती है परन्तु पारिवारिक दृष्टि से दलित स्त्री अनेकों प्रकार की हिंसा झेलती नजर आती है। दलित महिलाओं के साथ हो रही पारिवारिक हिंसा एक चिंताजनक विषय है। ग्रामीण स्त्री हो या शहरों की शिक्षित महिला सभी को परिवार में शारीरिक, आर्थिक और मानसिक आदि सभी प्रकार की हिंसा का शिकार होना पड़ता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. राधिका गोयल, बुक एन्क्लेव प्रकाशक, *समाजशास्त्र के सिद्धांत*, जयपुर, संस्करण : 2007, पृष्ठ-144
2. राधिका गोयल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत*, वही, पृष्ठ-143
3. नरेंद्र शुक्ल(सं.), अविष्कार पब्लिशर्स, घरेलू हिंसा : कारण व निवारण, राजस्थान, प्रथम संस्करण-2011, पृष्ठ-4
4. विभा देवसरे, आर्य प्रकाश मंडल प्रकाशक, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर*, अजमेर, संस्करण-2008, पृष्ठ-56
5. हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, *दलित साहित्य का समाजशास्त्र*, दिल्ली, तीसरा संस्करण 2014, पृष्ठ-498

[1] सुशीला टाकभौरे,*शिकंजे का दर्द*, वही, पृष्ठ-155
[2] सुशीला टाकभौरे,*शिकंजे का दर्द*, वही, पृष्ठ-221
[3] विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-14

6. मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, *अपने-अपने पिंजरे भाग-1*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1995, आवृत्ति-2009, पृष्ठ-21
7. मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, *अपने-अपने पिंजरे भाग-2*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1995, आवृत्ति-2009, पृष्ठ-37
8. विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-46
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, *जूठन भाग-1*, पहला संस्करण-1999, चौथी आवृत्ति-2009, पृष्ठ-37
10. विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-50
11. कौशल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, *दोहरा अभिशाप*, दिल्ली, संस्करण-2012, पृष्ठ-72
12. मंजू सुमन, गौतम प्रिंटर्स,दलित महिलाऐं, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2013,पृष्ठ-132
13. कौशल्या बैसंत्री, *दोहरा अभिशाप*, वही, पृष्ठ-104
14. कौशल्या बैसंत्री, *दोहरा अभिशाप*, वही, पृष्ठ-106
15. कौशल्या बैसंत्री, *दोहरा अभिशाप*, वही, पृष्ठ-117
16. सूरजपाल चौहान, वाणी प्रकाशन, *संतप्त*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृष्ठ-107
17. रूपनारायण सोनकर, शिल्पायन प्रकाशन, *नागफनी*, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ-51
18. रूपनारायण सोनकर, *नागफनी*, वही, पृष्ठ-52
19. जी.वी. मधुकर, कल्पाज पब्लिकेशन, *भारतीय नारी और उसका त्याग*, दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ-106
20. श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन,*मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, दिल्ली, द्वितीय प्रकाशन-2013, पृष्ठ- 29
21. नरेंद्र शुक्ल(सं.), घरेलू हिंसा : कारण व निवारण, वही, पृष्ठ-25
22. श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन, *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*, दिल्ली, द्वितीय प्रकाशन-2013, पृष्ठ-60
23. नरेंद्र शुक्ल(सं.), घरेलू हिंसा : कारण व निवारण, वही, पृष्ठ-5
24. धर्मवीर. वाणी प्रकाशन दिल्ली, *मेरी पत्नी और भेड़िया*, संस्करण-2009, पृष्ठ-791
25. धर्मवीर. *मेरी पत्नी और भेड़िया*, वही, पृष्ठ-858
26. तुलसीराम. राजकमल प्रकाशन, *मुर्दहिया*, दिल्ली, पहला संस्करण-2012, तीसरी आवृत्ति-मई, 2015, पृष्ठ-125
27. तुलसीराम. *मुर्दहिया*, वही, पृष्ठ-125
28. सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, *शिकंजे का दर्द*, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृष्ठ-66
29. विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-48
30. भट्ट, राजेन्द्र(सं). आजकल प्रकाशन विभाग, आजकल, वर्ष-69, अंक : 11; पूर्णांक : 834, मार्च 2014, दिल्ली, पृष्ठ-42
31. सुशीला टाकभौरे,*शिकंजे का दर्द*, वही, पृष्ठ-196
32. सुशीला टाकभौरे,*शिकंजे का दर्द*, वही, पृष्ठ-155
33. सुशीला टाकभौरे,*शिकंजे का दर्द*, वही, पृष्ठ-221
34. विभा देवसरे, *घरेलू हिंसा : वैश्विक स्तर* , वही, पृष्ठ-14

 ISSN: 2454-2725

गाड़िया लोहार(प्रतिज्ञा और वचन से बंधी एक जनजाति)का अवलोकन

रमाकांत
शोधार्थी
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर(मध्य प्रदेश)
मो.क्र. 9977337705
rkbhatanagar@gmail.com

शोध सारांश-*मानव जीवन का पहिऐ से प्रागऐतिहासिक काल से जुडाव हैं पहिऐ के अबिष्कार से मानव जीवन में सकारात्मक बदलाव आया। गति बड़ी जीवन आसान हुआ मगर इतिहास की एक कहानी ऐसी भी है जहाँ पहिऐ से बनी गाड़ियों ने जीवन को यायावर बना दिया न घर का कोई ठिकाना रहा और न जिन्दगी मे कोई स्थाईपन। प्रतिज्ञा और वचन से बंधी उनकी यायावरी आज भी जारी है।*

जब मुगल बादशाह अकबर पूरे हिन्दुस्तान को अपने अधीन करने वाला था सारे राजे रजवाडे उसके सामने झुकते जा रहे थे उस समय महाराणा प्रताप ने मुगलों को कड़ी चुनोती दी थी हल्दी घाटी के युद्ध के बाद यद्यपि चित्तौड हाथ से निकल गया फिर भी उनका संघर्ष जारी रहा इस संघर्ष में जिन लोगों ने महाराणा प्रताप का साथ दिया उनमे गाड़िया लोहारों के पूर्वज भी थे उन्होने महाराणा प्रताप के साथ प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मेवाड को मुगलों से मुक्त नही करा लेगें तब तक वे न तो अपना स्थाई घर बनाऐगे और न तब तक वे मेवाड़ लोटेगे।

गाड़िया लोहार समुदाय ऐतिहासिक रूप से चित्तौगढ़ राजस्थान का एक घुमन्तु समुदाय है जो वर्तमान में मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के साथ साथ भारत के विभिन्न राज्यों में निवास करता है।

शब्द कुंजी- *घुमन्तु, अर्ध घुमन्तु, गाड़िया लोहार, संस्कृति, समस्याऐं।*

प्रस्तावना- गाड़िया लोहार छोटे स्तर पर लोहे के यंत्र और बर्तन तथा अन्य वस्तुऐं बना कर अपनी गाड़ी में(जिसे गाड़िया कहा जाता है)बेचते है जिससे ऐ अपना जीवन यापन करते है। मध्य प्रदेश में ये जातियाँ ग्वालियर, गुना तथा भिण्ड़ जिले की मेहगाँव तेहसील के ग्राम मेघपुरा में विशेष रूप से निवासरत है। मध्य प्रदेश के जिला गुना में गाड़िया लोहारों की एक बस्ती है। ऐ समुदाय यहा कई लम्बे समय से निवासरत है इनकी बस्तियाँ सड़क के किनारे और ऐसे फुटपाथ पर बसे है जहाँ से ये अपना व्यवसाय कर रहे है। ऐ लोग किसी भी मौसम की माार से नही घवराते ऐ अपने समूह में गाँव-गाँव, शहर-शहर से दूर या जंगल में अपने तम्बू गाड़ अपने ढेरे लगाते है और कडी महनत कर अपनी आजीविका चलाते है हालांकि गाड़िया लोहार शहर की अर्थव्यवस्था में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है फिर भी ऐ लोग निरन्तर जबरन बेदखली के भय के बीच बिना किसी पर्याप्त आवासीय व्यवस्था और आधारभूत सुविधाओं के निवास करते है। भूमि आवास और अन्य मूलभूत सुविधाओं के अभाव में जीवन जी रहे इस समुदाय की मुसीबत जबरन बेदखली के लगातार घटनाओं से और बढ़ जाती है। सरकार द्वारा पुनर्वास के अभाव में, प्रभावित परिवार बिना उपयुक्त आवास, पानी और स्वच्छता के बहुत बुरी दशा में उसी स्थान पर रहने को मजबूर है। आस पास कोई शौचालय या स्नानागार न होने के कारण महिलायें खुले मे पूरे कपड़े पहन कर स्नान करने के लिये बाध्य होती है जो उनके स्वास्थ, पानी, सुरक्षा और निजता के मानवाधिकारों का खुला उल्लंघन है।

आलेख का मुख्य भाग- जैसा की आमतौर पर मध्यकालीन दुनिया मे होता था हारे हुऐ हर समुदाए जाति प्रजाति या तो

समर्थक बनालिऐ जाते थे या अपनी हैसियत कायम रखने की जिद मे वो युद्ध अपराधी घोषित कर दिये जाते थे। गाड़िया लोहारों के साथ भी ऐसा ही हुआ। गाड़िया लोहार मुग्लों के युद्ध अपराधी हो गऐ इनके लिऐ ऐ सख्त आदेश थे कि इन्हे ऐसे स्थानों पर अपना ठिकाना बनाना था जहाँ से इन पर नजर रखना आसान हो। लिहाजा ऐ या तो कोतवाली के आसपास निवास करते थे या फिर ऐसी सड़कों के किनारे जहाँ से इनको स्वंय को छिपा लेना मुमकिन नही था मध्य काल बीता तो अंग्रेजों ने भी इन्हे इसी नजर से देखा और ऐ हमेसा थाने के आसपास ही रहने को मजबूर हुऐ। इस लिऐ आज ऐ अधिकांस शहरों में या तो कोतवाली के आसपास या नगर की पट्टी सड़क के किनारे बसे हुऐ मिलते है।

गाड़िया लोहार एक ऐसा समुदाय है जिसकी गाड़ी ही उसका घर होता है। या यह कहा जाऐ कि इनकी सजी धजी गाड़िया ही इनकी पहचान है तो यह कहना गलत नही होगा। इन्ही गाड़ियों के पहियों में इनके घर परिवार के लगातार चलते रहने की कील लगी है। मैने कुछ गाड़िया लोहारों से बात की तो पता चलता है कि ऐ लोग अपनी कुछ प्रतिज्ञाऐं निभाने के लिये घुमन्तु जीवन यापन कर रहे है और आज भी वो प्रतिज्ञाऐं इनकी गाड़ी के पहिओं या कील से बांधी हुई है।

जब मैने इनसे इनके इतिहास के बारे में पूछा तो इन्होंने बताया कि हम लोग या हमारे पूर्वज महाराणा प्रताप के सेना के सिपाही थे। जब सोलहवीं शताब्दी में महाराणा प्रताप का मुगलों से युद्ध चल रहा था तब हम लोग महाराणा प्रताप की सेना का एक अहम हिस्सा थे। इस युद्ध में महाराणा प्रताप की हार हुई और इनका राज्य मेवाड़ मुगलों के हाथों में चला गया।

इस युद्ध से हम लोग इतना दुखी हो गये थे कि हम लोगों ने एक कसम खाई कि जब तक मेवाड़ और चित्तौड़ पर फिर से महाराणा प्रताप सिंह सिसौदिया का राज नही हो जाता तब तक हम लोग अपने घर मेवाड़ नही लौटेंगे और इस तरह तभी से ऐ लोग एक घुमन्तु जाति कि रूप में रह कर अपना जीवन यापन कर रहे है। एक घुमन्तु जीवन यापन करते करते कई दशक और शताब्दियाँ बीत गई लेकिन इन्होंने अपनी प्रतिज्ञाऐं नही तोड़ी और यही प्रतिज्ञाऐं इनकी पहचान बन गई। ऐ गाड़ी में अपनी गृहस्थी जमाते है और निकल पड़ते है अनजान राह की ओर।

गाड़िया लोहारों में एक कला या हुनर की प्रधानता यह है कि ये लोहे को अपने मनोनुकूल आकार में ढालने का इनका अपना एक विशेष हुनर है जो हमेसा इनके साथ रहता है।

पहले यह महाराणा प्रताप की सेना के लिए हथियार बनाया करते थे वही अब ये बदलते समय के साथ साथ घर और खेतों में काम आने वाले लोहे का सामान बनाकर बेचते है। ऐ लोग तवा, कड़ाही, चिमटा से लेकर फावड़ा, छैनी, हथौड़ा भी बनाते है। समय की धूल धूप आँधी, बारिश में भी इनका हुनर ही इनके सिर की छत और पाँव तले की जमीन रहा। ऐ लोग कलात्मक दृष्टि से तो जरूर सम्पन्न है पर आर्थिक रूप से कमजोर है। इन लोगों के ज्यादातर डेरे गाँव से बाहर ही

होते है इसका मुख्य कारण है कि ऐ लोग अन्य किसी समुदाय के साथ मेलजोल ज्यादा पसंद नही करते है। इनका खनपान तथा इनकी रिश्तेदारियाँ भी अपने ही समुदाय में होती है इनकी भाषा में आज भी मेवाड़ भाषा की महक आती है।

गाड़िया लोहार की मान्यताऐं- गाड़िया लोहार की मान्यता है कि वे जब महाराणा प्रताप के सहयोगी के रूप मे युद्ध से लोट रहे थे तब रास्ते में इन्हे भगवान रथ पर बैठे मिले थे गाड़िया लोहार का मानना है कि उस वक्त भगवान के रथ की धुरी टूट गई थी और गाड़िया लोहार ने भगवान के रथ की धुरी को जोड़ दिया था इससे भागवान ने खुश होकर गाड़िया लोहार को वर्दान दिया कि लोहे के काम में तुम्हे कोई भी पराजित नही कर सकता और तब से ही गाड़िया लोहार पीढ़ी दर पीढ़ी पैत्रक कार्य करते आ रहे है। यह एक ऐसी घुमक्कड़ जाती है जो अपना घर कभी नही बनाती है। इनकी कलात्मक बैलगाड़ी ही इनका चलता फिरता घर है। इनके जीवन के विभिद रंग इनके इसी गाड़ी में सिमटे रहते है फिर चाहे जन्म हो, मरण हो, परण हो इनके सब काम इनकी गाड़ी मे होते है।

इन लोगों की कलात्मक गाड़ियाँ कई सुन्दर तरीके से सजी होती है। गाड़ियों के विभिन्न हिस्सों में पीतल के गोल कलात्मक पत्रे कील से जुड़े रहते है। गाड़ी के पहिऐं काफी भारी होते है इनके गाड़ी के पहिऐ देखने मे किसी रथ से कम नही लगते। इनकी गाड़ी का रंग गहरा काला होता है ताकि इनकी सुन्दर बहु बेटियों को किसी की नजर न लगे।

पहनावा-

गाड़िया लोहारों में पुरूष धोती व वन्डी पहनते है और इस जाति की महिलाऐं कलात्मक पहनावा पहनती है। गलें में चाँदी का कडा व हाथों में भुजाओं तक लाक, कांच, सीप व ताबें की चूडिया, नाक में लम्बी नथ व पाव में भारी भारी चाँदी के कडे तथा कानों में पीतल या सीप की बड़ी बड़ी बालियाँ पहनती है। इस जाति की महिलाऐं अपने सिर पर आठ से दस तरह की चोटियाँ बनाती है जिनमें कोढ़ियों की माला एक सलिके के साथ गुथी होती है। महिलाऐं अपने पैरों की लम्बाई से आधा फुट छोटा छीटर दार लहंगा पहनती है तथा कमर में काँचली पहनती है और ऐ बदन पर प्राकृतिक फूल पत्तियों की चित्रकारी विभिद रंग से करवाती है। दोनों हाथों में तीन चार गुदना भी गुदवाती है इनका मानना है कि यह गोदना हमारी पहचान विशेष है।

वैवाहिक रीति रिवाज-

 ISSN: 2454-2725

गाड़िया लोहार के विवाह के तोर तरीके भी अनोखे होते है। दुल्हा के घर वालो को दुल्हन पाने के लिऐ एक किलों से लेकर दस किलों तक चाँदीं को दुल्हन के पिता को भेट करनी होती है। इनके विवाह में मयूर पंख का बड़ा महत्व है अग्नि के फैरों के उपरान्त दुल्हा दुल्हन एक दूसरे को मयूर पंख भेट करते है जिसका मतलब होता है कि सुन्दर पंख की तरह अपनी जिन्दगी का सफर प्रकृति के सुन्दर स्थानों पर भ्रमण करते हुऐ बिताऐ। इन लोगों की जब शादी होती है तो वो अपनी पहली मधुर रात हसी खुसी अपनी गाड़ी में ही गुजारते है तथा यह भी तय करते है कि वे अपनी भावी सन्तान को चलती बैलगाड़ी में ही जन्म देंगे ताकि उसे भी घुमक्कड़ संस्कार मिल सके।

प्रतिज्ञाऐं- गाड़िया लोहार की कुछ दृण प्रतिज्ञाऐं है और आज इन्ही प्रतिज्ञाओं को अपने जीवन में अपनाकर एक घुमक्कड़ जीवन यापन कर रहे है एक कहावत थी कि प्राण जाऐ पर वचन न जाऐ वो कहावत को सुनकर ऐसा लगता है कि शायद यह कहावत गाड़िया लोहारों के लिऐ ही बनी है क्योंकि अपने पूर्वजों की प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के लिऐ ये आज जिन्दगी के सभी ऐसो आराम को ठुकराकर एक घुमक्कड़ जीवन यापन कर रहे है। वे प्रतिज्ञाऐं कुछ इस प्रकार है।

1 सिर पर टोपी नही पहनना
2 पलंग पर नही सोना
3 पक्का मकान नही बनाना
4 चिराग नही जलाना
5 कुऐं से पानी नही भरना
6 हुक्के की नली को छोटी रखना
7 कमर में नाड़ा बादना
8 पराई जाति की स्त्री से विवाह नही करना
9 मृत्यु पर ज्यादा विलाप नही करना इनकी दृण प्रतिज्ञाओं में से एक है।

गाड़िया लोहारों के कबीलों में एक मुखिया होता है और उस मुखिया के हुक्म के कारण ऐ एक से ज्यादा कंगे नही रखते कंगा टूटने पर उसे जमीन में दफनाकर ही नया कंगा खरीदते है और नऐं खरीदे गऐ कंगे को कुल देवी के सामने रखकर उसे पवित्र किया जाता है उसके उपरान्त ही उसे बाल सम्भालने के काम में लिया जाता है।

ऐ लोग माचिस कभी नही जलाते बल्कि इनकी अंगीठी में सुल्गते हुऐ कोयले के टुकडे हमेसा पडे रहते है ऐ उसी अंगीठी में नऐ कोयले डालकर आग लगाते है। इन लोगों की मान्यता है कि नई आग जलाने से इनके पुरखों की आत्मा

इन्हे परेशान करने लगती है। ऐ लोग अक्सर कुत्ते को पालते है इनका काफिला जब भी कही से गुजरता है तो प्रत्येक बैलगाड़ी के नीचे नाटे कद के दो तीन कुत्ते नजर आते है।

गाड़िया लोहार के परिवार में जब किसी शिषु का जन्म होता है तो 21 दिन के उपरान्त एक अनोखी रस्म अदा की जाती है इस रस्म में शिषु की पीठ पर लोहे की गरम छड़ दागी जाती है ताकि वह गाड़िया लोहार की सन्तान कहला सके।

निष्कर्ष- अतीत गौरवशाली मगर वर्तमान बेहद परेशान करने वाला, अपनी बात से मुकरने की कभी भी आदत नही, लेकिन इनकी जिन्दगी अपनी हेसियत से ऐसी मुकरी कि कभी उस दोर में लोट ही नही पाई जहाँ वीरता से परिपूर्ण संकल्प के जोश ने उफान मारा था गाड़िया लोहार ने अपनी आजीविका के लिऐ लोहे की कारीगरी को अपनाया कभी अस्त्र शस्त्र बनाने बाले ऐ गाड़िया लोहार आज घरेलू उपयोग के लिए जरूरी उपकरण और ओजार बनाते है इन लोगों की रोजी रोटी इन्ही उपकरणों और ओजारों के सहारे चलती रहती है सड़क किनारे अपना बसेरा डाले हुऐ इन लोगों की जीवन की अर्थ व्यवस्था इन्ही उपकरणों और ओजारों के आसरे चलती है लोहे की कारीगरी के सहारे गाड़िया लोहारों ने सैकडों साल गुजार दिऐ लेकिन आज उनका पेशा संकट मे है। बड़े बड़े फैक्ट्रीयों मे बने सस्ते सामानों ने इनकी कमाई पर करारी चोट की है।

पिछले दशाकों में उदार होती देश की अर्थ व्यवस्था ने इन गाड़िया लोहारों के प्रति कोई उदारता नही बरती, जिसके चलते आज इनके बच्चों व परिवार के सामने एक गहरा संकट आ गया है इनका जीवन यापन बड़ी मुश्किल से चल पा रहा है और आज इस मासिंक त्यैरी को थामने के लिऐ ने तो प्रशासन तैयार है और न सरकार को इनकी दरकार है शदियों से सड़कों पर पलती इस जिन्दगी को आज भी पुलिस की धमकी मिलती रहती है। अस्थाई बसेरे मे पलती जिन्दगी पर असामाजिक तत्वों की भी नजरें रहती है शासन प्रशासन इनकी तरफ पूरी तरह से नही तो कम से कम विकाश से सन्दर्भ मे पूरी तरह उदासीन है। रोजगार से भी ऐ लोग प्रतिदिन के हिसाब से 100 या 200 रूपऐ ही कमा पाते है और आज इस मेहगांई के दोर मे इस कमाई का कोई ओचित्य नही है।

पिछडेंपन के अंधेरे में विकाश का उजियारा शायद इसीलिऐ भी दस्तक नही दे पाता है क्योंकि इन्हे ओपचारिक रूप से भारतीय नागरिकता भी हासिल नही है। वोटर लिस्ट की सूची में इनको वोटर होने में रूचि नही है।

वोटर कार्ड नही होने से आधार कार्ड भी इनके नही बन पाऐ ऐसे मे आधार कार्ड को आधार बनाकर हासिल होती सुबिधाओं की परिधी में ऐ आते ही नही इस जाति के बारे मे सबसे गम्भीर बात यह है कि ऐ जाति वोटर कास्ट नही है। चूकि ऐ वोटर नही है इसलिऐ किसी भी पार्टी या राजनैतिक पार्टी ने इनके ऊपर ध्यान ही नही दिया जिसके कारण ऐ जहाँ थे वही रह गऐ। इन हालात में इनके स्थायी बसेरे की कल्पना के साकार होने मे वास्तविकता की कूररता आड़े आती हैं सपने इनके भी है मगर अपनों की परबरिश की दबाब में सपने बिखर गऐ है।

संदर्भ सूची-

1. डॉ. श्रीकृष्ण काकड़े, 2021, विमुक्त जातियाँः समाज, भाषा और संस्कृति, आदिवासी लोककला एंव बोली विकास अकादमी मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल, पृ.क्र. 16
2. रमणिका गुप्ता, 2015, विमुक्त घुमन्तु आदिवासियों का मुक्ति संघर्ष, सम्यक प्रकाशन. दिल्ली, पृ.क्र.86

3. डॉ. दत्तात्रय रामचंद्र भोसले, 2020, घुमन्तु जनजाति साहित्य एंव समस्याऐं, हिन्दी बुक सेन्टर. दिल्ली, पृ.क्र.56
4. घनश्याम मैथिल अमृत, 2017, एक लोहार की लघु कथा संगृह, अपना प्रकाशन, गोविन्द पुरा भोपाल मध्य प्रदेश, पृ.क्र.45
5. बसन्त निरगुणे, 2016, मध्य प्रदेश की विमुक्त जातियाँ और जन जातियाँ, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, पृ.क्र.12

जयपाल सिंह मुंडा एक आदिवासी नायक

मोहन
पीएचडी शोधार्थी, जनजातीय अध्ययन विभाग
इंदिरा गांधी नैशनल ट्राइबल यूनिवर्सिटी , अमरकंटक (मध्यप्रदेश)
मोबाईल- 8890112466
ईमेल – mohanmeena121s@gmail.com

सारांश – *प्रस्तुत शोध पत्र में आदिवासी नायकों में से एक जयपाल सिंह मुंडा की जीवनी लिखी गई है। इसमे बताया गया है की कैसे एक प्रतिभावान आदिवासी नायक जिसकी कप्तानी में भारत ने हॉकी ओलंपिक का स्वर्ण पदक जीता, को इतिहासकारों ने भुला दिया। कैसे एक आदिवासी बालक झारखंड के टकरा गाँव से संत जॉन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड पढ़ने गया का वर्णन भी पत्र में किया गया है। ऑक्सफोर्ड, इंग्लैंड जाकर कैसे अखिल भारतीय सिवील सेवा जॉइन की ओर फिर देश के लिए हॉकी खेलने के लिए सेवा को छोड़ना पड़ा उक्त विषय पर भी पत्र में प्रकाश डाला गया है। संविधान सभा में जयपाल सिंह मुंडा ने आदिवासी समुदाय से संबंधित प्रश्नों पर मुखर होकर किस प्रकार अपने विचार रखे यह शोध पत्र में बताया गया है। प्रथम आम चुनावों में किस प्रकार झारखंड पार्टी ने कॉंग्रेस का सफाया किया ओर स्वयं खूंटी से सांसद चुनकर दिल्ली गए। किस प्रकार मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों ओर नेताओ ने छल करके उनकी पार्टी को विलय के लिए उन्हे मजबूर कर दिया। शोध पत्र में जयपाल सिंह का देश के आदिवासी समुदाय के लिए उल्लेखनीय योगदान का भी वर्णन किया गया है।*

बीज शब्द – *जयपाल सिंह मुंडा, हॉकी, संविधान सभा, आदिवासी महासभा, झारखंड पार्टी।*

शोध आलेख

"संविधान तुम्हारा है, सीमाए तुम्हारी है, संप्रभुता तुम्हारी है, झण्डा तुम्हारा है,
हमारा क्या है ?
क्या है तुम्हारे प्रस्तावित संविधान में जो आदिवासियों ओर मुख्यधारा, दोनों के लिए एक समान है"

-जयपाल सिंह मुंडा 'सविधान सभा में'

फोटो स्त्रोत – अश्विनी कुमार पंकज मरंग गोमके जयपाल सिंह मुंडा (पंकज, 2019)[1]

विश्व के आदिवासीयो की एक बड़ी आबादी भारत में निवास करती है जिनकी जनसंख्या 2011 की जनगणना के अनुसार 104.08 (Office of the Registrar General & Census Commissioner, 2011)[2] मिलियन है जो की देश की

आबादी का 8.6 प्रतिशत है। यहा के आदिवासीयो ने अपनी संस्कृति , भाषा , भूमि की रक्षा के लिए बाहरी आक्रामक शक्तियों के खिलाफ लगातार संघर्ष किया है। इन संघर्षों में अनेक महान आदिवासी नायकों का योगदान रहा है तथा उन्होंने अपने प्राणों का न्योछावर किया है। जिसमे बिरसा मुंडा (1875-1900), टंट्या भील [इंडियन रोबिंहुड](1840-1889), जबरा पहाड़िया उर्फ तिलका मांझी (1750-1785), शहीद वीर नारायण सिंह (1795 - 10 दिसंबर 1857), रानी गाइडिलिउ (26 जनवरी 1915- 17 फ़रवरी 1993, मणिपुर), सिद्धो ओर कानहु मुर्मू जैसे अनेकों नायक है। परंतु आदिवासी समुदाय कभी गैर आदिवासियों की तरह अपने इन नायकों की मूर्ति बना कर पूजा नहीं करता क्योंकि वह इन्हे अपने पुरखे मानता है, ओर आदिवासियों का मानना है की इस दुनिया से चले जाने के बाद भी उनके पूर्वज उनके साथ ही रहते है। आदिवासी समुदाय की इसी धारणा की वजह से बहुत सारे आदिवासी नायक गुमनामी के अंधेरे में चले गए। जिनमे से जयपाल सिंह मुंडा भी एक महान आदिवासी नायक थे जिन्होंने संवैधानिक सभा में आदिवासी समुदाय से जुड़े प्रश्नों को प्रमुखता से उठाया परंतु उसके बाद भी देश का एक बड़ा तबका उनके नाम से आज तक अनजान है। उनके नाम से अनजान होने के पीछे इतिहासकारों द्वारा उनके साथ किया गया अन्याय है जिन्होंने उन्हे इतिहास में उचित स्थान नहीं दिया। जयपाल सिंह मुंडा का अगर कही इतिहास में जिक्र भी हुआ है तो उन पर लिखने वाले लेखकों ने उन्हे गलत नजरिए से आँकने की भूल की है उनकी शख्सियत को समझने के लिए जरूरी था की लेखक की आदिवासियत के प्रति गहरी समझ हो।

जयपाल सिंह मुंडा का लोकप्रिय उपनाम मरंग गोमके (सर्वोच्च नेता) का जन्म 3 जनवरी 1903 को टकरा पहनटोली खूंटी झारखंड में मुंडा समुदाय में होरो (कच्छप) गोत्र में हुआ इनका पारिवारिक नाम परमोद पाहन था (दत्त, 2017)[3] । इनके पिता का नाम अमरु पाहन व माता का नाम राधामुनी था उनकी बड़ी बहन का नाम क्रिस्टोमनी व छोटे भाई जय श्री ओर रघुनाथ , चार ओर छोटी बहने थी। 1908 में जयपाल सिंह ने संत पॉल प्राइमेरी स्कूल, टकरा में प्रातमिक शिक्षा ल्यूकस मास्टर से ली। उसके बाद आगे की शिक्षा संत पॉल स्कूल रांची से प्राप्त की जहा पर उन्होंने 1911 में दाखिला लिया था। रांची में पढ़ते समय संत पॉल स्कूल के प्रिन्सपल केनोन कोसग्राव के काफी नजदीक आ गए। कोसगरेव उनकी विलक्षण प्रतिभा से काफी प्रभावित थे । बाद में नोकरी से रिटायर होने के बाद इंग्लैंड जाते समय केनोन कोसग्रावे अपने साथ जयपाल सिंह मुंडा को भी इंग्लैंड 1918 में ले गए जहा से उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की।

जयपाल सिंह मुंडा अपने गुरु कोसग्रव के साथ दिसम्बर 1918 को दरलिंघटन, इंग्लैंड पहुचे वहा ईसाई धर्म की दीक्षा ली परंतु कभी ईसाई जैसा आचरण नहीं किया। अगले वर्ष उन्होंने संत अगस्टीन कॉलेज, कैटबरी में प्रवेश लिया। सन 1922 में संत जॉन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड से मेट्रिक उत्तीर्ण की। जयपाल सिंह मुंडा को बचपन से ही खेलों में बहुत रुचि थी इसी रुचि के कारण 1923 से 1928 तक हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट, रग्बी, घुड़सवारी के नियमित खिलाड़ी रहे तथा हॉकी में उन्होंने कॉलेज, विश्वविद्यालय ओर इंग्लैंड की व्यावसायिक टीमों की कप्तानी भी की। संत जॉन कॉलेज में वे "डिबेटिंग सोसाइटी" के महासचिव बने बाद में वे उसके अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए। जयपाल सिंह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के जर्नल 'आइ सी ऍस' में तथा द टाइम्स आदि प्रमुख पत्र पत्रिकाओ में खेलों पर निरंतर लेख लिखते रहते थे। वे ऑक्सफोर्ड के पहले हॉकी 'ब्लू कॉर्नर' एशियाई थे। हॉकी में जयपाल सिंह को अत्यधिक रुचि होने के कारण उन्होंने 'इंडियन स्टूडेंट हॉकी फेडरैशन' की स्थापना की थी। संत जॉन कॉलेज ऑक्सफोर्ड से 1926 में 'अर्थशास्त्र ऑनर्स' में स्नातक की उपाधि प्राप्त की ।

जयपाल सिंह 1927 में भारतीय सिविल सेवा में चयनित होने वाले पहले आदिवासी थे

परंतु उन्हे हॉकी की कप्तानी के कारण सेवा का त्याग करना पड़ा। जयपाल सिंह अपनी आत्मकथा में लिखते है की 1928 में एम्सटर्डम ओलंपिक में खेलने वाली भारतीय हॉकी टीम का नेतृत्व करने के लिए उन्हे भारतीय स्पोर्ट्स बोर्ड के सेक्रेटरी व सहायक सेक्रेटरी कर्नल ब्रूस टर्नबउल ओर मेजर *रिकेट्स ने प्रस्ताव दिया। जयपाल सिंह ने उनके प्रस्ताव को मानते हुए भारतीय हॉकी टीम की कप्तानी का प्रस्ताव स्वीकार किया। उन्ही की कप्तानी में भारतीय हॉकी टीम ने 1928* के एम्सटर्डम ओलंपिक में *गोल्ड मेडल जीता जो उस समय भारत के लिए गर्व की बात थी की एक उपनिवेश ने ओलंपिक जीता था। ओलंपिक के बीच में टीम के मैनेजर के नस्लभेदी रवैये के कारण जयपाल सिंह अंतिम मैच में शामिल नहीं हुए। ओलंपिक समाप्त होने के बाद जब वह वापिस भारतीय सिविल सेवा जॉइन करने के पहुचे तो उन्हे कहा गया की उन्होंने ओलंपिक खेलों में जाने के लिए इंडिया ऑफिस, लंदन से अनुमति नहीं ली थी जो की सेवा नियमों का उलँघन था इसलिए उनकी परिवीक्षा अवधि एक वर्ष के लिए बढाई जाती है। उन्होंने अपनी आत्मकथा* (Singh, 2004)[4] *में लिखा की की भारत का ओलंपिक जीतना ओर उनका उस टीम का कप्तान होना अंग्रेजों के लिए कोई महत्व नहीं रखता था। इसलिए परिवीक्षा अवधि बढ़ाए जाने से उन्होंने भारतीय सिविल सेवा से इस्तीफा दे दिया। इसके बाद उन्होंने रॉयल डच शेल कंपनी में एक बड़े पद पर कार्य किया जहा उन्हे 750 पाउन्ड प्रतिमाह मिलता था जबकि उस समय भारतीय सिविल सेवा के अधिकारियों को 400 पाउन्ड ही मिलता था। जयपाल सिंह इतने बड़े ओहदे पर पहुचने वाले पहले भारतीय थे। उन्होंने 15 जनवरी 1932 को तारा मजूमदार से दार्जिलिंग में विवाह किया जो की उस समय के बड़े कॉंग्रेसी नेता डब्ल्यू. सी. बनर्जी की नतिनी थी। जयपाल सिंह मुंडा बीकानेर स्टेट के विदेश मंत्री भी रहे। वे गोल्ड कोस्ट, घाना (अफ्रीका) में अचीमोता कॉलेज ओर राजकुमार कॉलेज, रायपुर के प्रिन्सपल भी रहे। भारत आने के बाद व रायपुर से नोकरी छोड़ने के बाद पहली बार पटना होते हुए रांची होकर अपने गाव गए। वहा अपने आदिवासी समुदाय के लोगों की दुर्दशा देखकर जयपाल सिंह ने राजनीति में आने का फैसला लिया ताकि बाहरी दिकुओ के शोषण से उनकी रक्षा की जा सके ओर उनकी आवाज बन सके। जब राजनीति में जाने की बात उन्होंने अपनी माता को बताई तो उनकी माता ने उन्हे कहा की "जो तुम्हें अच्छा लगता है करो, लेकिन कभी किसी से कुछ पाने की उम्मीद मत रखना"। 1938 जयपाल सिंह ने संथाल परगना के आदिवासियों को जोड़ते हुए आदिवासी महासभा का गठन किया।* उन्होंने मध्य पूर्वी भारत के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में आदिवासियों को शोषण, अन्याय, अत्याचार से बचाने के लिए वर्तमान झारखंड, ओडिशा का उत्तरी भाग, छत्तीसगढ़ ओर बंगाल के कुछ हिस्सों को मिलाकर आदिवासी राज्य बनाने की मांग प्रस्तावित की। उनकी मांग उस समय तो पूरी नहीं हुई जिसका परिणाम यह निकला की आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासियों पर बढ़ते हुए गैर आदिवासियों के शोषण ओर अत्याचार के खिलाफ नक्सलवाद जैसी हिंसात्मक चिंगारी पैदा हुई। जयपाल सिंह के इस दुनिया से जाने के 30 वर्षों बाद उनका अलग राज्य बनाने का सपना झारखंड के रूप में साकार हुआ लेकिन तब तक परिस्थितिया पूर्णत बदल चुकी थी जिस झारखंड में 1951 में आदिवासियों की आबादी 51 प्रतिशत हुआ करती थी वहा 2000 में घटकर 26 प्रतिशत ही रह गई। 25 अप्रैल 1939 को निर्मल मुंडा (एक स्वतंत्रता सेनानी) के नेतृत्व में हजारों आदिवासी किसान कामगारों द्वारा उच्च भूमि करो ओर उनके भूमि अधिकारों को नकारे जाने के विरोध में सिमको (झारखंड ओडिशा बॉर्डर) में प्रदर्शन किया जा रहा था लेकिन गंगापुर राज्य पुलिस ओर अग्रेज पुलिस ने सैकड़ों आदिवासियों पर अंधाधुंध गोली चला कर उन्हे मार डाला, आदिवासी महासभा ने जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में इस जनसंहार की नींद की।

जयपाल सिंह जुलाई, 1946 में संविधान सभा के सदस्य के रूप मे चुने गए ओर जनवरी 1949 तक संविधान संविधान सभा की पूर्णत वर्जित एवं आंशिक वर्जित जनजातीय क्षेत्र (असम को छोड़कर) के सदस्य रहे। संविधान सभा में जनजातीय समुदाय के जयपाल सिंह को मिलाकर कुल 5 सदस्य थे उनमे से जयपाल सिंह ने संविधान सभा की बैठकों में जनजातीय अधिकारों की पुरजोर तरीके से पैरवी की। संविधान सभा की प्रथम बैठक में स्थाई सभापति डॉ राजेन्द्र प्रसाद

को बधाई संदेश देते हुए जयपाल सिंह मुंडा ने निम्न बाते कही :

"सभापति महोदय, मै आपको धन्यवाद देता हू कि आपने नागपुर के आदि-निवासियों के प्रतिनधि की हैसियत से मुझे अपना विचार व्यक्त करने का अवसर दिया। डॉ राजेन्द्र प्रसाद का अभिनन्दन करने को मै चन्द बाते कहना चाहता हू ओर विशेषत: आदि-निवासियों की ओर से। जहा तक मै समझता हू हम केवल पाँच सदस्य ही यहा है। पर हमारी संख्या कई लाख है ओर वस्तुत: भारतवर्ष हमारा है। "क्विट इंडिया" (भारत छोड़ो) कुछ दिनों से प्रचलित हुआ है। मेरी तो यह दृढ़ आशा है कि यहा के आदि-निवासियों के पुन: स्थिर होने ओर पूर्वावस्था में आने का यही समय है। अंग्रेजों को भारत छोड़ने दीजिए, फिर बाद में आए हुए लोग यहा से कुच(जाए) करे ओर तब यहा के मूल निवासी यहा रह जाएंगे। सचमुच हमे बड़ी प्रसन्नता है की हमने डॉ राजेन्द्र प्रसाद को हमने इस परिषद का स्थाई सभापति पाया है। चूंकि डॉ राजेन्द्र प्रसाद उस प्रांत के है जिसके दक्षिणी भाग में आदि-निवासियों का एक बड़ा इलाका है, एक बड़ी आबादी है जैसी भारत भर में और कही नहीं है। हमे विश्वास है की हम अपने मामलों में उनसे पूर्ण सहानुभूति पायेंगे। उनकी योग्यता के संबंध में मै कुछ नहीं कहना चाहता, वह सर्व विदित है। हम यही कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करते है। हमे आशा है की डॉ राजेन्द्र प्रसाद से जहा हमे सहानुभूति मिलेगी, वही यह सभा भी उनके साथ वैसा ही सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करेगी। (हर्षध्वनि)" ((Hindi), 1946)[5]

11 दिसम्बर 1946 ईस्वी, संविधान सभा, नई दिल्ली , जयपाल सिंह मुंडा

जयपाल सिंह मुंडा ने 'आदिवासी लेबर फेडरैशन' की स्थापना 1947 मे की। रांची में 13 अप्रैल 1947 को आदिवासी महासभा का अधिवेशन जयपाल सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। खरसावा का ओडिशा में विलय का विरोध कर रहे सैकड़ों आदिवासियों पर पुलिस ने 1 जनवरी 1948 (जब पूरा देश नया साल मना रहा था) को फायरिंग की जिसमे हजारों आदिवासीयो को अपनी जान गवानी पड़ी। पूर्व सांसद ओर महाराजा पीके देव अपनी किताब "मेमोयर ऑफ बायगान एरा" में लगभग 2000 लोगों के मारे जाने का जिक्र करते है (शांडिल्य, 2019)[6] । इसके विरोध में जयपाल सिंह ने 11 जनवरी 1948 को चायबासा में विशाल प्रदर्शन कर इसे 'आजाद भारत का जलियावाला बाग कांड' नाम दिया तथा इसकी निंदा करते हुए कहा "सरकारों के हाथ आदिवासियों के खून से सने है और वे अपने इस अपराध के लिए दुनिया से मुंह छिपा कर नहीं भाग सकते"| जयपाल सिंह ने खरसावा के शहीदों की श्रद्धांजली सभा में एक कविता पढ़ी जो है –

"शहीद कभी बूढ़े ओर विस्मृत नहीं होंगे, जैसे एक दिन हम हो जाएंगे बूढ़े और खत्म,

काल के पार भी वे जीयेंगे सदियों तक जिन्हे भुलाया नहीं जा सकेगा और

हर दिन सूरज के डूबने और उगने पर हम उन्हे याद करेंगे"।

जयपाल सिंह ने 2 दिसम्बर 1948 की संविधान सभा की चर्चा में दो प्रस्तावों पर अपनी आपत्ति व्यक्त की, एक संविधान में 'आदिवासी' शब्द को हटाकर उसकी जगह 'जनजाति' प्रयोग किए जाने के संदर्भ में। जयपाल सिंह संविधान में 'आदिवासी' शब्द ही चाहते थे क्योंकि उनका कहना था कि हम इस देश के 'प्रथम नागरिक' व 'मूलनिवासी' है जिसको आदिवासी शब्द ही सही रूप में परिलक्षित करता है। जयपाल सिंह ने अनुसूची 5 वी से बहार रह रहे आदिवासियों पर भी क्या अनुसूचित क्षेत्रों के प्रावधान लागू होंगे या नहीं इस पर भी प्रश्न किए। शांतिपूर्ण निरायुध सम्मेलन व जनजातीय समुदाय में प्रचलित प्रथाओ में टकराव को लेकर भी संविधान सभा को जयपाल सिंह ने आदिवासी समुदाय की चिंताओ

से आवगत करवाया। (Assembly, 1948)[7]

जमशेदपुर में 1 जनवरी 1950 को आयोजित आदिवासी महासभा के अधिवेशन में महासभा को एक राजनीतिक पार्टी बनाते हुए इसका नाम 'झारखंड पार्टी' रखा। आदिवासियों के लिए स्वायत्त एक अलग राज्य जहा आदिवासियों की भाषा, संस्कृति, पहचान सुरक्षित रहे सके की स्थापना करवाना इसका प्रमुख उद्देश्य था। इस पार्टी ने मार्च, 1952 में हुए प्रांतीय व केन्द्रीय चुनावों में 'मुर्गा' चुनाव चिन्ह पर चुनाव लड़े तथा प्रांत में 32 विधायक ओर 4 संसद चुने गए। जयपाल सिंह मुंडा स्वयं खूंटी संसदीय क्षेत्र से सांसद निर्वाचित हुए तथा जब तक जीवित रहे 4 बार यहा से सांसद रहे। चुनावों में जयपाल सिंह की झारखंड पार्टी ने कॉंग्रेस का सफाया कर दिया। उनकी पत्नी तारा मजूमदार को जयपाल सिंह का राजनीति में आना पसंद नहीं था इसलिए दोनों में आपसी मनमुटाव रहने लगा ओर 1952 में उन्होंने कानूनी रूप से विवाह विच्छेद कर लिया। जयपाल सिंह ने 7 मई 1952 को जहाआरा जयरत्नम से दूसरा विवाह कर लिया। जब झारखंड राज्य पुनर्गठन आयोग 2 फरवरी 1955 को झारखंड आया तब छल करके बिहार के कुछ कॉंग्रेसियों ने उन्हे आयोग के सामने जाने से रोका। तीसरे आम चुनाव (1962) में झारखंड पार्टी के विधायकों की संख्या घट कर 22 हो गई व 5 लोकसभा सीटें जीती। 22 में से भी धन बल ओर प्रभाव से मजबूत काँग्रेस पार्टी ने उसके 12 गैर आदिवासी विधायकों को खरीद लिया था ओर नेहरू के झुटे वादों पर भरोसा करके जयपाल सिंह ने 20 जून 1963 को झारखंड पार्टी का काँग्रेस में विलय कर दिया जो की काँग्रेस की सोची समझी हुई गहरी सजिस थी। नेहरू ने अपने जीवन काल में ही ऐसे वादों को नकार दिया था। जयपाल सिंह 1967 का लोकसभा चुनाव जीते ये उनके जीवन का अंतिम चुनाव था। कॉंग्रेस पार्टी की चाल समझ जाने के बाद 13 मार्च 1970 को रांची में आयोजित झारखंड पार्टी के सम्मेलन में वापिस पार्टी में लौटने की सार्वजनिक घोषणा की लेकिन जीवित रहते हुए कभी लौट नहीं सके। आदिवासी अधिकारों के इस महान पैरोकार का 20 मार्च 1970 को दिल्ली में अपने सरकारी आवास में निधन हो गया। अंतिम संस्कार मुंडा विधि विधान से इनके पैतृक गाँव टकरा में किया गया व इन्हे अपने पिता के बगल में दफनाया गया (मुंडा जनजाति में शव को दफनाने की प्रथा है)।

इस प्रकार जयपाल सिंह के निधन ने देश के आदिवासी समुदाय की राजनीति में एक शून्य उत्पन्न कर दिया ओर एक युग का अंत हो गया। आदिवासियत को लेकर अपनी गहन समझ से उन्होंने देश के आजाद होने से पहले से लेकर आजाद होने के बाद संविधान सभा में आदिवासी अधिकारों की खुलकर पैरवी की। देश के लिए हॉकी खेलने के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागते हुए 'आइसीऍस' जैसी प्रतिष्ठित नोकरी से इस्तीफा दे दिया। इन्ही की कप्तानी में भारत ने हॉकी में गोल्ड मेडल जीता था। इस प्रकार जयपाल सिंह का जितना योगदान था मुख्य धारा के इतिहासकारों द्वारा हमेशा उसे कम करके आँका गया। अगर इतिहास में कही उनके बारे में लिखा भी गया तो इतिहासकारों ने दो, चार पंक्तियों में लिखकर इतिश्री कर दी। जो की उनके साथ अन्याय है। गैर आदिवासी नेता मृत आदिवासी महानायकों पर श्रद्धा के फूल चढ़ा कर राजनीति कर सकते है परंतु जीते जी वे उन आदिवासी नायकों को कभी पसंद नहीं करते, क्योंकि जीते जी वे उनकी सत्ता को चुनौती देते है जो उन्हे अच्छा नहीं लगता है। आवश्यकता इस बात की है, कि इतिहास में उनके द्वारा दिए गए योगदान को उचित जगह दी जाए यही उनके साथ न्याय होगा।

संदर्भ सूची :-

1. पंकज, अ. क. (2019). मरंग गोमके जयपाल सिंह मुंडा . रांची : प्रभात प्रकाशन .

2. Office of the Registrar General & Census Commissioner, I. (2011). 2011 Census Data. Ministry of Home Affairs,. new delhi: Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. Retrieved from https://censusindia.gov.in/2011-common/censusdata2011.html
3. दत्त, ब. (2017). जयपाल सिंह एक, रोमांचक अनकही कहानी (जीवनी, संस्मरण एवं ऐतिहासिक दुस्तावेज) (प्रथम ed.). न्यू दिल्ली: प्रभात पयापेरबेक्स.
4. Singh, j. (2004). Lo Bir Sendra. (R. Katyayana, Ed.) Ranchi: प्रभात खबर.
5. (Hindi), C. A. (1946). Constituent Assembly Draft Making Debates (Hindi). new Delhi: Constituent Assembly.Retrieved from https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/763236/1/cad_11-12-1946_hindi.pdf#search=null%201946
6. शांडिल्य, म. (2019). 1 जनवरी 1948, जब हुआ था आज़ाद भारत का 'जलियांवाला बाग़ कांड'. खरसावां: बीबीसी हिन्दी. Retrieved from https://www.bbc.com/hindi/india-46725260
7. Assembly, C. (1948). Constituent Assembly Draft Making Debates (Hindi). न्यू दिल्ली: Constituent Assembly. Retrieved from https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/763426/1/cad_02-12-1948_hindi.pdf#search=null%201948

मुकुट बिहारी वर्मा' कृत 'स्त्री समस्या': एक अध्ययन

मिन्नु जोसेफ
शोधार्थी , हिंदी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्यौगिकी विश्वविध्यालय – 682022
केरल
मो नं. 7356585177
ईमेल. minnuj96@gmail.com

सारांश *– साहित्य में स्त्री चेतना के प्रसार की भूमि नवजागरण काल में लेखकों द्वारा तैयार की जा चुकी थी । लेखकों ने साहित्यिक लेखों के माध्यम से स्त्रियों को मुक्ति की राह दिखाई। मुकुट बिहारी वर्मा के आलोचना पुस्तक 'स्त्री समस्या' 1931 में प्रकाशित आलोचनात्मक लेखों का संकलन हैं, जो कई सालों तक अचर्चित रही। स्त्री जीवन की समस्याओं पर लिखित साहित्यिक सामग्री के अभाव को ध्यान में रखकर 'स्त्री समस्या' का लेखन हुआ था, इसमें स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं, उसके यथार्थ कारणों और समस्याओं के समाधानों पर भी विस्तार से विचार किया गया है। पुस्तक में स्त्री-आंदोलन को एक व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास भी है।*

बीज शब्द *– स्त्री ससमस्य- मुकुट बिहारी वर्मा - स्त्री आंदोलन- स्त्री- अर्थोपार्जन- नवजागरण- समस्या।*

शोध आलेख

नवजागरण कालीन आलोचना का उदय किसी बाहरी प्रेरणा से नहीं बल्कि परिवेश और परिस्थिति की आवश्यकताओं से हुआ। तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश से प्रेरित होकर लेखकों ने समालोचना साहित्य को अपनाया। तत्कालीन पाठकों एवं लेखकों के बीच एक अदृश्य से लगाव उत्पन्न करने में इस साहित्य विधा की भूमिका अत्यंत प्रशंसनीय है। हिंदी निबंध एवम् आलोचना साहित्य के विकास में नवजागरण कालीन पत्र-पत्रिकाओं की अहम भूमिका है।

नवजागरण कालीन निबंध व आलोचना साहित्य के विभिन्न प्रकार दिखाई पड़ते हैं। नवजागरण काल के अनेक रचनाएं साहित्यिक इतिहास से छूट जाने के कारण साहित्यिक चर्चाओं से बाहर रह गए। आजकल ऐसे रचनाओं को विभिन्न आलोचकों के प्रयास से प्रकाश में लाया जा रहा है। जैसे कि डॉ 'धर्मवीर' ने 'सीमंतनी उपदेश' को खोज निकाला। इसी प्रकार 'मुकुट बिहारी वर्मा' कृत 'स्त्री समस्या' अचर्चित लेखों का संग्रह हैं।1931 में प्रकाशित यह पुस्तक कई सालों तक अचर्चित रही। 'गरिमा श्रीवास्तव' ने 2018 में इसे संपादित कर पुनर्प्रकाशित किया। स्त्री समस्या पर आधारित सत्रह लेख इसमें संकलित हैं। गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार "मुकुट बिहारी जी ने भारतीय स्त्रियों की समस्याओं पर लिखित सामग्री की अभाव की ओर उचित ध्यान दिलाते हुए 'स्त्री समस्या' पुस्तक को स्त्री की विभिन्न समस्याओं पर विचार करने की दिशा में पहला सुगठित साहित्यिक प्रयास कहा है।"[1] जैसे कि इसके नाम से ही प्रकट है इसमें स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं , कारणों और सुलझन के मार्गों को दिया गया है।

स्त्री समस्या का प्रश्न पहले से ही समाज में उपस्थित है। यह उतना ही प्राचीन है जितना यह संसार। भारतीय एवं

पाश्चात्य आंदोलन के स्वरूप को पहचानने के प्रारंभिक प्रयास करने वालों में मुकुट बिहारी वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। मुकुट बिहारी वर्मा ने तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले स्त्री संबंधी लेखों के गहन अध्ययन किया था। 'फेमिनिज्म' , 'कमिंग रेनेसां' , 'विमेन आफ माडर्न इंडिया' , 'विमेन आफ द फ्रेंच रेवालुशन' , 'विमेन प्रोब्लेम्स आफ टुडे' , 'दुःखी भारत' , इत्यादि पुस्तकों और पत्रिकाओं के गहन अध्ययन, उनके आलोचनात्मक चिंतन में गहराई एवं व्यापकता प्रदान करने में अहम भूमिका निभाई है। 'स्त्री समस्या' में सत्रह लेखों साथ-साथ स्त्री आंदोलन के इतिहास भी संकलित हैं। हरेक लेख में अलग अलग समस्याओं के साथ-साथ पाश्चात्य स्त्री आंदोलन की कमियों और भारतीय स्त्री आंदोलन के स्वरूप पर भी विचार किया गया है।

स्वाभाविक रूप से रचनाकार पर यह प्रश्न उठता है कि एक पुरुष को स्त्रियों की समस्याओं पर कलम चलाने की क्या ज़रूरत है ? इस पर रचनाकार का मत इस प्रकार है- " मैं जो कुछ भी हूं, हूं अपनी माता- एक स्त्री-की देन। मां का मैं पुत्र हूं, इसीलिए मातृ- जाति-स्त्रियों- की समस्याओं पर अपनी , छोटी सी योग्यता एवं शक्ति के साथ विचार और उनका हल करने का प्रयत्न करना मेरा कर्तव्य है।... जबकि ' हम, स्त्री- पुरुष, एक- दूसरे पर अवलंबित है' और ' नारी रूपी शक्ति की अवगणना करने से ही हमारा अध:पतन हुआ है ', तब तो हमारे लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम स्त्रियों की समस्या पर गंभीरता से विचार करे और किसी सुमार्ग की खोज करें।"[1]

'स्त्री समस्या' केवल समस्याओं का संकलन नहीं है। रचनाकार स्त्री समस्या के कई पक्षों का उद्घाटन करते हुए समाज को जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य भी करते हैं। "स्त्री समस्या में जैसे कि इसके नाम से ही प्रकट है, मैंने इसी और ध्यान दिया है, स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं और कठिनाइयों पर (जिन्हें आमतौर पर अयोग्यताएं, 'डिसेबिलिटीज़' कहा जाता है) अंकों और उद्धरणों के तर्कयुक्त विचार करने का प्रयत्न किया गया है; साथ ही, सुलझन और ज्ञान वृध्दि के लिए, परिशिष्ट के रूप में स्त्री आंदोलन और उसके विकास का भी सिंहावलोकन कर उसकी छान बीन की गई है। हिंदी में इस तरह का यह प्रथम ही प्रयास है।"[2]इसमें परिवार धर्म और समाज संबंधी विभिन्न कई के आधार पर विभिन्न स्त्री समस्याओं पर विचार किया गया है। स्त्री स्वतंत्रता, विवाह, पर्दा, शिक्षा, वेश्यावृत्ति, देवदासी, बाल और बेमेल, विवाह, विधवा विवाह, विज्ञापन जैसे अनेक विषयों पर चर्चा की गई है। समाज की नींव परस्पर सहयोग में है। 'स्त्री समस्या' में इसी सहयोग भाव पर बल दिया गया है, जहां स्त्री और पुरुष उन्मुक्त ढंग से एक दूसरे पर आश्रित है।

स्त्री गुलामी के प्रत्येक अवस्था से मुक्त होना चाहती है। स्त्री स्वतंत्रता हिंदी नवजागरण की प्रमुख मांगों में से एक है। स्त्री के द्वारा स्वतंत्रता की मांग को रचनाकार एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया कहते हैं। स्त्री समस्या के समाधान के लिए पाश्चात्य नारियों के अनुकरण करने की प्रक्रिया पर रचनाकार सख्त विरोध प्रकट करते हैं। रचनाकार के अनुसार स्त्री स्वतंत्रता का अर्थ, स्वतंत्र एवं उन्मुक्त व्यवहार द्वारा जीवनोत्कर्ष से हैं।

रचनाकार ने सबसे पहले विभिन्न स्त्री समस्याओं के विवेचन विश्लेषण द्वारा स्त्री जीवन के विभिन्न अनदेखे पहलुओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। मुकुट बिहारी वर्मा एक ही समय में पत्रकार भी हैं और रचनाकार भी हैं। इसलिए समस्याओं के निरूपण में लेखक के रचनात्मक व्यक्तित्व और पत्रकार व्यक्तित्व पूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं। निजी अनुभवों को मौलिक चिंतन के साथ आलोचना में उभारा गया है। लेखक द्वारा उल्लेखित लगभग सभी समस्याएं कई रूपों में आज भी हमारे समाज में उपस्थित है।

समस्या के पीछे कोई-न-कोई कारण ज़रूर होता है। मुकुट बिहारी जी इन कारणों को ढूँढ निकालते हैं। स्त्री समस्या के मूल कारणों में धर्मशास्त्र, धार्मिक रूढियाँ, अशिक्षा, अनुकरण, अंधविश्वास, अर्थ आदि प्रमुख है। पितृसत्तात्मक समाज ने इन कारणों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। रचनाकार इन कारणों की असलियत को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। रचनाकार इस बात को स्थापित करते हैं कि इन कारणों का कोई व्यवस्थित आधार नहीं है। इसमें अर्थव्यवस्था को वे मुख्य कारण मानते हैं। स्त्री-जाति पर पुरुष जो अन्याय करते हैं उसका एक ज़बरदस्त कारण उनकी स्वयं अर्थोपार्जन करने की उपयुक्तता और स्त्रियों का उससे हीन होना है। स्मृतिकारों ने स्त्रियों की तीनों अवस्थाओं में पुरुष के अधीन रहने की सलाह दी है। इसी बात का सहारा लेकर सदियों से स्त्रियों को अर्थोपार्जन की योग्यता से वंचित रखा गया। "नतीजा यह होता है कि जहां कहीं उन पर आर्थिक समस्या आकर पड़ी नहीं कि वह घबरा उठती है।"[1]

आज तक हमारे समाज में समस्याओं के ऊपर मरम्मत हुई है। लेकिन समस्याओं की मरम्मत नहीं बल्कि समाधान ढूंढना अनिवार्य है। बुराई को ढकने के लिए तात्कालिक समाधान ढूंढना भी एक हल नहीं है। इससे समस्या अधिक संगीर्ण हो जाती है। जैसे लड़कियों को कुदृष्टि से बचाने के लिए पर्दा प्रथा और बाल विवाह को स्थापित किया गया, बाद में यही प्रथाएं सबसे बड़ी समस्याएं बन गई। यदि समस्या को खत्म करना है तो मूल कारण को समाप्त करना जरूरी है, जिस प्रकार एक जंगली पौधे को नष्ट करने के लिए जड़ से उखाड़ फेंकना अनिवार्य है।

लेखक का अगला प्रयत्न स्त्री समस्या के समाधान की दिशा में है। रचनाकार की दृष्टि में अधिकार प्राप्ति के लिए कर्तव्य को समझना जरूरी है। कर्तव्य की पहचान अधिकार की ओर बढ़ने का पहला कदम है। तत्कालीन अन्य रचनाकारों के समान मुकुट बिहारी वर्मा स्त्री स्वतंत्रता या स्त्री जीवन की निश्चित सीमा के पक्षपाती नहीं है।' वे जितना पुरुषों के पक्षपाती है उतना स्त्रियों के भी हैं।' उनके अनुसार स्त्री समस्या का समाधान केवल स्त्रियों की ज़िम्मेदारी नहीं है इसमें पुरुष सहित समाज की सक्रिय भागीदारी अनिवार्य है।

स्त्री समस्या के समाधान का पहला कदम है आर्थिक स्वालंबन क्योंकि आर्थिक स्वालंबन व्यक्ति को स्वतंत्र बनाता है। समाज में समानता की एकरूपता रचनाकार का लक्ष्य है। स्त्री समस्याओं को सुलझाने के विभिन्न मार्गों पर 'स्त्री समस्या' में चर्चा की गई है। मुक्ति के लिए पुरुष जैसे बनने से या पुरुष के अंधानुकरण करने से समस्या की जड़ें समाज में और भी सख्त हो जाती है। भारतीय संदर्भ में स्त्री संबंधी दृष्टिकोण में बदलाव लाना जरूरी है। 'अबला' की लेबल से मुक्त होकर वह व्यक्ति बनने की कोशिश में है। स्त्री समस्या के द्वारा रचनाकार का प्रयास भी इसी दिशा में है। स्त्री समस्या के समाधान के लिए रचनाकार आर्थिक स्वालंबन को मुख्य स्थान देते हैं। "अपने हर एक काम के लिए स्त्री को पुरुष के सामने हाथ फैलाना पड़ा। स्त्री की इसी पराधीनता को बाद में उसकी सबसे बड़ी समस्या बन गई। यदि इस समस्या को मिटाना है तो स्त्री को आर्थिक रूप से उसे स्वावलंबी बनना पड़ेगा।"[2]

प्रतिक्रिया एक स्वाभाविक शब्द है। जब शोषण ज़ोर पकड़ते हैं तो प्रतिक्रिया करना प्रकृति का नियम है और यह सहज और स्वाभाविक है। स्त्री आंदोलन भी इसी शोषण परंपरा की प्रतिक्रिया है। विज्ञान भी इस बात का पक्ष धारी है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के सामान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है। समाज में सत्यम,शिवम् , सुंदरम की प्राप्ति के लिए रचनाकार स्त्री आंदोलन को मुख्य कड़ी मानते हैं। "अवश्य उस हालत में कोई किसी का गुलाम न रहेगा, न तो पुरुष स्वामी होगा न स्त्री दासी। सब अपने-अपने स्वतंत्र रहेंगे, खाए-कमाएंगे और मौज करेंगे। आज की तरह बंधन ना रहेंगे;... न स्त्री इस बात

के लिए बाध्य होगी कि, वह घर ही में सीमित रहें और घर गृहस्थी के ही कामों में अपने दिल-दिमाग को खपाया करें।"[1] उनके अनुसार स्त्री आंदोलन का आधार प्रतियोगिता की क्रोध-मूलक भावना ना होकर समाज में संयम और शांति की स्थापना है।

'स्त्री समस्या' समाज को नए भविष्य की नई दिशाएं प्रदान करती है। इसमें स्त्री जीवन के कई हिस्सों पर चर्चा की गई है। समकालीन पाठक को 'स्त्री समस्या' स्त्री जीवन संबंधी एक अलग अनुभव प्रदान करता है। यह पाठक को नए सिरे से सोचने और पढ़ने के लिए विवश करता है। पुस्तक का हर एक शब्द पाठक के मन मस्तिष्क को प्रभावित करता है।

रचनाकार के खोजी व्यक्तित्व और अध्ययन वरिष्ठता 'स्त्री समस्या' को सफलता तक पहुंचाते हैं। लेकिन किन्हीं कारणों से यह रचना अचर्चित और अनुपलब्ध रह गई। रचनाकार के पत्रकार व्यक्तित्व, निजी अनुभव और मौलिक चिंतन 'स्त्री समस्या' को अनूठा बना देते हैं। युगीन त्रुटियों के बावजूद भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से भाषा सहज और स्वाभाविक है। वस्तु और शिल्प की उत्कृष्टता, प्रगतिशीलता, युगबोध, स्त्री संवेदना, विचारों की मौलिकता एवं प्रभावात्मकता वर्तमान संदर्भ में 'स्त्री समस्या' को अन्य स्त्री जीवन संबंधी रचनाओं से अलग पहचान प्रदान करते हैं।

आधार ग्रंथ –

1.गरिमा श्रीवास्तव – स्त्री समस्या, भूमिका,अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.8
2.मुकुट बिहारी वर्मा – स्त्री समस्या, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.10
3.मुकुट बिहारी वर्मा – स्त्री समस्या, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.9
4.मुकुट बिहारी वर्मा – स्त्री समस्या, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.17
5.मुकुट बिहारी वर्मा – स्त्री समस्या, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.32
6.मुकुट बिहारी वर्मा – स्त्री समस्या, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.202

सहायक ग्रंथ सूची-

1. स्त्री समस्या- मुकुट बिहारी वर्मा, (स्त्री आंदोलन के इतिहास सहित)। पहला प्रकाशन – सस्ता साहित्य मंडल, अजमेर (चोवनवां ग्रंथ), नवंबर 1931
2. भूमिका एवं प्रस्तुति – गरिमा श्रीवास्तव, पुनर्प्रकाशन – 2018 , अनन्य प्रकाशन , दिल्ली

 ISSN: 2454-2725

जनजातीय स्त्री के सशक्तीकरण की प्रतिष्ठा करता अनुज लुगुन का काव्य संग्रह 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी'

डॉ. कुमारी उर्वशी,
विभागाध्यक्ष ,हिंदी विभाग,
रांची विमेंस कॉलेज ,रांची, झारखंड, 834001
मोबाइल नंबर:- 9955354365
ईमेल आईडी:- urvashiashutosh@gmail.com

शोध-सार

जनजातीय महिलाओं का सशक्तीकरण समकालीन समय में हम सब देख रहे हैं। लेकिन अनुज लुगुन ने इसे बिरसा के जमाने में देखा। बिरसा मुंडा की बहन बिरसी मुंडा की बात करता यह काव्य संग्रह इस रूप में महत्वपूर्ण है।किसी भी समुदाय के सामाजिक, आर्थिक विकास के लिए महिलाओं की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है।महिलाओं का सशक्तीकरण उन अवधारणाओं में से एक है जो उनकी स्थिति में सुधार के संबंध में विकसित हुई है। जनजातीय समाज की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें स्त्री को भोग की वस्तु नहीं समझा जाता रहा है। अन्य समाज की स्त्रियों की बनिस्बत जनजातीय स्त्रियों को खुलकर जीने की स्वतंत्रता है, उन्हें प्रेम और आंनद की स्वतंत्रता उनका समाज देता है।

'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' कविता संग्रह आदिवासी स्त्रियों की सशक्तीकरण की पुरजोर पैमाइश करता है। यह काव्य संग्रह आदिवासियत के बहुआयामी पक्ष को उद्घाटित करने में सफल सिद्ध होता है। यह कविता अपने समय की अन्य कविताओं से इसलिए अलग है क्योंकि इसका विजन विस्तृत है साथ ही साथ वैश्विक पैमाने पर होने वाली राजनीति से भी हमें जोड़ती है। अनुज लुगुन की इस कविता में कल्पना है, यथार्थ है, मिथक है , 'बाघ' का प्रतीक और कविता की नायिका 'बिरसी' का रूपक भी है। यह सब कविता के सौन्दर्य में अभिवृद्धि तो करता ही है साथ ही साथ जनजातीय स्त्री जीवन के बहुआयामी तथ्यों से हमें जोड़ता भी है।

बीज-शब्द : *आदिवासी जीवन दर्शन, सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, अस्मिता, अस्तित्व विस्थापन, पलायन, उलगुलान , पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदि।*

मूल आलेख :

'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' कविता में कवि अनुज लुगुन की सृष्टि है 'बिरसी'। 'बिरसी' सुगना मुंडा की बेटी और बिरसा मुंडा की बहन के लिए प्रयुक्त एक काल्पनिक नाम है। इस कविता में भगवान बिरसा की बहन बिरसी को केन्द्र में रखा गया है एवं नेतृत्व शक्ति से संपन्न भी दिखाया गया है। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि आदिवासी समुदायों में स्त्रियां गैर बराबरी की शिकार नहीं के हैं और यह सर्वविदित है कि आदिवासी समुदाय में स्त्रियों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इतिहास गवाह है कि जल, जंगल जमीन बचाने के आंदोलनों में महिलाओं की सहभागिता एवं नेतृत्व क्षमता प्रबल रूप से उभरती रही है। बिरसी, कवि अनुज लुगुन की एक ऐसी सृष्टि है जिसे वह परिस्थितियों के सापेक्ष तैयार करते हैं। क्रांतिकारी बिरसा मुंडा की बहन बिरसी को परम्परा से जोड़ते हुए वह उसे नव-साम्राज्यवादी, पूँजीवादी सभ्यता के विरुद्ध अस्मिता-अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षशील बनाते हैं। कविता में एक तरफ वैश्वीकरण की खिलाफत है तो दूसरी तरफ वंचित स्त्री अस्मिताओं का संघर्ष है। अनुज लुगुन सहजीविता के पक्षधर हैं, इसके अभाव में आदिवासी समाज की कल्पना बेमानी है।

काव्य संग्रह 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' के संदर्भ में डॉ. रविभूषण लिखते हैं कि अनुज लुगुन की कविता 'बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी' केदारनाथ सिंह की बाघ कविता के बाद हिंदी की ऐसी कविता है जिसमें बाघ पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। जिस बाघ का चित्रण कविता में किया गया है वह भूमंडलीकरण के बाद का है । जब पृथ्वी दो हिस्सों में बट गई ।आज का बाघ अपना रंग, रूप बदल चुका है और इसी बदले रंग रूप के बाघ का वर्णन कवि ने किया है। कविता में मुंडा समाज ,आदिवासी समाज केंद्र में है । यह कविता मुक्ति की आकांक्षा की एक बड़ी कविता है। एक साथ इस कविता में इतिहास-लेखन की मुख्यधारा तथा सभ्यता के विकास पर प्रश्न है। यह मुण्डा समाज और आदिवासी समाज में सीमित न रहकर संपूर्ण विश्व की एक परिक्रमा करती है। यथार्थ को उसकी समग्रता में देखकर उसे बदलने की महती आकांक्षा रखती है। यह कविता बाह्य शत्रु के साथ आन्तरिक शत्रु की सही पहचान करती है। स्त्री संघर्ष के सौन्दर्य का विकास करती है। एक साथ इस कविता में अतीत की स्मृति, वर्तमान का यथार्थ और भविष्य का स्वप्न और उसकी कल्पना मौजूद है। इस कविता का फलक व्यापक है और चिन्ताएँ गहरी हैं। आदिवासी समाज के पूर्वजों द्वारा सहजीवीता का जो धर्म बनाया गया था उसके नष्ट होने की चिंता कवि को है। गहरे आत्ममंथन और विचार से जन्मी यह कविता हिंदी की कविताओं में अपना विशेष स्थान इस बात पर रखती है कि सुगना मुंडा की बेटी इस लंबी कविता में मुख्य पात्र है । इस नाम से उन्होंने आदिवासी समाज के लैंगिक समानता का पक्ष रखा है। अभी तक के इतिहास में सुगना मुंडा की बेटी के लिए कोई जगह नहीं थी। संघर्ष में केवल सुगना मुंडा के बेटा बिरसा मुंडा का योगदान है ऐसा प्रतीत होता रहा लेकिन यहाँ कविता के माध्यम से ही इतिहास को चुनौती मिल रही है और संघर्ष की नायिका सुगना मुंडा की बेटी प्रतिस्थापित हो रही हैं।

यह सर्वमान्य सत्य है कि निजी संपत्ति और अतिरिक्त की लालसा सामूहिकता की दुनिया का बहिष्कार और उपहास करती है । निजीकरण और भूमंडलीकरण जनजातीय संस्कृति और समाज के विरुद्ध है । इस कविता में बाघ के जन्म को अतिरिक्त की लालसा से जोड़ा गया है । अतिरिक्त की इस लालसा के कारण ही उलट्बग्घों की संख्या बढ़ी है । सहजीवी बाघ विलुप्त हुए हैं। प्राकृत बाघ की जगह अप्राकृत बाघ उत्पन्न हो रहे हैं जो कि चिंताजनक है। यह अप्राकृत बाघ हमारे भीतर, समाज के भीतर ,समुदाय के भीतर अपनी स्थिति मजबूत करता जा रहा है क्योंकि वह चालाक और खतरनाक है। इस लंबी कविता में आदिवासी विमर्श को मुख्य धारा के सामने एक सशक्त रूप में रखा गया है। प्रकृति के साथ साहचर्य, लैंगिक समानता, सहजीविता आदि इस कविता के केंद्र में है। आज के संदर्भ में यथार्थ को यथारूप में रखा गया है जैसे- आदिवासी समाज के अपने लोग के द्वारा ही समाज को शोषित करना, समाज में लैंगिक भेदभाव, अतिरिक्त धन का लोभ इत्यादि । यह हिंदी कविता के लिए एक आशा की किरण है। कर्मानंद आर्य लिखते हैं कि जिन कविताओं के लिए अनुज लुगुन को साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया है, वे आनंद की कविताएं नहीं हैं।जितनी बार भी इस लम्बी कविता को पढ़ा जाय पाठक पूंजीवाद के प्रति घृणा और विषाद से भर उठता है। साथ ही यह कविता घृणा और विषाद से भरना नहीं अपितु मुक्त होना सिखाती है। यही इस लम्बी कविता की खूबी है। यह लंबी कविता बाघ के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराती है।

"आदिवासी समाज धरती, प्रकृति और सृष्टि के ज्ञात-अज्ञात निर्देश, अनुशासन और विधान को सर्वोच्च स्थान देता है। उसके दर्शन में सत्य-असत्य, सुदंर-असुंदर, मनुष्य-अमनुष्य जैसी कोई अवधारणा नहीं हैं न ही वह मनुष्य को उसके बुद्धि विवेक अथवा 'मनुष्यता' के कारण 'महान' मानता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि सृष्टि में जो कुछ भी सजीव और निर्जीव हैं, सब समान है। न कोई बड़ा है न कोई छोटा है। न कोई दलित हैं न कोई बाह्मण। सब अर्थवान हैं एवं सबका अस्तित्व एक समान है। चाहे वह एक कीड़ा हो, पौधा हो, पत्थर हो या कि मनुष्य हो।"(1) भारत में आदिवासी संस्कृति सबसे पुरानी

संस्कृति हैं, इस आदिवासी समाज की कल्पना गीत और नृत्य के बिना नहीं कर सकते । यह उनका जीवन है। प्रकृति से ,उत्सव से ,पर्व से ,त्योहार से आदिवासी समाज का सहज संबंध है ।प्रकृति पूजा का एक निश्चित दर्शन इनके पास है।यदि उनके जीवन मूल्यों को विश्व के सामने लाया जाया तो यह विश्व कल्याण के लिए कारगर साबित हो सकता हैं। इनके दर्शन में सामूहिकता, सहजीविता, सहअस्तित्व जैसे मूल दर्शन हैं। आदिवासी दर्शन मूल रूप में प्रकृति वादी है।

वर्तमान पूंजीवादी समाज प्रकृति के साथ जीवन की कल्पना शायद नहीं कर पा रहा है जिसकी वजह है कि वह आदिवासी समाज को भी वैश्वीकरण की दौड़ में जोड़ देता है। जनजातीय समाज की संपत्ति को हथियाने के लिए बाहरी समाज उसे तरह-तरह के अंधविश्वासों में ढकेलता है। कविता में डोडे वैद्य बिरसी को बताते हैं कि चुड़ैल और डायन का कोई अस्तित्व नहीं होता ।वह सत्ता के वर्चस्व का साधन है। उत्पीड़न का माध्यम है ।संपत्ति लालसा का प्रतिबिंब है। सब मिलकर शोषण का तंत्र फैला रहे हैं

आदिवासी लेखिका रोज केर केट्टा आदिवासी दर्शन को इस तरह से अभिव्यक्त करती हैं-"अब हम ये कहेंगे कि जीवन दर्शन और आजीविका का गहरा संबंध है। और आदिवासियों की आजीविका श्रम पर आधारित रही है। चाहे वो खेत में हैं, चाहे वो जंगल में हैं। लेकिन वो श्रम करके ही अपना जीवनयापन करते हैं। और कठिन श्रम पहाड़ में, जंगल में, नदियों में, घाटियों में उन्हें बहुत श्रम करना पड़ा है। इस बीच में जो भी बाधाएं आती रही हैं उन्हें कभी सुख से कभी दुख से व्यक्त किया है। ये जो मौखिक परंपरा का साहित्य हैं, सभी भाषाओं में वो संकलित होकर प्रकाशित हो रहा हैं। अब जरूरत हैं उनको ढूंढकर उनमें उनके जीवन दर्शन को खोजने की।"(2)

भूमंडलीकरण का प्रभाव इस खूबसूरत समाज दर्शन वाले समूह पर भी पड़ा है। आदिवासी समाज में आदिवासी स्त्री अपने कई अधिकार रखती हैं, लेकिन वैश्वीकरण के इस दौर में आज स्त्री केवल भोग करने की वस्तु मात्र समझी जाता हैं, वह अपने परिवार व समाज के प्रति हमेशा समर्पित भाव रखती हैं, वह अपना पूरा जीवन न्यौछावर कर देती हैं उनको संवारने में लेकिन आज वह अपने ही समाज में प्रताड़ित की जा रही हैं। संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता में एक स्त्री के स्वर को इस तरह से अभिव्यक्त करती हैं-

"तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गांठे खोल कर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का खौलता इतिहास?
पढ़ा है कभी
उसकी चुप्पी की दहलीज पर बैठ
शब्दों की प्रतीक्षा में उसके चेहरे को?" (3)

निर्मला पुतुल अपनी कविता 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए' में भी स्त्री सशक्तीकरण के स्वर को बुलंद करती हुई कहती हैं-

"क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए, एक तकिया,

कि सिर टिका दिया, कोई खूंटी, कि ऊब उदासी
थकान से भरी
कमीज उतार कर टांग दी, या आंगन में तनी अरगनी,
कि घर-घर के कपड़े लाद दिए, कोई घर कि सुबह निकला,
शाम लौट आया। (4)

आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे ने अपनी कविता औरत-1 में जनजातीय समाज की महिलाओं के संघर्ष को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :-

"कोई-कोई मोर्चे पर खड़ी
लड़ रही औरत
भीड में अकेली, अनवरत
थकती-टूटती
फिर मजबूत करती खुद को खुद से।
खेतों, खलिहानों में
जंगल मरूभूमि में
घर में आंगन में।" (5)

इन्हीं लेखकों की परंपरा में अनुज लुगुन शामिल हैं, जो समय और समाज को बदलने को कृतसंकल्प हैं। वह मानते हैं कि दुनिया के सारे भेद उपनिवेशवादी संस्कृति के द्वारा तैयार किए गए हैं। सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्यों की दो दुनिया रही है- एक उपनिवेशवादी संस्कृति पर यकीन रखने वाली दुनिया और दूसरी सहजीवियों का संसार। वर्ण, वर्ग और लिंग उपनिवेशवादियों की सांस्कृतिक उपज है। इस कविता में बिरसी के नेतृत्व और संघर्षशीलता के द्वारा स्त्री नेतृत्व को सामने लाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया गया है। उसके नेतृत्व में ही समान विचार वालों की सहभागिता के द्वारा नये सहजीवी समाज के निर्माण की परिकल्पना है। डोडे बिरसी से कहते हैं –

"हमारे गणतंत्र के आधार गीत हैं
गीत ही मंतर हैं
रोग निवारक प्रमुख औषधि हैं
गीतों का ह्रास गणंतत्र का ह्रास है
गीत रहित गणतंत्र प्रभुओं की व्यवस्था है
प्रभुताओं के खिलाफ
मैं तुम्हें मंतर दूंगा, गीत सौंपूंगा
वही होगा रोगों से मुक्ति का आधार।"6

बिरसी कविता में अपने कुशल नेतृत्व क्षमता का परिचय देती है। बिरसी का संबोधन अत्यंत प्रभावशाली है –

"जाओ, जाओ हुकनू
जाओ, जाओ जोना
जितनी जाओ
बिधनी जाओ
सब जाओ लांघ कर
इतिहास की दीवारें /
दर्शन की खाई
और सब पहाड़ों को... हो सहजीविता का सामूहिक गान।

सुनो रे हे टिरूंग
सुनो रे हे असकल
तलवार चमकाते हुए
मशाल लिए हुए
कहां जा रहे हो?
जदुर के लिए जा रहे हो
करम के लिए जा रहे हो
लड़ने के लिए जा रहे हो
भिड़ने के लिए जा रहे हो
कहां जा रहे हो?
सुनो रे हे टिरूंग
सुनो रे हे असकल
संगी सगोतियों को
न्योता देते जाओ।"7

'बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी' कविता से एक बात स्पष्ट होती है कि आदिवासी जीवन प्रकृति और मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध शाश्वत है। प्रकृति के साथ साथ 'बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी' कविता में स्त्री के श्रम, संघर्ष, शोषण सब कुछ का चित्रण मिल जाता है। मुंडा समाज की कविता कहना इसे सही नहीं होगा यह कविता पूरे विश्व की चिंता करती है। जंगल से ,नदी से ,पेड़ से, जुगनू से ,तितली से, प्रकृति से जुड़ी यह कविता सहजीविता की बात करती है। इस कविता की नायिका बिरसी अपनी जड़ो से जुड़ी है, लेकिन बाहरी खतरों से वह अनजान है। लेकिन वह भयभीत नहीं है। एक आदिवासी स्त्री होने के नाते उसे संघर्ष स्वीकार है:-

"ओह गोमके!
मुझे जल्दी बताओ
वह कौन है ?
कहां से आया था ?

मेरा खून मेरी आंखों से टपक रहा है
मेरा धनुष तन गया है
मुझे उसका पता चाहिए
मुझे उसका सही ठिकाना चाहिए।"8

आदिवासी अस्मिता की लड़ाई में आदिवासी महिलाएँ पुरूषों से पीछे कभी नही रहीं। फूलों, मकी, सिनगी दई इसकी उदाहरण हैं। सिनगी दई ने मीर कासिम के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष किया था। आदिवासी अस्मिता की रक्षा में स्त्रियाँ हमेशा बराबर की भागीदार रही हैं। इन्हीं वीरांगनाओं की प्रतिनिधि है 'बिरसी'। आज की बदली हुई परिस्थितियों में 'बिरसी' के समक्ष कठिन चुनौती है। संघर्षों के सामने वह घबराती नहीं है। यह शक्ति बिरसी को पिता से भी मिली है। सुगना मुण्डा अपनी बेटियों को बेटों से कम नहीं मानते थे। आदिवासी समाज में सहजीविता उसका मुख्य आधार है, जो किसी भी तरह की असमानता को प्रश्रय नहीं देती। उनकी बेटियाँ घूँघट के नीचे सहम कर जीवन नही जीती, वे योद्धा एवं बलिदानी होती हैं। अनुज लुगुन लिखते हैं:-

"सुगना मुण्डा की बेटियाँ घूँघट के नीचे
सहम कर नही जीती हैं
वे तो फरसे और धनुष के साथ बलिदानी हैं
सुगना मुण्डा अपनी बेटियों को
बेटों से अलग नहीं करता है।"9

कविता के पात्र रीडा, बिरसी को समझाते हैं कि वर्तमान चुनौती सिनगी दई के समय के चुनौती से अलग है-

"सुनो बिरसी!
यह इतना आसान नहीं है
समय के साथ कार्यवाई के तरीके भी
बदल जाते है और चुनौती भी
तुम्हारी चुनौती वही नहीं थी
जो सिनगी दई की थी।"10

सिनगी दई जैसी वीर योद्धा स्त्री मुगल सेना के साथ मैदान में अकेले ही लड़ती हैं। ग्रेस कुजुर अपनी कविता में सिनगी दई को याद करते हुए व्यक्त करती हैं:-

"अगर अब भी तुम्हारे हाथों की उंगलियाँ थरथराई तो जान लो
मैं बनूंगी एक बार और सिनगी दई।"11

अनुज लुगुन की कविता 'बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी' की नायिका बिरसी अपने परिजनों की लाशें देखकर सिनगी

दई बनने के लिए तैयार है-

"ओह हड़म!
मैं और क्या कर सकती हूँ
जब मेरी ही आँखों के सामने
मेरे परिजनों को लाशें बिछी हैं,
क्या करना चाहिए मुझे?
कहाँ है वह"12

आदिवासी स्त्री की प्रतिनिधि बिरसी लैंगिक भेद नहीं मानती है। संघर्ष को जीवन मानने वाली यह स्त्री सिर्फ इस बात पर पीछे नहीं हटने वाले कि वह बिरसा मुंडा की बेटी है बेटा नहीं:-

"यह क्या कह रहे है?
हम सुगना मुण्डा की बेटियाँ हैं
उनके बेटों के सामने बेटियाँ नहीं
उनके बेटों की संगी बेटियाँ।"13

अनुज लुगुन 'बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी' कविता में पितृसत्ता को विषाणु बताते हुए इसे मुक्ति के राह में घातक मानते हैं। लेखक मानते हैं कि आदिवासी मुण्डा समाज में लैंगिक भेद नहीं रहा है, लेकिन अब मातृसत्तात्मक पीढ़ी को धीरे-धीरे समाप्त किया जा रहा है। जिससे मातृसत्ता कमजोर पड़े और पितृसत्ता का विषाणु समाज में फैल सके। अपनी काव्य नायिका से संवाद स्थापित करते हुए वे कहते हैं कि तुम सही हो बिरसी और लैंगिक भेद पर तुम्हारा यह आवेश हमारी मातृसत्ता का ही अवशेष है जो हर बार हर तरफ से छीना जा रहा है।इसे नोच-नोच कर निगला जा रहा है। और यह भी सच है कि जनहित के लिए उठाए गये तुम्हारे कदम पर सबसे पहले तुम्हारे लोगों के बीच से ही उँगली उठेगी। जनजातीय समाज की परंपरा जितनी समृद्ध रही है उसे नष्ट करने में अपने लोगों ने भी कम योगदान नहीं दिया है।

जनजातीय समाज में स्त्री को संपत्ति का अधिकार हमेशा से रहा है यह मातृसत्तात्मक परिवेश समाज के उत्थान में भी सहायक रहा है। आज आदिवासी मुण्डा समाज में स्त्रियों के विरूद्ध सत्ताओं का उदय घातक होता जा रहा है। इस समाज की प्रचलित धारणा थी कि अगर कोई लड़की जिसके माता-पिता नहीं हैं। अविवाहित रहना चाहती है। तो उम्र भर वह सम्पत्ति की अधिकारिणी रहेगी। उसके मृत्यु के उपरान्त सब कुछ समाज में हस्तान्तरित हो जायेगा। यह फैसला पंचायत का होता है-

"और यदि अविवाहित रहना चाहती है
तो उम्र भर वह सम्पत्ति की अधिकारिणी है
मृत्यु उपरान्त सब कुछ समाज में हस्तान्तरित हो जायेगा अब बिटिया मुर्मु की कथा कही नहीं दोहरायी जायेगी स्त्रियों के विरूद्ध सत्ताओं का उदय घातक है।"14

अनुज लुगुन की कविता 'बाघ और सुगुना मुण्डा की बेटी' समाज मुक्ति की आकांक्षा लिए एक बड़ी कविता है। 'बाघ' का सफल रूपक कवि ने यहां गढ़ा है। एक बाघ, उसका सहजीवी है तो दूसरा, पूंजीवादी संरचना का साम्राज्यवादी बाघ है।अपने सहचर, सहजीवी बाघ और साम्राज्यवादी बाघ के बीच इस कविता की नायिका 'बिरसी' तमाम चुनौतियों के साथ संघर्षशील है। उसकी यह छवि कविता की एक मजबूत कड़ी है। यह कविता समाज का ध्यान आकृष्ट करने मे सफल है। कविता के माध्यम से आदिवासी स्त्रियों की जिन्दगी का सच अनुभूत किया जा सकता है।

निष्कर्ष –

'बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी' कविता में आदिवासी समाज की त्रासदी के साथ स्त्री की पीड़ा भी दर्ज हुई है। संस्कृति,समाज,धर्म और पितृसत्ता की संरचना में स्त्री को उसके प्रतिरोध के बिना कुछ भी प्राप्त करना असंभव है। शारीरिक संरचना में स्त्री की जाति एक होने पर भी परिस्थिति विशेष, उसकी आजीविका, आर्थिक सबलता, शिक्षा और विभिन्न संस्कृतियों के कारण उनका यथार्थ भिन्न होता है। आदिवासी स्त्रियां अपनी अस्मिता-अस्तित्व को लेकर कितनी संघर्षशील हैं यह कवि ने बिरसी के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

संदर्भ सूची -

1. वंदना टेटे, आदिवासी दर्शन और साहित्य, विकल्प प्रकाशन- 2016, पृ. 33
2. वही, पृ. 54
3. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2005, पृ. 8
4. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञान पीठ, 2005, पृ. 28
5. वंदना टेटे, कोनजोगा, प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, रांची, 2015, पृ. 35
6. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0-71
7. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0-109
8. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0-49
9. वही, पृ0-40
10. वही, पृ0-50
11. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0-23
12. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0-50
13. वही, पृ0-50
14. वही, पृ0-94

' माई ' : स्त्री संवेदना का ज्वलंत दस्तावेज़

आतिरा कृष्णन
शोध छात्र
कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
8589031047
athiracusat1996@gmail.com

सारांश

नारी चेतना के सन्दर्भ में गीतांजली जी का 'माई' उपन्यास एक सराहनीय प्रस्तुति है। इस उपन्यास के ज़रिये उन्होंने नारी अस्मिता को बहुत गहराई के साथ परखने की कोशिश किया है। एक संयुक्त परिवार की रीढ़ की हड्डी बनी हुई स्त्री उपन्यास के केंद्र में है जो अपना पूरा जीवन परिवार के लिए समर्पित किया है। औपनिवेशिक सामंतवादी मूल्यों से घिरे हुए एक परिवार के बीच के जीवन संघर्ष ही उपन्यास का मुख्य विषय रहा है। इस उपन्यास के ज़रिये नारी चेतना के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ एक माँ के जीवन की विडंबनाओं और बेचैनियों को सही मार्मिकता से कागज़ पर उतारने का सफल प्रयास किया है।

तीन पीढ़ी की नारियाँ और तीनों के मूल्य और मान्यताएँ और उसके बीच के माई की आकुलताएँ ही इस रचना को आगे ले जाता है। सामंती समाज की नारी के रूप में दादी पुरानी ख्यालातों और रूढ़िवादी विचारों से संचित एक पात्र है। माई वह दूसरी पीढ़ी की प्रतिनिधि है जो परंपरागत नारी की तरह अपने कर्तव्यों को निभानेवाली और तकलीफों को सहकर बिना मर्यादा को तोड़े,चुप्पी को अपना हथियार समझकर बैठती है। सुनैना आधुनिक नारी का प्रतीक है जो अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती है और पितृसत्तात्मकता का सख्त विरोध करती है। पारिवारिक ढांचे के भीतर स्वतंत्रता की राह देखती और परिवार के लिए खुद मिटने में ही सार्थक समझने वाली स्त्री पात्र ही उपन्यास में है। इस तरह परिवार में स्त्री की भूमिका को समझने और स्त्री संवेदनाओं के नए परतों को खोज निकालने में यह एक सक्षम रचनाहै।

बीज शब्द

स्वत्वबोध - स्वावलंबन - नारी चेतना - गीतांजली श्री – माई - आज्ञाकारिणी - परिवार पितृसत्तात्मकता - प्रतिरोध - नारी अस्मिता

भूमिका

वर्तमान नारी अपनी ज़िन्दगी का रास्ता खुद तैयार कर रही है और अपने अधिकारों की माँग भी। इसमें स्त्री विमर्श जैसी अवधारणा का यही महत्व है कि वह स्त्री को एक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने तथा अपने अस्तित्व को पहचानने की क्षमता प्रदान कर रहा है। सरकार की तरफ से भी स्त्री की उन्नति एवं विकास को लक्ष्य करके कई योजनाएँ और कानून का निर्माण हो रहा है। ये योजनाएँ काफी हद तक औरतों के भीतर स्वत्वबोध जगाने स्वावलंबन बनाने में सहायक भी रहीं हैं। जिस तरह औरतों की मानसिकता में बदलाव आया है उसी मायने में समाज की मानसिकता को बदलना आसान काम नहीं है। आज भी वह स्त्री को पुरातन एवं अप्रासंगिक धार्मिक,सांस्कृतिक रूढ़ियों एवं परम्पराओं के खेरे में बाँध कर रखता है। स्त्री सशक्तीकरण के संदर्भ में रमणिका गुप्ता का कहना है "सशक्तीकरण की सबसे बड़ी शर्त है चेतना, स्वावलंबन और निज की पहचान यानी स्वाभिमान अर्थात् आत्मसम्मान। इनके बिना स्त्री सशक्तीकरण संभव नहीं है "।[1] सदियों से बंधे हुए बेड़ियों को काट डालने का एक सशक्त हथियार है साहित्य।भारत में स्त्री लेखन के ज़रिये नारी चेतना को जागृत करने में

साहित्यकारों का योगदान सराहनीय है। स्त्री समस्याओं को जानने, परखने और उसी अनुभूति के साथ कागज़ में उतारने में महिला रचनाकारों का हिस्सा बहुत बड़ा है। साहित्य के धरातल पर विशेष रूप से उपन्यासों में स्त्री जीवन के समग्र रूप का अंकन लेखिकाएँ कर रही हैं। परंपरागत जीवन मूल्यों में पिसती नारी-जीवन के साथ-साथ उस जीवन से बाहर निकलकर स्वावलंबी जीवन जीने की आकांक्षा रखने वाली नारी जीवन का चित्रण भी साहित्य में उपलब्ध है।

नारी चेतना को अपनी रचनाओं का मुख्य विषय बनानेवालों में गीतांजलि श्री की अलग पहचान है। उन्होंने अपनी लेखनी के ज़रिये नारी की विवशता, नए पुराने रिश्तों के संबंध, सामाजिक आर्थिक विषमताएँ, जीवन मूल्यों का विघटन, दाम्पत्य संबंध, विवाहेतर संबंधों, रीति रिवाजों के भँवर में फँसी नारी आदि का चित्रण किया है। एक स्त्री होने के नाते लेखिका ने स्त्री की पीड़ा को गहन रूप में समझा और अपने कथा साहित्य के माध्यम से स्त्री जीवन के विभिन्न पक्षों को विशद रूप में उकेरा है। उनके कथा साहित्य के अधिकाँश नारी पात्र अपने जीवन के संघर्षों से निरंतर जूझ रही हैं लेकिन हारकर निराश नहीं बैठती है, बल्कि नयी उम्मीद के साथ आगे बढ़ती है। इस दृष्टि से देखने पर एक उल्लेखनीय प्रयास है गीतांजली जी का उपन्यास 'माई'। स्वतंत्र भारत में स्त्रियों के लिए जो भी नियम, कानून लागु किए गए हैं, वे सिर्फ कानूनी किताबों में हैं। कई महिलाओं का अस्तित्व आज भी घर,परिवार और रिश्ते - नाते तक ही सीमित है। कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो अपने कर्तव्य बोध और समर्पण में इतनी अड़िग रहती हैं कि वे अपने अस्तित्व को भूल जाती हैं, जिसका जीता-जागता उदाहरण उपन्यासकार ने माई के द्वारा चित्रित किया है। प्रस्तुत उपन्यास में सामंतवादी ढांचे के एक संपन्न परिवार में शोषित हो रही स्त्रियों की कथा प्रस्तुत किया गया है। परिवार में दादा, बाबु, माई(रज्जो) तथा भाई-बहन (सुबोध - सुनैना) कुल छः लोग हैं। ड्योढ़ी में साया सी फिरनेवाली, सबकी ख्याल रखने वाली, जिम्मेदारी और ईमानदारी से अपने कर्तव्य को निभानेवाली माई ही उपन्यास का मुख्यपात्र है। बाहर दादा हुक्म चलाता है और भीतर दादी राज करती है। बाबु अपने में सीमित स्वत्वविहीन व्यक्ति है, शहर के नामी इंडस्ट्रियल कोम्प्लेक्स में नौकर हो गए थे। माई सबकी आज्ञाकारिणी है। सबकी सेवा करते,सबकी बोझ ढोते उसकी कमर झुक गयी है:- "हम शुरू से जानते थे कि माई की रीढ़ की हड्डी कमज़ोर है। डाक्टर ने भी बाद में यही कहा कि हरदम झुकनेवालों का यही हश्र होता है। लगातार झुके रहने के कारण रीढों के बीच का तत्व घिस जाता है और नसों पर यहाँ - वहाँ दबाव पड़ने लगता है। हम शुरू से देखते आये हैं। हमारी शुरुआत ही उसकी भी शुरुआत है। तभी से वह एक मौन, झुकी हुई साया थी, इधर से उधर फिरती,सबकी ज़रूरतों को पूरा करने में जुटी "।[2] माई पूरे घर की रीढ की हड्डी है, जो स्वयं संकट में रहकर भी दूसरों के लिए जूझ रही है। उपन्यास में लेखिका ने एक सामंतीय परिवार के तीन पीढ़ियों की नारी-अस्मिता की कहानी को आधार बनाया है। पहली पीढ़ी ड्योढ़ी की सीमाओं में कैद और अपने में संतुष्ट है, दूसरी पीढ़ी ऊपर से शान्त है लेकिन अंतर ही अंतर जलती रहती है। तीसरी पीढ़ी घर के बाहर निकल जाना चाहती है लेकिन घर के बाहर निकलकर भी घुटन भरी ज़िन्दगी जी रही है।

नारी के लिए सुविधा और सुरक्षा की बातें बहुत हो रही हैं लेकिन हर बार यह सवाल खड़ा हो जाता है कि स्वतंत्र देश में महिलाएँ कितना स्वतंत्र है। पुरुष द्वारा स्त्री को दास बनाये जाने की प्रवृत्ति विवाह संस्था की शुरुआत से ही भारतीय सभ्यता में मौजूद है। धीरे धीरे वह एक पारिवारिक संपत्ति में बदल गयी। सामंती समाज उसे निजी उपभोग की वस्तु और वंश चलाने का साधन समझते हैं। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र पहचान या अस्मिता नहीं है। आज भी महिलाएँ अपनी फैसले खुद नहीं ले पा रही हैं। वह परिवार, रिश्ते, परंपरा आदी में बंधी हुई है। माई का परिवार उसकी इच्छाओं को कभी देखता नहीं, उसे नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। माई की आदत बन गयी है अपनी इच्छाओं को मारने और दूसरों के हिसाब से जीवन जीने की। माई का इस तरह रहना उनके बच्चों को अच्छा नहीं लगता है। बच्चे उन्हें ड्योढ़ी से बाहर निकाल लेने को बेचैन होते हैं। वे चाहते हैं कि माई अपनी इच्छाएँ प्रकट करें, जैसा उसका मन करें वैसा जिए। इसलिए वे

उन्हें अपने साथ विदेश ले जाना चाहते हैं। लेकिन माई के लिए ड्योढ़ी छोड़ पाना आसान काम नहीं है। भारतीय नारी जितना भी अधिकार, अस्मिता की संकल्पना करें उसका समर्पण, त्याग, प्रेमभावना हमेशा बनी रहती है। जब भी सुबोध और सुनैना माई को उनके अधिकारों के बारे में सचेत करते हैं तो माई इन सबसे हट जाती है। उपन्यास में सुनैना एक बार कहती है कि " हम तो माई को ही एक बोझ मानते रहे जब से चेते तब से उसे उठाये, चाहते, सम्हालते रहे। उसे ही बचामे की हसरत में बड़े होते गए। उसी की बोझ ने हमें दबाया। उसे बहाना बनाकर दूसरों ने हमें दबाया। वहीं बंधक बनी जिसको आगे करके दादा, दादी, बाबु सबने अपने इच्छाओं - आज्ञाओं की बन्दूक हम पर तानी "।[3]

एक स्त्री की मुक्ति तभी हो सकती है जब उसे आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ सामाजिक स्वतंत्रता मिले। मृणाल पाण्डे जी का कहना कहना है कि "पढ़ी - लिखी लड़की के बहतर मानसिक परिष्कार की आज के मध्यवर्गीय जीवन में ज़रुरत को देखते हुए उसे पढ़ाना लिखना तो ज़रूरी मान लिया गया, पर पढ़ी लिखी लड़की के मन में भी नौकरी करने का अपना एक अलग तरह का घर - संसार बसाने का सपना पल सकता है, इस संभावना को बर्खास्त कर दिया गया। " [4] उपन्यास में नयी पीढ़ी की बेटी सुनैना अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती है। वह यादों के सहारे माई और उसके अंतर्मन को समझने का प्रयास करती है। सुनैना के व्यक्तिगत जीवन में माई का प्रभाव पड़ता है। सुनैना अपने भाई की तरह विदेश जाकर आगे की शिक्षा लेना चाहती है। लेकिन घरवाले उसकी शादी करा देना चाहते हैं। बुआ हमेशा सुनैना के डाक्टर बनने के आग्रह प्रकट करती है:- "जिसको बनना है वह चूल्हा, लकड़ी, आटे के बीच भी बन जाता है। मैं भी बहुत पढना चाहती थी, फूँक गयी न पढाई चूल्हे में ? चूल्हे से पढ़े - लिखकर ही कौन औरत बच जाती है ? " [5] माई भी कई बार परम्पराओं को तोड़ने केलिए बच्चों का साथ देती है। सुनैना का हॉस्टल भर्ती करने में बच्चों को मूक समर्थन देती है, सुनैना कहती है " मैं भी हॉस्टल पहुँच गई थी। सुबोध ने बोलकर और माई ने चुप रहकर मुझे वहाँ पहूंचाया था। मैं पनप जाऊँ इसलिए। कुछ बन पाऊँ इसलिए। उम्मीदों के साथ। "[6] सुबोध का सुनैना की सहेलियों से और सुनैना का सुबोध के दोस्तों से बात करने में माई कोई दिक्कत नहीं दिखाती थी। माई की इस स्वतंत्र सोच से लेखिका यही कहना चाहती है की स्त्री- पुरुष को स्वतंत्रता देने पर ही समाज में स्त्री- पुरुष भेद मिटाया जा सकता है। इसलिए ही माई सुनैना के दोस्त एहसान और सुबोध की महिला दोस्त जूडिथ से कोई आपत्ति नहीं रखती है। लेखिका ने उपन्यास में दो पीढ़ियों के बीच के अंतर को बहुत गहराई के साथ दिखाने का प्रयास किया है। सुनैना और माई दोनों पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं से संघर्ष करती है। लेकिन माई सबकुछ चुपचाप सहन करती है। सुनैना माई की तरह सहन करते हुए रहना नहीं चाहती, इसलिए वह कहती है :- " मुझे माई नहीं बनना, में माई वैसे भी नहीं बनूंगी, माई खुद मुझे मई नहीं बनाती, मैं चाहूँ भी तो माई नहीं बन सकती, वह सिफत नहीं मुझमें, मैं माई को झकझोडके झड़क देती हूँ अलग, मुझे त्याग बुरा लगता है क्योंकि वही माई का बोझिल इतिहास है "। [7] दोनों का संघर्ष अलग है। जीवन जीने का और परिस्तिथियों से लड़ने का दोनों की सोच में काफी फर्क है, सुनैना कहती है :- " उसकी आग अंदर को गई, मेरी बाहर को को "।[8]

पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों को हमेशा हीन समझता है। उनके लिए स्त्री केवल उपभोग और संतानोत्पत्ति का उपकरणमात्रहै। उनके भीतर के सामंतवादी विचार स्त्रीयों को घर के चाहर दीवारी, रसोई, बिस्तर में बाँधके रखना चाहते हैं। उपन्यास में कई बार इस सामंती सोच के उदाहरण हमें मिलते हैं। माई हमेशा घर के लोगों की माँगें पूरी करने में लगी रहती है फिर भी अपने ही परिवारवालों से अपमानित हो जाती है। दादी हमेशा उन्हें कोसती है कभी व्यंग्य भी करती है। माई का एक ही गुण उन्हें अच्छी लगती है कि वह पर्दा करती है। वह जहाँ भी जाती है पल्लू सिर पर होती है और लोग दादी से कहती है कि " माताजी, यह आप ही का पुण्य है कि ऐसी दीन हीन,सुशील बहु मिली, कभी आँख ऊपर करती हो।"[9] पर्दे को सब लोग देखते हैं लेकिन उसके पीछे के माई क्या है यह जानने की कोशिश किसी ने की नहीं। लेखिका के

अनुसार माई की सहनशीलता और लाज का प्रशांत है वह पर्दा। स्त्रियों की एक और त्रासदी यह है कि वे जितना भी पढ़े समाज उनके शिक्षा या ज्ञान की कोई अहमियत नहीं देता है। उनका यही मानना है कि स्त्री की ज़िम्मेदारी सिर्फ घर की चूल्हा, चौक,बच्चों का पालन करना है। दादा जी को औरतों के प्रति संकुचित दृष्टिकोण है। औरतों का घर के सामने दिख जाना उन्हें अच्छा नहीं लगता। उनका यही सोच है कि " गानेवाली और पैर में घुंघरू पहनने वाली बुरी औरत है "।[10] इसलिए वे औरतों को घर में गाने या नाचने की अनुमति नहीं देते हैं। इस तरह के अंधविश्वास और पाखंडता अधिकाँश घरों में मौजूद है। पितृसत्ताधारियों के लिए औरतों का शिक्षित होने का कोई मायना नहीं रखता। माई शिक्षित है, एम.ए पास है लेकिन कई बार बाबु माई का मज़ाक उठाता है। कई बार उन्हें अनपढ़, अज्ञानी कहते हैं। लिंग भेद की भावना समाज के हर क्षेत्र में मौजूद है। स्त्री और पुरुष के लिए अलग अलग मापदंड रखने की यह प्रवृत्ति सामंती विचारधारा की ही उपज है। इस मानसिकता की वास्तविक जड़ घर से होती है। उपन्यास में सुनैना को ड्योढ़ी के बाहर जाने और खेलने की अनुमति नहीं लेकिन सुबोध पढाई करने हॉस्टल, विदेश सभी जगह जाता है। दादा चाहते हैं कि सुनैना अंग्रेजी सीखे परन्तु अंग्रेजी बोले नहीं। डाक्टर बनने की सुनैना के आग्रह पर बाबु कहते हैं कि " लड़कियों के लिए साइन्स में कोई भविष्य नहीं है। "[11] स्त्री की ख़ामोशी को उसके सबसे बड़ा गुण माना जाता है। अधिकांश घरों में लड़कियों को यही सीख दी जाती है कि ज़्यादा ज़बान चलाना ठीक नहीं है और यह भी मानते हैं कि बड़ों के सामने जवाब देना बदतमीज़ी है। इसके कारण वह अपने विचारों को, अपने जज़्बातों को बयान करने में हिचकती है। एक बार माई सुनैना को दादी को जवाब देने से रोकती है तो सुबोध चिल्ला पड़ता है " यही सिखाओ, तुम्हारी तरह चुप रहकर सब सहती रहे। माई की तरह हम चुप नहीं रहना चाहते थे। सर झुकाए, आँखें ज़मीन पर गड़ाए, दूसरों की सुनने, दूसरों की मर्ज़ी पूरी करने "[12] माई इस प्रकार अपनी चुप्पी को ही अपना हथियार समझती है। अगर औरत अपने विचारों को सही रूप से व्यक्त नहीं कर पाती है कहीं पर भी उसका कोई जगह नहीं होगा।

पति-पत्नी का संबंध प्रायः सभी संबंधों का मूल है। उनके आपसी समझ- सामंजस्य की प्रवृत्ति संबंधों में मधुरता का संचार करती है। नारी विविध रूपों में पुरुष के जीवन में अपनी भूमिका अदा करती है। माई अपनी पूरी ज़िन्दगी घर, बच्चे, पति और सास की सेवा करते बीत जाती है लेकिन माई के पति हमेशा उसे नीचे दिखाने की कोशिश करते हैं। उसे कोई इज़्ज़त, आदर, महत्व भी नहीं देते हैं। किसी भी कार्य में उसकी सलाह या मर्ज़ी नहीं पूछी जाती। बाबु माई को बिन पेंदे का लोटा कहते हैं जिसे जिधर लुढ़का दो लुढ़क जाये। पितृसत्तात्मक समाज में पति परमेश्वर के समान है।माई पति तथा अपने बच्चों की भलाई के लिए करवाचौथ, तीज आदी व्रत रखती है। वह हमेशा दूसरों की भलाई सोचती है लेकिन बदले में पति से हमेशा धोखा, अपमान,और उपेक्षा ही मिलती है। संबंधों में बंधे रहने की अनिवार्यता आज स्त्री और पुरुष दोनों में कम होती जा रही है। एक दूसरे के लिए पूर्णतः समर्पित होने के बावजूद भी समाज में विवाहेतर संबंध पनप रहे हैं। उपन्यास में बाबु का एक औरत से संबंध है। पहले माई चुप रहती है लेकिन एक बार वह अपनी स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपने पति के अनैतिक संबंध पर विरोध करते हुए - " घडी उतारकर बाबु के मूह पर मारी - दे आओ यह भी उसे "।[13] विवाह के बाद अपने रिश्तेदारों से मिलने केलिए भी घर वाले माई पर पाबंदी लगाते हैं लेकिन बेटे के अनैतिक संबंध पर चुप रहते हैं। स्त्री-पुरुष के लिए समाज की यह दोगली नीति पर भी लेखिका प्रहार करती है।

माई ख़ामोशी से सब सहती है पर असल में यह नारी- प्रतिरोध का नया रूप है। उसकी चुप्पी वास्तव में एक प्रतीकात्मक प्रतिरोध है। वह झुककर चलती है लेकिन मानसिक रूप से वह पुरानी रज्जो ही है। वह दबे स्वर में ही अपनी अस्मिता के लिए विद्रोह करती है। नई पीढ़ी को अपने हिसाब से जीने और परम्पराओं को तोड़ने के लिए उनका साथ देती है। माई वास्तव में अपने बच्चों के लिए एक मार्गनिर्देशक रही है। दादी और सुनैना, दोनों पीढ़ियों की ज़रुरत को समझकर घर के

तालमेल को बनाये रखा। सुनैना और सुबोध माई को कमज़ोर, बाबु की पत्नी, चुप रहनेवाली बहु के रूप में ही समझा है रज्जो के रूप में नहीं। वह उसे ड्योढ़ी से बाहर निकलना चाहा लेकिन इन भूमिकाओं से बंधे हुए रज्जो को किसी ने पहचाना नहीं। माई की मृत्यु के पश्चात् ही उसके अस्तित्व को सुनैना समझ पाती है। सुनैना कहती है "माई में भी आग थी, जिसका दूसरों के लिए जलना हमने देखा पर,जिसका अपना जलना, अपने लिए हमने नहीं देखा "।[14] इस तरह पितृसत्तात्मक समाज में अपनी अलग जगह की तलाश करती नारी उपन्यास का केन्द्रीय विचार है।

गीतांजलि जी इस उपन्यास के ज़रिये एक ऐसी माँ का चरित्र दिखने का प्रयास किया है जो कभी अपने लिए कुछ नहीं माँगती और हर पल देने को और त्याग करने को तत्पर रहती है। समाज में हर व्यक्ति ' लेना और पाना ' चाहता हैं। माई सबकुछ सहन करती दूसरों को बहुत कुछ दे रही है। बच्चे जिन्हें सिर्फ साया समझती रही वह उनके लिए हर दम लड़ी है, उनके भविष्य का रास्ता बनाया है। रज्जो के माध्यम से नारी अस्मिता के कई पहलुओं को लेखिका ने यहाँ दिखाया है। आधुनिक युग में स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार मिल रहे हैं। इसने उसको आर्थिक रूप से मज़बूत किया है, परन्तु आज भी नारी रूढ़िवादी व्यवस्था से पूरी तरह मुक्त नहीं हुई है। निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि जब स्त्री स्वयं अपनी स्वतंत्रता को पहचान पायेगी तभी वह हर तरह के बंधनों से मुक्त हो जायेगी।

संदर्भ :-

1 . रमणिका गुप्ता - स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने, 2004, प्रकाशक - शिल्पायन , दिल्ली पृ- 14
2 . गीतांजलि श्री - माई , 2004 ,राजकमल प्रकाशन ,दिल्ली , पृ - 9
3 . गीतांजलि श्री - वही, पृ - 44
4 . मृणाल पाण्डे - स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीती तक, 2002, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ,पृ-129
5 . गीतांजलि श्री - माई, 2004 ,राजकमल प्रकाशन ,दिल्ली, पृ - 66
6 . गीतांजलि श्री - वही, पृ - 92
7 . गीतांजलि श्री - वही, पृ -152
8 . गीतांजलि श्री - वही,पृ - 47
9 . गीतांजलि श्री - वही, पृ- 19
10. गीतांजलि श्री - वही, पृ - 36
11. गीतांजलि श्री - वही, पृ - 72
12. गीतांजलि श्री - वही, पृ -19
13. गीतांजलि श्री – वही,पृ - 50
14. गीतांजलि श्री - वही,पृ -152

 ISSN: 2454-2725

'आदर्श संबंधों की चाह में तनावग्रस्त नारी : आप न बदलेंगे'

डॉ. सोमाभाई जी. पटेल ,
असिस्टंट प्रोफ़ेसर,
नीमा गर्ल्स आर्ट्स कोलेज – गोझारिया,
चलभाष-९४२९२२६०३७,
Somtraswadi77@gmail.com

सारांश :

समकालीन महिला साहित्यकार ममता कालिया ने अपनी रचनाओं में आदमी की पहचान बनाने की कोशिश की है। उन्होंने आज की जिंदगी को सम्पूर्ण रूप में उसके समस्त वैविध्य और विस्तार के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। संख्या की दृष्टि से कथा-साहित्य की अपेक्षा उनका नाट्य-साहित्य भले ही कम रहा हो; गुणात्मक दृष्टि से सार्थक है। नाट्य-कृतियों में 'आप न बदलेंगे' वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिक और नारी-विमर्श को लेकर ख्यात है। 'कथावस्तु मध्यमवर्गीय परिवार की गृहिणी नीता के संघर्षों को निरुपित करता है। कथानक का चयन-क्षेत्र आधुनिक है। नीता पति विधु की डांट का शिकार है। नीता का हर कार्य उसके पति के मन में चिढ़ पैदा करता है। न सिर्फ़ पति; दोनों बच्चे भी उससे बात-बात पर नाराज होते हैं। बात चाहे खान-पान की हो या रहन-सहन की; नीता हमेशा टीका-टिपण्णी का भोग बनती है। वह पति और बच्चों के प्यार के लिए तरसती है। परिवार के लिए वह एक साधन मात्र बनाकर रह गई है। जिन्न अकेला नीता को समझता है, उसके प्रति सहानुभूति रखता है। जिन्न नीता के समक्ष एक अल्बम पेश करता है। उसमें नीता की इच्छा के मुताबिक़ व्यवहार करने वाला युवक और बच्चे मिलते हैं। युवक नीता की हर बात मानता है, उससे प्यार करता है। बच्चे भी नीता की आज्ञा का पालन करते हैं। स्वीच दबाने से अल्बमी युवक और बच्चों का व्यवहार बिलकुल वैसा मिलता है जैसा नीता चाहती है। युवक नीता को अपनी बाहों में भर लेता है तो हडबडाहट अनुभव करती है। नीता को अन्य पुरुष का प्यार और दूसरे बच्चों से सम्मान नहीं चाहिए। उसे तो अपने पति और अपने बच्चों का प्यार चाहिए। तब जिन्न कहता है, 'गलत आप न पति चाहती हैं न बच्चे। आप कठपुतले चाहती हैं।' इसी चरमसीमा पर एकांकी समाप्त हो जाता है।

पात्रों के चरित्र के उसी अंश का उदघाटन किया गया है, जिसका अंतर्वस्तु से गहन सम्बन्ध है। जो भी पात्रों का निर्माण हुआ है वे हमारी जिंदगी के जीवंत प्राणी हैं। 'आप न बदलेंगे' का सबल पक्ष है – द्वंद्व। नायिका नीता के अंतर्बाह्य द्वंद्व से ही कथानक गतिशील, रोचक, आकर्षक बन पडा है। नीता एवं पति विधु के घात-प्रतिघात से एकांकी प्रभावक बना है।

बीज शब्द – *समकालीन, पदचिह्न,उपलब्धि, गुणात्मक, प्रासंगिक, कुंठित, चरमसीमा, आयाम, क्रिया-कलाप, अस्तित्व, वर्गगत, संवेदना, जीनियस, अंतर्वस्तु, गतिशील, दर्शन, दृष्टि, तार्किकता, प्रयोगशीलता, रंग-संकेत, संकलनत्रय, मनोदशा, संक्रमण, गृहस्थी, चेतना आदि।*

भूमिका

समकालीन हिंदी साहित्य को जिन साहित्यकारों ने समृद्ध किया है उनमें ममता जी का अहम् स्थान है। उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा हिंदी साहित्य को मजबूत बनाने वाली समकालीन महिला कथाकारों में ममता कालिया पहली पंक्ति की लेखिका हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने आदमी की पहचान बनाने की कोशिश की है। वे अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों से अलग होकर नहीं चली,उनमें शिल्प परिवर्तन सम्बन्धी कोई विशिष्ट प्रयास भी नहीं है,लेकिन एक ऐसा बिंदु अवश्य मिल जाता है जो उन्हें

अपने समकालीनों से स्पष्टत:अलगा देता है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से आज की जिंदगी को सम्पूर्ण रूप में उसके समस्त वैविध्य और विस्तार के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आदमी से सरोकार रखने वाले उनके बहुआयामी रचना-संसार को अनेक प्रतिष्ठित सम्मान और पुरस्कारों से विभूषित किया है। कथा-साहित्य में तो वे पदचिह्न हैं ही; नाट्य-साहित्य भी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। संख्या की दृष्टि से कथा-साहित्य की अपेक्षा उनका नाट्य-साहित्य भले ही कम रहा हो; गुणात्मक दृष्टि से सार्थक है। नाट्य-कृतियों के रूप में 'आत्मा अठन्नी का नाम है', 'यहाँ रोना मना है', 'आप न बदलेंगे' आदि वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिक विचार को प्रस्तुत करती हैं। उनका 'आप न बदलेंगे' एकांकी नारी-विमर्श को लेकर ख्यात है।

'आप न बदलेंगे' का कथावस्तु मध्यमवर्गीय परिवार की गृहिणी नीता के संघर्षों को निरुपित करता है। कथानक का चयन-क्षेत्र आधुनिक है। कथा कुल पांच दृश्यों में नियोजित है। नीता पति विधु की डांट का शिकार है। नीता का हर कार्य उसके पति के मन में चिढ़ पैदा करता है। न सिर्फ़ पति; दोनों बच्चे भी उससे बात-बात पर नाराज होते हैं। बात चाहे खान-पान की हो या रहन-सहन की; नीता हमेशा टीका-टिपण्णी का भोग बनती है। वह पति और बच्चों के प्यार के लिए तरसती है। परिवार के लिए वह एक साधन मात्र बनाकर रह गई है। कुंठित नीता अपने पति के कहने पर लैम्प ले आती है। लैम्प से निकला जिन्न अकेला नीता को समझता है, उसके प्रति सहानुभूति रखता है। एक दिन पति विधु नीता को डांटकर किसी ज़रूरी मीटिंग के लिए गोवा चला जाता है। उस वक्त जिन्न नीता के समक्ष एक अल्बम पेश करता है। उसमें नीता की इच्छा के मुताबिक़ व्यवहार करने वाला युवक और बच्चे मिलते हैं। युवक नीता की हर बात मानता है, उससे प्यार करता है। बच्चे भी नीता की आज्ञा का पालन करते हैं। स्वीच दबाने से अल्बमी युवक और बच्चों का व्यवहार बिलकुल वैसा मिलता है जैसा नीता चाहती है। युवक नीता को अपनी बाहों में भर लेता है तो हडबडाहट अनुभव करती है। नीता को अन्य पुरुष का प्यार और दूसरे बच्चों से सम्मान नहीं चाहिए। उसे तो अपने पति और अपने बच्चों का प्यार चाहिए। तब जिन्न कहता है, "गलत आप न पति चाहती हैं न बच्चे। आप कठपुतले चाहती हैं।"[1] इसी चरमसीमा पर एकांकी समाप्त हो जाता है। कथा का आयाम वाकई लघु है। मध्यमवर्गीय परिवार की रोचकता, प्रवाहिता को लेकर कथा पाठक को आकर्षित करती है।

चरित्र-योजना की दृष्टि से 'आप न बदलेंगे' एकांकी को परखने पर पाते हैं कि यहाँ सीमित पात्र ही निर्मित हैं। परिवार में कुल चार सदस्य हैं। विधु, नीता, सोनू और मोनू। इस एकांकी का प्रधान पात्र नीता है। लेखक का आशय इसी पात्र के क्रिया-कलाप द्वारा उजागर हुआ है। नीता विधु की पत्नी है जो शिक्षित है। समग्र एकांकी में नीता के अंतर्मन की गुत्थियों का प्रकाशन है। ममता कालिया ने नारी का यथार्थ व सजग चित्र निरुपित किया है। "नारी मन की अनुभूतियों की सुन्दर व्याख्या करने में उन्हें दक्षता प्राप्त है। वे निरंतर नारी अस्तित्व की पहचान हेतु सजग दिखाई देती हैं। वे नारी को पुरुष के समकक्ष स्थान पर आसीन करने का सफल प्रयास अपने नारी पात्रों के माध्यम से करती हैं।"[2] नीता मध्यमवर्गीय परिवार की गृहिणी के रूप में संघर्षों, तनावों का प्रतीक है। अत: इसे वर्गगत पात्र कह सकते हैं। पति विधु एवं बेटे सोनू एवं मोनू के औपचारिक प्रेम-संबंधों में परिवर्तन लाने में नीता असमर्थ, कुंठाग्रस्त है। परिवार में उसे न तो कोई समझना चाहता है और न उसको मन से कोई प्यार करता है। प्यार के दो बोल सुनने के लिए वह तरसती है। उसकी करुणता यह कि पूरा परिवार उससे सिर्फ़ 'उपकरण' के रूप में पेश आते हैं। न तो पति को उसके प्रति संवेदना है और न तो बच्चे उसका सम्मान करते हैं।

पति विधु को नीता का प्रत्येक काम फूहड़ लगता है। वह ऱोज नाश्ते में इमेजिनेशन चाहता है। उसकी दृष्टि से पत्नी में

टाइम-सेन्स होना चाहिए, जो नीता में नहीं दिखाई देता। परिणामस्वरूप वह पत्नी की हर बात पर नाराज हो जाता है। वह पत्नी नीता को फूहड़ और जाहिल औरत समझता है। बच्चे सोनू और मोनू को भी नीता के नाश्ता बनाने, जुते पहनाने, टाई लगाने; हर काम में बेहूदापन लगता है। वे भी नीता से नाराज नज़र आते हैं, सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते। सिर्फ़ लैम्प से निकले जिन्न को ही नीता के साथ सहानुभूति है। दरअसल वह जीनियस है। इस प्रकार 'आप न बदलेंगे' में पात्रों की संख्या सीमित है। पात्रों के चरित्र को विस्तार नहीं मिला है। एकांकी में पात्रों के चरित्र के उसी अंश का उदघाटन किया गया है, जिसका अंतर्वस्तु से गहन सम्बन्ध है। जो भी पात्रों का निर्माण हुआ है वे हमारी जिंदगी के जीवंत प्राणी हैं। लेखक ने तार्किक तथ्यों द्वारा पाठक के दिलोदिमाग को नीता के प्रति या कहें नारी के प्रति आकर्षित किया है।

'आप न बदलेंगे' का सबल पक्ष है – द्वंद्व। इस एकांकी में नायिका नीता के अंतर्बाह्य द्वंद्व से ही कथानक गतिशील, रोचक, आकर्षक बन पडा है। नीता एवं पति विधु के घात-प्रतिघात से एकांकी प्रभावक बना है। दो विपरीत परिस्थितियाँ, तर्क, दृष्टियाँ बख़ूबी निरुपित हैं। इस एकांकी के कथोपकथन में ममता जी की बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। जैसे –

"नीता : बच्चों में लगी थी जी, यह लीजिए।

विधु : (बुश्शर्ट देखते ही भड़क जाता है।) ग़ोज यही बुश्शर्ट, ग़ोज यही बुश्शर्ट, यह क्या मेरा युनिफोर्म है ? बाक़ी कमीजों से तुमने बर्तन ले डाले क्या ?

नीता : (भड़क कर) तुम मुझे उन्हीं फूहड़ जाहिल औरतों में गिनाते हो, जो सारा दिन लेउ-बेचू किया करती हैं। (रुक कर) किसी का कोलर घिस गया है, किसी का रंग उड़ गया है।

विधु : (व्यंग्य से) यह ठीक दस बजे सुनाने वाला समाचार है। (नीता का जाना और प्लेट लिए फुर्ती से आना)

विधु : अब और देर करोगी। तुम्हें टाइम सेन्स कब आएगी नीता ? एक-एक मिनट भारी हो रहा है, बस छुट रही है और तुम धमकी की तरह नाश्ता लिए खड़ी हो गई।"[3]

इस प्रकार संवाद आदि से अंत तक गतिशीलता बनाए रखते हैं। पात्रों की मन:स्थितियों, क्रियाकलापों की प्रस्तुति में संवाद बिलकुल सफल हैं। आदि से अंत तक तर्क-वितर्क इतनी चुस्तता से प्रस्तुत हुए हैं कि पाठक उसमें बहता नज़र आता है। चुस्तता, भावानुकुलता, संक्षिप्तता, तार्किकता सारे गुण इस एकांकी में उभरे हैं। जितना कथावस्तु वजन रखता है उतना ही इस एकांकी का शिल्पपक्ष भी। हम यदि कहें कि इस एकांकी की लोकप्रियता में शिल्पयोजना अहमियत रखती है; अतिशयोक्ति न होगा। विषयानुरूप, परिवेशानुरूप, पात्रानुकूल भाषा प्रयोग नाटकीयता में रंग लाते हैं। भाषा में अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग आधुनिक वातावरण के अनुकूल है। जैसे – युनिफोर्म, टाइम-सेन्स, रिमोट कंट्रोल सिस्टम, रिपोर्ट कार्ड, प्लेटें आदि। ममता कालिया ने 'आप न बदलेंगे' में अपनी प्रयोगशीलता का परिचय दिया है। कहते हैं न, जहाँ नहीं पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि', यह वैचित्र्य ममता कालिया के निजी जीवन पर जितना सार्थक लगता है उतना ही उनकी शाब्दिक प्रयोगधर्मिता में। इसका साक्ष्य यह एकांकी है। एकांकी को रंगमंचीय बनाने हेतु आवश्यक रंग संकेत दिए हैं। जैसे, "(जूतों की धम-धम के साथ दोनों बच्चों का आगमन। आते ही वे बसते एक कोने में पटकते हैं, मोज़े जुटे दूसरे कोने में। नीता प्लेट में नास्ता लाती है। बच्चे प्लेट एक नज़र देखते हैं।)"[4] एकांकी में मोटे तौर पर मानसिक स्थिति का निरूपण है। अत: संवाद कम; स्थितियां ज्यादा निरुपित हैं। कहें, एकांकी में आधा प्रतिशत संवाद और आधा प्रतिशत तो रंग-संकेत ही हैं। कदम-कदम पर पात्रों के अभिनय के संकेत और स्टेज की सज्जा-सिच्युएशन का संकेत दिया गया है, जिसके

कारण एकांकी का अभिनय सरल-सहज-सफल हो सकता है। अभिनय द्वारा स्थितियों का निरूपण यहाँ बख़ूबी हुआ है।

एकांकी में संकलनत्रय का निर्वाह है। स्थान है, एक मध्यवर्गीय मकान की बैठक। शाम का समय है। हाँ, अलग-अलग दृश्यों में समय दर्शाया गया है। दृश्य एक में शाम का समय है। दृश्य दो में समय : शाम- घडी पांच बजा रही है। दृश्य तीन में समय : रात, घडी बारह बजा रही है। दुर्श्य चार में समय : सुबह घडी में नौ बजे हैं और दृश्य पाँच में समय : घडी बारह बजा रही है। कार्य की एकता भी आकर्षक एवं सार्थक है।

साठोत्तरी हिंदी साहित्य में प्रयोगशील साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनाने वाली ममता जी का नूतन प्रयोग सराहनीय है। "अपनी बेबाक अभिव्यंजना शैली और विशिष्ट लेखन शैली के कारण हिंदी की वर्तमान महिला कथाकारों में वे समादृत हुई हैं।"[5] 'आप न बदलेंगे' एकांकी को आकर्षक बनाने में ममता कालिया की शैली अहमियत रखती है। उन्होंने नीता के परिवार के अलावा जिन्न का नीता के लिए व्यवस्था देना, मशीनी नवयुवक एवं बच्चे वाली मशीनी गृहस्थी की पेशकश कथा-वस्तु निर्मिति में नवीनता कह सकते हैं। यह नयी पेशकश रोचक तो है ही; हास्य-व्यंग्य के हल्के-फुल्के इंजेक्शनों द्वारा पाठक को सोचने के लिए विवश करती है। वैसे भी व्यंग्य का पुट उनके हर साहित्य को अन्य से अलगा देता है। अपनी व्यंग्यमुखर प्रखरता के नाते उनकी रचनाएं जहाँ अपने समकालीनों से सर्वथा अलग प्रतीत होती हैं, वहाँ आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण और प्रासंगिक बनी हुई हैं। 'आप न बदलेंगे' में भी व्यंग्य शैली प्रयुक्त है, "यह ठीक दास बजे सुनाने वाला समाचार है।"[6] "जब मैं जगह-जगह पड़े तौलिये, जूते प्याले, तिडकी प्लेटें, गलत तय किए अखबार गवारा कर सकता हूँ तो मैं इसे भाड कहना भी गवारा कर सकता हूँ।"[7] आदि।

ममता जी का अधिकतर साहित्यिक संसार नारी-जीवन को केंद्र में रखकर वर्तमान जीवन की भयावहता तथा संघर्ष परायणता को यथार्थ रूप में प्रदर्शित करता है। ख़ासकर ममता जी के साहित्य में पारिवारिक माहौल से तंग होने वाली तथा पति से असंतुष्ट रहेने वाली नारियों को प्रचुर मात्रा में स्थान मिला है। 'पारिवारिक संबंधों का वर्तमान रूप' इस एकांकी का प्रमुख विषय है। विषय को सार्थकता प्रदान करने में 'आप न बदलेंगे' की नायिका नीता का क्रिया-कलाप आधार है। यहाँ शोषित नायिका की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। निस्संदेह नीता संक्रमण काल से गुजर रही है। आज हर पति को अपनी पत्नी की; हर बच्चे को अपनी माँ की हर चीज भद्दी लगती है। स्त्री अपने पति की चिढ़ का, गुस्से का, गुर्राहट का शिकार है। परिवार के लिए बहुतकुछ कर गुज़रने पर भी नीता बहुत परेशान है। वह जिन्न से कहती है, "मैं सारा दिन खटती हूँ, सारा दिन खपती हूँ। क्या इसी सब के लिए ! विधु बात करते हैं तो लगता है कोई भेड़िया गुर्रा रहा है। उनकी गुर्राहट मेरे दिमाग में ऐसे भर गई है, जैसे स्टोव का शोर। बच्चे हैं, तो मेरी एक नहीं सुनते। सारा दिन नचाते हैं मुझे।"[8] आगे भी कहती है, "एक अदद सामान से ज्यादा अहमियत नहीं है मेरी। मैं इन सब की ज़िंदगी का एक उपकरण हूँ।"[9] नीता सिर्फ़ अच्छा खाना या उम्दा साड़ी नहीं चाहती। इसीलिए तो कहती है, "क्या मैंने रोटी-कपडे के लिए शादी की थी ! यह तो मुझे शादी से पहले भी मिलता था। अपने लिए मैं अपनों से प्यार के दो बोल सुनने को तरस जाती हूँ। कोई मु]झे समझता नहीं, सराहता नहीं !"[10] समाज में अधिकांश नारियाँ अपने पति तथा पारिवारिक सदस्यों से स्नेह तथा आत्मीयता की आकांक्षा रखती है। वास्तविक रूप में परिवार के सदस्यों में सामंजस्य, एक दूसरे के प्रति संलग्नता की भावना होनी चाहिए, यह पारिवारिक संस्कारों की देन होती है। स्नेह और सम्मान के अभाव में संवेदनशील नारी अपने आप को परिवार में संतुष्ट नहीं रख पाती।

तंग नीता के सामने जिन्न जीते-जागते खिलौने पेश करता है। जब जी चाहे दिल बहला लें, जब जी चाहे आलमारी में बंद करके रख दें। रिमोट कंट्रोल सिस्टम युक्त ! प्रशंसा के लिए लाल बटन दबाना, प्यार के लिए हरा बटन दबाना और बाहर

घूमने के लिए पिला बटन दबाना। सारी व्यवस्था मिल जायेगी। आज्ञाकारी बच्चे नीता की हर आज्ञा का पालन करते हैं, उसे सम्मान देने हैं। नवयुवक नीता से अनहद प्यार करता है, हर क़दम पर नीता को खुश रखता है। लेकिन नीता जिसतिस के लिए उपलब्ध नहीं हो सकती। उसकी इज्जत, उसका मान, उसकी प्रतिष्ठा को खोना नहीं चाहती। आखिर वह चाहती है कि उसका पति उससे प्यार करें, चाव से बोलें। उसके खुद के बच्चे उसे प्यार करें। इस प्रकार एकांकी में आधुनिक युग की नारी नीता घोर अतिक्रमण के संकट में भी अपने संस्कारों को सुरक्षित रखना चाहती है। यहाँ मशीनी युवक और बच्चे का निर्माण कर लेखिका संकेत करती है कि वर्तमान नीता को अपनी गृहस्थी से ऊब कर जिंदगी को नर्क नहीं बनाना है। वह चाहे तो अपने अनुकूल नयी गृहस्थी अपना सकती है। लेकिन नहीं, यहाँ नीता को गिरावट पसंद नहीं है। "आवश्यकता है, नए सन्दर्भों में नारीत्व को नए सिरे से परिभाषित करने की या मध्यकाल में खोई प्राचीन काल की परिभाषा को वापस पाने की। नारीत्व, जिसका अपना एक पृथक अस्तित्व हो, अपनी एक छवि हो, अपना एक अहम् हो, गौरव हो, अपना स्वाभिमान, अपनी उपयोगिता, अपनी सार्थकता हो। जो न पुरुष से हीं मानी जाए, न पुरुष की बराबरी में अपनी क्षमताओं का अपव्यय करे। जो पुरुष की पूरक हो। उसकी प्रेरणा हो। उसका मार्गदर्शन करने वाली हो। उसकी सहयोगी हो – घर, बाहर, सभी जगह, सभी क्षेत्रों में।"[11] लेखिका ने इस एकांकी में नारी के दायित्व पर भी इशारा किया है। व्यक्त है, "नारी कभी नहीं चुकती, मर्द ही चुक जाता है। पुरुष नल की तरह खाली हो जाता है, जबकि स्त्री सरोवर की तरह भरी रहती है लबालब, किनारे तक ! बीच की स्थिति में वह जीना नहीं चाहती।"[12] दूसरा, नीता के तनाव, संघर्ष, आदर्श का परिचय देकर परोक्ष रूप से लेखिका यह भी संदेश देती है कि "शिक्षित नारी आदर्श संबंधों की चाह में यथार्थ को भूल जाती है। पारंपरिक आदर्श एवं जीवन के समकालीन व्यक्तिवादी सोच, एवं विविध समस्याओं के बीच उसका जीवन तनाव से भर उठा है। परिवार का हर व्यक्ति नारी से अपने-अपने संबंधों के अनुसार सुख-सुविधाओं की चाह रखता है। बहुत कुछ करने तथा चाहने के बीच वह अन्दर से टूट जाती है। स्वाभाविकता एवं सहजता खोती जा रही है।"[13] एकांकी में सिर्फ़ नीता की समस्या नहीं है बल्कि नीता के समान अनेक आधुनिक मध्यमवर्गीय पत्नियों, गृहिणियों की समस्या अभिव्यक्त हुई है। पति अधिनस्त स्त्री मनोदशा का परिचय यहाँ बख़ूबी होता है।

निष्कर्ष

नारी-जीवन के द्वंद्व को अपने नए आयाम के साथ प्रस्तुत करने में तथा पारिवारिक समस्याओं को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करने में 'आप न बदलेंगे' सफल सिद्ध है। इस एकांकी में नारी के वैषम्य की भावना और वैयक्तिक जीवन-प्रसंग के आपसी संयोग से एक समीकरणात्मक मानवीय चेतना की विचारणा पुष्ट निर्धारणा और अभिव्यंजना दिखाई देती है। सामाजिक बोध की भूमिका, विकसित चेतना का स्फुरण और स्पष्ट अभिव्यंजन 'आप न बदलेंगे' में उपलब्ध है।

संदर्भ

1. डॉ॰ जी॰ भास्कर मैया (सं॰), नाटक आज तक, पृ॰ 74
2. डॉ. सानप शाम, ममता कालिया के कथा-साहित्य में नारी-चेतना, पृ॰ 114
3. डॉ॰ जी॰ भास्कर मैया (सं॰), नाटक आज तक, पृ॰ 63-64
4. वही॰, पृ॰ 60
5. डॉ. सानप शाम, ममता कालिया के कथा-साहित्य में नारी-चेतना, पृ॰ 114
6. डॉ॰ जी॰ भास्कर मैया (सं॰), नाटक आज तक, पृ॰ 64
7. वही॰, पृ॰ 69
8. वही॰, पृ॰ 62

9. वही०, पृ० 62
10. वही०, पृ० 63
11. डॉ. सानप शाम, ममता कालिया के कथा-साहित्य में नारी-चेतना, फ्लैप से
12. डॉ० जी० भास्कर मैया (सं०), नाटक आज तक, पृ० 72
13. वही०, पृ० 57-58

कहानीकार यशपाल का नारीवादी दृष्टिकोण

डॉ. आशा कुमारी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान,
आईईसी विश्वविद्यालय, बद्दी,
ज़िला – सोलन, हिमाचल प्रदेश, 174103
मोबाइल : 9805193104
aashu.bhandari04@gmail.com

शोध सार :

हिंदी कथाकारों की श्रेणी में यशपाल का नाम अग्रणी है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से न केवल नारी जीवन की समस्याओं को उद्घाटित किया है बल्कि उन समस्याओं को दूर करने पर भी बल दिया है। यशपाल का नारीवादी दृष्टिकोण उनकी अनेक कहानियों में देखने को मिलता है। यशपाल ने समाज में फैली विसंगतियों को दूर करने के लिए एक स्वस्थ दृष्टिकोण की गुहार लगाई है। यशपाल की कहानियों में नारी के प्रति पुरुष की वर्चस्ववादी मानसिकता, समाज द्वारा निर्धारित निश्चित प्रतिमान एवं आदर्श आदि नियमों पर प्रहार किया गया है। नारी को सैंकड़ों वर्षों से अपने जीवन के फैसले लेने तथा मुक्त जीवन जीने के अधिकार से वंचित रहने के लिए विवश किया जाता रहा है। शताब्दियों से नारी आत्मसंघर्ष करती रही है। यशपाल की विचारधारा इसके विपरीत है। वह नारी के अधिकारों, स्वतंत्रता तथा समानता की मांग करते हैं। जब जब भी नारी ने अपने अधिकारों की मांग की है तब-तब उसे अपने ही परिवार की बेरुखी को सहन करना पड़ा। इन परिस्थितियों में बदलाव के साथ ही आज नारी शिक्षित तथा आत्मनिर्भर हो कर अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूक हुई है तथा अपनी राह बनाने में सक्षम भी है।

बीज शब्द: *नारीवाद, प्रतिमान, संघर्ष, अधिकार, आत्मनिर्भर, यौन शोषण, पितृसत्ता, सामाजिक असुरक्षा, विषमता, विसंगतियां, कुरीतियाँ, अभाव, कुंठा।*

प्रस्तावना :

वृंदा कारात के अनुसार "नारीवाद एक विचारधारा है, जिसके आधार पर महिलाओं की मुक्ति के प्रयास किये जाते हैं।"[1] यशपाल की कहानियां इसका एक सशक्त उदाहरण है। उन्होंने नारी मुक्ति विषय पर कई कहानियां लिखी हैं। यशपाल के संबंध में आचार्य नरेन्द्र देव का कथन है – "समाज को जगाने के लिए यशपाल लिखते हैं और समाज को जगते न देख कर बड़े निर्ममता से वे उसके शरीर में कलम की नोक चुभा देते हैं।"[2] यशपाल समाज की सुप्त मानसिकता को झकझोरने का प्रयास करते दिखाई पड़ते है। वास्तव में नारीवादी दृष्टिकोण वह विचारधारा है जिसके केंद्र में स्त्रियों की समस्याएं हैं जो पितृसतात्मक सत्ता की दोयम दर्जे की मानसिकता, यौन शोषण तथा सामाजिक कुंठाओं का शिकार रही है। सिमोन दा बउआ का कथन है – "औरत पैदा नहीं होती, बनायी जाती है।"[3] अर्थात् स्त्री को घर एवं कुल की इज्जत मान कर एक कठपुतली के समान रहने के संस्कार दिए जाते हैं और खोखली मान्यताओं एवं मर्यादाओं की पट्टी पढाई जाती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या पुरुष घर की मर्यादा नहीं ? जबकि वंश को बढ़ाने वाला तो पुरुष ही माना जाता है। क्या पुरुष अकेले ही वंश को बढ़ाने में सक्षम है ? स्त्रियों के प्रति समाज की यह दकियानूसी सोच एवं रवैया चिंतनीय

[1] http://www.debateonline.in/060512/

[2] http://rsaudr.org/show_artical.php?&id=2192

[3] http://www.sahityasetu.co.in/issue12/gargishah.html

विषय है। आज स्त्री अन्तरिक्ष तक पहुँचने में सफल हुई है, लेकिन फिर भी उसे अपने सपनों को सजाने तथा उन्हें पूरा करने के लिए कहीं न कहीं अपने परिवार पर निर्भर रहना पड़ता है। लोक समाज के डर से आज भी स्त्री पूरी तरह से मुक्त नही हो पायी है।

"प्रेमचन्द के अनुसार नारी पुरुष से श्रेष्ठ है क्योंकि वह अहिंसा और शांति की प्रतिमूर्ति है। लेकिन यशपाल की दृष्टि में नारी पुरुष से श्रेष्ठ या पुरुष से घटकर नहीं, वह पुरुष का समभागी है। उनके मत में समाज में नारी को पुरुष के समान अधिकार देने की आवश्यकता है। उनकी दृढ़ धारणा है कि जब तक भारतीय नारी शिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी नहीं बनेगी तब तक वह अभिशप्त जीवन बिताने को बाध्य होगी।"[1] यशपाल नारी की आर्थिक स्वाधीनता के पक्ष में हैं। नारी को आत्मनिर्भर तथा शिक्षित बनाना उनकी कहानियों के केंद्र में है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कई राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याओं को रेखांकित किया है। यशपाल ने स्त्री सरोकारों से सम्बद्ध विभिन्न मुद्दों को अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। कहानियों में पितृसतात्मक वर्चस्व की परतों को उधेड़ने का प्रयास किया है, जिसमें स्त्रियों की छटपटाहट, सामाजिक असुरक्षा, विषमता, विसंगतियां, कुरीतियाँ, अभाव, कुंठा आदि बन्धनों से मुक्ति की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यशपाल नारी मुक्ति का आह्वान करते हैं और उनकी कहानियों की नारी पात्र पुरुष पात्र की अपेक्षा अधिक सशक्त एवं सबल दिखाई पड़ती है। "नई कहानी के दौर में स्त्री के देह और मन के कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध एक सम्पूर्ण स्त्री की जिस छवि पर जोर दिया गया उसकी वास्तविक शुरुआत यशपाल से ही होती है। आज की कहानी के सोच की जो दिशा है उसमें यशपाल की कितनी ही कहानियां बतौर खाद इस्तेमाल हुई हैं। वर्तमान और आगत फ़सल की सम्भावनाओं की दृष्टि से उनकी सार्थकता असंदिग्ध है।"[2] यशपाल की कहानियों में समाज की रुढ़िवादी परम्परागत मान्यताओं पर प्रहार किया गया है।

यशपाल की 'करवा का व्रत' एक ऐसी कहानी है जिसमें कहानी की नायिका लाजवंती को अपने शौक पूरे करने के लिए कभी अपने पिता और भाई पर तो कभी अपने पति पर निर्भर रहना पड़ता है। लेकिन होता यह है कि कोई भी उसके शौक पूरे नहीं करता। कहानी में पुरुष की मानसिकता पहले से ही ऐसी बनी हुई है कि स्त्री घर की चारदीवारी के लिए ही बनी हुई है। जब स्त्री अपनी जुबान खोले तो उसे मार पीटकर शांत करवा दिया जाये, लेकिन नायिका की नम्रता देखिए वह फिर भी अनचाहे मन से ही सही मगर पुरुष की हर इच्छा को पूरा करती है। नारी इतनी धैर्यवान एवं कर्तव्यपरायण है जिसका पुरुष अंदाजा भी नहीं लगा सकता। कहानी की कुछ पंक्तियाँ इस बात को व्यक्त करती है - "मार से लाजो को शारीरिक पीड़ा तो होती ही थी, पर उससे अधिक होती थी अपमान की पीड़ा। ऐसा होने पर वह कई दिन के लिए उदास हो जाती। घर का सब काम करती रहती। बुलाने पर उतर भी दे देती। इच्छा न होने पर भी कन्हैया की इच्छा का विरोध न करती, पर मन-ही-मन सोचती रहती, इससे तो अच्छा है मर जाऊं।"[3] लाजो कई समय तक बिना किसी अपराध के उपेक्षा, अन्याय और निरादर सहने को विवश रहती है। यशपाल ने कहानी में करवाचौथ के व्रत का उदहारण देकर पति की लापरवाही पर व्यंग्य किया है। पति उसकी चुप्पी को उसकी कमजोरी समझता है। पति के निर्दयी व्यवहार के बावजूद भी लाजो उसकी लम्बी उम्र की कामना करती है। कहानी का अंत सुखद है। 'करवा का व्रत' आदर्शोन्मुख कहानी की श्रेणी में आती है, जिसमें नायिका अपने व्यवहार से पति की सोच तथा हृदय को परिवर्तित करने में सफल रहती है।

---

[1] सी. एम. योहन्नान, यशपाल का कहानी संसार : एक अन्तरंग परिचय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. : 2005, पृ० 133

[2] सम्पा. मधुरेश, यशपाल रचना संचयन (भूमिका), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण सं. : 2012, पृ० 22

[3] सम्पा. मधुरेश, यशपाल रचना संचयन (भूमिका), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण सं. : 2012, पृ० 238

'तर्क का तूफान' कहानी संग्रह की निर्वासिता, तर्क का तूफान, मेरी जीत, डायन, सोमा का साहस, होली नहीं खेलता, जादू के चावल, औरत आदि कहानियों में अनमेल विवाह, प्रेम, काम वासना और नारी स्वाधीनता जैसी समस्याओं को उद्घाटित किया गया है। 'डायन' कहानी में यशपाल ने समाज में प्रचलित रुढ़िवादी परम्पराओं का शिकार बनी नारी का चित्रण किया है। कहानी की नायिका सुर्जू घर के नौकर पुदना के साथ भाग कर विवाह कर लेती है। इस कहानी में शहर और गाँव के परिवेश तथा शहर के प्रति गाँव के लोगों की मानसिकता का चित्रण किया गया है। सुर्जू शहर में रहने वाली है और पुदना पहाड़ के गाँव का। एक बार वह घर से शहर चला जाता है। जब लौटकर आता है तो शहर की औरत को ब्याह के लाता है। इस कहानी में परम्परागत रूढियों तथा अंधविश्वास में बंधे लोगों का चित्रण है। "धरती और औरत क्या कभी किसी एक भाई की हुई है ? माँ होकर मैं यह कैसे देख सकती हूँ ! मेरे घर क्या दो-दो चार-चार औरतें आएंगी। क्या मेरा कुल तितर-बितर करके घर का सत्यानास करना चाहती है ?|"[1]

ओ भैरवी संग्रह की कहानी 'ओ भैरवी' में यौन समस्या को उठाया है, जिसमें बौद्ध भिक्षुओं को नारी के सम्पर्क से दूर रहने की सलाह दी गयी है। 'सबकी इज्जत' कहानी में नारी के प्रति सम्मान की भावना को जगाने का प्रयास किया गया है। 'सच बोलने की भूल' संग्रह में 'नारी की ना' कहानी में नारी की संकोचशील प्रवृति को पुरुषों को आकर्षित करने वाली बताया गया है। खच्चर और आदमी की 'वैष्णवी' कहानी में बाल विधवा की समस्या को उद्घाटित किया गया है। 'उपदेश' कहानी में "नारी की समस्या को अर्थ से सम्पृक्त कर देखा है। इस कहानी के जरिये वे यह स्थापित करते हैं कि नारी के लिए यौन तृप्ति विवशता है और पुरुष के लिए मन बहलाने का साधन इसमें नारी की विवशताओं और देह व्यापार की ओर जाने की स्थितियों का अंकन है।"[2] 'धर्मयुद्ध' संग्रह में नारी की सामाजिक स्थिति को सुधारने तथा नारी की मुक्ति पर बल दिया गया है। संग्रह की कहानी 'मंगला' में कहानी की पात्र मंगला की दयनीय स्थिति और कानून के खोखलेपन का पर्दाफाश किया गया है। "अन्तर्विरोध की परिस्थिति में जो लोग बुद्धि से काम लेने के लिये तैयार रहना चाहते हैं उन्हीं को यह कहानियाँ सुनाना चाहता हूँ।"[3] 'चित्र का शीर्षक' संग्रह की आदमी और पैसा, मार का मोल, एक सिगरेट, पांव तले की डाल आदि कहानियों में पितृसत्तात्मक समाज में नारी की पराधीनता, नारी की अस्तित्वविहीन स्थिति आदि को रेखांकित किया गया है।

यशपाल नारी को एक सहयोगी के रूप में देखते हैं और उसके सम्मान, समानता, और स्वतंत्रता के पक्षधर रहे हैं। नारी जीवन के विविध पहलू यशपाल की कहानियों में दृष्टिगोचर होते हैं जो नारी के प्रति उनके सकारात्मक दृष्टिकोण का बोध कराते हैं। यशपाल ने नारी जीवन की विविध समस्याओं को व्यक्त किया है, जिससे नारी की पीड़ा का अहसास होता है। यशपाल के नारी पात्र संघर्षशील है जो परिस्थितयों से समझौता स्वीकार न कर उसका डटकर सामना करती है। यशपाल की कहानियों में नारी केवल घर की चाहरदीवारी में रहकर जीवन बिताने वाली नहीं बल्कि इस बंधन से मुक्त होकर पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का साहस रखने वाली है। हमारी संस्कृति एवं समाज नारी को पराधीनता का नकाब पहना कर एक समृद्ध परम्परा से अलग थलग रुढ़िवादी मानसिकता के बंधन में रखना चाहता है। यशपाल की दृष्टि में नारी की सत्ता इससे कहीं अधिक भिन्न है वह इस खोखली मान्यता के पक्ष में नहीं है। नारी केवल भोग की वस्तु नहीं बल्कि उसका अपना अस्तित्व है। उसकी अपनी अलग पहचान है। यशपाल की दृष्टि में नारी न केवल एक परिवार का बल्कि सम्पूर्ण समाज का आधार है। यशपाल एक स्वस्थ समाज की कल्पना करने के हिमायती हैं। नारी समाज का अहम हिस्सा है। नारी के न जाने कितने ही रूप तथा गुण हैं जिन्हें समझना बेहद जटिल है।

---

[1] यशपाल, तर्क का तूफ़ान, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. : 2010, पृ० 78

[2] हेमराज कौशिक, कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल, पुष्पांजलि प्रकाशन, दिल्ली, सं. : 2006, पृ० 31

[3] यशपाल, धर्मयुद्ध, समर्पण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा सं. : 2014, पृ० 5

यशपाल का उद्देश्य नारी को पुरुष के समानान्तर रखना था। नारी शोषण के पीछे पुरुष प्रधान समाज के अत्याचारों की तीव्र प्रेरणा रही है। इसी भावना और समस्या को यशपाल की कहानियों में किसी न किसी तरह चित्रित किया गया है। नारी शोषण, अनमेल विवाह, बाल विवाह, विधवा समस्या, स्त्री प्रथा आदि सामाजिक अनीतियों का स्पष्ट प्रभाव यशपाल की कहानियों में देखने को मिलता है। समाज के परिवर्तन से केवल साहित्य और नारी की मन:स्थिति में ही बदलाव नहीं आया अपितु कहानीकारों की नारी सम्बन्धी दृष्टि में भी परिवर्तन आया है। "यशपाल का नारी दृष्टिकोण बड़ा क्रांतिकारी है। उनकी मान्यता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में नारी क्रय-विक्रय की वस्तु बना दी गई है। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह सर्वथा पराधीन है। हमारी परम्परा नारी की पराधीनता को उसके चरित्र की महता के रूप में ग्रहण करती है। परन्तु यशपाल नारी के प्रति हमारे परम्परागत दृष्टिकोण को मानते नहीं वे ऐसे एक शोषण-मुक्त समाज की रचना करना चाहते हैं जहाँ नारी किसी की सम्पति या दान की वस्तु न हो।"[1]

निष्कर्ष:

अंततः कह सकते हैं कि यशपाल ने नारी की विविध समस्याओं तथा जीवन से जुड़े मुद्दों एवं परिस्थितियों को अपनी कहानियों में उजागर किया है। यशपाल ने प्रमुख रूप से नारी का आर्थिक पिछड़ापन, शिक्षा का अभाव, नारी के प्रति पुरुष की वर्चस्ववादी सोच तथा शोषण आदि विसंगतियों को रेखांकित किया है। यशपाल अपनी कहानियों में सामाजिक विषमताओं तथा विसंगतियों पर प्रहार करते हुए नारी को मुक्ति के पथ पर चलने का आह्वान करते हैं। शिक्षा और आर्थिक सम्पन्नता स्त्री मुक्ति का शस्त्र है। यशपाल ने अपनी कहानियों में नारी की स्वतंत्रता, अस्मिता को बनाये रखने की पहल की है। यशपाल ने नारी चेतना को सशक्त करने हेतु कई कहानियों का सृजन किया है। एक स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उन्होंने नारी के विविध पहलुओं को संवेदनशीलता से व्यक्त किया है। यशपाल ने अपनी कहानियों के माध्यम से नारी को प्रेरित करते हुए उसे समाज में अपनी पृथक पहचान बनाने का संदेश दिया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. सी. एम. योहन्नान, यशपाल का कहानी संसार : एक अन्तरंग परिचय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. : 2005, पृ० 133
2. सम्पा. मधुरेश, यशपाल रचना संचयन (भूमिका), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण सं. : 2012, पृ० 22
3. सम्पा. मधुरेश, यशपाल रचना संचयन (भूमिका), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण सं. : 2012, पृ० 238
4. यशपाल, तर्क का तूफ़ान, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. : 2010, पृ० 78
5. हेमराज कौशिक, कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल, पुष्पांजलि प्रकाशन, दिल्ली, सं. : 2006, पृ० 31
6. यशपाल, धर्मयुद्ध, समर्पण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा सं. : 2014, पृ० 5
7. सी. एम. योहन्नान, यशपाल का कहानी संसार : एक अन्तरंग परिचय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 132

[1] सी. एम. योहन्नान, यशपाल का कहानी संसार : एक अन्तरंग परिचय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 132

सभ्य समाज की जरूरत है किन्नर विमर्श

नेहा झा
पीएच-ड़ी. शोधार्थी, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय
ईमेल – nehajha5050@gmail.com

सारांश

साहित्य से लेकर समाज में अब लगातार विमर्शों का दौर है। जिसमे दलित, आदिवासी, वृद्ध तथा स्त्री जैसे महत्वपूर्ण विमर्श साहित्य में उभरकर आये हैं। लैंगिकता के जिस आधार पर स्त्री विमर्श ने साहित्य तथा समाज में अपनी अस्मिता तथा अस्तित्व की लड़ाई को प्रस्तुत किया तथा एक नई दृष्टि से समाज को विचार करने पर मजबूर किया। तो उसी लैंगिकता के आधार पर साहित्य और समाज में किन्नर विमर्श ने भी एक नई बहस को छेड़ दिया। सदियों से उपेक्षित हाशिये का जीवन जी रहे किन्नर समाज से लेकर साहित्य में प्राचीन समय से ही विद्यमान हैं। महाभारत के शिखंडी तथा बृहन्नला से लेकर हिन्दू तथा मुग़ल सम्राटों तक के दरबारों में उनकी महत्वपूर्ण स्थिति रही है परन्तु वर्तमान समय में उनके प्रति अपवित्रता तथा अमानवीय व्यवहार के साथ - साथ उन्हें घृणा की नजर से देखना किसी भी सभ्य समाज के लिए कलंक है। समाज के निर्माण में इनकी भी साझेदारी को सुनिश्चित करना होगा और समाज में उनके प्रीति जागरूकता लानी होगी। जिससे कि वह सभी किन्नर भी अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकें।

बीज शब्द: हिजड़ा, किन्नर विमर्श , समाज, सरकार

प्रस्तावना:

जब से दुनिया में मानव सभ्यता ने विकास किया है तभी से समाज ने मानव सभ्यता को दो वर्गों में बाँटकर उसके विकास के क्रम को समझा है। मानवीय समाज को दो वर्गों में लैगिंकता के आधार पर ही बांटा स्त्री एंव पुरुष। इन्ही दो वर्गों के साथ - साथ समाज में एक अन्य वर्ग का भी विकास हुआ जिसको प्राचीन समय से ही नजरअंदाज किया गया जबकि वह मानव जाति में प्राचीन समय से ही उपस्थित रहा हैं। सामान्यत: समाज में ऐसे अन्य वर्ग के लिए 'किन्नर' एंव 'हिजड़ा' शब्द का प्रयोग किया गया है। मानवीय समाज में यह वह लोग होते है जो न तो पूर्ण रूप से स्त्री होते है और न ही पूर्ण रूप से पुरुष। कुछ विशेष अंगो अथवा गुण सूत्रों के नियमित विकास न होने की के कारण, ये लोग सामान्यत: स्त्री एंव पुरुष की भांति न तो संभोग कर पाते है और न ही गर्भ धारण। इसलिए ही इन्हें समाज में अपवित्र तथा अशुभ माना जाता है।

वर्तमान समाज में अनेक विमर्श जैसे दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, वृद्ध विमर्श के साथ ही साथ किन्नर विमर्श की गूंज भी सुनाई पड़ने लगी है। इनकी समस्याओं को लेकर साहित्य में कहानियां तथा उपन्यास और कवितायें भी खूब लिखी जा रही है। पिछले कुछ समय में किन्नर विमर्श तेजी से उभरकर आया है। साधारणत: हिजड़ा शब्द से हमारे मस्तिष्क में रेल गाड़ी में, बस अड्डों पर, रेड लाइट पर, या पार्क में जबरन पैसा मांगने वाली, गंदी गलियाँ देने वाली, ताली पीट पीट कर पैसा माँगने वाली पुरुषों के तरह दिखने वाली औरत आती है। क्योंकि हमने अपने आसपास उन्हें इसी तरह जीवन-यापन करते देखा है। जैसे वह हम सबसे बिल्कुल अलग हो। उन्हें समझनें से पहले हमें लिंग को अच्छे से समझना होगा। लिंग दो प्रकार के होते है 1. Homo sexual (समलैंगिक) 2. Hetro Sexual (

विषमलिंगी) । समलैंगिक को LGBTI Community या Queer भी कहते हैं। समलेंगिक पांच प्रकार के होते हैं - 1.Lesbean 2.Gay 3.Bi-sexual 4.Transgender 5.Inter-sex वास्तविकता में Transgender को ही हिजड़ा कहते है। हिजड़ों के समुदाय को सामाजिक संरचना की दृष्टिकोण से 7 घरानों में बांटा जाता है। हर घराने के मुखिया को 'नायक' कहा जाता है। यह नायक ही अपने द्वारा आश्रम के लिए गुरु का चयन करते हैं। हिजड़े जिन्हें अपने पति के रूप में स्वीकार करते है उन्हें 'गिरिया' कहते हैं। किसी कारण से ऐसा होता है कि बच्चे पूर्ण रूप से न तो नर रह पता है न ही मादा परंतु इसमे इनका क्या दोष है जिसकी सजा इन्हें मिलती है। केवल समाज ही नहीं इन्हे अपने परिवार से भी प्रताड़ना मिलती है जो इनके लिए सबसे ज्यादा दुख देने वाला है। ऐसे बच्चे के जन्म लेते ही उन्हे या तो मार दिया जाता है या हिजड़ों को सोंप दिया जाता है। अगर कोई माँ अपने ममता के कारण बच्चे को अपने पास रखना भी चाहती है तो बाकि घर वाले और समाज यह होने नहीं देते हैं।

परन्तु वर्तमान समय में समाज इनको लेकर काफी जागरूक हो रहा है। साहित्य के माध्यम से भी लोग इनके दर्द को समझ रहे है। इसलिए आजकल हिजड़ों को सम्मान सूचक शब्द 'किन्नर' नामे से पुकारा जाता है परंतु किन्नर कहने से यह तात्पर्य नहीं है की हिजड़ों को सम्मान दिया जाने लगा हो या किन्नरों का दुख कम हो गया हो। आज भी हिजड़ा शब्द गाली के रूप में एक दूसरे को नीचा दिखने के लिए दी जाती है। वे हमारे शुभ कार्यों में आकार नाच – गाना करते है और आशीष देकर नेग ले जाते है। ऐसा माना जाता है की हिजड़ों का आशीर्वाद बहुत असर करता है। इसी कारण हम उसे किसी भी शुभ कार्य में बुलाते है परंतु सपने में भी उसके जैसा बनने या उसके करीब जाने से डरते है। समाज में उनके प्रति इतना घृणा भरी होती है कि हम उन्हें इंसान के तौर पर भी समझना नहीं चाहते है।जिस प्रकार हम शारीरिक विकलांग व्यक्ति के प्रति सहनभूति रखते है उसी प्रकार हम हिजड़ों के प्रति क्यूँ नहीं रख पाते है वे भी तो एक प्रकार से शारीरिक विकलांग ही होते है न। इनके लिए न तो परिवार है, न ही शिक्षा, न रोजगार और न ही समाज है। इनका संपूर्ण जीवन दुत्कार और मांगकर ही कट जाता है। इसके अलावा इनके पास कमाई का और कोई जरिया नहीं होता इसी कारण आर्थिक मंदी से परेशान होकर कुछ हिजड़े वेश्यावृति की और जाने पर मजबूर हो जाते है। हमारे ही समाज का हिस्सा होते हुये हम इसे समाज से प्रताड़ित करके समाज से दूर जीवन किसी तरह काटने पर मजबूर कर देते है। हम इसे देखकर हँसते है इनका मज़ाक उड़ाते है लेकिन हम भूल जाते है की इस तिरस्कार या मजाक से उन्हे कितना कष्ट होता होगा।

हमने इन्हें आत्मसम्मान से जीने का समाज में एक मौका नही दिया। इनकी समस्यों को ध्यान में रखकर न तो सामाजिक सरंचना तैयार की, यहाँ तक की इनके लिए सार्वजनिक शौचालय भी हमारे समाज में नहीं बनाये। इनको अपवित्र – अशुभ मानकर हमने समाज से दरकिनार तो कर दिया पर जब यह लोग जीवन जीने के लिए रेड लाइट पर या फिर बच्चे पैदा होने पर या घर में शुभ काम होने पर नेग मांगने आते है तो हमारे अंदर घृणा का बोध होने लगता है। हमने समाज में ही नहीं बल्कि सरकारी नौकरियों में भी इन्हें अलग से आरक्षण नहीं दिया। न तो इनके लिए स्कूल अलग बनाये और न ही कॉलेजों में शौचालय बनाये। हिजड़ा होने की वजह से इनका मजाक उड़ाया जाता है इनके शरीरिक लक्षणों को देखते हुए तंग किया जाता है। जिस कारण यह लोग अपनी पढ़ाई बीच में छोड़ देते है या फिर इन्हें शिक्षा पूरी करने का मौका ही नहीं मिलता है।

इनकी इन्हीं सभी समस्यों को ध्यान में रखकर अब इनपर साहित्य लिखा जा रह है। किन्नरों की चर्चा वर्तमान

साहित्य में ही नहीं बल्कि पौराणिक ग्रंथो मे रामायण और महाभारत में भी की गयी है। महाभारत महाकाव्य में शिखंडी नामक किन्नर की चर्चा है तो रामायण में भी किन्नरों से संबन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित है। पुराने समय में हिन्दू एवं मुस्लिम शासक इन्हें हरम की सुरक्षा के लिए नियुक्त करते थे। पहले जिस विषय पर बात भी नहीं की जाती थी आज उस विषय पर लोग चर्चा करना आरंभ ही नहीं किए बल्कि इसे समाज की ज्वलंत समस्या के रूप में भी स्वीकार किया जा रहा है। वैसे तो किन्नरों की समस्याओं पर बहुत पहले ही गौर करना चाहिए था परंतु देर से ही सही यह अब किन्नरों की समस्या को गंभीरता से लिया जा रहा है। साहित्य में किन्नर समाज पर रचनाएँ लिखी जा रही है, लेख प्रकाशित हो रहे है, कई विश्वविद्यालयों में इनपर शोध भी कराया जा रहा।

वैसे तो पुराने समय से ही अनेक रचनाकारों ने किन्नरों की चर्चा अपनी रचनाओं में की है परंतु वास्तव में किन्नर विमर्श की शुरुआत नीरजा माधव का उपन्यास 'यमदीप' से माना जाता है जिसकी रचना 2001 में हुई। यमदीप उपन्यास की नायिका नन्दरानी या नाज बीवी है। नन्दरानी के चाल - चलन एवं स्वभाव से उसकी माँ को पता चल जाता है कि नन्दरानी हिजरा है परंतु वह समाज की परवाह किए बगेर उसे अपने साथ रखना चाहती है और उसे अच्छी शिक्षा प्रदान करवाने की चेष्टा करती है। परंतु पढ़ने में होशियार होने के बावजूद उसकी शिक्षा पूरी नहीं हो पाती क्योंकि उम्र के बढ़ने के साथ - साथ उसे दाढ़ी - मूछ आने लगते है। उसके साथ के बच्चों का उसे इस कारण चिढ़ाना उसे अंदर तक तोड़ कर रख देता है। समाज के ताने और परिवार के दुख के कारण वो हिजड़ो की बस्ती उनकी दुनिया में जाने का फैसला लेती है। वहाँ उसका नाम नंदरनी से नाज बीवी हो जाता है और उसके गुरु मेहताब गुरु बनते है। इस उपन्यास के माध्यम से माधव जी हिजड़ा समाज के यथार्थ को दर्शाया है उन्होने ये दिखाने की कोशिश की है की समाज अगर मौका दे तो हिजड़े बहुत कुछ कर सकते है वो ये साबित कर सकते है कि उन्हें किसी से कम नहीं आंकना चाहिए। नाज बीबी कहती भी है कि "अगर सरकार हमें भी हथियार दे, मैं तो लड़ूंगी। लड़ते-लड़ते हिन्दुस्तान के पीछे अपनी जान दे दूंगी।" इसी तरह मुंबई के कंपनी में ऋण की वसूली के लिए हिजड़ो की सहायता ली जाती है जिसे वो चुटकी में वसूल कर ले आती है। एक लड़की का बलात्कार होने से हिजड़े ही उसे बचाते हैं। माँ की ममता से दूर होने के बाद भी उनके अंदर इतनी ममता बच्ची होती है की वो एक पागल औरत के बच्चे को जन्म देने में मदद भी करती हैं और उस बच्चे को किसी के द्वारा स्वीकार ना करने पर खुद ही उस बच्चे को अपने साथ ले भी जाती हैं। बच्चे का स्कूल में भर्ती करवाने के समय नाज बीवी का कथन किन्नरों की व्यथा को अत्यंत मार्मिक रूप से प्रकट करता है - "जब हम धंधे पर नहीं होते बहन जी तो इस तरह का मजाक हमारे सीने में गाली की तरह लगता है। हम आसमान से तो नहीं टपकते हैं ना आप ही की तरह किसी मां की कोख से जन्मे है हाड़ - मांस का शरीर लिया। हमें तो अपने आप दुख होता है जीवन पर आप लोग भी दुखी कर देते हो।" हिजरा अगर एक बार परिवार को छोड़ देते है तो वापस से परिवार में चाह कर भी नहीं जा पाता है। नाज बीवी अपने माता - पिता को याद करने पर भी उनसे मिलने नहीं जा पाती है। माँ की मृत्यु के पश्चात घर जाने पर भाभी भगा देती और शमशान में भाई। नीरजा माधव जी ने इस उपन्यास द्वारा किन्नरों पर हो रहे अत्याचारों को तथ्यों के माध्यम से दिखते हुये समाज में उनका महत्व और समाज के मुखी धारा से उन्हें जोड़ने का प्रयास किया है। किन्नर जीवन पर आधारि दूसरा प्रख्यात उपन्यास प्रदीप सौरव कृत 'तीसरी ताली' है जो 2014 में आया। इस उपन्यास में हिजड़ो की मजबूरीयों का खुल कर वर्णन किया

गया है। वे किन कारणों से वेश्यावृति में जाने को मजबूर होते है? क्या सभी हिजड़े वेश्यावृति करते है? क्यूँ वे स्वयं ही हिजड़ा समुदाय में चले जाते है? आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर के साथ यह भी पता चलता है की उन्हें समाज मौका नहीं देता अगर इन्हें मौका मिलेगा तो वे विनीता जैसी एक प्रख्यात ब्यूटीशियन और सुप्रिया जैसी फिल्मी डांसर बन सकती है। इस उपन्यास में असली और नकली हिजड़ो की समस्याओं को भी दिखाया गया है। इसके साथ ही हिजड़ा समाज की अनेक सच्चाईयों से भी पाठकों को रूबरू कराया है जिनसे वे अनिभिज्ञ थे। इसी क्रम में आगे महेंद्र भीष्म का 'किन्नर कथा' उपन्यास आता है जिसका प्रकाशन 2014 में हुआ इस उपन्यास में खानदान का की झूठी इज्जत, मान मर्यादा और सामाजिक दबाव के कारण केसे एक पिता अपनी हिजरा संतान को को जान से मारने में भी संकोच नहीं करता। साथ ही एक माँ की ममता को भी दिखाया गया है एक माँ किस प्रकार अपनी बेटी सोना का किन्नर होने का राज सबसे छिपती है। सोना राजघराने की लड़की है लेकिन उसके पिता को उसके किन्नर होने की खबर लगने पर सोना के प्रति उनका सारा प्रेम खत्म हो जाता है और वो उसे मारना चाहते है परंतु कहानी एक नया मोड़ लेती है और वह बच जाती है भविष्य में वह खूब नाम कमाती है। इन्हीं का एक और उपन्यास जो किन्नर पर आधारित है वो है 'मैं पायल'। मैं पायल उपन्यास किन्नर के संघर्ष, कष्ट, पीड़ा सह कर भी खुशहाल जीवन जीने की ललक की है। पिता का पायल के लिए ये कहना की "ये जुगनी! हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई है, साली हिजड़ा।" उसे बार - बार मारना और एक बार तो इतनी बुरी तरह से मारना की उसकी जान चली जाए। ये सारी चीजे उसे विचलित कर देती थी। वह अत्यंत दुखी हो जाती थी परंतु वहीं उसकी माँ का हमेशा उसे बचाना, उसे हमेशा स्नेह करना उसके पिता के दिये गए घाव पर मरहम का काम करता था। उपन्यास में उन किन्नरों के जीवन का, उसके परिवार, उसके हिजड़ा समुदाय का, सामाजिक नजरिए आदि का अत्यंत बारीकी से वर्णन किया गया है। उपन्यास 'मैं पायल' के जरिये समाज की सोच बदलने की कोशिश की गयी है। निर्मला भुराडिया का 'गुलाम मंडी' में समाज के इस चमचमाती दुनिया का दूसरा अंधेरा पक्ष दिखाया गया है। यह उपन्यास अंतरराष्ट्रीय स्तर पर थर्ड जेंडर, जिस्म्फ़रोशी, ह्यूमन ट्रैफिकिंग आदि विषयों पर लिखा गया है जिसे हमारा तथाकथित समाज हमेशा से दबाना चाहता है। इस उपन्यास में काफी हद तक सच्चाई है जिसे रिपोर्टर से बनी लेखिका निर्मला ने रिपोतर्ज शैली में भी लिखा है। उपन्यास की नायिकाएं 'कल्याणी' और 'जानकी' हैं। इन्हीं के माध्यम से हमारे सामने उस दुनिया का काला सच जो दिल देहला देने वाला है वो सामने आ पाता है। इस उपन्यास के माध्यम से यह बताया गया है कि जिस समाज में एक स्त्री की पीड़ा को उसके दुख को नहीं समझा जा सकता तो किन्नरों की पीड़ा को समझने की उपेक्षा कैसे रख सकते हैं। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नालासोपारा' 2016 में प्रकाशित हुआ। हाल ही में इसे अकादमिक पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। इस उपन्यास में माँ - बेटे का मर्मस्पर्शी रिश्ता दिखाया गया है। उपन्यास का मुख्य पात्र विनोद उर्फ 'बिन्नी' है जिसे लिंग दोष के कारण न चाहते हुये भी माँ हिजड़ो को सोंप देती है। विनय उस समुदाय में अपने आप को ढाल नहीं पता और न ही वो घर जा सकता है लेकिन इसके बावजूद वह टूटता नहीं है बल्कि वह समान्य जीवन जीना चाहता है, नाम कमाना चाहता है, अपनी माँ का बेटा होने का फर्ज निभाना चाहता है और हिजड़ा समुदाय के लिए भी बहुत कुछ करना चाहता है। विनय अपनी माँ को खत में लिखता भी है - "सबने मुझसे मुंह मोड़ लिया, पर सपनों ने मुझसे मुंह नहीं फेरा, आज भी वे मेरे पास बेरोक-टोक चले आते हैं।" विनोद और उसकी माँ एक ही शहर में रहने के बावजूद चिट्ठियां के माध्यम से बात करने पर मजबूर हैं। वह अपनी माँ को छोटी से छोटी

समस्याओं को बताता है लेकिन माँ से मिल नहीं सकता है और इसका दोषी हमारा समाज है जो एक मनुष्य की सारी कमियों को बर्दास्त कर सकता है लेकिन लिंग दोष जैसी कमी को नहीं। चित्रा जी ने इस उपन्यास में यह भी दिखाया है की किस प्रकार राजनीति में भी इन्हें सिर्फ वोट बैंक के रूप में देखा जाता है जब बिन्नी अपने अधिकारो के लिए लड़ती है तो उसे मरवा दिया जाता है।

साहित्य में कहानियों के अंदर किन्नर विमर्श की बात करे तो उपन्यास की तुलना में कहानी ज्यादा समृद्ध नहीं है परंतु फिर भी जितनी कहानियाँ है वो किन्नरों की व्यथा कहने में सफल है जैसे शिवप्रसाद सिंह की 'बिंदा महाराज' एक कालजयी कहानी है। इस कहानी में एक वृद्ध हिजड़ा का कष्ट और दुख से समाज को अवगत कराने की कोशिश की गयी है। कहानी के शुरुआत में ही बिंदा महाराज की स्थिति दिखाई गयी है। - "मच्छरों से भरे, भीगी-भीगी दीवार वाले घर में चारपाई पर लेटे-लेटे बिंदा महराज का दिल डूबने लगा था, बतख की तरह उजली धूप देखकर उसे बड़ी राहत मिली। उसने हाथ से धूप छुआ, सिर को छूकर सोचा कि आज बेगानी लगने वाली यह देह उसी की है।" समान्य वृद्ध को जिस समाज में बच्चे अपनाते नहीं है वहीं हिजड़ा वृद्ध को कौन अपनाएगा। ऐसे में उनकी स्थिति बद से बत्तर हो जाती है यही इस कहानी में दिखाया गया है। गरिमा संजय दुबे की कहानी 'पन्ना बा' किन्नर विमर्श की एक सशक्त कहानी है जिसमे दिखाया गया है कि उनके जीने पर तो उन्हें इज्ज़त नहीं ही मिलती है मरने के बाद भी उन्हें जूते और डंडों से मारते हुये शमशान ले जाया जाता है। डॉ। विजेंद्र प्रताप सिंह की कहानी 'संकल्प' अपने में एकदम अलग तरीके की कहानी है। यह हिजड़ा जीवन की मेडिकल साइंस और प्लास्टिक सर्जरी के द्वारा होने वाले इलाज आदि के बारे में बताती है। इस कहानी में इतनी सारी जानकारी दी गयी है जिसे शायद ही पाठक जनता हो। कहानी की मुख्य पात्र 'माधुरी' है जो अनेक प्रकार के अपमान सह कर भी विजय प्राप्त करती है और हमारे सामने एक साहसी और निडर किन्नर के रूप में आती हैं।

अनेक किन्नरों ने आत्मकथा के माध्यम से अपनी पीड़ा को बया किया है जिसमें लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी जो की 'मी हिजड़ा मी लक्ष्मी' शीर्षक से आयी जिसमें उन्होंने अपने जीवन के संघर्ष का वर्णन किया है। उन्होने अनेक ऐसे कार्य किये जिससे हिजड़ा समाज आज अपने अधिकारों को पाने मे सफल हुआ है। यह उनका ही संघर्ष और लगन है कि विगत अप्रैल 2015 में उच्चतम न्यायालय ने किन्नरों को तीसरे लिंग की मान्यता प्रदान किया गया। किन्नर समाज में ऐसी ही और भी अनेक सामाजिक कार्यकता उभर कर आ रही है जो अपने समुदाय के हीत में कार्य कर रही है।

किन्नर को समाज में अन्य लोगों की तरह जीने का अधिकार देने के लिए भारत सरकार ने अनेक कानून और योजनाए इनके हित में बनाई है। साल 2013 में राज्यसभा ने निजी विधेयक पारित किया था– द राइट्स ऑफ ट्रांसजेंडर्स पर्सन्स बिल, जो किन्नरों के अधिकारों की बात करता था। अब सरकार ने विधेयक में दंडात्मक प्रावधान भी रखा है। कानून के हिसाब से किन्नरों को उत्पीड़न या प्रताड़ित की सजा 6 महीने की जेल हो सकती है। इससे अब समाज में उनका मजाक बनाना या फिर उन्हें तंग करना बंद हो गया है। इन्ही विधेयेकों के माध्यम से सामाजिक लाभ अब इन्हें मिलने लगा है। किन्नरों को ओबीसी (अन्य पिछड़ा वर्ग) में शामिल करने का प्रस्ताव है। हालांकि, यह तभी लागू होगा,

जब वे अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति में शामिल नहीं होंगे। यानी यदि वे अजा–अजजा का हिस्सा हैं तो उन्हें उसका ही लाभ मिलता रहेगा। अप्रैल 2014 में भारत की शीर्ष न्यायिक संस्था– सुप्रीम कोर्ट ने किन्नरों को तीसरे लिंग के रूप में पहचान दी थी। नेशनल लीगल सर्विसेस अथॉरिटी की अर्जी पर यह फैसला सुनाया गया था। इस फैसले की ही बदौलत, हर किन्नर को जन्म प्रमाण पत्र, राशन कार्ड, पासपोर्ट और ड्राइविंग लाइसेंस में तीसरे लिंग के तौर पर पहचान हासिल करने का अधिकार मिला। इसके साथ ही उन्हें एक–दूसरे से शादी करने और तलाक देने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। वे बच्चों को गोद ले सकते हैं और उन्हें उत्तराधिकार कानून के तहत वारिस होने एवं अन्य अधिकार भी मिल गए। परंतु अनेक किन्नर शिक्षित न होने के कारण अपने अधिकारों से अवगत नहीं हो पाते हैं। शिक्षा को लेकर थोड़ा सरकारों के साथ साथ इन्हें भी आगे आना पड़ेगा। ये जिन - जिन अधिकारों से वंचित थे वो सभी इन्हें दिया जा रहा है। जिस कारण अब अनेक किन्नर खुल कर सामने आ रहे है वे भी पढ़ लिख कर बड़े - बड़े पद पर बैठ रहे है। किन्नर हर छेत्र में अपनी काबिलियत समाज को दिखा रहे है। शबनम मौसी, कमला जान, आशा देवी, कमला किन्नर, मधु किन्नर, और ट्रांसजेंडर एक्टिविस्ट लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी आदि इसका उदाहरण हैं। वर्तमान में हर वो कोशिश की जा रही है जो इन्हें मुख्यधारा से जोड़ सके और यह लक्ष्य धीरे धीरे ही सही लेकिन पूरा होता हुआ भी नज़र आ रहा है।

2019 में भारत में सरकारी नौकरी लेकर किन्नर संजना सिंह ने इतिहास रच दिया था। संजना सिंह को मध्य प्रदेश के सामाजिक न्याय एंव दिव्यांग कल्याण विभाग के सचिव की निजी सहायक के तौर पर नियुक्त किया गया था। जोयिता मंडल कभी भीख मांगने पर मजबूर थी लेकिन अपनी मेहनत से वह बंगाल के दिनाजपुर जिले के इस्लामपुर में भारत की पहली ट्रांसजेंडर जज बनी। हाल ही मार्च 2021 में छतीसगढ़ सरकार ने 13 ट्रांसजेंडर को पुलिस कांस्टेबल की नौकरी देकर एक मिसाल कायम की है। बिहार सरकार ने भी सिपाही और दरोगा के 500 पदों पर एक पद ट्रांसजेंडर के लिए आरक्षित रखा है। इसके लिए उन्हें लिखित परीक्षा पास करनी होगी।ऐसे ही अब किन्नर भी समाज के हर छेत्र में अपनी भागीदारी बराबरी के साथ निभाने की शुरुआत करदी है।

निष्कर्षत: उपयुक्त अध्ययन एंव चिंतन के बाद हम कह सकते है कि समाज के तृतीय एंव अन्य वर्ग की पीड़ा एंव दुःख को समझते हुए समाज में उनकी भागीदारी बराबर की है। समाज के ऐसे वर्ग के लोगो के लिए समाज में जीने के लिए हम सबको एक सकारात्मक माहौल देना होगा जिससे की वह एक बेहतरीन जीवन जी सकें। एक छोटी सी उम्र से ही उन्हें दुत्कार और सामाजिक बहिष्कार जैसी यातनाओं को झेलना पड़ता है। अपना परिवार, दोस्त अपने सपने एंव अपनी इच्छाओं को दफनाकर एक नीरस जीवन की तरफ आगे बढ़ना होता है। इसलिए हम सबको इनके प्रति घृणा के भाव की जगह स्नेह के भाव को महसूस कराना होगा। जीवन यापन के लिए इन्हें भीख मांगनी पड़े इसलिए इन्हें नौकरीयों के बराबर अवसर प्रदान करने होंगे। इन्हे समाज से केवल इज्ज़त और बाकि लोगों की तरह सामान्य व्यव्हार चाहिए सहानुभूति नहीं। समाज कुछ वर्षो से इनके प्रति सजग हुआ है और साथ ही तमाम रचनाकार साहित्य की विभिन्न विधाओं में लगातार इनके विषयों पर लिखकर इनके समाज की इनके वर्ग की समस्याओं से सभी को अवगत करवा रहें है। जिससे लोग अब इनके प्रति सकारात्मकता का भाव रखते है। सरकारी नौकरियों से लेकर के चुनाव तक में अब यह बढ़ – चढ़ कर हिस्सा

ले रहें हैं। हिजड़ा शब्द कलंकित नहीं है बल्कि हमने उन्हे कलंकित किया है और इस कलंक को दूर करने के लिए इन्हे स्वयं भी शिक्षित होना पड़ेगा तभी ये समाज के बिच अपनी पहचान एवं इज्ज़त बना पायेंगे।

संदर्भ सूची

1. माधव,नीरजा.(2009). यमदीप, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली
2. भराडिया,निर्मला.(2016), गुलाम मंडी, सामायिक प्रकाशन नई दिल्ली
3. सौरभ, प्रदीप.(1997). तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
4. त्रिपाठी,लक्ष्मी.(2015). मी हिजड़ा मी लक्ष्मी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
5. सिंह, शिव प्रसाद। बिंदा महारज - थर्ड जेंडर : हिंदी कहानियां संग्रह
6. दुबे, गरिमा संजय, 'पन्ना बा' - दो ध्रुवों के बीच की आस : कहानी संग्रह

हिंदी कहानियों में किन्नर समाज

-डॉ. शिराजोद्दीन
फ्लैट नं.301, हैप्पी होम्स प्लाज़ा अपार्टमेंट
पिलर नं.191, चिंतलमेट, हैदराबाद
संपर्क : 8880293329
ईमेल : raajship@gmail.com

सारांश
विमर्श के इस दौर में ये कहानियां किन्नर समाज को केंद्र में लाकर एक नया विमर्श खड़ा करती हैं। किन्नर या किन्नर समाज को कालांतर से हाशिए पर रखने के साथ-साथ उससे घृणा, हीन भाव, अपमान बोध यहाँ तक कि उसे शोषण का शिकार भी होना पड़ा। वह अपनी पहचान की तलाशा में आज भी संघर्ष कर रहा है। इसी कड़ी में लव कुमार 'लव' की कहानी 'अंधेरे की परतें' ध्यानाकर्षित करती है।
बीज शब्द *समाज, किन्नर, अपमान, अस्मिता*

शोध आलेख

जब भी हम भारतीय समाज की बात करते हैं तो यहाँ के अलग-अलग समाजों का चेहरा सामने आता है। और उन समाजों की संस्कृति, भाषा, परम्पराओं, रीति-रिवाज़ों आदि से भी रूबरू होते हैं। समाज चाहे कोई भी हो और कितना भी विकसित क्यों न हों, लेकिन वह अपने भीतर कहीं न कहीं एक संकुचित सामाजिक ढाँचे का निर्माण करता है। जिसमें एक दूसरे के प्रति घृणा, संकीर्ण मानसिकता, अपमान, शोषण, अत्याचार आदि असामाजिक तत्व विद्यमान हैं। वर्तमान समय की सच्चाई यह है कि व्यक्ति ख़ुद को ज़िंदा रखने और अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए जद्दोजहद करता हुआ दिखाई दे रहा है। इसीलिए वर्तमान समय में भारतीय समाज का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि कहीं आत्मसम्मान की लड़ाई है तो कहीं अस्तित्व की लड़ाई, कहीं पहचान की लड़ाई तो कहीं वर्ग संघर्ष की लड़ाई देखी जा सकती है। बड़ी आसानी से कहने को तो कह सकते हैं कि समाज तमाम समुदायों से मिलकर बनता है और इसे समुदायों की इकाई की संज्ञा दी जाती है। लेकिन समाज के भीतर देखा जाए तो सच्चाई कुछ और ही दीखती है। जहां उसके विखंडित रूप से परिचित होते हैं। समाज के बाहरी और भीतरी पहलुओं को प्रस्तुत करने में साहित्य ही एक सशक्त माध्यम है, जिसके ज़रिए समाज की प्रत्येक गतिविधियों को समझा जा सकता है। जिसमें साहित्यकार समाज की सच्चाई पर विचार-विमर्श करने के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं को भी प्रकट करता है। साहित्यकार की रचनाएं स्वानुभूति और सहानुभूति इस दोनों चीज़ों को प्रस्तुत करने में मुख्य भूमिका निभाती हैं। साहित्यकार कभी अपने भोगे हुए जीवनानुभव का उल्लेख करता है, तो कभी आँखों देखे हाल को बयान करता है। एक सच्चे साहित्यकार की संवेदनाएं हमेशा समाज के प्रति बनी

रहती है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि साहित्यकार का व्यापक दृष्टिकोण और समसामयिक मुद्दों पर पैनी नज़र ही उसे प्रासंगिक बनाती है। यदि बात की जाए हिंदी कहानी लेखन की तो इसमें वर्तमान भारतीय सामाजिक परिवेश और समकालीन विषयों पर चर्चा-परिचर्चा की गई है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में हरेक समाज की अपनी कहानी है और हरेक समाज का अपना दर्द भी है। इस कड़ी में समकालीन हिंदी कहानियां किन्नर समाज और उसके के दर्द को बयान करने में अपना सफ़र तय कर रही हैं।

विमर्श के इस दौर में ये कहानियां किन्नर समाज को केंद्र में लाकर एक नया विमर्श खड़ा करती हैं। किन्नर या किन्नर समाज को कालांतर से हाशिए पर रखने के साथ-साथ उससे घृणा, हीन भाव, अपमान बोध यहाँ तक कि उसे शोषण का शिकार भी होना पड़ा। वह अपनी पहचान की तलाशा में आज भी संघर्ष कर रहा है। इसी कड़ी में लव कुमार 'लव' की कहानी 'अंधेरे की परतें' ध्यानाकर्षित करती है। इस कहानी में परेश (किन्नर) की माँ 'निशा' को जिन परिस्थितियों और यातनाओं से गुज़रना पड़ता है, उसे पढ़कर दिलो-दिमाग विचलित हो जाता है। इस कहानी में निशा की तीन बेटियां पैदा होते ही मर जाती हैं। फिर वह हर बार की तरह चौथी बार भी गर्भधारण करती है। जब वह अस्पताल में नवजात शिशु 'परेश' (किन्नर) को जन्म देती है। पुत्र की चाहत में बैठा रवि डॉक्टर से किन्नर पैदा होने की ख़बर सुनते सन्न रह जाता है। दो दिन बाद जब रवि जच्चा और बच्चा को घर ले आता है, तो बच्चे के लिंग-दोष की खबर पूरी कॉलोनी में आग तरह फैल जाती है। यहाँ तक कि कोई भी उसे देखने नहीं आता। कहानी की इस घटना और लोगों के व्यवहार से पता चलता है कि समाज संकीर्णता के दायरे से अभी निकला नहीं है। नवजात शिशु और उसके परिवार के प्रति घृणा, इस बात की ओर इशारा करती है कि मानवीय संवेदनाएं ख़त्म होने के कगार पर हैं। पुत्र चाह प्रधान समाज के तानों और दुर्व्यवहार से तंग आ कर रवि भी अपनी पत्नी और बच्चे को छोड़कर कहीं दूर चला जाता है। पति के जाने के बाद निशा को समाज के ताने यहाँ तक मजबूर करते हैं कि वह अपने बच्चे परेश के साथ आत्महत्या करने का मन बना लेती है। सड़क के किनारे बने एक बौद्ध मठ के द्वार पर लिखा हुआ 'जीवन अभी खत्म नहीं हुआ है, अभी तो शुरुआत हुई है' वाक्य निशा को प्रभावित करता है। और उसे ज़िन्दगी जीने के लिए उम्मीद पैदा करता है। वह अपना शहर छोड़कर दूसरे शहर चली जाती हैं। शहरी परिवेश में अपनी जिजीविषा चलाने के साथ-साथ परेश को पढ़ाना चाहती है। इसी कारण उसे स्कूल में भर्ती भी कराती है। लेकिन जब स्कूल में परेश के लिंग-दोष का पता चलता है तो उसे स्कूल से निकाल दिया जाता है। यह कहानी न केवल किन्नर की व्यथा को चित्रित करती है बल्कि निशा के माध्यम से स्त्री जीवन के संघर्ष को भी रेखांकित करती है। सामाजिक व्यवस्था में घुटती निशा परेश से कहती है- "बेटा ये समाज वास्तव में समाज नहीं है,

यह रूढ़ियों और गंदगियों भरी बस्तियों के समूह हैं। जो असामान्य को कभी सामान्य नहीं बनने देते, यहां तो कई बार इंसान समाज की वजह से अपना सब कुछ खो देता है, उसे भी यह समाज अपनाने से परहेज करता है। जहां लोगों को अपने जैसे ही लोग जीने के लिए चाहिए होते हैं..."[1] भले ही "भारत में साल 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने इन्हें सरकारी दस्तावेज़ों में बाक़ायदा थर्ड जेंडर के तौर पर एक पहचान दी है। वो सरकारी नौकरियों में जगह पा सकते हैं। स्कूल कॉलेज में जाकर पढ़ाई कर सकते हैं। उन्हें वही अधिकार दिए हैं जो किसी भी भारतीय नागरिक के हैं।"[2] लेकिन समाज में किन्नर को हास्य की वस्तु समझा जाता है, या फिर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। वर्तमान समय में किन्नर समाज आर्थिक रूप से भी पिछड़ा हुआ है। शादी-ब्याह में नाच-गाकर या किसी बच्चे की पैदाइश पर जश्न मनाकर ये अपनी कमाई करते हैं। इनके आर्थिक स्त्रोत के बारे में बीबीसी हिंदी लिखता है- "ये सड़कों पर, पार्कों, बसों, ट्रेनों, चौराहों, कहीं भी मांगते हुए नज़र आ जाते हैं। लोगों की नज़र में अब इनकी पहचान भिखारी की हो गई है।"[3] इस समाज की विवशता और संघर्ष को चित्रित करने में समकालीन कथाकारों का योगदान रहा है। हिंदी की सुप्रसिद्ध लेखिका कुसुम अंसल की कहानी 'ई मुर्दन का गांव' में लैंगिक विकृति से पीड़ित लोगों की मार्मिक दशा को चित्रित किया गया है। इस कहानी की पात्र सलीमा कहती है- "भाग्य की बात है, हम जब अलिंगी पैदा हुए हैं एसेक्सुअल, इसी से यहां रहने को मजबूर है।"[4] लेखिका किन्नर गुरु जया के माध्यम से कहती है कि जन्म पर किसी का अधिकार नहीं होता बल्कि यह एक प्राकृतिक है। इसीलिए सभी को जीने का सम्पूर्ण अधिकार है। किन्नरों के सन्दर्भ में समाज की दो धारणाएं हैं। पहली धारणा यह है कि उनसे घृणा करने के साथ-साथ अमानवीय व्यवहार भी किया जाता है, दूसरी धारण यह है कि शिशु के जन्म, विवाह, गृहप्रवेश आदि के अवसर पर किन्नरों को आमंत्रित कर उनका आशीर्वाद भी लिया जाता है। इस सन्दर्भ में कहानी की पात्रा किन्नर गुरु जया कहती है- "बांझ औरतें हमारे पास बच्चे की कामना से आती हैं और ताज्जुब हमारा आशीर्वाद फलता भी है किसी भी बच्चे का जन्म हमारे नाच गाने के बिना पूरा नहीं होता।"[5] इसी क्रम में गरिमा संजय दुबे की 'पन्ना बा' कहानी किन्नर समाज के अनछुए पहलुओं को उजागर करने में महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज में किन्नरों को जीते जी नकार, अपमान, घृणा, गालियों आदि का सामना करना पड़ता है। लेकिन मरने के बाद भी उसकी लाश को दर्द के सिवा कुछ नहीं मिल पता। दरअसल किन्नरों के अंतिम संस्कार को गैर-किन्नरों से छिपाकर किया जाता है। अंतिम संस्कार से पहले लाश को

[1] सं. डॉ.एम. फ़िरोज़ खान, हम भी इंसान हैं, वांग्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण 2018, पृ.82-83
[2] https://www.bbc.com/hindi/magazine-41038752
[3] वही
[4] कुसुम अंसल,मेरी दृष्टि तो मेरी है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृ.106
[5] वही. पृ.107

जूते-चप्पलों से पीटा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इससे उस जन्म में किए सारे पापों का प्रायश्चित हो जाता है। इस मार्मिक दृश्य को लेखिका ने अपनी इस कहानी में प्रस्तुत किया है। "किन्नर की मौत पर उसकी लाश की जूतों से पिटाई की खबर पढ़ ही रही थी की पता चला पन्ना बा मर गया।"[1] लेखिका ने किन्नरों के दुःख को महसूस करते हुए वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर सवाल खड़ा करती है। वह कहती हैं- "कोई काम पर रखे नहीं, कोई माता पिता इस अभिशाप को साथ रखने को राजी नहीं, कोई नौकरी नहीं, कोई पढ़ाई नहीं, बेचारा मनुष्य जिए भी तो कैसे? कैसे देह से परे हो, फिर भी जीता है एक किन्नर।"[2] किन्नरों की वेदनाओं को अभिव्यक्त करने में किरण सिंह की कहानी 'संझा' भी महत्वपूर्ण है। इस कहानी में नायिका संझा का जीवन बिखरा हुआ है, जिसे रचनाकार ने बारीकियों से चित्रित करने का प्रयास किया है। इस कहानी में दंपत्ति को बरसों से संतान प्राप्ति की इच्छा थी, वह क्षण भर में समाप्त हो गई। दरअसल जब संझा का जन्म हुआ तो उसमें कोई जननांग नहीं था। इससे संझा के माता-पिता काफी निराश थे। अमूमन देखा जाता है कि जब किसी परिवार में ऐसे शिशु का जन्म होता है तो समाज के तानों और दुर्व्यवहारों से बचने के लिए उस बच्चे को किन्नरों को सौंप दिया जाता है। लेकिन संझा के माता-पिता ऐसा नहीं करते बल्कि समाज की नजरों से बचाकर स्वयं उसका पालन-पोषण करते हैं। तीन साल की संझा के सर से माँ का साया उठ जाता है। जैसे-जैसे संझा बड़ी होने लगती है, वैसे-वैसे उसके अन्दर भी बाहरी दुनिया को देखने की इच्छा जागने लगती है। वह अपने वैद्य पिता की सहायता भी करना चाहती है। "बाउदी! आप की फंकी में फफूँद लग रही है। इमाम दस्ते में दवा कूटते समय आपके आँसू गिरते रहते हैं ! अपने मन भर जड़ी नहीं बटोर पाते इसलिए न! आज से जंगल में औषधि के लिए मैं जाऊँ बाउदी!"[3] लेकिन पिता को समाज का डर सताने लगता है। इसीलिए संझा को बाहर निकलने की अनुमति नहीं देता। वह कहता है- "नहीं! नहीं! बाहर निकलते ही तुम्हें छूत लग जाएगी। एकदम भयंकर! लाइलाज बीमारी! मैंने कितनी बार तुम्हें समझाया है।"[4]

आज समाज जिन परिस्थितियों से गुज़र रहा है, वह चिंता का विषय है। लगातार गिरते मानवीय मूल्य और मानवीयता का हनन सामाजिक ताने-बाने को खोखला कर रहा है। दरअसल अपराध, हिंसा, बलात्कार आदि घटनाओं को अंजाम दिया जाना कानून व्यवस्था की नाकामी को दर्शाता है। इस सन्दर्भ में डॉ.पद्मा शर्मा द्वारा रचित 'इज्जत के रहबर' कहानी का ज़िक्र करना प्रासंगिक है। इस कहानी का पात्र श्रीलाल की बेटी का स्थानीय गुंडे द्वारा बलात्कार किया

[1] सं. डॉ.एम. फ़िरोज़ खान, वांग्मय, अंक-जनवरी-मार्च 2017, पृ.120
[2] वही, पृ.121
[3] सं. डॉ. अरुण देव, समालोचन वेब पत्रिका, अंक- दिसम्बर 26, 2017, पृ.वेब पेज
[4] वही

जाता है। जब इस अमानवीय घटना का सोफिया (हिजड़ा) को पता चलता है, तो वह तुरंत श्रीलाल के पास जाकर बलात्कारी पर पुलिस में मामला दर्ज करने के लिए कहती है। लेकिन श्रीलाल बलात्कारी पर मामला दर्ज करने से इंकार कर देता है। उसका मानना था कि अब तक जिस बात का पता केवल गांव वालों को है, यदि पुलिस तक बात पहुँच गई तो शहर भर में बात फैल जाएगी। इसीलिए वह चुप हो जाता है। लेकिन सोफिया के भीतर की ज्वालामुखी चुप रहने नहीं देती। क्योंकि सोफिया को जिस जननांग के न होने से लोग उसकी इज्जत नहीं करते और कुछ लोग इसी जननांग के कारण दूसरों की इज्जत से खेलते हैं। इसीलिए सोफिया ही उस गुंडे को नपुंसक बना देती है। सोफिया कहती है- "नहीं, लालजी। हमारी संख्या तो ईश्वर बढ़ाता है। खुदा न करे, वह और अधिक संख्या बढ़ाए। हमें कितना कष्ट है, इस योनि में होने का। ये तो हम ही जानती हैं। हां, हमें उस चीज पर बड़ा गुस्सा जरूर है, जिसके होने पर ये नासपीटे दम भरते हैं और हमारी बहू बेटियों की इज्जत से खेलते हैं।"[1] ठीक इसी तरह से महेंद्र भीष्म की कहानी 'त्रासदी' में सुंदरी नामक हिजड़ा अपनी जान पर खेलकर बलात्कारी से रति को बचाता है। कहानी का पात्र बंशी के देहांत के बाद रति अपने पति की नौकरी करती है। एक दिन कड़ी दोपहर में घात लगाए बैठे दो वासना के भेड़ियों ने रति को दबोच लिया और उसे गलत इरादे से मालगाड़ी के खाली डिब्बे में ले गए। "प्लेटफार्म पर ही लोगों को नाच-गाना दिखा कर अपना पेट पालने वाली हिजड़ा सुंदरी ने रति के साथ हो रही जोर-जबरदस्ती कप दूर से देख लिया था। वह भागी-भागी उस मालगाड़ी के डिब्बे में पहुंच गई जहां वहशी अपना वहशीपन करने जा रहे थे। सुंदरी बेतहाशा चिल्लाते हुए उन दोनों पर टूट पड़ी।"[2]

वर्तमान समय में मनुष्यों के भीतर निरंतरता से स्वार्थी भाव का बढ़ना, नैतिक मूल्यों के विघटन को दर्शाता है। कैस जौनपुरी द्वारा रचित 'एक किन्नर की लव स्टोरी' कहानी एक ऐसे किन्नर की दास्तां बयां करती है, जिसे सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है। इस कहानी की पात्र रानो खूबसूरत किन्नर है। अपना जीवन यापन करने के लिए बड़े-बड़े होटलों में अमीरों का मनोरंजन करती है। अपने घर से हर रोज राजू के ऑटो से आना-जाना करती है। लेकिन ऑटो ड्राईवर राजू की निगाह उसके धन-संपत्ति पर होती है। इसीलिए वह रानो को अपने प्रेम जाल में फंसाकर ब्लैकमेल करने लगता है। भोली-भाली और प्यार की भूखी रानो उसके षड्यंत्र को समझ नहीं पाती, बल्कि उस व्यक्ति पर आंख मूंदकर विश्वास करने लगती है। राजू के प्रति उसके प्रेम को कहानी के इस अंश से अंदाजा लगाया जा सकता है- "उसने राजू को अपना पति ही मान लिया था और राजू को खुश रखने की भरपूर कोशिश करती थी, राजू एक ऑटो ड्राइवर था मगर रानो

[1] https://hindi.matrubharti.com/book/read/content/19901403/honor-of-honor

[2] सं. प्रदीप त्रिपाठी, कंचनजंघा, अंक-जनवरी-जून,2020, पृ.214

ने उस पर इतने पैसे खर्च किए कि खुद राजू ही भूल गया कि वो ऑटो ड्राइवर है, और रानो जब बहुत खुश हो जाती, तब राजू को खूब प्यार करती और राजू भी खुश हो जाए इसलिए वो राजू के आगे घोड़ा बन जाती।"[1] एक दिन मौक़ा पाकर इसी अवस्था में रानो की पीठ में चाकू घोंपकर हत्या कर देता है और उसकी सारी जमा पूँजी लेकर फरार हो जाता है।

किन्नरों के प्रति समाज का दुर्व्यवहार, संकीर्ण मानसिकता और तिरस्कार तो है ही। लेकिन अपने घर में भी घृणा, नफरत, अपमान और शोषण का शिकार होना पड़ता है। जिसका ज्वलंत उदाहरण बबिता भंडारी की 'समर से सुरमई' कहानी में मिलता है। कहानी की पात्र देवकी रमा दाई से बालक के सामान्य नहीं होने की ख़बर सुनकर सन्न हो गई थी। समर में प्रति दिन होने वाले बदलाव के कारण पिता वीर सिंह का प्यार भी कम होने लगा था। यहां तक कि समर को मारते-पीटते भी थे। अपने अंदर होने वाले परिवर्तन और पिता की यंत्रणा से समर समझने लगा था कि उसका जीवन और भविष्य सामान्य नहीं है बल्कि चुनौतीपूर्ण है। इसीलिए वह स्कूल जाने से कतराने लगता था। घर के अलावा बाहरी समाज में भी समर के साथ शोषण व अत्याचार की घटनाओं का सिलसिला जारी था। वह अपने दोस्तों के बीच भी वह मज़ाक का पात्र बन चुका था। सभी लोग उसे लड़की व हिजड़ा कहकर मज़ाक बनाने लगे थे। हद तो तब हो गई जब चार-पांच बड़े लड़कों के इशारे पर समर के ही कुछ दोस्त उसके कपड़े उतारने की घटना को अंजाम देते हैं। "हम भी तो देखें हिजड़ा आखिर बला क्या है... कर डालो नंगा हरामी को... शर्म बचेगी तो भाग खड़ा होगा मोहल्ले से।"[2] इस घटना ने समर को अन्दर तक हिला कर रख दिया। इसीलिए वह अपनी चीत्कार सुनाते हुए ईश्वर पर सवाल खड़ा करता है- "मुझे क्या बनाकर दुनिया में भेजा तूने? क्या जानवर का जन्म भी नसीब न था मुझे? क्या नरक की आग भी बदी न थी मुझे?"[3] समर की यह चीत्कार तथाकथित सभ्य समाज के चेहरे पर से नकाब उतारती है।

अत: मुख्य रूप से ये कहानियां भारतीय समाज में किन्नर जीवन के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करने के साथ-साथ समाज का व्यवहार और संकीर्ण मानसिकता से भी परिचित कराती हैं। समाज के इस कटु यथार्थ को प्रस्तुत करने में रचनाकार अपनी प्रतिबद्धता दिखा रहा है। यह भी सच है कि वर्तमान समय में किन्नर समुदाय अनेक समस्याओं तथा चुनौतियों से गुज़र रहा है। विशेष रूप से अपनी पहचान और आत्मसम्मान की लड़ाई देखी जा सकती है। मुख्य बात यह है कि स्त्री और पुरुष की तरह ही किन्नर भी इसी समाज का हिस्सा हैं और समान नागरिक भी हैं। उनके प्रति संकीर्ण

[1] https://hindi.matrubharti.com/book/read/content/9232/ek-kinnar-ki-love-story
[2] सं. डॉ.एम. फ़िरोज़ खान, हम भी इंसान हैं, वांग्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण 2018, पृ.77
[3] वही

भाव रखने के बजाय व्यापक विचार रखते हुए उसके अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता है। इस बात को भी भूलना नहीं चाहिए कि भारत का संविधान सभी नागरिकों को समान का अधिकार देता है। साथ ही लिंग, जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि के नाम पर भेदभाव नहीं किया जा सकता। इस दिशा में हिंदी कहानियां समाज को नई दिशा, नई सोच और नए विचार प्रदान करने में आगे बढ़ रही हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. सं. डॉ.एम. फ़िरोज़ खान, हम भी इंसान हैं, वांग्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण 2018, पृ.82-83
2. कुसुम अंसल,मेरी दृष्टि तो मेरी है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृ.106
3. सं. डॉ.एम. फ़िरोज़ खान, वांग्मय, अंक-जनवरी-मार्च 2017, पृ.120
4. सं. डॉ. अरुण देव, समालोचन वेब पत्रिका, अंक- दिसम्बर 26, 2017, पृ.वेब पेज
5. सं. प्रदीप त्रिपाठी, कंचनजंघा, अंक-जनवरी-जून,2020, पृ.214
6. सं. डॉ.एम. फ़िरोज़ खान, हम भी इंसान हैं, वांग्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण 2018, पृ.77

 ISSN: 2454-2725

मुस्लिम औरतों की सच्ची अक्कासी 'सूखी रेत' गुड़िया का घर' में

डॉ. बेनजीर
अतिथि शिक्षक, डी.यू. नई दिल्ली
Contect No: 9958716211
ईमेल: benazeersiddiqui53@gmail.com

सारांश-*धर्म की आड़ में स्त्रियां सदैव पितृसत्ता का दंश झेलती रही है, समाज में प्रचलित गलत रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताएं इनके बदहाली के प्रमुख कारण हैं। यदि मुस्लिम महिलाओं की स्थिति पर विचार करें तो निश्चितरूप से समाज में इन स्त्रियों की बिगड़ती हुई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक हैसियत का अनुमान लगाया जा सकता हैं। मुस्लिम समाज के भीतर सांस ले रही आधी आबादी एक बड़े संकट के दौर से गुजर रही है। यह संकट उनकी अस्मिता, स्वतंत्रता एवं समाज में गैरबराबरी का हैं। यह एक गम्भीर प्रश्न है। यह हाशिए का वह समाज है जो निरन्तर अपने लिए सामाजिक न्याय की मांग कर रहा है। इन्हीं स्त्रियों की पीड़ा, यातना, संघर्ष साहित्य में किस रूप में अभिव्यक्ति पाते है, मेरे इस आलेख में विशेषरूप से इस ओर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास किया गया हैं। इस दृष्टि से उर्दू साहित्य की प्रसिद्ध ख्याति प्राप्त लेखिका जीलानी बानो को मैं एक महत्वपूर्ण रचनाकार के रूप में देखती हूं जो बहुत ही बारीकी से मुस्लिम स्त्री जीवन की समस्याओं का वास्तविक एवं जीवन्त चित्रण करती हैं। मेरा यह आलेख मुस्लिम स्त्री विमर्श की दिशा में विशेष योगदान को दर्शाता है।*

बीज शब्द - *समाज, मुस्लिम, मुस्लिम स्त्री अस्मिता, समानता एवं स्वतंत्रता, मुस्लिम स्त्री विमर्श, साहित्य, लघु-उपन्यास और कहानी-संग्रह।*

भूमिका

धर्म की आड़ में स्त्रियां सदैव पितृसत्ता का दंश झेलती रही है, समाज में प्रचलित गलत रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताएं इनकी बदहाली के प्रमुख कारण हैं। यदि मुस्लिम महिलाओं की स्थिति पर विचार करें तो निश्चितरूप से समाज में इन स्त्रियों की बिगड़ती हुई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक हैसियत का अनुमान लगाया जा सकता हैं। मुस्लिम समाज के भीतर सांस ले रही आधी आबादी एक बड़े संकट के दौर से गुजर रही है। यह संकट उनकी अस्मिता, स्वतंत्रता एवं समाज में गैरबराबरी का हैं। यह एक गम्भीर प्रश्न है। यह हाशिए का वह समाज है जो निरन्तर अपने लिए सामाजिक न्याय की मांग कर रहा है। यह सत्य है कि समय-समय पर जिन मुसलमान औरतों ने देश की पितृसत्ता के विरूद्ध विद्रोह करने का साहस किया है उन्होंने वास्तव में समाज की परम्परागत रूढ़िवादी सोच पर सवालिया निशान लगाया है, इतना ही नहीं बल्कि स्वयं स्त्री होकर अन्य स्त्रियों के प्रति होने वाले सामाजिक भेद-भाव को तथा उनके प्रति अमानवीय व्यवहार तथा जुल्म के खिलाफ बाआवाज बुलंद किया। यह महिलाएं उन तमाम औरतों की जुबान बनी जो कभी भी अपने अधिकारों के लिए बगावत कर सकती है। उनमें एक महत्वपूर्ण शख्सियत लेखिका जीलानी बानों है। आज के अतिआधुनिक युग में टेक्नालॉजी का तीव्र विकास तथा तेजी से बदलते हुए सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों एवं महामारी के बढ़ते नकारात्मक प्रभाव के कारण परिवार को अनेको चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। पारिवारिक टूटन, अकेलापन, ईर्ष्या, कलह, स्त्रियों के प्रति घरेलू हिंसा जैसी क्रुरतम त्रासदी अपने सबाब पर है। ऐसे में 'सूखी रेत' 'गुड़िया का घर' जैसी महत्वपूर्ण कृतियां अधिक प्रासंगिक लगने लगती हैं।

मुस्लिम औरतों की बदहाली के लिए मध्यकालीन व्यवस्था, परिवेश और परिस्थितियां विशेष रूप से जिम्मेदार रही

हैं। जिसमें परदा प्रथा, बहुविवाह, तलाक, जैसी कुरीतियां स्वतः ही उत्पन्न हो गयी । परन्तु बीसवीं शताब्दी तक आते-आते मुस्लिम औरतों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आने लगे। मुस्लिम महिलाओं ने राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक आदि क्षेत्रों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाने लगी । सन 1930 के आस-पास कुछ ऐसी लेखिकाएं सामने आयी जैसे रजिया सज्जाद जहीर, इस्मत चुग़ताई, बानो, मुमताज शीरी, जहांबानो बेगम आदि जिन्होंने अपने सशक्त अभिव्यक्ति और क्रान्तिकारी विचारों से समाज को समृद्ध करने का प्रयास किया तथा इनकी अगली कड़ी में मेहरुन्निसा परवेज, हुस्न तबस्सुम, निहा किश्वर नाहिद, रूकैया सखावत हुसैन के अतिरिक्त तहमीना दुर्रानी और नासिरा शर्मा, गीतांजलि श्री, जयश्री राय, तसलीमा नसरीन जैसी लेखिकाओं का नाम स्वतः ही जुड़ जाता है। जिस प्रकार से इस्मत चुगताई ने बड़े ही बेबाक तरीके से पितृसत्तामक के विरूद्ध मोर्चा लिया वही काम आगे चलकर बाद की लेखिकाओं में वाजिदा तबस्सुम और जीलानी बानो ने किया।

जीलानी बानो को मैं 20 वीं सदी की एक महत्वपूर्ण लेखिका के रूप में देखती हूं। लेखिका उर्दू की मशहूर महिला कथाकार रही है। इन्होंने बड़े ही संजीदगी से आज के दौर में बदलते हुए जीवन मूल्यों व अंतर्विरोधों की जो तस्वीर अपने उपन्यासों व कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है वह सराहनीय है। विशेष रूप से स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति। लेखिका अपनी धरती और दुनिया को ही अपनी कहानियों तथा उपन्यासों का मजमून बनाती है। जो हैदराबाद की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिदृश्य को दिखाती है। इन्होंने अपने समय में हैदराबाद की जो बनती बिगड़ती तस्वीर अपनी आँखों से देखा उसका यथार्थ एवं वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया। इसी कारण से इनके ज्यादातर रचनाओं की पृष्ठभूमि इसी शहर के इर्दगिर्द घूमती है। यह समाज व जीवन से सम्बन्ध रखने वाली दो मुँही सोच की असलियत को बेपर्दा करती है। इनके इसी अतुलनीय साहित्यिक अवदान के लिए सन् 1997-98 में 'मजलिस फरोग उर्दू' नामक बड़े अदबी पुरस्कार से नवाजा गया।

जीलानी बानो का जन्म 14 जुलाई 1936 को बदायूँ, उत्तर प्रदेश में हुआ था। परंतु इनकी परवरिश हैदराबाद में हुई । जीलानी बानो ने 1954 में लघुकथा लेखन से अपना लेखकीय जीवन आरंभ किया। इन्होंने कहानियाँ उपन्यास, लघु उपन्यास तथा इसके अतिरिक्त बच्चों के लिए कहानियाँ आदि लिखीं। लेखिका की महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाओं में - उपन्यास -(1)ऐवाने गज़ल (2) बारिशे संग लघु उपन्यास -नग़में का सफर, जुगनू और सितारे। कहानी संग्रह 'रोशनी के मीनार' 'निर्वान' 'पराया घर' 'रोज का किस्सा'यहकौन हसा, तरयाक सच के सिवा, बात फूलों की आदि है। जीलानी बानो की कृतियों का अनुवाद केवल भारतीय भाषाओं में ही नहीं बल्कि विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद कार्य हुआ।

कहानी संग्रह "सूखी रेत' की कहानियां स्त्री जीवन के उस मरुस्थल को प्रतिबिंबित करती है जो सदियों से विस्तारित होता चला आया है और उसकी तपिश और खलिश से वह न तो उकताती है और न ही हार मानती है। नारी का यही अंतर्विरोध एक प्रतिकार बनने से कैसे कहाँ चूक जाता है इसी मसले की दास्तान है 'सूखी रेत' ।"1 'सूखी रेत': में 20 कहानियां सम्मिलित है- ज्वाएं, मुजरिम, एक दिन लेबर - रूम में, स्कूटरवाला, आगही, दश्ते-कर्बला से दूर, गोश्त के व्यापारी, प्रॉमिस, एक शूटिंग-स्क्रिप्ट-एक पूरी, ताक में रखी हुई गुड़िया, जिल्ले-सुबहानी, ए दिल... ए दिल, अजायबघर में, कब्ल-अज-मर्ग-बयां प्रीमैच्योर बच्चे, सूखी रेत आदि सम्पूर्ण कहानियाँ स्त्री जीवन को व्यक्त करती है। 'गुड़िया का घर' लघु उपन्यास में (1) गुड़िया का घर, (2) अबार्शन, (3) मशाले-जाँ, (4) जुगनू और सितारें, संग्रहित हैं इस कृति में अपने समय व आसपास के मुस्लिम समाज और जीवन को देखने दिखाने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास में विशेष रूप से अतीत की स्मृतियों के आइने में वर्तमान की पड़ताल और भविष्य के सपने हैं। यह उपन्यास मनुष्य को मनुष्य

बनाए रखने तथा संस्कृति की रखा के लिए अहम भूमिका अदा करता है।

जीलानी बानो के साहित्य का मुख्य विषय में राजनीति, किसान, मजदूर तबका रहा हैं। इसके बावजूद इन्होंने अपनी रचनाओं में जबरदस्त स्त्री किरदार उठाए है। कही ऐसा प्रतीत होता है कि मानों स्त्री जीवन की समस्याएं ही इनके साहित्य के केंद्र में है। इससे सम्बन्धित शायद ही कोई पक्ष अछूता हो जिस पर लेखिका की दृष्टि न गयी हो। स्वयं एक स्त्री होने के कारण लेखिका ने बड़ी ही बारीकी से स्त्री जीवन को परखा तथा उन पर होने वाले शोषण को अभिव्यक्ति दी। इनकी स्त्रियां संघर्षशील हैं तथा शोषण, अन्याय के खिलाफ बगावत करने का जज्बा रखती हैं उनके अंदर स्वतंत्रता एवं मुक्ति की तड़प है जो अवसर पाते ही एक सशक्त चरित्र के रूप में उभरती है। सूरजीत भूमिका में लिखते है कि "जीलानी बानो की कहानियों के नारी पात्र बार-बार प्यासे रह जाने और अपनी तकमील की तलाश के नाकाम हो जाने को अपनी किस्मत नहीं मानते हैं वे सब न तो छिछला विद्रोह करते हैं और न ही अपनी गरिमा से च्युत होते हैं, सब सुलग रहे हैं भीतर ही भीतर सब रेगिस्तान से निकलने की मुकम्मल राह तलाशते हुए"2

जीलानी बानो इस्मत चुगाताई के जीवन तथा लेखन से विशेषरूप से प्रभावित रही हैं। इस्मत के समान ही जीलानी बानों ने विशेषरूप से मध्यमवर्गीय मुस्लिम स्त्रियों को ही अपने लेखन का आधार बनाया है। एक मध्यमवर्गीय परिवार, जिसमें पति-पत्नी साथ तो है परंतु उनके बीच है केवल निराशा, आपसी नोक झोंक, नफरत की ऊँची दीवार है '' जहाँ सब एक दूसरे से मुह फेरकर जी रहे थे एक दूसरे का जी जलाकर अपना जी खुश करते थे। बाहर मिलने वाली सारी नाकामियों नाइंसाफियों का इंतकाम (बदला) एक दूसरे से लेते थे।"3 यहा लेखिका ने विवाह संस्था की सच्चाई को बेनकाब किया है। एक स्त्री को किस तरह से अपना जीवन ही बोझिल लगने लगता है खुशी का अहसास भी उसके अन्तःमन को छू नहीं पाता इसलिए वह अंदर ही अंदर बेचैन है। उसके अन्तर्द्वन्द्व की जद्दोजहद ही उसके मुक्ति की राह दिखाते है।

प्रायः परिवार में निर्णय लेने का दायित्व केवल पुरूषों को ही प्राप्त रहा है यही कारण है कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सदैव ही दोयम दर्जे की नागरिक मानी जाती है। उसकी अपनी इच्छा क्या है, वह कैसा जीवन जीएगी यह पुरुष ही तय करता आ रहा है। एक स्त्री सदैव से अपने पिता, पति एवं बेटे पर ही आश्रित रही उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा, इसलिए वह अपनी खुशी सदैव पुरुष में ही ढूंढने का प्रयास करती है। नेवस्ट पूछती है - एक स्त्री से - ''क्या हुआ है तुम्हें?'' वह मर्द की तरफ देखती है। मैं समझ गई। अपने दिल की बात कहने का अख्तियार वह हमेशा किसी और को देती है।'' मर्द कहता है -:''डॉक्टर! इसे बच्चा नहीं चाहिए। चार महीने चढ़ गए हैं'' इसे क्या चाहिए? वह कुछ नहीं कहती।''4

लेखिका ने स्त्री की जीवन की पराधीनता के लिए केवल पुरुष को ही कुसूरवार नहीं ठहराया बल्कि औरत ही औरत की दुश्मन है और वह स्वयं भी जिम्मेदार है। "एक अधेड़ उम्र की तेज तर्रार औरत वह मुसलसल (लगातार) बोले जा रही है। ''बिस्मिल्लाह करके अंदर जाओ भाभी, अल्लाह ने चाहा इस बार लड़का ही होगा। तुम्हारे घर में उजाला हो जाएगा।.....''बेचारी के पांच लड़कियां हो चुकी है। घर में अल्लाह का दिया सब कुछ है, मगर मेरे भाई के नसीब खोटे हैं। हम आप के पास बड़ी आस लेकर आए हैं डॉक्टर...'' यह सुनकर औरत चकराकर गिरने लगती है...।''5 इस्मत ने बहुत पहले ही 'सोने का अण्डा' कहानी लिखकर समाज की इस गम्भीर रूढ़िवादी सोच की ओर इशारा किया था। एक लड़का और लड़की जन्मने पर इनके साथ किस प्रकार से असमानता का व्यवहार किया जाता है। लड़के को सिर पर बिठाने की बहुत पुरानी रूढ़िवादी परम्परा रही है जो आज भी कायम है। इसी की मुखर अभिव्यक्ति जीलानी बानो के यहां देखने को

मिलती है।

समाज में कुछ ऐय्यास पुरुष को भी लेखिका ने आड़े हाथों लिया है जो बड़ी आसानी से स्त्रियों के भावनाओं रौंदकर अपने शारीरिक भूख शांत करते है। एक लड़की जो बचपन में ही अपने भोलेपन के कारण पुरुष द्वारा शारीरिक एवं मानसिक रूप से ठगी जाती है एक घबराई हुई सी लड़की हनी की सहेली बताती है कि ''डॉक्टर हनी ने कुछ नहीं किया। वह जो टीचर शाम को स्कूल में स्पेशल क्लास लेता है न वह... वह...'' /''वह टीचर कहता है। किसी से कहा तो बदनाम हो जाओगी, फिर तुमसे कोई शादी नहीं करेगा....।''लेखिका का मानना है कि ऐसे पुरूष भी होते हैं जो मर्द औरत में फर्क नहीं करते बल्कि स्त्रियों के प्रति समान भाव एवं संवेदनशील बने रहते है। लड़की कहती है - मैं इस दुनिया में नहीं रहूंगी जहां मर्द हैं वह खौफ भरे लहजे में कहती है।/डॉक्टर - ''पगली... दुनियां में सब मर्द वहशी नहीं होते। ''6 इसलिए लेखिका ऐसे पुरुषों की हिमायत करती है यह वास्तव में स्त्री के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खुशहाल जीवन जीते हैं ।

जीलानी बानो ने 'स्कूटरवाला' कहानी शीर्षक को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया है अर्थात एक स्त्री का शांत रहना तथा अन्दर ही अन्दर स्वयं को तलाशने की खिड़की का दरवाजा उस खड़खड़ाते हुुए स्कूूटर की बेल से खुलता है। लेकिन इसे खोलना आसान नहीं। घर की मजबूत चारदीवारी उसे ऐसा करने से रोकती है। क्योंकि स्त्रियों ने यह जान लिया है उनकी जगह केवल घर ही नहीं बाहर की दुनियां में भी हैं। उसके दायित्व केवल घर तक ही महदूद नहीं है बल्कि घर से बाहर भी है जहां उन्हे अपने अन्य अनेक सामाजिक दायित्वों का भी निर्वहन करना शेष है। स्त्री विमर्श अवधारणा के आरम्भ में ही छायावादी लेखिका महादेवी वर्मा ने 'घर और बाहर' लेख में एक ऐसी ही स्त्री की कल्पना की थी जो सम्भावनाओं से भरपूर कर्मठ एवं सशक्त स्त्री है। जिसके सम्मुख कठिन चुनौतियां भी है उससे पिनटने का रास्ता क्या है इसका साकार रूप जीलानी बानों के यहा आबिदा के जीवन में देख सकते है। जिसकी अभिव्यक्ति कुछ इस रूप में हुई है ''अकेले घर में हर तरफ आबिदा को पुर-असरार (रहस्यपूर्ण) सरगोशियां सुनाई देती।/मुन्ने को कंधे से लगाए टहलने में न जाने क्या सोचा करती थी कभी उसका जी चाहता कि सामने दीवार पर बैठी हुई चिड़िया बन जाए.....कभी उसे ख्याल आता है कि मुन्ने की तरह एक साल की बच्ची बनकर फिर से जिंदगी शुरू करें, तो क्या बनेगी?''7 आबिदा की जीजिविषा तब दम तोड़ने लगती है जब उसका पति उस पर व्यंग्य कसने से नहीं चूकता हैं। ''वाह भई! स्कूटर वाले की मसरूफियत की औकात तो तुम्हें खूब याद हो गई है अब यह करो कि उसकी प्राइवेट सेक्रेटरी बन जाओ।''8

जीलानी बानो की स्त्रियां कठिनाईयों में भी अपने बचने का रास्ता निकाल लेती है वह साहसी तथा आत्मविश्वास से भरपूर नारी है जो अपनी आत्मरक्षा करना जानती है। वह इनका पति तथा उसके परिवार के द्वारा अवहेलना तथा प्रताड़ना की शिकार होती है, जहां बहादुरी की प्रशंसा करने वाला कोई भी नहीं है फिर हिम्मत न हारती ''वह तो सारी दुनिया को पुकार-पुकार कर यह बात सुनाना चाहती थी कि उसने कितनी बहादुरी से अपनी इज्जत बचाई है।'' /''यह दो कौड़ी के मर्द क्या समझते हैं कि जब चाहो किसी औरत की इज्जत पर हमला कर दो।''9 सितारा के परिवार वाले सास, ननद, शौहर सभी उसको ये एहसास दिलाते हैं कि हमारे घर की इज्जत चली गई हम समाज में क्या मुंह दिखाएंगे खास बात तो यह है कि खालिद तो खुद अपनी प्रेमिका को चाहता है उसके लिए सितारा शारीरिक सुख देने के अलावा और कुछ भी नहीं है। सितारा एक शिक्षित एवं आत्मनिर्भर स्त्री है अपनी बच्ची को लेकर उसके अंदर एक आत्मविश्वास पैदा होता है जब ''जला-भुना खालिद कमरे में आया।''/बच्ची को अपनी विपता (विपत्ति) क्यों सुना रही हो?''/अब इसी को सुनाना है। उसे तो जरूर बताना है कि हर कदम पर कितने आदिल उसका रास्ता रोकेंगे।''10

जीलानी बानो वृद्ध स्त्रियों के प्रति भी गहरी संवेदना रखती हैं। जीवन के इस पड़ाव पर विभिन्न समस्याओं का सामना

करना पड़ता है। यहा लेखिका ने उस समस्या को इशारा करती है जो अपने बाल बच्चों को पाल पोसकर बड़ा करती है जो बुढ़ापे की लाठी बनने के बजाए उन्हें बेसहारा छोड़ देते हैं और मरने पर आंसू का एक कतरा भी नहीं निकलता बचता है केवल दिखावा मात्र ''अम्मों सबकी तरफ बड़े दुःख के साथ देख रही थी।''/"उसके सबसे बड़े बेटे ने जल्दी सफेद कपड़ा डालकर अम्मों का मुँह छुपाना चाहा था। अगर अम्मों हाथ उठाकर चादर न हटा देती तो शायद वे सब दूसरे कमरे में जाकर उन्हें दफन करने की तैयारी शुरू कर देते।''11

मध्यमवर्गीय परिवारों में दहेज प्रथा का चलन आज भी अपने चरम पर है। दिन प्रतिदिन इसमें इजाफा ही होता जा रहा है। स्त्री जीवन में यह किसी अभिशाप से कम नहीं। स्वयं स्त्रियां भी इस रूढ़िवादी परम्परा को निभाने से तनिक भी गुरेज नहीं करती। इस सन्दर्भ में एक स्त्री की मानसिकता कुछ इस रूप में प्रकट होती है। ''हमें ऐसी नकचढ़ी जल्दबाज बहू नहीं चाहिए जो पंडितों, ज्ञानियों की रस्मों का इंतजार किए बगैर खुद अपनी चिता में जल बैठे और फिर इल्जाम आए पतिदेव पर। इसलिए कहते हैं कि पहले ही इतना दे दो कि सती की रस्म तुम्हारी बेटी को खुद ही न करना पड़े...।''12

हमारे समाज में पति परमेश्वर या खुदा मजाजी का रूप रहा है। पितृसत्तात्मक समाज में पति को शीर्ष पर बैठाने की यह परंपरा सदियों से चली आ रही इस अवधारणा को लेखिका ने तोड़ने की कोशिश की है। एक लड़की को परिवार के द्वारा यह शिक्षा दी जाती है कि वह पति की इच्छा के विरुद्ध कुछ न करेंगी ''अरी जोर से मत हँसना खबरदार जो किसी बात का पलट कर जवाब दिया। वह तेरा पतिदेव होगा, भगवान समान वह आए तो पहले अपने आपको समेटे रखना...।''13 और भी नसीहतें दी जाती हैं जैसे ''अरे पति जिस छूरी से मारे उस छूरी का भला... वह नारियां सीधी स्वर्ग में जाती थी जो पति के साथ सती हो जाती है।''14

लेखिका ने गुड़िया के खेल को कुछ इस ढंग से प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया। मीरा जिसे गड़िया से बेहद लगाव है ऐसा लगता वह गुड़िया में स्वयं को ढूँढती है वह कहती है कि: ''एक दिन भैया ने लड़कियों का सारा खेल बिगाड़ दिया था। गुस्से में गुड़िया की धज्जियाँ बिखेर डाली। हँसते-हँसते उसका सारा सिंगार उजाड़ दियां। ....मीरा उस दिन बहुत रोई थी जैसे भैया ने गुड़िया के नहीं उसके टुकड़े कर डाले हों।''15

जीलानी बानो ने एक पुरूष की दोमुही सोच को भी बेपर्दा किया है। एक तरफ उसकी प्रेमिका तो दूसरी तरफ उसकी पत्नी है। पर पत्नी कभी भी अपने पति से कोई सवाल नहीं करती न ही उसे छोड़ पाती है। वह अपना सर्वस्व त्यागकर पति को खुश रखने का प्रयास करती है ऐसे में उस पुरूष की मानसिकता कुछ इस तरह से खुलकर सामने आती है। परन्तु एक का प्रतिरोध चूकता नहीं । जमीला का पति यह सोचने पर मजबूर हो जाता है कि ''वह मुझे छोड़कर क्यों नहीं चली जाती? वह मुझे क्या पाने की उम्मीद में बैठी है? जमीला की इसी अदा ने मुझे घेर रखा था और इसी चक्कर में आकर मैं उसके तीन बच्चों का बाप बन गया, हालांकि मेरा दिली अभी भी कुंवारा था। मैंने अपनी चाहत, अपनी प्यास, अपनी मुहब्बत का हीरा अभी तक अपने दिल में छुपाए रखा था।''16 यह एक स्त्री का त्याग ही है कि पुरूष चाहकर भी उससे बन्धनमुक्त नहीं हो पाता है। एक स्त्री ऐसी विषम परिस्थितियों में भी अपनी अलग राह बनाने की चाह रखती है। 'मशाले जां' में एक ऐसे ही परिवार की कहानी है जिसमें पति पत्नी साथ तो हैं परंतु अपनी प्रेमिका के यादों का चिराग पति हमेशा अपने दिल में जलाए रखता है। जैसे ही पत्नी को पता चलता है कहती है कि ''मैं भी उस मर्द पर क्या भरोसा करू? मैं अपने बच्चे को लेकर कहीं दूर चली जाऊंगी.....। मैं इस घर में एक पल भी नहीं रह सकती। जिस पर किसी और औरत का हक हो...।''17

पहले तो लड़की का घर में जन्म लेना ही परिवार वालों के सिर पर खतरा मंडराने लगता है। और जैसे-जैसे वह बड़ी होने लगती उस पर पहरा कई गुना बढ़ जाता। क्योंकि ''अब नूरी आ गई सबको चौंकाने, दहलाने, खानदान की इज्जत के लिए खतरे की घंटी सब मर्द चौक पड़े। उसे बाधने के लिए जाल, बहलाने के लिए खिलौने और समझाने के लिए किताबें लिखी गई।''18 नूरी के ऊपर हजार तरह की बंदिशे लगाई गई फिर भी कुछ-कुछ सवाल उसे हमेशा परेशान करते हैं व पूछती भी है ''अब्बा आपकी किताब में यह क्यों नहीं लिखा है कि औरतों को मर्दों के साथ कैसा सलूक करना चाहिए।'' उसका बाप चौक पड़ा अपनी भोली-भाली सोने की मूरत जैसी बेटी को उसने गौर से देखा और उसके हाथ से किताब छीन ली, ये किताबें लड़कियों के पढ़ने की नहीं है।''19 इस तरह से हमारा समाज लड़कियों पर हर तरह की बंधन लगाता है और कितनी खुबसूरती से घर की चाहरदीवारी में रहने की साजिश की जाती है। 'अजायबघर में' नूरी नाम की पात्र जो सदैव ही अपने बाप, भाई और माँ के द्वारा बताए गए वसूलों पर चलती है उसे परिवार के सदस्यों द्वारा कुछ इस प्रकार की सीख दी जाती है। ''हमारे खानदान की लड़की का चेहरा पहली बार देखने वाला मर्द उसका शौहर होता है।'' नूरी ने अपने सिर का पल्लू चेहरे पर खींच लिया। ''लड़कियां फिल्मी गीत नहीं सुनती हैं।'' नूरी ने अपने कानों पर हाथ रख लिए। ''लड़कियां बातें नहीं करती हैं'' अपनी माँ के हुक्म पर उसने अपने लब सी लिए।''20 परिवार के अनेक प्रयासों के बाद भी लड़की नूरी एक दिन पिजड़ा तोड़ फरार हो जाती है। बिना बताये बाजार चले जाना यही उसका सामंती व्यवस्था के प्रति प्रतिकार और प्रतिशोध की भावना को बताता है।

लेखिका ने उच्च शिक्षित, आत्मनिर्भर,साहसी स्त्री का किरदार भी गढ़ा है जो समानता, स्वतंत्रत मुक्ति की चेतना से भरपूर है। वह उन सभी बन्धनों को तोड़ देना चाहती है जो इसकी मुक्ति की राह में बाधा बने। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए वह शोषण के विरूद्ध बगावत करने का जज्बा भी रखती है। तभी वह कहती है कि '' न नहीं जाग रही हूँ पहले वार करने वाले को ढूंढ रही हूँ। ''21

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि जीलानी बानो की रचनाएं नारी चेतना से युक्त संघर्षशील स्त्रियों की दास्तान है। लेखिका ने अपने लेखन के माध्यम से स्त्री जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों अपनी जोरदार अभिव्यक्ति की हैं। यह लेखिका की अदभुत विलक्षण क्षमता का परिचायक है। उनका ऐसा सजीव व जीवन्त चित्रण कर पाना ही लेखिका की अनूठी विशेषता कही जा सकती है। लेखिका मुस्लिम स्त्रियों के अनुरूप स्त्री भाषा का इस्तेमाल करना भी बखूबी जानती है। जो पाठकवर्ग पर अपनी गहरी छाप छोड़ते है। यह कालजयी रचनाएं है जो आज तथा आने वाले समय में भी स्त्रियों में साहस एवं ऊर्जा का संचार करते रहेंगें। जिससे जिससे वह अपनी आत्मरक्षा और अस्मिता सुरक्षित रख सके। इसलिए लेखिका चेतावनी देती हैं और सचेत करते हुए कहती है कि "धुनक में कितने रंग घुले हैं?/सत सुरों का भेद है क्या?/अलिफ लैला में कितने दर (द्वार) खुलते हैं?/गालिब दिल को क्यों दूता है?/इन भेदों को जान लो, रजाए/वरना,/आने वाले वक्त के जब्र से/अपने जमीर को बचा न सकोगी...।" इसलिए प्रत्येक स्त्री शिक्षित और आत्मनिर्भर बनें इसके लिए लेखिका अपनी रचनाओं के माध्यम से हर सम्भव प्रयास करती है।

संदर्भ

1. बानो, जीलानी 'सूखी रेत'(लिप्यन्तरण-सुरजीत) रामकमल प्रकाशन प्रा.लि., संस्करण, भूमिका, 2001।
2. वही, भूमिका
3. ज्वाए, पृ. 9-10।

4. एक दिन लेबर रूम में, पृ. 23।
5. वही, पृ. 25।
6. वही, पृ. 26।
7. स्कूटर वाला, पृ. 29।
8. वही, पृ. 31।
9. आगही, पृ. 39।
10. वही, पृ. 41।
11. प्रॉमिस, पृ. 57।
12. ताक में रखी हुई गुड़िया, पृ. 78-79।
13. वही, पृ. 79।
14. वही, पृ. 81।
15. वही, पृ. 79।
16. ऐ दिल ऐ दिल, पृ. 97।
17. बनों, जीलानी 'गूड़िया का घर''(रूपान्तर-सुरजीत) भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली-110003 संस्करण 2009, पृ. 85।
18. अजायबघर में, पृ. 103।
19. वही, पृ. 105।
20. वही, पृ. 106।
21. कब्ल अज-मर्ग बयाँ, पृ. 128।

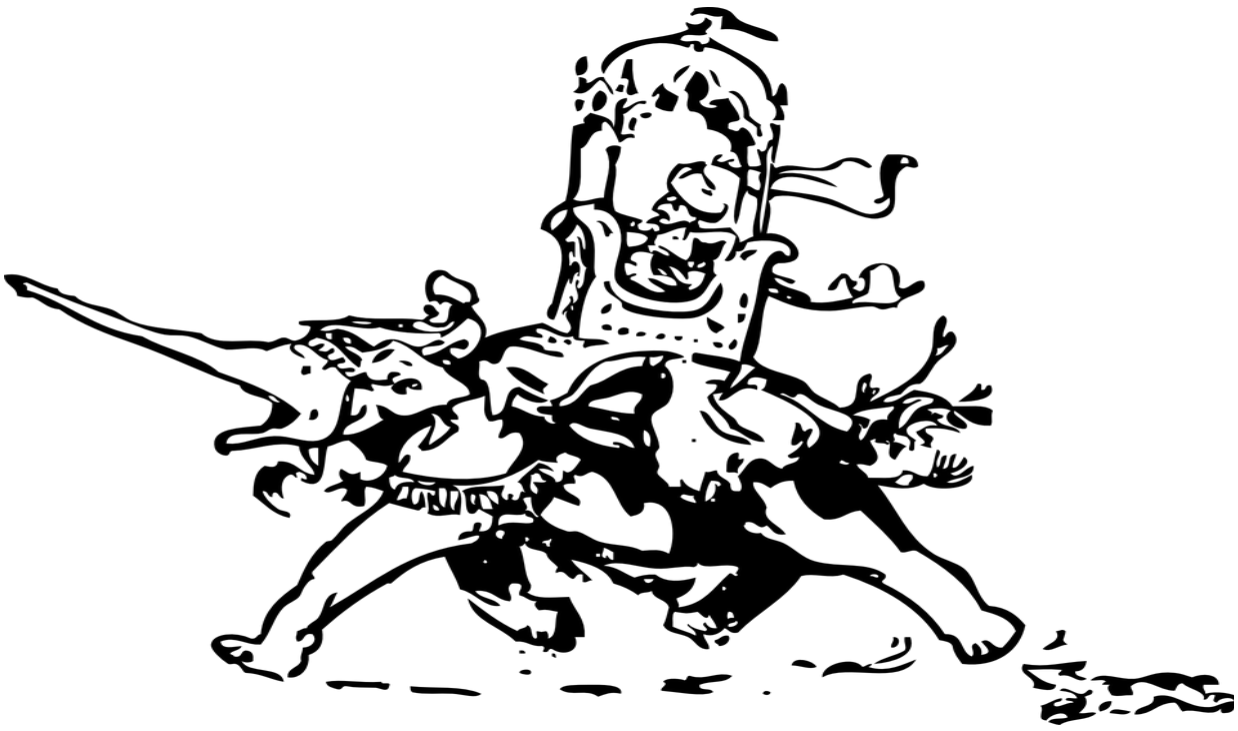

 ISSN: 2454-2725

ब्रिटिश राज में हिन्दी पत्रकारिता

डॉ. विवेक कुमार जायसवाल
सहायक प्राध्यापक, संचार एवं पत्रकारिता विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
v.mgahv@gmail.com
Mob- 8269885473

सारांश-

भारत में राष्ट्रवाद का उदय, दूसरे पूर्वी देशों के समान बहुत हद तक यूरोपीय श्रेष्ठता की प्रतिक्रया के रूप में हुआ था। राष्ट्रवाद, यह सच है सिद्धांत रूप में यूरोपीय आविष्कार है, जिसे पूर्वी देशों ने पश्चिमी भौतिक प्रगति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपनाया, लेकिन समान रूप से उन्होंने पश्चिमी वर्चस्व का प्रतिकार भी किया। प्रगति सबको स्वीकार होती है लेकिन पराधीन रहकर नहीं। व्यक्ति से अधिक यह जनसमूहों पर लागू होती है। भारतीयों के लिए बड़ा आसान तरीका यह था कि वे पश्चिम की भौतिक प्रगति को अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के धरातल पर चुनौती दें और गुलामी के दायरे से बाहर प्रगति का मार्ग निकालने का प्रयास करें। पत्रकारिता इसी अस्थिर काल के साथ उपजी आधुनिकता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। चूंकि जनमानस के भीतर यह उत्सुकता प्रबल होने लगी थी कि हम कैसे पश्चिमी जगत को अधिक से अधिक जान सकते हैं, इस उत्कंठा की पूर्ति बिना अंग्रेजी भाषा को जाने नहीं हो सकती थी। परिणामत: अंग्रेजी शिक्षा का हर तरफ प्रभाव बढ़ने लगा। पश्चिम को जानने की इच्छा रखने वालों में दो तरीके के लोग थे। एक जो आधुनिकता को फैशन के तौर पर अपनाना चहते थे दूसरा वे जो यूरोपीय जगत के ज्ञानपक्ष से भारत को आलोकित करने की आकांक्षा रखते थे। इन्हीं के बीच भारतीय पत्रकारिता का पदार्पण हुआ. प्रस्तुत शोध पत्र अंग्रेजी राज में भारतीय पत्रकारिता का समकालीन इतिहास के साथ सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करेगा जिसमें अंग्रेजी राज में भारतीय पत्रकारिता के इतिहास के साथ-साथ उस समय का सही-सही अवलोकन और उसमें पत्रकारिता की भूमिका का विश्लेषण भी देखने को मिलेगा.

बीज शब्द- *पत्रकारिता, राष्ट्रवाद, बंगाल, नवजागरण, हिन्दी-उर्दू पत्रकारिता, गांधी, अम्बेडकर, स्वतंत्रता*

शोध आलेख

भारतीय जीवन और इतिहास में उन्नीसवीं सदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐसा समय था जिसके पहले मुगल, राजपूत, मराठा आदि शक्तियों का लगभग पूरी तरह क्षरण हो चुका था और भारतीय संस्कृति और सभ्यता पतन की ओर अग्रसर हो रही थी। इन स्थितियों में अचानक जो एक बड़ा परिवर्तन आया, वह यह कि अंग्रेज, भारतीय नरेशों के अधिकार को छीनते हुए स्वयं शासक बन बैठे। यह एक बड़ा राजनीतिक परिवर्तन था जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में ह्रास की गति और तेज हो गई। यह एक ऐसा समय भी था जब यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इस क्रांति में ही नई सामाजिक मान्यताओं, नए सांस्कृतिक मूल्यों, आर्थिक क्षेत्र में नए उत्पादन के साधनों तथा नई राजनीतिक चेतना और व्यवस्थाओं का अभ्युदय हुआ। इन नए मूल्यों, मान्यताओं, और संस्कृति का असर भारत की सामाजिक व्यवस्था पर पड़ना स्वाभाविक था। सर्वप्रथम अंग्रेजों ने चातुर्यपूर्ण नीतियों के जरिए भारत के व्यापार को अपने कब्जे में किया। कर-नीति, भूमि संबंधी नीति आदि में आमूलचूल परिवर्तन किया गया। इन साम्राज्यवादी नीतियों ने भारत का व्यापार छिन्न-भिन्न तो किया ही जिससे आर्थिक दासता की शुरुआत हुई साथ ही विषमतापूर्ण नीतियों के कारण भारतीय समाज में भी अलगाव पैदा हो गया। गांव की सभ्यता टूटने लगी और समस्त

संसाधनों पर अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हो गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी के आने का परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के क्षेत्र में भी एक नई 'क्रांति' ने जन्म लिया। अपनी शासन व्यवस्था सुदृढ़ करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने भारतीय गुरुकुल परंपरा की शैक्षिक नीतियों को ध्वस्त कर अपने ढंग से शिक्षा व्यवस्था लागू की। लार्ड मैकाले ने एक और नई शिक्षा पद्यति लाई जिसका एकमात्र उद्देश्य भारत में पाश्चात्य सभ्यता को और सुदृढ़ बनाना था और ऐसे लोगों का निर्माण करना था जो अंग्रेजों और आम भारतीय जनता के बीच दुभाषिए का काम करे। उनका मूल मंतव्य एक ऐसा वर्ग पैदा करने का था जो रक्त और रंग में तो भारतीय हों, किंतु अभिरुचि, विचार-आचार और ज्ञान में अंग्रेजों जैसे हों। इस वर्ग को पैदा करने का विचार पश्चिम से आया था और इसे पैदा करने की जिम्मेदारी उन अंग्रेजों पर थी जो भारत में व्यापार का काम देख रहे थे। नई अर्थ व्यवस्था और नई सामाजिक जरूरतों को ध्यान में रखकर इस देश में जो शिक्षा प्रणाली तैयार की गई थी उसने न केवल उन्हें नौकरी योग्य शिक्षित किया बल्कि उनके भीतर यह मानस भी तैयार किया कि वे अन्य भारतीयों से अधिक श्रेष्ठ और बुद्धिजीवी हैं। इस प्रकार इस शिक्षा व्यवस्था से शिक्षितों का जो वर्ग पैदा हुआ उसका एक मात्र उद्देश्य केवल ऊंचे सरकारी ओहदों को पाना, समाज में ऊंची हैसियत प्राप्त करना और बुद्धिजीवी कहलाना था।

मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा का दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा जो आज तक व्याप्त है। एक तरफ जहां इससे कुछ लाभ हुआ वहीं कुछ आशंकाएं भी भारतीय जनमानस में घिर गई। भारतीय समाज मध्ययुगीन जड़ता से मुक्त तो हुआ लेकिन सामाजिक एकता, धार्मिक समन्वय और राष्ट्रीय चेतना के प्रति सशंकित हो गया। चेतना की इस लहर से उच्च और प्रबुद्ध वर्ग ही नहीं पिछड़े वर्ग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इस शिक्षा के प्रभाव से प्राचीन साहित्य और संस्कृति की अवहेलना होने लगी। नई शिक्षा और अर्थ नीतियों के कारण समाज में बुनियादी परिवर्तन के लक्षण दिखने लगे। संपूर्ण भारत आधुनिकीकरण की नई संकल्पना के साथ आगे आने को तैयार हो उठा। इतिहास का यही काल 'नवजागरण काल' के नाम से जाना जाता है। यूरोपीय पुनर्जागरण (रेनेसां) और भारतीय नवजागरण की मूल चेतना भले ही एकसमान हो लेकिन इनकी प्रकृति, प्रवृत्ति, परिवेश, प्रेरणास्रोत, दर्शन, दृष्टिकोण, आदर्शों और ऐतिहासिक संदर्भों में मौलिक अंतर है जिनसे इसका पृथक और विशिष्ट रूप परिलक्षित होता है। यूरोप का पुनर्जागरण वहां के पुरातन साहित्यिक-सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना, नव-आर्थिक परिवेश और ऐतिहासिक क्रियाशीलता की उपज है जबकि भारतीय नवजागरण की प्रकृति इसके विपरीत थी।

भारतीय नवजारण की अवधारणा का संबंध वस्तुत: अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपना उत्पादन, और अपने राष्ट्र के उन्नयन तथा स्वाधीनता के साथ था। इसके स्वरुप को राष्ट्रीय उत्थानवादी भी कहा जा सकता है क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य पराधीन भारतीय जनमानस को आत्मग्लानि, विवशता और यूरोपीय सभ्यता तथा पश्चिमी मानसिकता से उबारना था। राष्ट्रवादी भावनाओं के उभरने और इसकी व्याख्या को औपनिवेशिक संदर्भों से जोड़े बिना नहीं देखा जा सकता। उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, इसमें कोई शक नहीं, एक ही इतिहास के आपस में उलझे हुए दो पक्ष हैं। इस बात को समझने के लिए पश्चिमी राष्ट्रवाद और पूर्वी राष्ट्रवाद के भेद को भी समझना जरूरी है। भारत में राष्ट्रवाद का उदय, दूसरे पूर्वी देशों के समान बहुत हद तक यूरोपीय श्रेष्ठता की प्रतिक्रया के रूप में हुआ था। राष्ट्रवाद, यह सच है सिद्धांत रूप में यूरोपीय आविष्कार है, जिसे पूर्वी देशों ने पश्चिमी भौतिक प्रगति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपनाया, लेकिन समान रूप से उन्होंने पश्चिमी वर्चस्व का प्रतिकार भी किया। प्रगति सबको स्वीकार होती है लेकिन पराधीन रहकर नहीं। व्यक्ति से अधिक यह जनसमूहों पर लागू होती है। भारतीयों के लिए बड़ा आसान तरीका यह था कि वे पश्चिम की भौतिक

प्रगति को अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के धरातल पर चुनौती दें और गुलामी के दायरे से बाहर प्रगति का मार्ग निकालने का प्रयास करें।

नवजागरण और आधुनिकीकरण की संकल्पनाओं ने दो चीजें पैदा कीं। पहला यह कि लोगों में ज्यादा से ज्यादा आधुनिक होने की उत्कंठा जाग उठी और दूसरी इस चिंता के रूप में उभरी कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आए बिना उस सभ्यता के बारे में कैसे अधिक से अधिक जाना जा सकता है? हालांकि यह सोचना एक हद तक मूर्खता ही थी, क्योंकि पश्चिम से आई आधुनिकीकरण की अवधारणा का मूल चरित्र ही यही था कि वह केवल मनुष्य के तौर-तरीकों, खान-पान और अन्य बाहरी चीजों में परिवर्तन ही नहीं चाहती थी बल्कि उसका मुख्य लक्ष्य इन चीजों के साथ भारतीय मानस में परिवर्तन और उस पर नियंत्रण करना था।

पत्रकारिता इसी अस्थिर काल के साथ उपजी आधुनिकता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। चूंकि जनमानस के भीतर यह उत्सुकता प्रबल होने लगी थी कि हम कैसे पश्चिमी जगत को अधिक से अधिक जान सकते हैं, इस उत्कंठा की पूर्ति बिना अंग्रेजी भाषा को जाने नहीं हो सकती थी। परिणामत: अंग्रेजी शिक्षा का हर तरफ प्रभाव बढ़ने लगा। पश्चिम को जानने की इच्छा रखने वालों में दो तरीके के लोग थे। एक जो आधुनिकता को फैशन के तौर पर अपनाना चहते थे दूसरा वे जो यूरोपीय जगत के ज्ञानपक्ष से भारत को आलोकित करने की आकांक्षा रखते थे।

भारतीय नवजारण के पुरस्कर्ता इसी वर्ग के थे। वे अंग्रेजियत के पीछे पागल नहीं थे बल्कि अपनी परंपरा को आधुनिक संदर्भ में प्रतिष्ठित करने के लिए उसे एक नई अर्थवत्ता देना चाहते थे। इसके लिए आवश्यक था पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से अपने को एक हद तक संपृक्त रखते हुए प्रगति और सुधार के मार्ग को प्रशस्त करना। इस वर्ग के ज्येष्ठ प्रतिनिधि राजा राममोहन राय थे। उन्होंने भारतीय नवजागरण के जनक की भूमिका निभाई और १८२५ में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। उनके साथ एक ऐसी स्वस्थ परंपरा आविर्भूत हुई जिसने आधुनिक भारत ही नहीं संपूर्ण मानव जाति को उपकृत किया। उन्हीं की पहल का परिणाम था कि सतीप्रथा, बहुविवाह प्रथा, दहेज प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरोध में कड़े क़ानून बनाए गए। "राजा राममोहन राय ने जिस सुधारवादी आंदोलन का सूत्रपात किया वह नए-नए सुधारकों और विचारकों का वैचारिक अवलंब पाकर निरंतर विकासमान था। इस प्रकार एक ओर सामाजिक कलुष-प्रक्षालन का महत उपक्रम चल रहा था और दूसरी ओर हमारी राजनीतिक चेतना प्रखर हो रही थी"।[1]

राजा राम मोहन राय और उनके सहयोगियों ने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक सुधार आंदोलन की सक्रियता बनाए रखने के लिए स्वतंत्र पत्रों की आवश्यकता महसूस की। राजा राम मोहन राय ने भारतीय लोगों का प्रथम पत्र 'संवाद कौमुदी' (बांग्ला) प्रकाशित किया।[2] पत्र प्रकाशन की मूल दृष्टि को स्पष्ट करते हुए राजा राम मोहन राय ने लिखा था, "मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि जनता के सामने ऐसे बौद्धिक निबंध उपस्थित करूं जो उनके अनुभव को बढ़ाएं और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों, मैं अपनी शक्ति-भर शासकों को उनकी प्रजा की परिस्थितियों का सही परिचय देना चाहता हूं और प्रजा को उनके शासकों द्वारा स्थापित विधि-व्यवस्था से परिचित कराना चाहता हूं ताकि शासक जनता को अधिक से अधिक सुविधा देने का अवसर पा सकें और जनता उन उपायों से अवगत हो सके जिनके द्वारा सुरक्षा पाई जा सके और अपनी उचित मांगे पूरी कराई जा सकें" (हेमंत प्रसाद घोष : द न्यूजपेपर इन इंडिया, पृ। २५-

[1] कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, पृ.२७-२८

[2] राहुल रंजन, उन्नीसवीं सदी की हिंदी पत्रकारिता में सामाजिक चेतना, पृ.२९

२६)[1]। समाचार पत्रों के प्रति सरकार का रवैया इतना कठोर था कि प्रकाशकों और संपादकों को तरह-तरह से परेशान करने के उपक्रम किए जाने लगे। एक समय ऐसी स्थिति आ गई कि राजा राम मोहन राय को पत्र-प्रकाशन का काम रोक देना पड़ा।

इस प्रकार देश संक्रमण काल से गुजर रहा था। "इसी संक्रंमण काल में भारतीय पत्रकारिता का जन्म और विकास हुआ था। भारतीय नवजागरण का पहला अनुभव बंगाल ने किया था, बंगाल की खाड़ी से ही भारत में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। स्वभावत: भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि बंगाल है और हिंदी पत्रकारिता का जन्म और विकास कलकत्ता में ही हुआ"।[2]

भारतीय भूमि पर पहले अंग्रेजी पत्रकारिता का पदार्पण हुआ था। इस दिशा में पहला असफल प्रयास १७६८ में विलियम बोल्ट नामक अंग्रेज व्यापारी ने किया था। १७८० में जेम्स आगस्टस हिक्की द्वारा निकाले गए 'बंगाल गजट' को भारतीय धरती पर पहला अंग्रेजी समाचार पत्र माना जाता है। इसके बाद 'कलकत्ता गजट', 'बंगाल जनरल', 'मद्रास कूरियर', 'बंबई हेरल्ड' आदि अंग्रजी पत्र भी निकले जिन्हें अपनी ही शासक जाति के कठोर नियमों का शिकार होना पड़ा था।

इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि हिंदी पत्रकारिता का जन्म बंगाल में हुआ लेकिन हिंदी के प्रथम पत्र को लेकर कई तरह की भ्रांतियां फैलाई गईं। एक खास वर्ग द्वारा पं. युगलकिशोर शुक्ल द्वारा कलकत्ता से निकाले गए 'उदंत मार्तंड' को हिंदी का प्रथम पत्र कहा गया जबकि इस बात के ठोस प्रमाण मौजूद हैं कि हिंदी का प्रथम पत्र मिशनरियों द्वारा निकाला गया। 'दिग्दर्शन' का प्रकाशन पहले अंग्रेजी-बंगला में १८१८ से १८२० तक हुआ। बाद में दिल्ली से आदमी बुलाकर इसके तीन अंक हिंदी में भी प्रकाशित कराए गए थे। इस दौरान हिंदी का एक और पत्र 'गास्पल मैगजीन' भी मिशनरियों द्वारा ही निकाला गया था। हालांकि इन दोनों मिशनरी पत्रों में भी पहले पत्र होने को लेकर भी भ्रांतियां फैलीं लेकिन प्रामाणिक खोज और उपलब्ध सामग्री के आधार पर हिंदी का पहला पत्र 'गास्पल मैग्जीन' को ही माना जाता है। हिंदी के प्रथम पत्र को लेकर होने वाली इस बहस का मूल कारण यही समझ में आता है कि भारतीय 'पंडितों' को दूसरे धर्म के अनुयायियों द्वारा हिंदी में किए जा रहे कार्य रास नहीं आए, क्योंकि उनके भीतर यह धारणा व्याप्त थी कि हिंदी और उस भाषा में काम करने का उनको ही एकाधिकार प्राप्त है।

३० मई १८२६ को 'उदंत मार्तंड' पत्र निकलने के बाद हिंदी पत्रों के प्रकाशन में थोड़ी तेजी आई लेकिन भारतीय समाज का ठीक ढंग से प्रतिनिधित्व करने के लिए यह पर्याप्त नहीं थे। १८२६ से लेकर १८५० तक हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के निकलने की गति यह तो प्रमाणित करती है कि हिंदी के पत्रकारों में अदम्य जिजीविषा थी लेकिन सरकारी असहयोग और धनाभाव ने हिंदी पत्रकारिता के विकास में रोड़े अटकाए। चूंकि उस समय अंग्रेजी सरकार द्वारा हिंदी पत्रकारिता को कोई संरक्षण-समर्थन नहीं प्राप्त था। उच्च शिक्षा, आजीविका और न्यायालयी प्रक्रिया में या तो उर्दू का प्रयोग होता था या फिर अंग्रेजी का। जनता का निम्न आर्थिक जीवन-स्तर भी हिंदी पत्रकारिता के विकास की गति में अवरोध बना। पत्रकारों की आर्थिक कठिनाईयां, हिंदी प्रदेश में साक्षरों की अल्प संख्या, पत्र-पत्रिकाओं के प्रति जनरुचि और जन समर्थन की न्यूनता, दूरगामी संचार साधनों के अभाव, पत्रकारों के भीतर पत्रकार-कला विषयक ज्ञान का अभाव और पत्रकारों की अल्प संख्या आदि ने इस बाधा को और अधिक पुष्ट किया।

[1] कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, पृ.२८
[2] वही. पृ. २८-२९

भारतीय पत्रकारिता के विकास के साथ ब्रिटिश सरकार की दमन नीतियां भी लागू होनी शुरू हो गई थीं। लार्ड वेलेजली के शासनकाल में भारतीय पत्रों के दमन के लिए पहला क़ानून बनाया गया जिसका कुल मिलाकर स्पष्ट उद्देश्य यही था कि जहां तक हो सके भारत के लोगों को बर्बरता और अंधकार में रखा जाए और देशी जनता में किसी भी प्रकार का ज्ञान फैलाने वाले उपक्रमों और प्रयत्नों की कड़ी रोकथाम की जाए। कुल मिलाकर उस समय का वतावरण पूरी तरह हिंदी पत्रकारिता विरोधी वातावरण था। ऐसी स्थिति में छोटी-मोटी पत्रिकाओं का निकालना भी दूभर हो गया था। अंग्रेज गवर्नर जनरल बदलते गए लेकिन उनकी प्रेस संबंधी नीतियों में कोई उदारात्मक परिवर्तन नहीं आया बल्कि वे दिन-ब-दिन कठोर ही होते गए। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में केवल मेटकॉफ़ के कालखंड को पत्रों की स्वतंत्रा के लिहाज से स्वर्णयुग माना जा सकता है। १८५० तक अधिकतर बंगला, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं में पत्र प्रकाशित हुए। हिंदी या हिंदी संस्करण के रूप में जिन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ उनमें 'बंगदूत' (१८२९), 'प्रजामित्र' (१८३४), 'बनारस अखबार' (१८४५), 'ज्ञानदीप' (१८४६), 'मालवा अखबार' (१८४८), 'साम्यदंड मार्तंड' (१८५०) प्रमुख थे।

हिंदी और हिंदी पत्रकारिता के विकास के दृष्टिकोण से ये पत्र महत्त्वपूर्ण तो थे ही लेकिन इनमें से कईयों के कलेवर में पूरी तरह चाटुकारिता की बू थी। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' द्वारा निकाले गए पत्र 'बनारस अखबार' की भाषा ऐसी ही थी। हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में इस पत्र को महत्त्व इसलिए दिया जाना चाहिए क्योंकि इसके उर्दू संस्करण से हिंदी अनुवाद ने हिंदी पत्रकारिता के मार्ग को प्रशस्त किया और इसने द्विभाषी पत्रों की परंपरा का सूत्रपात किया। इसने हिंदी-उर्दू बंधन को दृढ़ता भी प्रदान किया। 'बनारस अखबार' का हिंदी में अनूदित संस्करण भी उर्दू प्रधान ही था। उसमें आम बोलचाल की हिंदी की झलक कहीं नहीं दिखती थी। 'मालवा अखबार' इंदौर दरबार का राजकीय मुखपत्र था जिसके प्रारंभिक अंकों में न तो तत्कालीन राजनीतिक परिवेश और सत्ताधारियों की कोई तस्वीर पेश की गई और न ही सामाजिक-सुधारों और शैक्षणिक सुधारों को लेकर किसी भी प्रकार का आवाह्न किया गया। चूंकि 'बनारस अखबार' एक तरह से शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था और उस समय सरकारी कामकाज में उर्दू को ही महत्त्व दिया जाता था इसलिए एक तरह की राजनीति के तहत आम जन को हिंदी से दूर रखे जाने का यह एक प्रयत्न भी था। इसकी प्रतिक्रया स्वरूप विशुद्ध हिंदी में 'सुधाकर' (१८५०), 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२), 'प्रजा हितैषी' (१८५५), 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' (१८६५) आदि अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलनी शुरू हुईं।

इस दौर की पत्र-पत्रिकाओं का जीवन-काल बहुत ही अल्प रहा। इनके कारणों को हम पूर्व में जान चुके हैं। अल्प जीवन-काल और असहयोगात्मक वातावरण के कारण ही इस दौर की हिंदी पत्रकारिता की कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं रही फिर भी ऐसे माहौल में पत्रकारिता की परंपरा को जीवित बनाए रखने में इनका ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद है। प्रकाशकों-संपादकों के पास उस समय न तो ग्राहकों की कोई मांग थी और न ही विज्ञापन का कोई लोभ और न ही कोई निजी स्वार्थ। इन स्थितियों में देश हित और प्रजा की कामना से प्रेरित होकर अपना तन, मन, धन लगाना उनके नि:स्वार्थ समर्पण का ही सूचक है।

उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय नवजागरण का स्वरुप व्यापक रूप में दिखाई देता है। पूरा देश पश्चिमीकरण, वैज्ञानिक संचार साधनों और सांस्कृतिक-राजनीतिक परिवर्तनों से स्पंदित था। यह एक ऐसा काल था जिसमें राष्ट्रीय पत्रकारिता का विकास हुआ। ऊपर हम यह जान चुके हैं कि देश में दो धाराओं के लोग साथ-साथ चल रहे थे। एक वे जो पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह अपनाकर आधुनिक बनने की कोशिश कर रहे थे, और दूसरा वे जो पश्चिमी सभ्यता से स्वयं को संपृक्त कर भारतीय संस्कृति और सभ्यता को संजोने में लगे थे। इस काल की पत्रकारिता को राष्ट्रीय पत्रकारिता

इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इस काल में पत्रों के जरिए जनता में राष्ट्रीय चेतना विकसित करने का कार्य किया जा रहा था। इस काल की पत्रकारिता ने ही अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के प्रति जनता में व्यापक मोहभंग की अनुभूति जागृत कर राष्ट्रीय आंदोलन की नींव डाली और लगातार इस शासन से मुक्ति के लिए अपना संघर्ष और समर्पण जारी रखा।

इस काल की मुख्य विशेषता यह थी कि द्विभाषी पत्रकारिता की परंपरा की जो शुरुआत हुई थी उसे कायम रखा गया। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में निकलने वाले पत्रों की बहुलता थी। इसका एक कारण यह था कि १८५७ का महासमर हिंदू-मुस्लिम नेताओं और जनता ने एक साथ मिलकर लड़ा था। एक तरह से उस समय तक हिंदू-मुस्लिम संबंधों को मैत्रीपूर्ण माना जा सकता है। इस मैत्रीपूर्ण परिवेश का हिंदी-उर्दू पत्रकारिता पर पड़ना स्वाभाविक था। इसी कारण से इस काल में हिंदी-उर्दू पत्रकारिता संयुक्त रूप से की जाती रही क्योंकि यही दोनों भाषाएं ही हिंदू और मुसलामानों की संपर्क भाषाएं थीं। उस समय तक धर्म के आधार पर भाषा का कोई सांप्रदायिक विभाजन नहीं था। इन पत्र-पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन भी दोनों धर्मों के लोग मिलकर किया करते थे। पत्रों के विभाजन का आधार धार्मिक या सांप्रदायिक नहीं थे। 'मजहरुल सरूर' (१८५०), 'ग्वालियर गजट' (१८५३), 'समाचार सुधावर्षण' (१८५४), 'सर्वहितकारक' (१८५५), 'राजपुताना अखबार' (१८५६), 'पयामे आजादी' (१८५७), 'खैरख्वाहे हिंद' (१८६५), 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (१८६६), 'रतन प्रकाश' (१८६७), 'विद्याविलास' (१८६७), 'वृतांत दर्पण' (१८६८), 'हिंदी प्रकाश' (१८७३), 'मर्यादा परिपाटी' (१८७३), 'काशी पत्रिका' (१८७५), 'नूरुलबसर', 'कमरुल अखबार', 'कब्दे-जाइर' (सभी १८७६), 'ब्राह्मण समाचार' (१८९०), 'शौकत जाफरी' (१८९०), 'गौड़ हितकारी' (१८९८) आदि इस कालखंड की प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ थीं।

हिंदी और उर्दू पत्रों के बीच भेद और विभाजन ने उग्र रूप तब धारण किया जब अंग्रेजी शासन ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति लागूकर इसे बढ़ावा दिया। इसके लिए अंग्रेजों ने कई हथकंडे अपनाए। १८५७ के महासमर से सीख लेते हुए सबसे पहले अंग्रेजों ने सेना को नए ढंग से पुनर्गठित करना शुरू किया। शिक्षा-प्रशासन आदि के ढांचों में धर्म को आधार रखकर परिवर्तन किया गया। यह सब इसलिए किया गया ताकि हिंदू-मुस्लिम संगठित होकर पुन: विद्रोह करने की हिम्मत न कर सकें। सांप्रदायिक मतभेद बढ़ाना उनका मुख्य मकसद था ताकि वे ब्रिटिश शासन के खिलाफ एकजुट न हो सकें और किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय आंदोलन या स्वतंत्रता संघर्ष की शुरुआत न हो सके। इन सबके लिए धार्मिक आधार पर भाषा का भी विभाजन किया गया। हिंदी को हिंदुओं की भाषा और उर्दू को मुस्लिमों की भाषा बना दिया गया। इस काम में कुछ भारतीय नेतृत्वकर्ताओं ने भी सहयोग किया था। हिंदी-उर्दू भाषा विवाद और राजनीति का असर तत्कालीन पत्रकारिता पर भी पड़ा। १८५७ के पश्चात भारत सहित समूचे विश्व में घटनाओं का सिलसिला तेजी से चल रहा था। साहित्य, राजनीति और ज्ञान के क्षेत्र में नई विधाओं और विश्लेषण के लिए दिन-प्रतिदिन हिंदी पत्रकारिता को नए-नए शब्दों की आवश्यकता महसूस हो रही थी। लेकिन भाषा विवाद से अलगाववादी प्रवृत्ति धीरे-धीरे अपनी व्यापकता की तरफ बढ़ रही थी। इस अलगाव का परिणामस्वरूप हिंदी-उर्दू पत्रों का पाठकवर्ग भी बंट गया। हिंदी-उर्दू खड़ी बोली का विकास अलग-अलग हिंदी-उर्दू पत्रकारिता के माध्यम से होने लगा। यहीं से उपजे हिंदू-उर्दू भाषा विवाद का वृहद परिणाम कालांतर में हमें भारत-पकिस्तान विभाजन के रूप में देखने को भी मिलता है।

राष्ट्रीय स्वरुप का पहला पत्र १८६८ में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा निकाली गई पत्रिका 'कविवचन सुधा' को माना जाता है। पूर्व में यह जिक्र किया जा चुका है कि इससे पहले निकली ज्यादातर पत्र-पत्रिकाओं का कोई निश्चित सामाजिक

उद्देश्य और सरोकार नहीं था और वे किस प्रकार शासक वर्ग के मुख-पत्र की तरह काम करती थीं। 'कविवचन सुधा' ने निर्भीक पत्रकार-कला का आदर्श प्रस्तुत किया। इस पत्रिका ने हिंदी समाज के लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करने, हिंदी भाषा और पत्रकारिता को जातीय स्वरुप प्रदान करने और हिंदी पत्रकारों के लिए प्रेरणास्रोत का काम किया। निश्चित रूप से एक ऐसे समय में जब अंग्रेजों की तानाशाही और शोषण का पूरा देश शिकार था, तब ऐसे निर्भीक कलेवर की पत्रिका का निकालना एक साहसिक कदम था। भारतेंदु जी ने स्वदेशी वस्त्रों के उपयोग का आग्रह गांधी के भारत आने के पहले ही कर दिया था। जनसाधारण को जोड़ने वाली एक और असाधारण पत्रिका 'हरिश्चंद्र मैग्जीन' का भी शुभारंभ उन्होंने १८७३ में किया जो आगे चलकर 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' नाम से छपने लगी। इसका भी कलेवर अंध रूढ़िवादिता, औपनिवेशिक साम्राज्यवाद और सामंती संस्कृति विरोधी था। भारतेंदु जी ने दो अन्य पत्रिकाओं 'बालबोधिनी' (१८७४) जो महिलाओं पर केंद्रित थी और 'भगवत तोषिणी' का भी संपादन किया।

उत्तर उन्नीसवीं सदी में हिंदी पत्रकारिता के सूत्रधार रहे और उसके लिए समर्पित रहे भारतेंदु जी के युग को उन्हीं के नाम से जाना जाता है। चूंकि यह युग समर्पण की पत्रकारिता का युग भी माना जाता है इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने इस युग के पत्रकारों और उनकी पत्रकारिता के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "राजनीतिक वातावरण में जो रूढ़िप्रियता, अंधपरंपराप्रियता, शासकों की खुशामद और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना फैली हुई थी, उसे देखते हुए हिंदी पत्रकारों की निर्भीक लेखन-शैली और भी चमक उठती है। उनमे पर्याप्त साहस था और उस साहस का उपयोग वे बेपर की बाते करने में न करते थे वरन दिन-प्रतिदिन की देश तथा विदेश संबंधी समस्याओं के विवेचन में उसका उपयोग करते थे। काबुल युद्ध, जुलू और अंग्रेजों की लड़ाई आदि पर जो कुछ तब लिखा गया था, उससे बड़ी बात उनकी सरल भाषा और मनोरंजक शैली है। वे जनता के हित का नारा बुलंद न करके वास्तविक जन साहित्य की सृष्टि करने में लगे थे। अकाल, महामारी, टैक्स, किसानों की निर्धनता, स्वदेशी आदि पर उनहोंने सीधे सरल ढंग से निबंध और कविताएं लिखीं।" (डॉ. रामविलास शर्मा : भारतेंदु युग, पृ.४१)[1] । इस काल की कुछ अन्य मुख्य पत्र-पत्रिकाएँ 'अल्मोड़ा अखबार' (१८७१), 'हिंदी प्रदीप' (१८७७), 'भारत मित्र' (१८७८), 'सारसुधानिधि' (१८७९), 'उचित वक्ता' (१८८०), 'ब्राह्मण' (१८८३) भी हैं। कुल मिलाकर तत्कालीन पत्रकारिता का स्वरुप मिशनरी कहा जा सकता है। हालांकि इस युग की पत्रकारिता में कई विरोधाभास भी झलकते हैं। जैसे - राजभक्ति-देशभक्ति और हिंदी-उर्दू के बीच समन्वय और साथ ही अंग्रेजी भाषा के प्रति भी प्रतिबद्धता और द्वंद्व का विरोधाभासी चित्र उभरता है। इस युग के पत्रों में राष्ट्रीय चेतना कभी खुलकर मुखर हुई तो कभी राजभक्ति की आड़ में। लेकिन इस युग की जो एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है वह यह कि इस युग की पत्रकारिता हिंदी साहित्य को व्यापक राष्ट्रीय चेतना और जनजीवन से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनी जो पूर्व में दरबारी-सामंती प्रवृत्ति के कारण बेहद संकुचित थी और दरबारी गौरवगान और चाटुकारिता तक सीमित थी।

बीसवीं सदी की शुरुआत में हिंदी जगत की छापे की संस्कृति भारतेंदु युग के बाद के दौर में प्रवेश कर चुकी थी। इस दौर में हिंदी जगत में महत्त्वपूर्ण सांस्थानिक बदलाव भी हो रहे थे। १८८५ में इलाहाबाद में इंडियन प्रेस की स्थापना, १८९३ में श्याम सुंदर दास की अगुआई में काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९१० में इलाहाबाद में ही हिंदी साहित्य सम्मलेन की स्थापना और १९१६ में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना ने एक निरंतर फैलते सार्वजनिक क्षेत्र को ठोस रूप देने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभाईं। इन सभी संस्थानों से जुड़ी बहसें भी तत्कालीन पत्रिकाओं के माध्यम से खुलकर आईं। इंडियन प्रेस द्वारा १९०० में 'सरस्वती' के प्रकाशन से सामान्यतया हिंदी प्रकाशन के एक नए युग की

[1] कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, ११८-१९

शुरुआत मानी जाती है। 'सरस्वती' ने जहां एक ओर हिंदी भाषा के विकास और और शिक्षितों की सौंदर्यशास्त्रीय आकांक्षाओं के बीच एक संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया वहीं हिंदी पत्रकारिता में विषय के स्तर पर काफी विस्तृत फलक सामने रखा। समाज सुधार से लेकर वैज्ञानिक प्रयोग, इतिहास, पुरातत्त्व, स्त्री विमर्श, शिक्षा से लेकर यात्रा-वृत्तांत आदि इसके मुख्य विषय वस्तु थे।

बीसवीं सदी के आरंभ में भारतीय समाज लार्ड कर्जन के दमनात्मक कार्यों का शिकार हुआ। अंग्रेजी सरकार के कृत्यों से नवजागरण की चेतना और भी व्यापक होती चली गई और आंदोलन का स्वरुप और दायरा भी काफी विस्तृत होता गया। इसी के साथ स्वदेशी आंदोलन ने भी तेजी पकड़ी, वंदे मातरम का जयघोष हुआ। १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में 'स्वराज्य' शब्द की घोषणा की गई। ये सब ऐसे कारणों में से थे जिससे हिंदी पत्रकारिता की गति में अपेक्षाकृत और तेजी आई।

इस युग में विशेष रूप से कलकत्ता की हिंदी पत्रकारिता में 'भारत मित्र' ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसका नेतृत्व बाबू बालमुकुंद गुप्त कर रहे थे। हिंदी पत्रकारिता में पत्रों के 'पॉलिसी' निर्धारण की अवधारणा उन्हीं के साथ आई। इसका जिक्र इटली मूल की लेखिका फ्रंचेस्का ओर्सीनी ने इस प्रकार किया है- "जहां एक ओर पत्रकारिता की छवि पूरी तरह नैतिक उत्तरदायित्व से लैस थी, वहीं दूसरी इसकी व्यवहारिक, व्यावसायिक क्षमताओं का पक्ष भी समकालीन बुद्धिजीवियों के ध्यान से बाहर नहीं था। अंग्रेजी के पद 'पॉलिसी' और उसका प्रयोग तत्कालीन पत्रकारिता के संदर्भ में उन दिनों बड़े पैमाने पर खास अर्थों में ही हो रहा था। उस वक्त के एक और प्रसिद्ध पत्रकार-लेखक बाबू बालमुकुंद गुप्त जो 'भारतमित्र' दैनिक के संपादक थे, ने उर्दू और हिंदी पत्रकारिता पर कई धारावाहिक निबंध लिखे जिसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी अखबार की एक 'पॉलिसी' होना जरूरी है।"[1] लेकिन उनकी पॉलिसी और मालिकों के हितों की रक्षा के बीच काफी टकराहटें होती रहीं और अंतत: उन्हें यह मानना पड़ा कि अखबार का काम अंतत: अपने मालिक के हितों की रक्षा करना ही है क्योंकि पत्रकारिता के संबंध में उनकी संतुलित टिप्पणी से यह स्पष्ट होता है, जिसमें उन्होंने कहा कि, "हमारा 'भारतमित्र' अपने स्वरुप में राजनीतिक है और हिंदी प्रचार तथा राजनीतिक चर्चा इसके मुख्य उद्देश्य हैं लेकिन चूंकि सनातनी हिंदू इसके मालिक हैं, इसलिए जरूरत पड़ने पर धर्म के आंदोलन में शरीक होना उनका कर्तव्य है"।[2] यहां यह महत्त्वपूर्ण है कि पत्र मालिकों के हितों की रक्षा करने की परंपरा अंग्रेजी शासन काल से ही चली आ रही है।

इस युग के प्रारंभिक दो दशकों पर बाल गंगाधर तिलक और उनकी विचारधारा का अधिक प्रभाव रहा क्योंकि भारतीय राजनीति का नेतृत्व उन्हीं के हाथों में था। तिलक स्वयं तो पत्रकार थे ही परंतु राष्ट्रीय आंदोलन में वे अधिक सक्रिय थे। यह युग नवजागरण काल और भारतेंदु युग की पत्रकारिता के मिले जुले प्रभावों का विस्तार था। देश में स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ रहा था इसलिए पत्रों का स्वर राजनीति प्रधान था। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' नारे ने पूरे देश में स्वराज्य की भूख पैदा कर दी। तिलक के सहयोगियों में विपिन चंद्र पाल, अरविंद घोष और लाला लाजपत राय थे। नई पीढ़ी के युवाओं से लैस उनके नेतृत्व ने परवर्ती राजनीतिक परिवेश को नई दिशा दी। 'केसरी' और 'मराठा' जैसे पत्रों के जरिए उन्होंने राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का काम किया। 'केसरी' का स्वर 'मराठा' की अपेक्षा ज्यादा विद्रोही था। बहिष्कार, असहयोग के अतिरिक्त वह लोगों के बीच क़ानून भंग के लिए प्रेरित करता था। इस पत्र ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका जो निभाई थी वह यह कि इसने किसान, व्यापारियों, उद्योगपतियों और ग्रामीणों को एक ही झंडे के

[1] दीवान-ए-सराय ०१, मीडिया विमर्श/हिंदी जनपद, पृ. ०६

[2] वही.

नीचे लाने का काम किया।

तिलक युग में उग्र राष्ट्रीयता की एक हिंसापरक राजनीतिक धारा भी चल रही थी जिसका नेतृत्व भूपेंद्रनाथ दत्त ने 'युगांतर' के माध्यम से किया। हिंसावाद के प्रचार के कारण इन्हें लंबी सजा भी मिली। इसके परिणामस्वरुप हिंदू राष्ट्रीयता और हिंदुत्व प्रखर रूप में सामने आया। आंदोलन का हिंसक स्वरुप सामने आया। इस पत्र के जरिए हिंसात्मक कार्यों को सही ठहराया जा रहा था। राजनीतिक खून और हत्याओं का सिलसिला चल पड़ा और अंतत: इसकी परिणति मदन लाल ढींगरा द्वारा लार्ड कर्जन की हत्या के रूप में हुई। हालांकि तिलक भी उग्र राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे लेकिन वे हिंसावादी आंदोलन के विरुद्ध थे। इस युग के तेजस्वी पत्रकारों में दुर्गाप्रसाद मिश्र, अंबिका प्रसाद बाजपेयी और बाबूराव विष्णु पराड़कर थे। अंबिका प्रसाद बाजपेयी ने कलकत्ते से प्रखर राजनीतिक पत्र 'नृसिंह' का संपादन-संचालन किया। उनके संपादन में 'नृसिंह' ने अंग्रेजों की पक्षपातपूर्ण न्यायव्यवस्था पर, राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर, स्वराज्य और देशी पत्रों द्वारा की जा रही अंग्रेजी शासन की चाटुकारिता पर खूब लेख लिखे गए।

इस युग की हिंदी पत्रकारिता के एक और स्वरुप के बारे में फ्रंचेस्का ओर्सीनी ने मरियोला ऑफरीदी द्वारा संपादित पुस्तक 'लिटरेचर लैंग्वेज एंड द मीडिया इन इंडिया' (१९९२) के हवाले से कहा है कि उस दौर में जिस 'हिंदी बुद्धिजीवी' की भूमिका ठोस शक्ल अख्तियार कर रही थी वह ऐसे लोगों की थी जो शुरुआत में राजनीतिक गतिविधियों के माध्यम से अपनी पहचान बना चुके थे, और इसी के माध्यम से प्रगतिशील पत्रकारिता के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी वैधता स्थापित कर रहे थे। उस वक्त के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' के संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर का उल्लेख वह इस संदर्भ में करती हैं। "पर यह प्रक्रिया एकतरफा नहीं थी। मदन मोहन मालवीय, पुरुषोत्तमदास टंडन, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे कई लोग थे जिन्होंने अपनी पहचान पत्रकारिता के माध्यम से बनाई और उसके बाद ही सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता बने। इस संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे कथित रूप से 'गैर-राजनीतिक' लोग जो सामाजिक साहित्यिक सवालों पर अपना ध्यान केंद्रित कर रहे थे, उन्हें भी अराजनीतिक या पिछड़ा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ओर तो इन्हीं विषयों पर ध्यान केंद्रित कर वह राजनीतिक हस्तक्षेप कर रहे थे, तो दूसरी ओर द्विवेदी अवध के किसानों की हालत, भारतीय अर्थव्यवस्था पर संपत्ति शास्त्र जैसी किताबें लिखकर ब्रिटिश व्यवस्था की आलोचना भी कर रहे थे। दूसरी तरफ यह समझ कि राजनीतिक ट्रेनिंग बुद्धिजीवियों को प्रगतिकामी बना रही थी, अधूरी ही नहीं, गलत भी है। इसका उदाहरण हिंदी प्रदेश के तत्कालीन कई बुद्धिजीवी थे। इन मायनों में परस्पर विरोधाभासी प्रवृत्तियां उस युग के एक पहचान बिंदु थीं। लेकिन भारतेंदु युग से द्विवेदी तक चली आई इस परंपरा ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक से एक निर्णायक मोड़ तब लिया जब मुख्य रूप से राजनीतिक पत्रिकाओं का दौर शुरू हुआ, जिनमें 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'मर्यादा', 'कर्मयोगी', 'कर्मवीर' और 'सैनिक' शामिल थे। माखनलाल चतुर्वेदी- जो माधवराव सप्रे और विष्णुदत्त शुक्ल द्वारा स्थापित 'कर्मवीर' के पहले संपादक थे, ने पत्रकारिता के मिशन को राजनीति से जोड़कर खुद पत्रकारिता को भी नए आयाम दिए"।[1]

हिंदी पत्रकारिता के गांधी युग की शुरुआत १९२० से मानी जाती है। यह माना जा रहा था कि तिलक युग के स्वराज्य के आवाह्न की आवाज गांवों में रहने वाले किसानों और मजदूरों तक नहीं पहुंची थी। गांधी युग में यह महान कार्य संपन्न हुआ जिसकी शुरुआत १९१९ में रौलट एक्ट के विरोध के साथ उठे आंदोलन से हुई। १९१९ में ही जलियावाला बाग हत्याकांड के बाद गांधीजी ने असहयोग की तरफ रुख अपनाया। १९२० के कांग्रेस के कलकत्ता

[1] वही, पृ. ०७

अधिवेशन में गांधी जी की अहिंसात्मक असहयोग नीतियों को स्वीकृति मिलने के बाद असहयोग आंदोलन में तेजी आई। गाँव-गाँव वैचारिक क्रांति का बीज बोने के लिए कार्यकर्ता सक्रिय हो उठे। गांधीजी ने राष्ट्रीय भूमिका पर कार्य किया और मांगल्य के लिए निरंतर उपक्रम करते रहे।

गांधी युग विशेष रूप से राजनैतिक पत्रकारिता का युग था। इस युग में साप्ताहिक, मासिकों के स्थान पर दैनिक पत्रों का प्रकाशन बढ़ रहा था। दैनिक पत्रों के बढ़ते प्रकाशन इस बात के सूचक हैं कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन तेजी के साथ अपने मुकाम पर पहुंचने को तत्पर था। गांधी युग की हिंदी पत्रकारिता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस युग में साहित्यिक पत्रकारिता, राजनीतिक पत्रकारिता से अलग हुई। 'माधुरी', 'मतवाला', 'सुधा', 'चांद', 'हंस' और 'विशाल भारत' जैसी पत्रिकाएँ इसी समय निकलीं जिनमें गांधी युग की मूल चेतना मुखर है। इसके अलावा 'समन्वय', 'अर्जुन', 'जागरण' आदि महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलीं।

स्वयं गांधीजी ने लंदन के 'वेजेटेरियन' अखबार से अपने लेखन की शुरुआत की थी। १९०४ में दक्षिण अफ्रीका से 'इंडियन ओपिनियन' (साप्ताहिक) पत्र शुरू किया। भारत आकर १९२० में उन्होंने अंग्रेजी में 'यंग इंडिया' निकाला। इसके अलावा गुजराती में 'नवजीवन' (१९३२-३३), हिंदी में 'हरिजन सेवक' (१९३३), 'हरिजन बंधु' आदि के माध्यम से अपने विचारों को उन्होंने देश भर में फैलाया।

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में स्वतंत्रता आंदोलन के एक और सारथी भीमराव अंबेडकर की पत्रकारिता का भी योगदान है। अंबेडकर ने १९३० ई. में 'जनता' का संपादन शुरू किया। 'जनता' का प्रकाशन काल डॉ. अंबेडकर के जीवन की सर्वाधिक जिम्मेदारियों, व्यस्तताओं और संघर्ष का काल रहा है। 'जनता' के करीब तीन साल बाद गांधीजी ने 'हरिजन' निकाला। 'हरिजन' के पूर्व की गांधी जी की पत्रकारिता में दलित प्रश्नों को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था। 'हरिजन' की पत्रकारिता के जरिए गांधीजी ने दलित प्रश्नों को प्रमुखता से उठाया। गांधी और अंबेडकर के बीच स्वयं को दलितों का नेता होने के लिए प्रतिस्पर्धा चली। १९३० से १९३२ तक चले गोलमेज सम्मलेन में दोनों ने स्वयं को दलितों का नेता ठहराने की पुरजोर कोशिश की लेकिन गांधी यह कर सकने में असमर्थ रहे और अंतत: अंबेडकर को दलितों का नेता स्वीकार किया गया। यहां यह तथ्य ध्यान देने लायक है कि गांधी ने 'हरिजन' की शुरुआत एक राजनीतिक एजेंडे के तहत और 'जनता' की प्रतिक्रया में शुरू की थी ताकि वह दलितों के एक विशाल वर्ग का समर्थन हासिल कर सकें और स्वयं को दलितों के बीच भी उनके नेता के रूप में स्थापित कर सकें।

गांधी और अंबेडकर दोनों ही १९२० से पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरे थे। गांधी 'यंग इंडिया' के साथ, और अंबेडकर 'मूकनायक' के साथ सामने आए। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण दोनों ही संवेदनशील थे क्योंकि वह समय प्रथम विश्व युद्ध के उतार का समय था। 'जनता' (१९३०) और 'हरिजन' (१९३३) के उद्भव का काल द्वितीय विश्व युद्ध (१९३९-४५) के आगाज का समय था। पूरे विश्व के जन-जीवन के परिवर्तन के तूफानी दिन थे और भारत में भी अस्थिर ही था क्योंकि स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था और भारतीय नेतृत्व और ब्रिटिश हुक्मरानों के बीच निर्णायक स्थितियां थीं। दोनों की आरंभिक पत्रकारिता में ज्यादा मतभेद तो नहीं दिखता लेकिन 'जनता' और 'हरिजन' में उनके वैचारिक मतभेद खुलकर सामने आए। अंबेडकर ही एकमात्र ऐसे पत्रकार थे जो गांधी की आंधी में नहीं उखड़े। उनका मतभेद यह था कि गांधी जिन्हें राष्ट्रपिता और बापू जैसे अलंकरण से नवाजा जा रहा है उनके साथ देश का ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद भी खड़ा है। कांग्रेस के एजेंडे में अछूतों के लिए कोई योजना न होने के कारण और हिंदू महासभा में दलित विषयक मुद्दों को लेकर भी काफी विरोध रहा। अंबेडकर ने 'बहिष्कृत भारत' (१९२३) के जरिए भी दलित प्रश्नों को

लगातार उठाया।

गांधी युग की पत्रकारिता महिलाओं के लिए भी काफी महत्त्व की रही। यह उस युग की पत्रकारिता का ही असर था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन (१९३०-३१) के दौरान लगभग बीस हजार महिलाएं जेल गईं। गांधीजी के नेतृत्व में सामूहिक भागीदारी ने महिलाओं को पुरुषों से समानता का बोध दिया। हालांकि गांधीजी के स्त्री दृष्टि को लेकर कई तरह के मतभेद भी हैं क्योंकि गांधीजी महिलाओं की भागीदारी पुरुषों के द्वारा तय की गई सीमा और पुरुषों के नेतृत्व के भीतर ही आंदोलन में महिलाओं का सहयोग लेने के पक्षधर थे। लेकिन इसके बावजूद यह युग महिलाओं के लिए एक नए युग की तरह तरह था। इसमें कई महिला संगठनों का राष्ट्रीय स्तर पर निर्माण हुआ जिनमें वीमेंस कौंसिल ऑफ इंडिया, मुंबई (१९२०), ज्योति संघ (१९३४), कस्तूरबा गांधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट जैसे कई संगठन और संस्थाए बनीं लेकिन सही अर्थों में जिस राष्ट्रीय संगठन का उदय हुआ वह था, आल इंडिया वीमेंस कॉन्फ्रेंस, पूना (१९२७) जो भविष्य में और भी बड़ी और स्थाई संस्था साबित हुई।

चूंकि यह तथ्य पूरी तरह साफ है और कई प्रमाणों के साथ इतिहास में भी दर्ज है कि गांधीजी हमेशा पूंजीपतियों को साथ लेकर चले। दरअसल गांधी और पूंजीवादियों के बीच अन्योनाश्रय संबंध था। गांधी पूजीपतियों से आंदोलन के लिए पैसा चाहते थे। दूसरी तरफ पूंजीपति इसलिए गांधीजी के साथ थे क्योंकि उन्हें भविष्य में स्वतंत्र भारत की प्रत्येक गतिविधि में हस्तक्षेप करने का अवसर चाहिए था। चूंकि गांधी उस समय के स्वतंत्रता आंदोलन के सबसे प्रबल नेतृत्त्वकर्ता थे और वह एक ऐसा समय था जब देश को यह अनुमान हो गया था कि ब्रिटिश हुकूमत अब ज्यादा दिन तक नहीं रहने वाली है अर्थात लोगों में यह अहसास पैदा होने लगा था कि अब सुनहरे दिन आने वाले हैं। इन दोनों बातों को यदि एक साथ समेटा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि देश का पूंजीपति वर्ग उस दिन की बाट जोह रहा था कि गांधी और उनके लोग स्वतंत्र भारत के नेतृत्त्वकर्ता हों ताकि भविष्य में उनका राजनीतिक हस्तक्षेप भी बना रहे और भारत के भविष्य को पूंजीवादी तरीके से ढाल सकें या ऐसा अधिकार उनके पास रहे ताकि उनकी पूंजी, उद्योग सहित उनके किसी चीज पर किसी तरह का संकट न आए। इस बात को ध्यान में रखते हुए पूंजीपतियों-उद्योगपतियों ने पत्र निकाले और यह सिलसिला स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक चलता रहा। इस समय पूंजी वाले घरानों से सबसे अधिक पत्र निकले। 'स्वतंत्र भारत', 'हिंदुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'धर्मयुग', 'अमर उजाला', 'राजस्थान पत्रिका' आदि पत्रों के साथ पत्रकारिता का स्वरुप भी बदला और पत्रों के प्रकाशन ने उद्योग का रूप ले लिया।

१५ अगस्त १९४७ के पश्चात भारत के जीवन के सभी क्षेत्रों में आमूलचूल परिवर्तन हुए। पत्रकारिता पर इसका असर पड़ना स्वाभाविक था। 'आजाद' भारत ने जीवन के तमाम क्षेत्रों में अपने एजेंडे तय किए। इसलिए प्रेसमालिक भी नए एजेंडे के निर्माण में जुट गए। क्योंकि देश को आजादी दिलाने का उनका एजेंडा खत्म हो चुका था। पूर्व में यह बात आ चुकी है कि आंदोलन काल में राजनीति और पत्रकारिता का घनिष्ठ संबंध था। इसलिए अब स्वतंत्र भारत की राजनीति से प्रेस का संबंध होना स्वाभाविक था। राष्ट्र के एजेंडे के विरुद्ध पत्रकारिता न तो सैंतालीस के पहले थी और न ही उसे सैंतालीस के बाद होना चाहिए था। इस प्रकार 'आजाद' भारत की पत्रकारिता का एजेंडा अब बदल चुका था। प्रेस, पूंजी और सत्ता, तीनों का बहुविमीय संबंध आज भी देश के भविष्य को तय कर रहा है।

संदर्भ-सूची

1. जेफ्री, रोबिन : ***भारत की समाचार पत्र क्रांति,*** भारतीय जनसंचार संस्थान प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४
2. मिश्र, कृष्णबिहारी : ***हिंदी पत्रकारिता***, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००४
3. जोशी, रामशरण : ***मीडिया-मिशन से बाजारीकरण तक***, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, २००८
4. बेचैन, श्यौराज सिंह : ***अंबेडकर, गांधी और दलित पत्रकारिता,*** अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१०
5. वैदिक, डॉ. वेदप्रताप (संपा.) ***: हिंदी पत्रकारिता- विविध आयाम भाग-एक,*** हिंदी बुक सेंटर नई दिल्ली, २००६
6. वैदिक, डॉ. वेदप्रताप (संपा.) : ***हिंदी पत्रकारिता- विविध आयाम भाग-दो,*** हिंदी बुक सेंटर नई दिल्ली, २००६
7. ओर्सीनी, फ्रंचेस्का : ***हिंदी का लोकवृत्त (अनु.- नीलाभ),*** वाणी प्रकाशन, २०११
8. श्रीधर, विजयदत्त : ***भारतीय पत्रकारिता कोश (खंड-एक),*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली २००८
9. श्रीधर, विजयदत्त : ***भारतीय पत्रकारिता कोश (खंड-दो),*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली २००८
10. जोशी रामशरण (संपा.) : ***वैश्वीकरण के दौर में,*** समयांतर प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६.
11. चतुर्वेदी जगदीश्वर, सिंह सुधा (सं.-संपा.) : ***स्वाधीनता-संग्राम हिंदी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र,*** अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, २००६.
12. गौतम सुरेश, गौतम वीणा (संपा.) : ***हिंदी पत्रकारिता: कल, आज और कल,*** सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली २००१.
13. जोशी, रामशरण : ***मीडिया विमर्श,*** सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, २००८.
14. शिलर हरबर्ट आई., मिश्र वंदना (अनु.) : ***बुद्धि के व्यवस्थापक,*** ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली. २०१०.
15. बाजपेयी, अंबिका प्रसाद : ***समाचार पत्रों का इतिहास***, ज्ञानमंडल प्रकाशन, वाराणसी
16. नीनन, सेवंती : ***हेडलाइंस फ्रॉम हार्टलैंड***, सेज पब्लिकेशन, २००७
17. नटराजन, जे. : ***भारतीय पत्रकारिता का इतिहास***, चेतनक्रांति आर.(अनु.), प्रकाशान विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, २००२
18. कांत, डा. मीरा : ***अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता,*** क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली,
19. सिंह, मुरली मनोहर प्रसाद (संपा.), मालवीय ओमप्रकाश (अनु.) : ***संचार माध्यम और पूंजीवादी समाज,*** ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली. २००६.
20. जोशी पूरनचंद्र, सिंह सुनील कुमार (अनु.) : ***संस्कृति विकास और संचार क्रांति,*** ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली. २००१.
21. 'प्रेरणा', त्रैमासिक, साहित्यिक पत्रकारिता अंक, जनवरी-जून २०१२.
22. मिश्र, अखिलेश : ***पत्रकारिता: मिशन से मीडिया तक***, राजकमल प्रकाशान, नई दिल्ली, २००४.
23. मिश्र, कृष्णबिहारी, ***पत्रकारिता: इतिहास और प्रश्न***, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४.
24. पचौरी, सुधीश : ***भूमंडलीकरण, बाजार और हिंदी***, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४.

हिंदी पत्रकारिता का धर्म : अतीत, वर्तमान और भविष्य

डॉ. अजीत कुमार पुरी
सहायक प्रोफेसर,काशी हिंदू
विश्वविद्यालय, वाराणसी
सम्पर्क- 9968637345
ईमेल- akpuri.bhu@gmail.com

सारांश हिंदी पत्रकारिता ने मानव-मूल्य,जीवन-मूल्य,सृष्टि के समस्त जीवों के उत्थान के लिए, उसके संरक्षण के लिए काम किया। इसलिए यदि संसार के पत्रकारिता के इतिहास को देखा जाए, भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो पत्रकारिता हुई है, तो कहीं ना कहीं हिंदी की जो पत्रकारिता है, उसका जो इतिहास है, उसमें जो जीवन मूल्यों को संरक्षित करने की उसकी प्रवृत्ति है,उसका एक बहुत गौरवपूर्ण स्थान दिखाई देता है।

बीज शब्द: *पत्रकार, पत्रकारिता, धर्म, समाज*

शोध आलेख

आज की परिस्थितियों को देखते हुए इस विषय पर विचार किया जाना चाहिए। जहां तक हिंदी पत्रकारिता की बात है, इसका इतिहास अत्यंत गौरवशाली रहा है। वैसे यदि हम भारत की चिंतन परंपरा में सूचनाओं के आदान-प्रदान की बात करते हैं तो सर्वप्रथम महर्षि नारद का नाम लेते हैं। इस उपलक्ष्य में नारद जयंती भी मनाते हैं। पत्रकारिता के आदिपुरुष के रूप में महर्षि नारद जी को स्वीकार किया जाता है। लेकिन हिंदी पत्रकारिता की जो बात है वह आधुनिक काल में प्रेस के अविष्कार से हुआ। ब्रिटिशर्स के आगे पीछे जैसे डच,पुर्तगाली,फ्रांसीसी आदि चारों आए तो इन्होंने बाइबल का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करके ईसाईयत के प्रचार प्रसार करने का जो उपक्रम तथा अभियान चलाया। जिसकी प्रतिक्रिया में,प्रत्युत्तर में भारतीय नवजागरण अपने देशीय स्वरूप में पनपा। सभी को आवश्यकता थी,अपने विचारों के प्रचार-प्रसार करने की; ईसाइयत भारत में अपनी जड़ें जमाना चाहती थी और उस समय के भारतीय जो बुद्धिजीवी थे ,भारतीय संस्कृति चेता जो थे, वह उनका प्रतिकार करना चाहते थे। ऐसी परिस्थितियों में भारत देश में पत्रकारिता जन्म लेती है। अंग्रेजी पत्रकारिता की प्रथम भाषा बनी। धीरे धीरे बंगाल पत्रकारिता का प्रमुख क्षेत्र बनता है। हिंदी भाषा-भाषी संपूर्ण भारत में व्याप्त रहे हैं। एक समय था कि बंगाल में उनका बड़ा बोलबाला था तो हम देखते हैं कि हिंदी पत्रकारिता हिंदीतर प्रांतों से प्रस्फुटित होती है।

30 मई 1826 हिंदी पत्रकारिता की दृष्टि से कालजयी तिथि है,जब युगल किशोर शुक्ल "उदंत मार्तंड" का संपादन करते हैं। यह एक क्रांतिकारी एवं महत्वपूर्ण पत्रिका थी। किंतु अर्थ की समस्या से जूझते हुए यह अल्पावधि में ही बंद हो गई। लेकिन इस पत्रिका ने जो अक्षुण्ण अलख जगाई,वह भारतीय जनमानस में दैदीप्यमान रहा। कालांतर में अपनी सीमित संसाधनों के बावजूद भारतीय बौद्धिक चेतना अपनी जगह बनाती है। फिर बंगाल से निकलकर के पूरा भारत हिंदी पत्रकारिता का क्षेत्र बन जाता है। इसी क्रम में १८२५ में शिवप्रसाद सितारे हिंद "बनारस"अखबार निकालते हैं। भारतेंदु युग का आविर्भाव हिंदी पत्रकारिता के आविर्भाव का युग था। हम सभी जानते हैं कि भारतेंदु मंडली के साहित्यकार एक प्रबुद्ध साहित्यकार होने के साथ-साथ प्रखर पत्रकार भी थे। बालकृष्ण भट्ट,बालमुकुंद गुप्त,प्रताप नारायण मिश्र आदि कवि एवं साहित्यकार के साथ-साथ समर्थ पत्रकार भी रहे। तदुपरांत द्विवेदी युग के प्रारंभ में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी 1903 में सरस्वती का प्रकाशन करते हैं तो उनके ध्येय में भी हिंदी साहित्य के साथ साथ हिंदी पत्रकारिता के प्रति निष्ठा और सेवा

का भाव अंतर्निहित रहा। गणेश शंकर विद्यार्थी, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि अनेक बुद्धिजीवी लोग पत्रकारिता के माध्यम से साहित्य में प्रवेश करते हैं।

हिंदी पत्रकारिता अपना एक "निज-धर्म"लेकर चलती है। आजकल देखा जाए तो भारत में बहुत लोगों का मन धर्म को लेकर खराब हो जाता है। बहुतों की स्थिति "छुई-मुई" जैसी हो जाती है।[1] धर्म की बात अर्थात सत्य सनातन की बात। धर्म कोई रिलीजियस या पंथवादी एकनिष्ठ विचार नहीं है। हर व्यक्ति का, हर समूह का एक अपना धर्म होता है अर्थात अपना एक कर्तव्य होता है। उदाहरण स्वरूप जब श्री लक्ष्मण को शक्ति लगती है और सुषेण वैद्य को हनुमान जी लेकर आते हैं तो वह कहता है कि "मुझे चिकित्सा नहीं करनी चाहिए मैं लंकाधिपति का राजवैद्य हूं। मुझे शत्रु की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए; और आपको भी मेरे ऊपर विश्वास नहीं करनी चाहिए क्योंकि मैं तो विरोधी पक्ष का वैद्य हूं।" [2] इस पर हनुमान जी एवं विभीषण आदि वैद्य के धर्म की बात करते करते हैं और कहते हैं कि"वैद्य और रोगी के बीच में एक अदृश्य संबंध होता है,विश्वास उसका आधार होता है इसलिए वैद्य को यह नहीं देखना चाहिए कि रोगी का काल, देश, परिस्थितियां क्या हैं? वह कौन है? कहां का है? किस कुल और वंश का है? इस आधार पर तो रोगी की चिकित्सा हो ही नहीं सकती; रोगी केवल रोगी होता है उसके प्रति वैद्य का धर्म है कि वह रोगी को हर प्रकार से निरोग करें। रोगी का परिचय तो द्वितीयक है। रोगी के निरोग होने के उपरांत भी परिचय प्राप्त किया जा सकता है।" ठीक उसी प्रकार हम भारतीय ज्ञान परंपरा में देखते हैं-राजधर्म, लोकधर्म आदि का उल्लेख एवं चर्चा विशद रूप में प्राप्त होती है।

ऐसे में पत्रकारिता का धर्म क्या हुआ? इस पर भी विचार करना चाहिए। इस संदर्भ में बार-बार आख्यान-व्याख्यान होने ही चाहिए। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन जब चल रहा था उस समय तक ब्रिटिश राज्य लगभग आधे भारत पर व्याप्त था; शेष देशी रियासतें स्वतंत्र थी।[3] उनकी अपनी प्रशासनिक व्यवस्थाएं थी। ब्रिटिशों से उनका अपना अनुबंध था; जैसे कि आज भारत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का सदस्य होकर के भी एक स्वतंत्र राष्ट्र है, ठीक उसी प्रकार देशी रियासतों का संबंध भी अंग्रेजों से था। अंग्रेजी राजदूत देशी प्रांतों में आते जाते थे किंतु उनकी आंतरिक संरचना एवं उनका शासन उनके ही अनुकूल था।1857 के बाद ब्रिटिश संसद के द्वारा अनुमोदित ब्रिटिश शासन उतने ही हिस्सों तक था जहां तक लार्ड डलहौजी ने राज्य हड़पने की नीति के तहत ले लिया था। शेष भारत अपने अनुसार जीवन जी रहा था। तत्कालीन समय में जो उस समय की पत्रकारिता थी, वह ब्रिटिश शासन का विरोध इसलिए नहीं कर रही थी कि ब्रिटिशर्स अन्य है और उनके हर विचार का विरोध करना चाहिए। वह विरोध इसलिए कर रहे थे क्योंकि अंग्रेज झूठ से, छल से,कपट से भारत के लोगों को ठग करके एन केन प्रकारेण हिंसा से ,उत्पात से अपना शासन यहां बना रहे थे जो कि मानवोचित नहीं था ,यह असभ्यता थी। यह किसी सभ्यता का सूचक नहीं था , मानव धर्म के विरुद्ध था , सृष्टि के नियमों के विरुद्ध था ; इसलिए तत्कालिक पत्रकारों ने ब्रिटिश शासन का पुरजोर विरोध किया।

स्वाधीनता यदि अंग्रेजों के लिए प्रिय है, फ्रेंच के लिए प्रिय है, जर्मन के लिए प्रिय है तो भारत के लिए भी प्रिय होनी चाहिए। समग्रता में प्रत्येक देश के लिए प्रिय होनी चाहिए। इसलिए भारतीय पत्रकारिता ने उस समय का जो अपना धर्म निभाया या अपनाया वह था- अनाचार का, अत्याचार का, झूठ का, छल का,कपट का विरोध-प्रतिरोध करना था। उसने वह किया और सफलतापूर्वक किया। इसलिए ब्रिटिश राज्य के उन्मूलन के केंद्र में कहीं ना कहीं जो हिंदी

[1] विद्यानिवास मिश्र – अनछुए बिंदु

[2] रामचरितमानस लंकाकांड

[3] 1857 के युद्ध के बाद जब ईस्ट इंडिया कंपनी भंग हो गई और भारत का शासन सीधे ब्रिटिश संसद के द्वारा होने लगा था तबसे भारत कि एक इंच भूमि पर ब्रिटिश ने अतिक्रमण नहीं किया।

पत्रकारिता,हिंदी प्रदेशों में व्याप्त थी उसका भी बहुत बहुत बड़ा योगदान है।

पत्रकारिता के इसी ताप के भय से अंग्रेजों ने बहुत से नियम बनाएं पत्रकारिता पर रोकथाम करने के लिए; मुख्य था-वर्नाकुलर एक्ट। इस एक्ट के तहत उस समय कई सारे समाचार पत्रों को बंद कर दिया गया जैसे 'प्रताप' 'युवक' आदि। "हिंदी प्रदीप" 33 वर्षों तक निकला बालकृष्ण भट्ट की अगुवाई में प्रयागराज से। विचारणीय है कि उस समय इतने अल्प संसाधनों के बावजूद इतने लंबे लंबे समय तक पत्र पत्रिकाएं निकलते थे। उसमें पत्रकार प्रमुखता से यह ध्यान रखता था कि "किस तरह से अपने पत्र में संसार भर की चिंतन के क्षेत्र की जो उत्कृष्ट चीजें हैं उसको ले आए,भारत की जो मूल समस्या है उसको रखे; नवजागरण की जो वाणी प्रस्फुटित हो रही थी स्वामी दयानंद के नेतृत्व में उसको स्थान दे। हिंदी भाषा का जो स्वरूप बन रहा था खड़ी बोली के माध्यम से, उसको भाषाई रूप से सजाएं सवारें सुगठित करें। इस तरह से देश काल में उपस्थित परिस्थितियां थीं- भाषायी, धार्मिक,सांस्कृतिक,राजनैतिक। और उस समय जो पत्रकारिता की भूमिका थी, उस में पत्रकारों ने अपना योगदान दिया और समय की मांग की पूर्ति का, पुरजोर प्रयास किया। जिसका परिणाम है कि अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा।

पत्रकारिता के प्रयास ने बहुत बृहद् स्तर पर आंदोलनों को खड़ा किया। कांग्रेस ने समझौते और आंदोलन दोनों की नीति अपनाई। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज कांग्रेस को समझौते के तहत राज्य देकर चले गए। स्वतंत्रता के पूर्व; जो स्वप्न पत्रकारों, आंदोलनकारियों ने देखा था,उस स्वप्न को साकार करने के लिए पत्रकार लिखते रहे,जो योजनाएं होनी चाहिए उस पर लेखन जारी रहा।

राष्ट्रधर्म 1947 में लखनऊ से प्रकाशित हुआ और अद्यतन अधुनातन बना हुआ है। भाउराव देवरस और दीनदयाल उपाध्याय की योजना थी कि एक ऐसा पत्र निकले जो राष्ट्र की आकांक्षा कोई स्थान दे। यहां "राष्ट्र" शब्द पर विचार करना आवश्यक है। अंग्रेजी भाषा का दुष्प्रभाव होने से, अंग्रेजी रूपांतरण करके लोग इसका अर्थ निकाल लेते हैं कि राष्ट्र 'नेशन' है। जबकि 'नेशन' राष्ट्र नहीं है। राष्ट्र तो वह अमूर्त चेतना है जो किसी निश्चित भूभाग में रहने वाले लोगों के हृदय में निवास करती है। भारत में इस चेतना का विकास लाखों वर्ष पूर्व हो चुका है। संकल्प पाठ हम करते आ रहे हैं उसमें सृष्टि की पूरी आयु की गणना होते-होते वर्तमान काल तक आ करके फिर हम संकल्प लेकर कोई काम करते हैं। संकल्प पाठ क्या है? उसे भी समझना चाहिए। मेरे कहने का आशय यह है कि जो राष्ट्र धर्म है वह राष्ट्र की जो आकांक्षा है,चेतना है उसको वाणी देने का जो उद्योग है वो होना चाहिए। ऐसा पंडित दीनदयाल उपाध्याय जो भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्यों में से थे और प्रख्यात विचारक थे तथा भाउराव देवरस तत्कालीन सर संघचालक थे;दोनों का मानना था। कालांतर में राष्ट्र धर्म के संपादक का दायित्व अटल बिहारी वाजपेयी जी के मजबूत कंधों पर आ गया। वाजपेयी जी ने हिंदू तन मन हिंदू जीवन जैसे दिव्य पंक्तियों के साथ राष्ट्रधर्म का संपादन प्रारंभ किया। राष्ट्रधर्म का अपना एक ऐतिहासिक अवदान रहा है। हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में जो आज भी अद्यतन बना हुआ है। इस तरह से राष्ट्रधर्म भी हिंदी पत्रकारिता के जो बनाए हुए मार्ग थे जिस पर चलकर के भारत ने स्वाधीनता की लड़ाई मानव मात्र की आजादी की लड़ाई को लड़ा और स्वाधीनता प्राप्त किया, पर चला। स्वाधीनता के बाद राष्ट्र कैसा हो? इसको लेकर के विचार चलता रहा। स्वर्गीय दीनानाथ मिश्र, भानुप्रताप शुक्ल आदि राष्ट्रधर्म के प्रख्यात स्तंभ लेखक रहे, जिनके विचारों का प्रभाव रहा कि भारत की स्वाधीनता के बाद भारत में एक द्वितीय नवजागरण आया कि जब भारत अपने खोए हुए स्वरूप को पाने के लिए चल पड़ा। और हम देखते हैं कि 1992 तक आते-आते जो असंभव से कार्य थे, जो यह माने जाते थे कि भारत उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता, वह अपना खोया हुआ गौरव नहीं प्राप्त कर सकता; ये जो स्वतंत्रता के बाद की भारतीय

पत्रकारिता और उसकी जो राष्ट्र के प्रति समर्पण है उसके प्रभावस्वरूप एक ऐसा जन आंदोलन,जो अयोध्या जन आंदोलन के नाम से विख्यात है, चला। इसको हम नकार नहीं सकते; यह भारतीय हिंदी पत्रकारिता का ही एक प्रभाव है,उसका बल है जिसमें उच्च कोटि के लेखकों ने एक ऐसा जनमानस तैयार किया कि आज हम देख पा रहे हैं कि अयोध्या अपने पुराने गौरव को प्राप्त कर रही है। वह जो एक ढांचा, टीस दे रहा था हिंदू समाज को, 450 वर्षों के पश्चात भी, उसको हटा दिया गया जनता द्वारा ; और फिर लंबी लड़ाई के बाद न्यायालय के द्वारा वह स्थान हिंदू समाज को प्राप्त हुआ। तो क्या इसमें हिंदी पत्रकारिता का कोई योगदान नहीं है? यह ऐसे ही हो गया? यह ऐसे ही नहीं हुआ,यह चिंतक, विचारशील जो लेखक थे,पत्रकार थे, जिन्होंने चीजों को बार-बार सामने रखा, अदम्य निष्ठा से तो उस के नाते यह सब संभव हुआ।

जहां तक वर्तमान पत्रकारिता है यदि उसकी स्थिति को देखा जाए तो चिंतनीय भी है,उत्साहजनक भी है; दोनों स्थितियां हमारे सामने दिखाई देती है। लेकिन इससे पहले अंग्रेजों के जमाने से चले आ रहे दो शब्द हैं मैं उनकी व्याख्या करना चाहूंगा, जहां भारतीय पत्रकारिता उसका सामना नहीं कर पा रही, उसका जवाब नहीं दे पा रही; वह शब्द है- भीड़ और दंगा। अंग्रेजों का भारतीय समाज के साथ कोई लगाव नहीं था और लगाव हो भी नहीं सकता था क्योंकि वे नौकरी करने के लिए पहले यहां आए और उसके बाद झूठ का सहारा लेकर ईस्ट इंडिया कंपनी के जो लुटेरे चोर उचक्के टाइप के थे, उन्होंने भारतीय राजनैतिक परिस्थितियों का लाभ उठा कर के यहां शासन ले लिया। उनके लिए समाज में घटने वाली जो घटनाएं थी तीज , त्यौहार थे, व्रत थे, उपवास थे, कुंभ का स्नान आदि किसी भी पर्व में यदि बहुत बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे हो रहे थे तो उसको भी भीड़ के रूप में देखते थे; क्योंकि वह तो आत्मीयता से शुन्य थे इसलिए अंग्रेजों ने उन्हें चिन्हित करने का कष्ट भी नहीं उठाया। अतः भीड़ बोल कर के काम चला लेते थे। भेड़ और भेड़ में बहुत अंतर नहीं है; भीड़-भेड़- एक के पीछे एक।

वास्तव में भारतीय हिंदू समाज कई श्रेणियों, वर्गों, खापों, पंचायतों इन सब भौतिक इकाइयों में बंटा हुआ है अर्थात संयोजित है। जैसे शरीर के विभिन्न अंग हैं, वैसे ही सब समाज के अंग हैं। भारत में यह परंपरा रही है कि समूह को उसके नाम से संबोधित करना। वर्णाश्रम में चार समूह बनाए- ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शूद्र। कर्म के आधार पर संयोजित यह एक बड़ा वर्ग था। फिर जैसे जैसे पेशे बनते गए वैसे वैसे जातियां बढ़ती गई; वैसे-वैसे संबोधन बढते गए। और आश्रमों में तो विदित है-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,वानप्रस्थ, संन्यास यह सभी संबोधन हुए। विद्यार्थी,शिक्षक आदि अन्य कर्मगत संबोधन भी हुए, होते रहे हैं। कोई ऐसा वर्ग नहीं था जिसकी कोई पहचान न हो। उसके पहचान के साथ उसका संबोधन करना हमारा अपना तरीका रहा है। नहीं कुछ तो आत्मिक संबंध से "भाई" कहकर संबोधित कर लेते हैं। "संतो! आई ज्ञान की आंधी" [1] कबीर कहते हैं न; इसमें भी संबोधन है। लेकिन अंग्रेजों ने जो एक शब्द दे दिया क्योंकि वह तो आत्मिक संबंध शून्य थे; भीड़!! अब फिर वह भारतीय पत्रकारिता में चल पड़ा। अंग्रेजों को गए 73-74 साल हो गए 1947 के बाद से, लेकिन आप समाचार पत्र उठाकर देखें तो पत्रकार और समूह के बीच की जो दूरी है,खाई है वह आपको दिख जाएगी। वह लिखता है-लाखों की भीड़ इकट्ठी हो गई। जबकि वह देख रहा है कि वह एक भेष में,चिंतन में,एक विचार में जा रहे हैं चाहे वे कांवडिए हों, चाहे कुंभ के यात्री हों, चाहे अन्य देशाटन करने वाले हों। लेकिन आज भी समाचार पत्र एक बार उठा कर के देखें तो संबोधन क्या मिलेगा कि भीड़ !! हजारों की भीड़ इकट्ठी हो गई। ऐसे में जो संबंध है वह तो दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। एक परायेपन के साथ संवाददाता जो है, खबर को अपने ही देश के एक दूसरे भाग में प्रस्तुत कर रहा है। वर्तमान हिंदी पत्रकारिता में यह जो परायेपन की स्थिति है, इसको विदा होना चाहिए। एक संवाददाता के लिए यह

[1] श्यामसुंदरदास – कबीर ग्रंथावली

आवश्यक है कि वो उस समूह को उसके नाम से संबोधित करके, समाचार या खबर बना करके, उसको प्रस्तुत करे।

पत्रकारिता से इसी तरह एक और शब्द पनपा है- दंगा। अब यह किस भाषा का शब्द है? कहां से निकला है? उसकी खोज की जानी चाहिए। ईस्ट इंडिया कम्पनी जो थीं, जब समाज में स्थितियां हिंसक रूप ले लेती थी,हिंदू और मुसलमान समुदाय के बीच संघर्ष की स्थिति बन जाती थी,तो वे इसे दंगे शब्द का उपयोग करते थे। इससे चीजें स्पष्ट नहीं हो पाती हैं कि समस्या के मूल में क्या है?, अंग्रेजों को तो समस्या का समाधान करना नहीं था, उनके लिए तो कोई हिंदू हो या मुसलमान उनसे कोई मतलब नहीं था। उनको तो अधिक से अधिक कर इकट्ठा करना था, धन का दोहन करना था। और इसलिए लॉ एंड ऑर्डर के नाम पर ऐसे चीजों को वे दबा देना चाहते थे। भारतीय प्रशासन फिलहाल अभी उसी "मूड" में है। जब भी कोई उपद्रव होता है तो कर्फ्यू लग जाता है। समाचार पत्र ऐसी स्थितियों का जो चित्रण करते हैं,खबर बनाते हैं; तो छपते क्या हैं कि फला जगह में दंगा हो गया। अब आप पता करते रहिए, खोजते रहिए कि समस्या क्या है? तथा उसका मूल क्या है? उसमें दो पक्ष कौन है? झगड़ा क्यों हुआ? आपको पता ही नहीं चलेगा, आप एक भ्रम का शिकार होकर रह जाएंगे।[1]

हिंदी पत्रकारिता के लिए यह बहुत दयनीय स्थिति है। घटना जिस प्रकार से घटे उसको समाज के सामने उसी रूप में आना चाहिए और घटना शुरू कैसे हुई? घटना का अभियुक्त कौन है? इसका विवरण स्पष्ट रूप से समाज के सामने आना चाहिए; ताकि समाज को सही चीज का बोध हो सके। 'दंगा' शब्द भ्रम का निर्माण करता है। 'भीड़' भी भ्रम का निर्माण करती है। लेकिन हम जब इसका एक पक्ष और देखते हैं,तो पाते हैं कि हिंदी पत्रकारिता में ऐसा वर्ग भी,ऐसा समूह भी उभरा, राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ जिसने चिन्हित किया चीजों को; और अयोध्या आंदोलन जब तक चला, एक बहुत विशाल समूह जो श्री राम मंदिर की आकांक्षा लेकर आंदोलन करता था; उस समूह को "कारसेवक" के रूप में चिन्हित किया गया। विश्व हिंदू परिषद ने उस समय "कारसेवक" नाम से उपक्रम चलाया तो कारसेवक एक नया शब्द भारतीय हिंदी पत्रकारिता में प्रवेश कर गया। और इसके समानांतर "रामभक्त" शब्द भी चला;जैसे रामभक्तों ने यहां सभा की, यहां आंदोलन किया, यहां रैली निकाली। इस तरह से राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत जो समूह रहा,राष्ट्रधर्म उसकी अगुवाई कर रहा था;उसने हिंदी पत्रकारिता में नए नए शब्द गढ़े।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिंदी पत्रकारिता का आज का जो धर्म है,उसका जो कर्तव्य है,उस पर तो कुछ समूह निसृह भाव से चल रहे हैं,राष्ट्र में अपनी भूमिका निभा रहे हैं; किंतु दूसरा पक्ष भी है जो पत्रकार के भेष में क्रीतदास का आचरण कर रहे हैं। क्रीतदास अर्थात धन लेकर के चीजों को करना। अगर हम प्रकाशित समाचार पत्रों की बात करें तो वर्तमान में जो उसकी स्थिति है; अगर भाषा के स्तर पर देखें, तो एक समय में वह उर्दू से आक्रांत रही, अरबी-फारसी और हिंदी के शब्द से मिलकर एक भाषा बनी जो उर्दू कहलाई; हम सब जानते ही हैं वह कोई नई भाषा नहीं थी, लिखने की स्क्रिप्ट उसकी पर्शियन थी, इसलिए केवल इतना अंतर होने से उसे उर्दू के नाम से अभिहित किया गया। इसी आधार पर पाकिस्तान बना है;यह सारा देश,समाज जानता है। अरबी-फारसी के शब्दों की भरमार हिंदी में हो जाए,ऐसा एक वर्ग चाहता था; और उसके लिए यत्न भी करता था। लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी जैसे प्रतापी, तपस्वी पुरुषों का यह अवदान है,उनका श्रम है,उनका पुरुषार्थ है, तप है कि खड़ी बोली हिंदी इन षड़यंत्रों से मुक्त हुई और विशुद्ध रूप से उसका एक स्वरूप बना, साहित्य में,पत्रकारिता में और काव्य में। ऐसे में हिंदी पत्रकारिता ने हिंदी भाषा को अपने

[1] यह स्थिति आज भी बनी हुई है। पत्रकार यह बता सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं कि आखिर कोई समूह जो हिंसा या फसाद कर रहा है तो उसकी पहचान क्या है। कानूनों जकडन बरकरार है।

उत्कर्ष तक पहुंचाया। हिंदी के पत्रकारों ने उस समय तो लड़ लिया,किंतु आज उर्दू तो नहीं,पर अंग्रेजी भाषा जो है, वह हिंदी को आक्रांत कर रही है। मुझे याद है 1995 में जब मैं दिल्ली गया था, तो नवभारत टाइम्स प्रकाशित होता था वहां से हिंदी में ; और आज 25 वर्षों के बाद भी जारी है। अगर आपको प्रतियां मिल जाए तो आप देखें दोनों को,आपको समझ में नहीं आएगा कि यह जो प्रतियां अब निकल रही हैं,क्या वह 25 साल पहले ऐसा था? 25 साल पहले के नवभारत टाइम्स की शब्द योजना उसके आलेख और उसकी भाषा का स्तर मिलता है क्या? क्या वह आज भी है? नहीं ! आज पूरी तरह से नाममात्र के हिंदी के शब्द और रोमन शब्द को देवनागरी में रख करके उस अखबार ने हिंदी भाषा की हत्या करने का एक संकल्प ले लिया है,ऐसा लगता है । और उसका दुष्प्रभाव यह है कि जो अन्य अखबार हैं, वह भी जाने अनजाने में अंग्रेजी भाषा के शब्दों को ला रहे हैं।

भाषा विचारों की वाहिका होती है। अगर वह बिगड़ेगी,तो विचार भी बिगड़ेगा। और हम देख रहे हैं कि जैसे जैसे शब्द जो हैं समाज से,अन्य चीजों में प्रवेश कर रहे हैं,पत्रकारिता के भी क्षेत्रों में प्रयोग में लाये जा रहे हैं। इससे जो पत्रकारिता की नींव रखी गई थी; हमारे पूर्वजों ने,हिंदी के पत्रकारों ने,आज डावांडोल हो रही है; संकट आ रहा है उस पर। इसलिए आज आवश्यकता है कि हिंदी पत्रकारिता का एवं पत्रकारों का जो धर्म है,उसे पुनः स्थापित करें; उसको हिंदी के पत्रकार निभाए; भाषा को बिगड़ने ना दें। पत्रकारिता में राष्ट्र विरोधी तत्वों का प्रवेश आज हो चुका है। अगर आप इलेक्ट्रॉनिक चैनलों को देखें तो आपको समझ नहीं आएगा कि एक ही घटना की व्याख्या कैसे कर रहे हैं? एक जगह आप देखेंगे तो वह चीज आपको सही दिखाई देगी, दूसरी जगह कोई पत्रकार उसकी गलत व्याख्या करेगा, वह गलत दिखाई देगी। ऐसे में सत्य क्या है? उसका पता लगाना कठिन हो जाता है। पत्रकार का मूल धर्म है-वस्तु स्थिति को बयां करना। लेकिन आज के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का जो पत्रकार है वह खबर नहीं परोस रहा, खबर देने के साथ वह उसका व्याख्याता भी हो जा रहा है। वहीं तत्काल वह व्याख्या करने लग जा रहा है। यह नहीं कि कुछ समय लेकर विचार-विमर्श करे जो उसका धर्म है; करना चाहिए। लेकिन ऐसा उद्यम न कर के वहीं तत्काल वह व्याख्या करने लग जा रहा है; जिससे एक भ्रम बन जा रहा है, जिससे जो पाठक या श्रोता है,वह जान ही नहीं पा रहा है कि सत्य क्या है?

एक समस्या और आई जो कि समय की देन है। एक समय था, जब पत्रकार अपने पत्र का स्वामी स्वयं हुआ करता था। गणेश शंकर विद्यार्थी 'प्रताप' के प्रकाशक,मुद्रक सब थे। उस समय भी वैतनिक-अवैतनिक पत्रकार हुआ करते थे। लेकिन अधिकांश के स्वामी पत्रकार स्वयं ही हुआ करते थे। आज की स्थिति बदल गई है। पत्रकारिता भी एक बहुत बड़ा व्यवसाय हो गया है,चाहे वह प्रिंट मीडिया हो या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो, बहुत बड़ी मात्रा में निवेश करके चलाई जा रही है। हिस्सेदारी बनती बिगड़ती रहती है पूंजीपतियों की। पत्रकार की स्थिति डांवाडोल है। आज इस अखबार में हैं तो कल उस अखबार में, आज इस चैनल में हैं, तो कल उस चैनल में हैं। ऐसे में पत्रकार के सामने एक बहुत कठिन चुनौती है कि ऐसी कठिन परिस्थितियों में वह किस प्रकार से अपने बातों को रखे, सत्य का उद्घाटन करे, समाज की सेवा करे; और जो एक पत्रकार का मूल धर्म है- मानव हितों की बात करना, सृष्टि के हितों की बात करना, सत्य का साथ देना, अन्याय और अत्याचार का विरोध करना; जो हिंदी पत्रकारिता की नींव रही है, उसको निभाए। इस समय यह कठिन सा है क्योंकि पत्रकार तो मात्र संपादक है, स्वामी तो कोई और ही है। यह प्रारंभिक समय में भी था,थोड़ा कम था। किंतु अब तो यह ज्यादा है। इसलिए जहां तक भविष्य की बात है, हिंदी पत्रकारिता का भविष्य तो चुनौतीपूर्ण है। अंधकारमय तो मैं नहीं कह सकता क्योंकि भारत आज की स्थिति में समर्थ है,विश्व में इसकी पूछ है, और हिंदी भाषा बिना किसी सरकारी सहायता के, बिना किसी राजकीय संरक्षण के भी अपनी शक्ति से खड़ी है, अपनी चुनौतियों को दूर करने का प्रयास कर रही है, विकसित हो रही है,गतिशील हो रही है। इसका प्रमाण यह है कि आप जो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया देखते हैं , तो हर

प्रांत के जो नेता हैं या वहां के जो निवासी हैं; वह बड़े सहज भाव में हिंदी भाषा में अपनी बात रखते हैं। 25-30 साल पहले ऐसी स्थिति नहीं थी ।अगर कोई बाइट रखता था मीडिया के सामने, तो वह क्षेत्रीय भाषा में बोलते थे अथवा अंग्रेजी में बोलते थे। लेकिन अब हिंदी की व्याप्ति है इतनी कि अरुणाचल,केरल आदि सब जगहों पर इसका विस्तार हो रहा है। इसके विकास में हिंदी पत्रकारिता की जो भूमिका है वह बहुत बड़ी है। पत्रकारिता का धर्म चुनौतियों से घिरा हुआ उस समय भी था,जब इस का जन्म हो रहा था। लेकिन उस समय मेधावी पत्रकारों ने अपने त्याग से, तप से पत्रकारिता के धर्म को बचाए रखा, सत्य का उद्घोष किया,असत्य को निर्भीक होकर कहने का साहस रखा। विदित है कि कैसे बालमुकुंद गुप्त ने नाम[1] बदलकर "भारतमित्र" में तत्कालीन वायसराय का विरोध किया, खंडन किया, उस पर व्यंग किया था। "शिव शंभू के चिट्ठे" नाम से तो संग्रहित किए गए। उसी तरह से "चक्रपाणि शर्मा 'द्विरेफ' के नाम से महावीर प्रसाद द्विवेदी जी लिखा करते थे। इस तरह से विषम परिस्थितियों में भी हिंदी के पत्रकारों ने अपने धर्म को नहीं छोड़ा अर्थात् अपने कर्त्तव्य को नहीं छोड़ा था, अर्थात् जो पत्रकारिय दायित्व है उसको छोड़ा नहीं,उसको निभाया। राष्ट्रधर्म भी उस पर चलता हुआ आगे बढ़ा। उसके साथ जो पांचजन्य साप्ताहिक पत्रिका निकलती थी,उसने भी अपना योगदान दिया।

इस तरह से देखा जाए तो हिंदी पत्रकारिता ने मानव-मूल्य,जीवन-मूल्य,सृष्टि के समस्त जीवों के उत्थान के लिए, उसके संरक्षण के लिए काम किया। इसलिए यदि संसार के पत्रकारिता के इतिहास को देखा जाए, भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो पत्रकारिता हुई है, तो कहीं ना कहीं हिंदी की जो पत्रकारिता है, उसका जो इतिहास है, उसमें जो जीवन मूल्यों को संरक्षित करने की उसकी प्रवृत्ति है,उसका एक बहुत गौरवपूर्ण स्थान दिखाई देता है। आज के संपादक रहे स्वनाम धन्य बाबू कृष्ण पराड़कर जी ने लिखा है कि आने वाले समय में समाचार पत्र रंगीन होंगे, चमक-दमक बढ़ेगी; लेकिन जो विचार है, वह वैसा नहीं रहेगा।[2] आज यह दिख रहा है कि क्षरण हुआ है, विचारों में कमी आई है। किस तरह से विज्ञापन भी खबर के रूप में प्रिंट होकर के सामने आ जा रहे हैं कि पता ही नहीं चल पा रहा है सामान्य पाठक को, कि वह विज्ञापन है या समाचार है; इस तरह से डिजाइन करके उसे छाप दिया जा रहा है। यह पाठक के साथ अन्याय ही तो है। इसलिए आने वाला जो भविष्य है, वह बहुत चुनौतीपूर्ण है। हिंदी के पत्रकार पहले भी चुनौतियों का सामना करके उसका प्रतिकार किए हैं, आगे भी करेंगे, ऐसी आशा है। और जैसा कि हम देख रहे हैं, "राष्ट्रधर्म" उसका नेतृत्व कर रहा है, उसका और फैलाव हो, विस्तार हो, ऐसे यत्न करना चाहिए।

संदर्भ

1. विद्यानिवास मिश्र – अनछुए बिंदु
2. रामचरितमानस लंकाकांड
3. 1857 के युद्ध के बाद जब ईस्ट इंडिया कंपनी भंग हो गई और भारत का शासन सीधे ब्रिटिश संसद के द्वारा होने लगा था तबसे भारत कि एक इंच भूमि पर ब्रिटिश ने अतिक्रमण नहीं किया ।
4. श्यामसुंदरदास – कबीर ग्रंथावली
5. यह स्थिति आज भी बनी हुई है । पत्रकार यह बता सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं कि आखिर कोई समूह जो हिंसा या फसाद कर रहा है तो उसकी पहचान क्या है। कानूनों जकडन बरकरार है।

[1] बालमुकुंद गुप्त जी भारतमित्र में शिवशम्भु के छद्म नाम से लेख लिखते रहे जिसमे तत्कालीन वाइसराय कर्जन के नीतियों की समीक्षा होती थी ।

[2]पराडकर जी की किसी समय की गई उक्त टिप्पडी को तब समझा जा सकता है जब हिंदी पत्रों की स्वाधीनता से पूर्व और आज के साथ देखा जाए । पत्रकारिता और पत्रकार कहाँ पहुंच गए हैं , सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

''न्यू मीड़िया एवं संस्कृति''

माधवी
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. 8447545614
ईमेल: yadavmadhavi066@gmail.com

सारांश

आज 'न्यू मीड़िया' संवाद का एक ऐसा जरिया बनकर उभर चुका है जहाँ इंटरनेट के माध्यम से पॉडकास्ट, ब्लॉग्स, सोशल साइट्स, टैक्सट मैसेजिंग आदि करते हुए एक-दूसरे से पारस्परिक संवाद धारण कर लेता है। जिसमें पाठक / दर्शक / श्रोता तुरंत अपनी टिप्पणी न केवल लेखक। प्रकाशक से साझा कर सकते हैं, बल्कि अन्य लोग भी प्रकाशित / प्रसारित / संचारित विषय वस्तु पर अपनी टिप्पणी दे सकते हैं।

बीज शब्द: *मीडिया, संवाद, समाज, परिवर्तन*

शोध आलेख

भारतीय संविधान के तहत मीड़िया को लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ कहा जाता है। मीड़िया ने हमारे समाज को हर क्षेत्र में प्रभावित किया है। अगर मीड़िया समाज के प्रति अपने दायित्व निभाये, सत्य पर अड़िग खड़े रहे तो उस समाज और राष्ट्र की नींव हिल नहीं सकती है। मीड़िया की जिम्मेदारी समाज को जागरूक करने की है और सही मार्ग दर्शन दिखाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आज मीड़िया का स्वरूप ही बदल गया है। मीड़िया की जगह न्यू मीड़िया का वर्चस्व है। यह 21वीं सदी का मीड़िया है, इस मीड़िया ने अभी तक के चले आ रहे अभिव्यक्ति के तरीकों को पूरी तरह से बदल दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ''न्यू मीड़िया एक ऐसा मीड़िया है जिसने फिल्म, छवियों, संगीत, मौखिक और लिखित शब्द जैसे पारंपरिक मीड़िया को कंप्यूटर की इंटरैक्टिव शक्ति और संचार प्रोद्योगिकी विशेषकर इंटरनेट से जोड़ दिया है।''

आज हम चारों तरफ से न्यू मीड़िया के अवतार से घिरे हुए हैं। आज इसने हमारी दिनचर्या को पूरी तरह से प्रभावित किया है लेकिन आज हम इसके बिना अपनी निजी जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। आज हमारे दैनिक जीवन का कौन-सा क्षेत्र जिसमें मीड़िया की दखल न हो? शिक्षा, मनोरंजन, विज्ञान, पत्रकारिता निजी व सरकारी कार्यालय, बैंकिग, रक्षा, चिकित्सा, उद्योग वैश्विक बाजार, कृषि, मौसम, पर्यावरण, खेल, तकनीक सूचना प्रौद्योगिकी जैसे विविध और महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इसका योगदान है।

कहाँ भारत अपनी प्राचीन संस्कृति और कला के लिए प्रसिद्ध है आज भी विश्व भर में भारतीय संस्कृति, कला, नृत्य, दस्तकारी शिल्प और परिधान की वजह से आज हम रोजमर्रा की जिदंगी में न्यू मीड़िया से इतने प्रभावित हैं। कि हम अपनी संस्कृति को फल-फूलने की बजाय नव संस्कृति को ग्रहण कर रहे हैं।

लेकिन स्थिति यह अपने देश में अपनी संस्कृति की स्थिति चिंताजनक है। नव संस्कृति के आने से समाज, कला, मनोरंजन या फैशन और पश्चिमी संस्कृति अंधाधुंध नकल में अपनी पुरानी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं आज न्यू मीड़िया

के दौर में हमें अपनी संस्कृति को परिभाषित करने की जरूरत है। दस्तकारी, शिल्प, ऐतिहासिक स्मारक, विभिन्न राज्यों के विशिष्ट परिधान, अलग-अलग तरह से व्यंजन आदि भी हमारी संस्कृति का अहम हिस्सा है। हमारी भारतीय संस्कृति का मूल सूत्र है कि विश्वबंधुत्व और विश्वकल्याण की भावना है।

भारतीय संस्कृति न तो किसी जाति, संप्रदाय, वर्ग, कबीले, धर्म, फिर के समूह और सीमाओं की बात करती है बल्कि विश्व कल्याण भारतीय संस्कृति का मूल ध्येय है आज न्यू मीड़िया और नव संस्कृति ने पुरानी संस्कृति में मिलावट कर दी है। आज न्यू मीड़िया की क्रान्ति मानव समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, संस्कृति, सामाजिक रिश्तों, पारिवारिक रिश्तों पर प्रभाव डाल रही है और असंतुलन की स्थिति पैदा हो गयी है। जहाँ भारतीय संस्कृति में वसुधैव कुटुम्बकम् परिवार और कुटुम्ब की परिकल्पना है वहीं वैश्विकरण या यू कहें ग्लाब्लाइजेशन, व्यापार और धंधा करने की कल्पना मात्र है। जो संस्कृति विश्वकल्याण और विश्व बंधुत्व की बात करती है उसे क्यों खंडित किया जा रहा है? उसके निहित कारक क्या है? वे कौन से कारण है जो हमारी संस्कृति खंडित करें उन्हें जानना और विचार विमर्श करना सभी का दायित्व है। हमें अपनी संस्कृति का संरक्षण करना चाहिए।

संस्कृति किसी भी समाज की पहचान का महत्वपूर्ण बिन्दु हैं। समाजशास्त्री भीखू पारेख मानते हैं कि संस्कृति एक इतिहास द्वारा निर्मित विश्वासों और प्रथाओं की व्यवस्था है जिसके संदर्भ में व्यक्ति और समूह अपने जीवन को समझता और व्यवस्थित करता है।

संस्कृति हमें जीने का तरीका और समाज को जीवन की व्यवस्था देती है। समाज की तरह संस्कृति पर भी इस न्यू मीड़िया का गहरा असर पड़ा है। पुराने मीड़िया में जहाँ व्यक्ति मात्र कंटेट का उपभोक्ता था वहीं अब वह कंटेट को निर्मित भी कर रहा है। आज संस्कृति को बचाए रखने के लिए अनेक संस्थाएँ व व्यक्ति अब लुप्त होते जा रहे सांस्कृतिक चिन्हों परंपराओं और बोलियों की डिजिटल दस्तावेजीकरण भी कर रहे हैं। परन्तु इसने संस्कृति के नाम अनेक प्रकार की रूढ़ियों को भी प्रचारित किया है। संस्कृति के नाम आजकल धार्मिक कर्मकांडों को ही अधिक महत्व दिया जाने लगा है। इसी प्रकार सांस्कृतिक विरासत का विरूपीकरण करके आने वाली पीड़ियों को गुमराह करने का प्रयास भी किया जाने लगा है। इसलिए अनेक बार संस्कृति के स्थान पर अपसंस्कृति का प्रसार भी इसके माध्यम से हो रहा है। इसके प्रति जागरूक और सावधान रहने की आवश्यकता है।

विगत कुछ वर्षों से देखा जाए तो न्यू मीड़िया बनाम नव संस्कृति में परिवर्तन अविराम गति से चलता हुए आज किस प्रकार हमारा देश संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। आज किसी भी क्षेत्र में नजर उठाकर देखें तो न्यू मीड़िया ने एक जाल-सा बिछा दिया है। और न्यूमीड़िया के दौर में ऐसा कोई क्षेत्र इससे अछुता नहीं रहा है। चाहे वह क्षेत्र राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक, प्रौद्योगिकी या तकनीकी क्रांति हो सभी क्षेत्र में आज परिवर्तन बढ़ी तेजी से हो रहा है। क्योंकि आज वैश्वीकरण और पश्चिमीकरण की चकाचैंध में मानसिक परिपक्वता को कोई स्थान नहीं दिया जा रहा है। अतः हम एक भेड़ चाल में आँखे मूँदकर चलते चले जा रहे हैं। अच्छे-बुरे अथवा सही और गलत का अंतर करना भी भूलते हुए जा रहे हैं। आज शिक्षित समाज धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति से और सबसे बड़ी बात हम स्वयं अपने से दूर होते जा रहे हैं। आज इसकी संख्या कम है लेकिन आने वाले वर्षों में यह संख्या बढ़ जाएगी। आज भी हमारा झुकाव कहीं न

कहीं अंग्रेजी संस्कृति एवं उनके जीवन दर्शन की ओर दिखाई पड़ता है। हमारे देश की सरकार भी यही चाहती है सबकुछ डिजिटल हो जाए।

सबसे महत्वपूर्ण बात है कि आज मीड़िया स्वयं को उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित है इसलिए सामाजिक हितों के बजाए, निजी स्वार्थ की तरफ झुकाव कुछ ज्यादा ही देखने को मिल रहा है। आज मीड़िया निजी स्वार्थ वहाँ की उपभोक्तावादी संस्कृति में इस तरह घुलमिल गया है कि अपनी नैतिक, कर्तव्य, दायित्वों, उद्देश्यों से किस तरह भटकता जा रहा है। आज परिणाम यह है कि जब कोई नीति संस्कृति में बदलाव की बात कहती है, तब टकराव की एक स्थिति बन जाती है। अधिकांश देशवासी मूल अवधारणाओं में बदलाव नहीं चाहते। नई संस्कृति इन मर्यादाओं को तोड़ती हुई दिखाई पड़ती है आज न्यू मीड़िया और नवसंस्कृति की वजह से 377 धारा को मान्यता प्राप्त हुई। इसके आने के बाद समाज में इसके सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव देखने को मिलते हैं। इस विषय को मंच पर लाने के लिए मैथिलीशरण गुप्त की पंक्ति याद आ रही है-

हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी
आओ विचारें, आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

हमारे देश के राष्ट्रकवि जब यह बात उठा रहे थे उस समय उनके सामने सम्पूर्ण भारत और भारतीय अस्मिता का प्रश्न था। यह प्रश्न, बहुत बड़ा प्रश्न था। 'हम कौन थे' अर्थात् अतीत का मूल्यांकन। 'क्या हो गये' अर्थात् 'वर्तमान की परख' और क्या होंगे सभी' अर्थात् भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार। अतीत के मूल्यांकन के बिना वर्तमान की समझ नहीं बन सकती और वर्तमान की समझ के बिना भविष्य की दशा और दिशा के बारे में हम सोच नहीं सकते हैं। आज न्यू मीड़िया बनाम नव संस्कृति के संदर्भ में यह विषय इसी चीज को लेकर चल रहा है।

आज 'न्यू मीड़िया' संवाद का एक ऐसा जरिया बनकर उभर चुका है जहाँ इंटरनेट के माध्यम से पॉडकास्ट, ब्लॉग्स, सोशल साइट्स, टैक्सट मैसेजिंग आदि करते हुए एक-दूसरे से पारस्परिक संवाद धारण कर लेता है। जिसमें पाठक / दर्शक / श्रोता तुरंत अपनी टिप्पणी न केवल लेखक। प्रकाशक से साझा कर सकते हैं, बल्कि अन्य लोग भी प्रकाशित / प्रसारित / संचारित विषय वस्तु पर अपनी टिप्पणी दे सकते हैं। यह टिप्पणियाँ एक से अधिक भी हो सकती है अर्थात् बहुधा सशक्त टिप्पणियाँ परिचर्या में परिवर्तित हो जाती है। उदाहरणतः आप फेसबुक को ही लें- यदि आप कोई संदेश प्रकाशित करते हैं और बहुत से लोग आपकी विषय वस्तु पर टिप्पणी देते हैं तो कई बार पाठक-वर्ग परस्पर परिचर्या आरम्भ कर देते है और लेखक एक से अधिक टिप्पणियों का उत्तर देता है। न्यू मीड़िया वास्तव में परम्परागत मीडिया का रूप है। आज यह कहावत सटीक बैठती है परिवर्तन, प्रकृति का नियम है। यह एक क्षेत्र में लागु नहीं होता है, प्रत्येक क्षेत्र में लागु होती है। इसी तरह मीड़िया भी इससे अछुता नहीं रहा है।

इसका संबंध सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के साथ है सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति ने दुनिया एक ग्लोबल गाँव में तब्दील कर दिया है। आज हम घर बैठे दुनिया के किसी भी कोने को देख सकते है और वहाँ के लोगों से बात कर सकते हैं। इसी सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से पूरा विश्व ग्लोबल गाँव बन गया है। जिससे हम एक दूसरे देश का रहन-सहन, तकनीकी, विकास, संस्कृति को जान सकते हैं। ''आज न्यू मीड़िया मात्र तकनीक का ही नहीं बल्कि तकनीक के प्रयोग

का भी नयापन लिए हुए है। यह व्यक्ति की सार्वजनिकता और सार्वजनिक की निजता का समीकरण बन गया है। दौर अब 'न्यू मीड़िया का आ गया है। वह दौर चला जब समाचारों को जल्दी में लिखा गया इतिहास कहने के साथ ही 'Next Today- History to morrow कहा जाता है लेकिन अब तो 'News this moment- History next moment' का जमाना आ गया है। बिलों को जमा करने, नौकरी-परीक्षा के फॉर्म भरने जमा करने, फोन करने, पढ़ने व खरीददारी आदि के लिए लम्बी लाइनों का दौर बीते दौर की बात होने जा रही है, और जमाना लाइन में लगने का नहीं रहा, 'ऑनलाइन' होने का आ गया है। इसकी जिम्मेदार सिर्फ 'न्यू मीड़िया' है। इसकी स्थिति आज ऐसी है कब इसका स्वरूप अपने वाले समय में बदल जाए। हमारे देश के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी 'डिजिटल इंडिया' बनाने की लगातार बात करते रहते हैं।

इसकी राजनैतिक सामाजिक, भौगोलिक, सीमाओं से पूरी तरह मुक्त है। आज आम जनता अपनी अभिव्यक्ति को स्वतंत्र रूप से व्यक्त कर रही है। कि यह किसी बंधन, कायदे कानून को नहीं मानती है। वह स्वतंत्रता पूर्व अपनी अभिव्यक्ति बयाँ करती है। एक ऐसा माध्यम जिसमें न समय की कोई समस्या आती है, न सर्कुलेशन की कमी, न महीने भर तक पाठकीय प्रतिक्रियाओं का इंतजार करने की जरूरत पड़ती है। यह त्वरित अभिव्यक्ति, त्वरित प्रसारण, त्वरित प्रतिक्रिया का एक प्लेटफार्म बन चुकी है। इसीलिए स्वरूप विश्वव्यापी बन गया है।

इसकी शुरुआत एक उद्देश्य को लेकर उभरी थी, जिसका उद्देश्य समाज हित तथा देश हित था लेकिन अब न्यू मीड़िया एक व्यवसाय बन गया है और बढ़ गया है मनोरंजन। इसने मीड़िया की तकनीक को बदला, नई साज-सज्जा आई है, नया मिजाज, नये पत्रकार, नये सम्पादक, नई तकनीक, सब कुछ नया दिखाई दे रहा है सिर्फ मिल्कियत ही पुरानी है। इस नई फौज ने नई भूख, नई चाहत, नये सपने, नये द्वन्द्व तथा नये संघर्ष दिये हैं।

आज इसने वर्तमान युग को संचार क्रांति का युग बना दिया है। और इसका विकसित माध्यम 'इलेक्ट्रोनिक मीड़िया' छोटे-छोटे अंधकारमय कोने में धँसता जा रहा है। जिसकी वहज से आज हमारे सामाजिक सन्दर्भों संस्कृति व जीवन पद्धति सभी को अपने दबाव में लेना शुरू कर दिया है। ये दबाव इतना अधिक बढ़ गया है कि अब ये कहने का वक्त नहीं बचा कि 'इलेक्ट्रोनिक मीड़िया' की ये हवायें कहीं हमारे घर को अस्त-व्यस्त न करें? अब तो हम उस आँधी के मध्य में है जो पश्चिम से आई है, जिसके परिणामस्वरूप हमारी सांस्कृतिक हवाओं का रुख बदल गया है। आज नव संस्कृति विकसित हो रही है। हमारे नैतिक मूल्य, कर्तव्य सब अस्त व्यस्त नजर आते हैं।

इसके आने से असल में ऐसा लगता है कि हमने नवसंस्कृति का जामा पहन लिया हो। रेडियो, फिल्म, टी.वी. और इंटरनेट नव संस्कृति को धारण किये हुए हैं। परम्परा उन सांस्कृतिक जुलूसों की तरह है जो हमारे शहरों में किसी न किसी रूप में निकलते रहते हैं। नव संस्कृति मूलाधार है सांस्कृतिक उद्योग के कलाकार-रचनाकार, ये वे कलाकार हैं जो नारा दे रहे हैं ''उनको कोई रोक नहीं सकता।'' नव संस्कृति की धुरी है विज्ञापन। विज्ञापनों के जरिए यह जामा पहनाया जा रहा है।

''नव संस्कृति में शामिल होने वाले लोग यह बात बार-बार कहते हैं कि उनके द्वारा सांस्कृतिक जाम लगा दिया गया है। इसके कारण संस्कृति का समूचा परिवहन ठप्प हो गया है। ऑडियन्स को सांस्कृतिक हवा मिलनी बन्द हो गई है। नव संस्कृति का बुनियादी लक्ष्य है ''सांस्कृतिक भ्रम या दुविधा पैदा करना।'' कहने का तात्पर्य यह है इसके आने के बाद

हम अपनी संस्कृति के मूल्य भूलते जा रहे हैं। आज नव संस्कृति का जामा हमें चारों तरफ दिखाई देता है।

जिससे अधिक आधुनिक दिखाई दें। यह सही बात है न्यू मीड़िया और नव संस्कृति के आने के बाद पूरा विश्व ग्लोबल गाँव बन गया है। हम उपभोक्तादी संस्कृति में रह रहे हैं। लेकिन हमें अपनी संस्कृति नहीं भूलनी चाहिए, प्रत्येक संस्कृति हमें कुछ नया सीखने को देती है। हम एक दूसरे राज्य और देश की संस्कृति से परिचय करते हैं इसका मतलब यह नहीं हम दूसरे देशों की संस्कृति को ग्रहण कर अपने ऊपर पूरी तरह से लागू करलें। हमारे भारत देश में विविधता होने के बाद भीएक समन्वय है यही समन्वय, संतुलन, एकता नवीन विकास की तरफ इशारा करता है।

आज नव संस्कृति का सबसे बड़ा उदाहरण है थ्योरी का ग्लोबल स्तर पर वितरण। भारत के संदर्भ में पर्यटन, धर्म और स्थानीय संस्कृतियों को जिस तरह नवीकृत किया जा रहा है और विसंदर्भीकृत रूप में जिस तरह पश्चिमी संस्कृति को हमारे गले उतारा जा चुका है और पश्चिमी उपभोग के स्वर्ग को हमारे पर्यटन, धर्म और देशज संस्कृति से जोड़ा गया है। उसने गंभीर संकट पैदा कर दिया है। इस 'नव संस्कृति जामा' ही न्यु मीडिया उद्योग को गतिशील अवस्था में लाया है। बहुराष्ट्रीय मीड़िया कम्पनियों का लगातार दबाव बढ़ रहा। विज्ञापन एजेंसियों सेयह सिलसिला शुरू हुआ था और आज इसके सभी माध्यमों को अपने दायरे में ले लिया।''

आज वैश्वीकरण के आने से न्यू मीड़िया को न केवल प्रभावित किया है बल्कि इसकी रूप रेखा ही बदली है। वैश्वीकरण की शुरुआत उदारीकरण के साथ हुई थी लेकिन धीरे-धीरे इसने राजनीति, संस्कृति, साहित्य भाषा आदि को प्रभावित किया है। इसके आने से समाज, संस्कृति, शिक्षा जगत, राजनीति, कृषि और हमारे दैनिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा है।

इसके आने से हमें रोज नये-नये परिवर्तन देखने को मिलते हैं। ये परिवर्तन सामाजिक रीति-परम्परा, रहन-सहन, खान-पान में तो देखने को मिलते हैं अब तो सोशल मीड़िया रोज नई गतिविधि देखने को मिलती है। सोशल मीड़िया का चेहरा हर दिन बदलता रहता है। आज हमारे दैनिक जीवन पर फेसबुक ट्विटर, व्हाट्सएप ने बहुत गहरा प्रभाव डाला है।

इसकी भूमिका का सच आज बहुत खुले रूप में हमारे सामने आ चुका है। आज की युवा पीढ़ी जिस तरह से इस माध्यम का उपयोग कर रही है वह बेहद चिन्तनीय है। इसके माध्यम से अक्सर कुछ लोगों द्वारा महान व्यक्तियों या देवी-देवताओं के बारे में उपहासास्पद टिप्पणियाँ की जाती है, समाज में असन्तोष फैला कर लोगों की धार्मिक भावनाओं को भड़का दिया जाता है। जिसकी वजह से सच तो यह है कि न्यू मीड़िया जैसे माध्यमों को विचारों के आदान-प्रदान के लिए बनाया गया है। यह हमें देश के कौने-कौने की जानकारी देता है। देश और समाज को बदलने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं के सच को भी सामने लाने का काम करता है।

देश में हो रहे भ्रष्टाचार का खुलासा भी करता है, आज कई घोटालों को भी सामने लाया है उदाहरण- पी.एन.बी., शारदा चिट घोटाला, विजय माल्या, केश, नीरवमोदी, टू जी स्पेक्ट्रम घौटाला आदि। आज समाज में फैले कुरीतियों, अंधविश्वासों, धर्म की आड़ के प्रति हो रहे भ्रष्टाचार का खुलासा करना उदाहरण- आसाराम बाबू, राम रहीम, रामपाल बाबा चिन्मयानन्द केस आदि की पोल भी इसके माध्यम से खुली है। कभी-कभी यह हमारे सामने फैली हुई झूठी

अफवाहों का खुलासा भी करता है। इस प्रकार सूचनाओं के आदान-प्रदान की दृष्टि से लोगों को जागरूक भी करता है।

लेकिन इसके आने से लोग जागरूक तो हुए हैं हर सिक्के के दो पहलु होते हैं इसी न्यू मीड़िया की कुछ अच्छाईयाँ भी हैं तो कुछ बुराईयाँ भी है। पहले सभी परिवार आपस में मिलजुल रहते थे, कई घंटों तक परिवार के लोग आपस में बात करते थे, अपनी पुरानी यादें ताजा करना बचपन में साथ खेलना, हर त्यौहारों पर आपस में मिलना जुलना होता था। अब स्थिति यह आ गई बिना बोले ही सब काम हो जाते हैं व्हाट्सप, फेसबुक, टिवट्र, मैसेंजर के आने से अनगिनत एप्प जिसके माध्यम से संवाद होता है। सालों तक लोग अपने परिवार का हाल बिना बोले, बिना मिले ही जान लेते हैं। इस स्थिति की न्यू मीड़िया ही जिम्मेदार है। इस व्यवस्था में हमें अपने वास्तविक जीवन के बारे में कोई खबर ही नहीं रहती है। हमारे पास इतना समय नहीं होता है कि हम अपने परिवार, आस पड़ोस में रहने वालों के सुख-दुःख में शामिल भी हो जाये आज यह विडबंना न्यू-मीड़िया, नव संस्कृति की वजह से आई है। आज हमें यह अफसोस नहीं होता है, हमें अपने मन में विचार करना चाहिए। कुछ आत्म चिंतन करना चाहिए कैसे हम अपनों से और अपनी संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं।

आज यह स्थिति चिंता का विषय बन गई है लोग फेसबुक व्हाटसप आदि सोशल साइट्स पर घंटो तक समय की बर्बादी करते हैं फिजुल का समय बर्बाद सिर्फ किसके कारण पश्चिमी संस्कृति के कारण, इस पश्चिमी संस्कृति, नव संस्कृति का झुठा पहनावा पहन कर हम स्वयं खुद को और अपनी संस्कृति को भूल गये हैं।

''वर्तमान में इसके आगमन ने समाज, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में बुनियादी परिवर्तन ला दिया है। लेकिन हमें यह देखना होगा कि इस परिवर्तन की दिशा क्या है और हमें यह परिवर्तन कहाँ ले जा रहा है? देश एवं संस्कृति का विकास जरूरी तो है परन्तु विकास का मतलब यह नहीं कि हम अपनी संस्कृति को भूल विकास के नाम पर उन संस्कृतियों को अपना लें जिनका हमारे मूल संस्कृति से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। इसमें कोई शक नहीं की 'न्यू मीडिया' ने देश-दुनिया की शक्ल ही बदल दी है। आज इस माध्यम के द्वारा पूरी दुनिया एक विश्व-ग्राम में बदल गयी है, सूचनाएँ दो तरफा हो गयी हैं। लेकिन हमें सिक्के दूसरे पहलू से सावधान रहने की भी जरूरत है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। अतः उसे न्यू मीड़िया के उस दूसरे पहलू को समझते हुए इसका सही उपयोग करना होगा ताकि वह विकास के सही रास्ते पर चल सके और खुद के विकास के साथ-साथ समाज एवं देश के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सके।''

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. नया मीडिया: नया विश्व, नया परिवेश, राकेश कुमार, ई-पत्रिका
2. मीडिया और हिन्दी बदलती प्रवृत्तियाँ- रविन्द्र जाधव, केशव मोरे, पृष्ठ 342-343
3. डॉ. मोहम्मद फ़रियाद- सोशल मीडिया के विविध आयाम, पृष्ठ 53,193
4. डॉ. उमेश कुमार राय, डॉ. रेखा अजवानी- मीडिया अतीत, वर्तमान एवं भविष्य, पृष्ठ 278-279
5. अकबर रिज़बी- मीडिया का वर्तमान
6. मीड़िया लेखन, सिद्धांत और व्यवहार- डॉ. चन्द्र प्रकाश मिश्र
7. जन-संचार और मीडिया, मीडिया लेखन- खेती सरन शर्मा

लेख

पूर्वोत्तर भारत का भाषिक परिदृश्य और हिंदी का भविष्य

वीरेन्द्र परमार

सारांश

पूर्वोत्तर भारत अनेक धर्मों, जातियों, सभ्यताओं और संस्कृतियों का संगम स्थल है। पूर्वोत्तर की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो शेष भारत से इसे अलग करती हैं। समन्वयकारी भावना इस क्षेत्र की अद्भुत विशेषता है। इस क्षेत्र में भारत और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से अलग-अलग मत और संस्कृति के लोग आए और इस समन्वयकारी संस्कृति में घुलमिलकर एकरूप हो गए। इस पुण्य भूमि में अनेक संस्कृति, सभ्यता, विचारधारा और परम्परा घुलमिलकर दूध में पानी की तरह एकाकार हो गई। विभिन्न कालखंडों में यहाँ आर्य, द्रविड़, तिब्बती आदि आए और यहाँ के लोकजीवन के अंग बन गए। इसलिए यदि भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र को देश की सांस्कृतिक प्रयोगशाला कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भाषा की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत अत्यंत समृद्ध है। इस क्षेत्र में 220 से अधिक भाषाएँ–बोलियाँ अस्तित्व में हैं, लेकिन अधिकांश भाषाएँ लिपिविहीन हैं।

बीज शब्द: *असम, मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैंड, पूर्वोत्तर, लोक*

शोध आलेख

पूर्वोत्तर भारत अनेक धर्मों, जातियों, सभ्यताओं और संस्कृतियों का संगम स्थल है। पूर्वोत्तर की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो शेष भारत से इसे अलग करती हैं। समन्वयकारी भावना इस क्षेत्र की अद्भुत विशेषता है। इस क्षेत्र में भारत और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से अलग-अलग मत और संस्कृति के लोग आए और इस समन्वयकारी संस्कृति में घुलमिलकर एकरूप हो गए। इस पुण्य भूमि में अनेक संस्कृति, सभ्यता, विचारधारा और परम्परा घुलमिलकर दूध में पानी की तरह एकाकार हो गई। विभिन्न कालखंडों में यहाँ आर्य, द्रविड़, तिब्बती आदि आए और यहाँ के लोकजीवन के अंग बन गए। इसलिए यदि भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र को देश की सांस्कृतिक प्रयोगशाला कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस क्षेत्र में लगभग 400 समुदायों के लोग रहते हैं और वे 220 से अधिक भाषाएँ बोलते हैं। पूर्वोत्तर की अधिकांश भाषाओं के पास अपनी कोई लिपि नहीं है, लेकिन लोककंठों में विद्यमान लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध और बहुआयामी है। संस्कृति, भाषा, परंपरा, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, वेश-भूषा आदि की दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यंत वैविध्यपूर्ण, रंगीन, उत्सवधर्मी और जटिल है । सैकड़ों आदिवासी समूहों और उनकी अनेक उपजातियाँ, असंख्य भाषाएँ, भिन्न-भिन्न प्रकार के रहन-सहन, खान-पान और परिधान, अपने-अपने ईश्वरीय प्रतीक, धर्म और अध्यात्म की अलग-अलग संकल्पनाओं के कारण इस क्षेत्र का अपना सांस्कृतिक महत्व है। भाषा की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत अत्यंत समृद्ध है। इस क्षेत्र में 220 से अधिक भाषाएँ–बोलियाँ अस्तित्व में हैं, लेकिन अधिकांश भाषाएँ लिपिविहीन हैं। असमिया और अंग्रेजी **असम** की राजभाषाएँ हैं। असम की बराक घाटी में स्थित जिलों की राजभाषा बंगला है जबकि कार्बी आंगलोंग के स्वायत्त जिलों तथा नार्थ कछार के जिलों की राजभाषा अंग्रेजी है। कोकराझार और अन्य बोडो बहुल जिलों में बोड़ो भाषा को सहभाषा के रूप में मान्यता दी गई है। शिक्षा के क्षेत्र में त्रिभाषा सूत्र लागू है जिसके अंतर्गत असमिया के अतिरिक्त बंगला, हिंदी, बोड़ो तथा अंग्रेजी को भी सहयोगी भाषा के रूप में मान्यता दी गई है। **मेघालय** में खासी, जयंतिया और गारो तीन प्रमुख आदिवासी समुदाय के अतिरिक्त तिवा, राभा, हाजोंग, लाखेर, कार्बी, बाइते, कुकी आदि जनजातियों के लोग निवास करते हैं । मेघालय राज्य भाषा अधिनियम 2004 के अनुसार अंग्रेजी यहाँ की राजभाषा है। ईस्ट खासी हिल्स, वेस्ट खासी हिल्स, जयंतिया हिल्स और रि-भोई जिलों में खासी भाषा सहायक राजभाषा है। इसके अतिरिक्त ईस्ट गारो हिल्स, वेस्ट

गारो हिल्स औए साऊथ गारो हिल्स जिले में गारो भाषा सहायक राजभाषा है। मेघालय में खासी भाषा बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। यहाँ लगभग 48 प्रतिशत लोग खासी और 32 प्रतिशत लोग गारो भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त बंगला, नेपाली, हिंदी, मराठी और असमिया भाषा भी बोली जाती है। **मिज़ो, जाहू, लखेर, हमार, पाइते, लाई, राल्ते** इत्यादि **मिजोरम** की प्रमुख भाषाएँ हैं। मिजोरम की राजभाषा मिज़ो है। मिज़ो भाषा चीनी-तिब्बती परिवार की भाषा है। यह मिज़ोरम और म्यांमार के चीन हिल राज्य में बोली जाती है। इसे दुहलियन भाषा के नाम से भी जानते हैं। मिज़ो भाषा मुख्य रूप से लुसेई बोली पर आधारित है, लेकिन इस भाषा में मिजोरम के अन्य आदिवासी समूहों की बोलियों के शब्द भी घुलमिल गए हैं। मिज़ो भाषा मिज़ोरम और उसके आसपास के क्षेत्रों जैसे, असम, त्रिपुरा और मणिपुर के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। इस भाषा में पावी, पाइते, मार आदि भाषाओं के शब्द ही नहीं बल्कि काव्य-परंपरा भी उपलब्ध है। **नागालैंड** की एक समृद्ध भाषिक परंपरा है। नागालैंड की प्रत्येक जनजाति की अलग–अलग भाषा है और इन भाषाओँ के भीतर भी अनेक बोलियाँ हैं जो एक-दूसरे के लिए अबूझ हैं । उदाहरण के लिए, अंगामी जनजाति की अंगामी भाषा है और अंगामी भाषा की भी अनेक बोलियाँ है। इन बोलियों में भी अंतर है। किसी गाँव में एक बोली के भीतर भी भिन्नता है। भौगोलिक परिवर्तन के साथ यह भिन्नता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। भाषाओँ–बोलियों का यह अंतर अन्य समुदायों और जनजातियों के बीच के संचार को बहुत कठिन बना देता है। नागालैंड की कोई भी स्थानीय भाषा सम्पूर्ण प्रदेश में नहीं बोली जाती है। अतः अंग्रेजी को नागालैंड की राजभाषा बनाया गया है जबकि नागामीज बोलचाल की भाषा बन गई है। *नागालैंड में लगभग 16 भाषाएं बोली जाती है। इसके अतिरिक्त इन भाषाओं की भी अनेक बोलियाँ है। जितनी जनजातियाँ उससे अधिक भाषाएँ। इस भाषाई परिदृश्य में परस्पर विचार–विनिमय कठिन हो जाता है। एक गांव की भाषा पड़ोसी गांव के लिए अबूझ है। इसलिए नागालैंड के निवासियों ने एक संपर्क भाषा विकसित कर ली है जिसका नाम नागामीज है । यह असमिया, नागा, बांग्ला, हिंदी और नेपाली का मिश्रण है। जार्ज ग्रियर्सन ने नागामीज को असमी का टूटा–फूटा रूप माना है, लेकिन भाषा वैज्ञानिक एम.वी.श्रीधर ने इसे 'पिजन' (Pidgin) भाषा कहा है। 'पिजन' का अर्थ है विभिन्न भाषाओँ के शब्दों के मेल से बनी ऐसी भाषा जो किसी समूह के लोगों के बीच संपर्क भाषा का काम करती हो। 'पिजन' की परिभाषा है "दो या दो से अधिक भाषाओँ के मिश्रण से विकसित ऐसी भाषा जिसका उपयोग ऐसे लोगों द्वारा किया जाता है जो एक–दूसरे की भाषा नहीं बोल–समझ सकते हों।" अतः नागामीज को पिजन भाषा कहना अधिक सार्थक और व्यावहारिक है। नागालैंड में नागामीज का उपयोग शिक्षित–अशिक्षित सभी लोगों द्वारा किया जाता है। प्रारंभ में यह मुख्य रूप से बाज़ार और व्यापार-संचार की माध्यम भाषा के रूप में विकसित हुई। राज्य की आधिकारिक भाषा अंग्रेजी होने के बावजूद नागामीज संपर्क भाषा का कार्य करती है। यह कमोबेश सम्पूर्ण नागालैंड में बोली जाती है। समाचार और रेडियो स्टेशन, शिक्षा, राजनीतिक और सरकारी क्षेत्रों सहित आधिकारिक मीडिया में भी इसका उपयोग किया जाता है। इसे नागालैंड के सबसे बड़े शहर दिमापुर में बोडो-कछारी समुदाय की मातृभाषा के रूप में भी जाना जाता है। यद्यपि नागा लोगों की उत्पत्ति का निर्धारण करना मुश्किल है, लेकिन आमतौर पर इतिहासकारों का मानना है कि नागालैंड में नागा जनजातियों का आगमन अनेक कालखंडों और अनेक समूहों में हुआ। चीन और अन्य जगहों से विभिन्न नागा जनजातियों ने बर्मा होते हुए नागा पहाड़ियों में प्रवेश किया और नागालैंड और पूर्वोत्तर के अन्य प्रदेशों में अपना निवास बनाया। नागालैंड बीस से अधिक स्वदेशी नागा समूहों के साथ ही कई अन्य आप्रवासी समूहों का निवास है। ये सभी समूह अलग-अलग भाषाएँ बोलते थे। असम के मैदानी क्षेत्रों में नागालैंड के विभिन्न भाषाई समूह के सदस्यों और असम के मैदानी इलाकों में वस्तु विनिमय-व्यापार केंद्रों में संपर्क के कारण नागामीज मुख्य रूप से एक संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। अहोम शासक नागाओं पर हमला करने और उस क्षेत्र को अपने अधीन करने के लिए अक्सर अभियान चलाया करते थे जिससे अलग-अलग समय में नागा और असमियों के बीच तनाव और शत्रुता पैदा होती थी ।*

14 वीं शताब्दी के अंत तक अहोम शासकों पर ब्राह्मणवादी हिंदू प्रभाव बढ़ता गया और धीरे-धीरे असमिया भाषा का उपयोग बढ़ने लगा। इसके बाद ताई भाषा का उपयोग पूरी तरह से बंद हो गया और इंडो-यूरोपीय असमिया भाषा राज्य के भीतर बोली जानेवाली मुख्य भाषा बन गई, लेकिन उस समय में भी नागामीज नागा हिल्स की संपर्क भाषा थी जो अधिकांश लोगों द्वारा बोली जाती थी। 1930 के दशक के बाद एक भाषा के रूप में नागामीज का प्रचार-प्रसार आगे बढ़ा। अंग्रेजी को नागालैंड की एकीकृत आधिकारिक राज्य भाषा के रूप में चुना गया था, लेकिन 5% से कम आबादी धाराप्रवाह अंग्रेजी बोल पाती थी। निश्चित रूप से अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या अत्यल्प थी। शिक्षक अक्सर कक्षा की चर्चाओं में और विषय वस्तु को ठीक से समझाने के लिए नागामीज का उपयोग करते थे। ज्यादातर नागा बच्चे अंग्रेजी की अपेक्षा नागामीज से परिचित थे और धाराप्रवाह नागामीज बोलते थे। आगे चलकर बहुसंख्यक आबादी द्वारा व्यापक रूप से नागामीज का इस्तेमाल होने लगा। वर्ष 1970 के दशक की शुरुआत में एम.वी.श्रीधर ने नागामी शैक्षिक सामग्री के निर्माण के इरादे से मानकीकरण प्रक्रिया शुरू करने की मांग की। उन्होंने नागा नेताओं और संबंधित अधिकारियों के साथ परामर्श किया जिसका उद्देश्य देवनागरी, असमिया, रोमन और बंगला लिपियों में से किसी एक लिपि को नागामीज के लिए अंगीकार करना था। इस बात पर सहमति बनी कि नागामीज के लिए रोमन लिपि को अपना लिया जाए। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान नागालैंड की अधिकांश जनसंख्या ईसाई धर्म को अपना चुकी थी और आमतौर पर रोमन लिपि से परिचित थी। इसलिए सभी लोग रोमन लिपि को अंगीकार करने पर सहमत हो गए। जातीय संघर्ष के बावजूद नागा और गैर-नागा लोगों के बीच संचार की आवश्यकता ने नागामीज के विकास और उपयोग के लिए प्रेरित किया। नागामीज धीरे-धीरे पूरे क्षेत्र और राज्य के विभिन्न भागों में फैल गई और वर्तमान में दैनिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में इसका उपयोग किया जाता है। अब यह व्यापक संचार की भाषा बन गई है। कालांतर में नागामीज का शब्द भंडार भी समृद्ध हो गया है और वक्ता किसी भी विषय पर इस भाषा में अपनी बात प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। अनौपचारिक बातचीत के अलावा नागामीज भाषा का प्रयोग धार्मिक समारोहों, शिक्षा संस्थानों, अस्पतालों में भी किया जाता है। नागामीज ग्रामीण क्षेत्रों में संचार की पसंदीदा भाषा बन गई है। नागामीज में दो कारक और दो काल हैं। इसमें कोई लिंग नहीं होता है, हालांकि हिंदी प्रभाव के कारण विशेष रूप से हिंदी शब्दों और अभिव्यक्तियों में व्याकरणिक लिंग दिखाई देता है। इसमें 26 व्यंजन और 6 स्वर हैं। इसमें आनुनासिक स्वर नहीं हैं। **सिक्किम** सरकार ने प्रदेश की 11 भाषाओँ को राजभाषा घोषित किया है–**नेपाली, लेपचा, भूटिया, तमांग, लिंबू, नेवारी, खम्बु राई, गुरुंग, मांगर, शेरपा और सुनवार**। इन भाषाओँ के अतिरिक्त भी सिक्किम में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं जिनमें थमी, भुजेल, कुलुंगे, खलिंगे आदि प्रमुख हैं। नेपाली सिक्किम की प्रमुख भाषा है। इसे पहाड़ी और गोरखाली भी कहा जाता है। इसकी लिपि देवनागरी है। भूटिया, लेपचा और अन्य समुदाय भी नेपाली बोलते–समझते हैं। सिक्किम की लगभग 80 प्रतिशत जनता नेपाली बोलती–समझती है। वर्ष 1924 में दार्जिलिंग में नेपाली साहित्य सम्मलेन की स्थापना की गई थी जिसके बाद नेपाली भाषा का बहुआयामी विस्तार हुआ। अनेक नेपाली पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ जिनमें "सिक्किम हेराल्ड" (1959), "कंचनजंघा" (1957), "तीनतारा" (1958) और "सिक्किम" (1966) प्रमुख हैं। इन पत्र–पत्रिकाओं ने नेपाली भाषा और साहित्य के विकास में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। सिक्किम का भूटिया समुदाय भूटिया भाषा बोलता है। भूटिया भाषा को सिक्कमी, तिब्बती और ड्रेनजोंग्पा भी कहा जाता है। यह सिक्किम की प्राचीनतम भाषाओँ में से एक है। यह पूर्ण रूप से तिब्बती मूल की भाषा है। लेपचा समुदाय लेपचा भाषा बोलता है। यह तिब्बती–बर्मी मूल की भाषा है। लेपचा भाषा की अपनी लेपचा लिपि है। लेपचा भाषा का प्रथम व्याकरण वर्ष 1876 में जेनरल जी.बी.मेनवारिंग द्वारा लिखा गया था। चागदोर नामग्याल ने 18 वीं शताब्दी के आरंभ में लेपचा लिपि की रूपरेखा तैयार की थी। लिंबू एक तिब्बती–बर्मी भाषा है जिसकी लिपि 'सिरिजुंगा' है। लिंबू भाषा और साहित्य बहुत समृद्ध है। श्री जे.आर. सुब्बा ने अपनी

पुस्तक "हिस्ट्री एंड डेवलॉपमेंट ऑफ़ लिंबू लैंग्वेज" (2002) में पाठ्यपुस्तकों को छोडकर वर्ष 1951 से 2001 तक प्रकाशित 47 पुस्तकों एवं 34 पत्रिकाओं की सूची बनाई है। **लिंबू भाषा** में अनेक शब्दकोश भी प्रकाशित हो चुके हैं तथा वर्ष 1983 में आकाशवाणी, गंगटोक से लिंबू भाषा में प्रसारण भी आरंभ हो गया। लिंबू लोकसाहित्य, निबंध, कविता, उपन्यास आदि प्रकाशित हो चुके हैं। **तमांग** एक तिब्बती–बर्मी भाषा है जिसकी अपनी लिपि है। तमांग "संभोता" लिपि में लिखी जाती है जिसे "तमयक लिपि" भी कहते हैं। श्री बुद्धिमान मोकतन द्वारा लिखित "तमांग वंशावली" को तमांग भाषा की प्रथम पुस्तक माना जाता है। वर्ष 1957 से 1997 तक तमांग भाषा, संस्कृति, परंपरा और लोकजीवन पर लगभग 99 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। सिक्किम में अभी छह तमांग भाषा विद्यालय संचालित किए जा रहे हैं। वर्ष 1995 में सिक्किम सरकार ने "खम्बु राई" भाषा को राजभाषा का दर्जा दिया। "खम्बु राई" भाषा की अपनी लिपि है। यह भाषा अभी अपनी शैशवावस्था में है, लेकिन दो विद्यालयों में इस भाषा में शिक्षा आरंभ कर दी गई है। नेवारी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो "रंजना" लिपि में लिखी जाती है। "रंजना" लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ है। **मांगर** भी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो मांगर लिपि में लिखी जाती है। मांगर लिपि को "अखरिका" लिपि के नाम से भी जानते हैं। यह सिक्किम की प्राचीनतम लिपि है। सिक्किम सरकार द्वारा घोषित मान्यता प्राप्त ग्यारह भाषाओँ में मांगर भी शामिल है। अखिल सिक्किम मांगर एसोसिएशन सिक्किम में मांगर भाषा के उन्नयन के लिए प्रयत्नशील है। **सुनवार भाषा** भी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो सुनवार लिपि में लिखी जाती है। शेरपा भाषा भी तिब्बती–बर्मी समूह की भाषा है जो "संभोता" लिपि में लिखी जाती है। इस भाषा के विकास के लिए सरकारी और निजी स्तर पर प्रयास किए जा रहे हैं। गुरुंग समुदाय अपनी भाषा को "तमु" कहता है जो तिब्बती– बर्मी समूह की भाषा है। यह "खेमा" लिपि में लिखी जाती है। अखिल सिक्किम गुरुंग (तमु) बौद्ध संघ इस भाषा के विकास के लिए प्रयास कर रहा है। नेपाली इस प्रदेश की संपर्क भाषा है। नेपाली को भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में शामिल किया गया है। बंगला और कोकबोरोक **त्रिपुरा** की राजभाषा है । यहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें **बंगला, कोकबोरोक, चकमा, लुशाई, मुंडारी, गारो, कुकी** प्रमुख हैं। हिंदी भी व्यापक रूप से यहाँ बोली जाती है। चकमा समुदाय द्वारा चकमा भाषा बोली जाती है। चकमा भाषा में इंडो-आर्यन, तिब्बती-चीनी और मुख्य रूप से अराकान भाषा के शब्दों का मिश्रण है। उनकी भाषा को टूटी-फूटी बंगला और असमिया भाषा भी कहा जाता है। चकमा भाषा के पास अपनी बर्मी लिपि है, लेकिन उनका उपयोग नहीं होता है। येलोग बंगाला लिपि का उपयोग करते हैं। गारो समुदाय के लोग गारो भाषा बोलते हैं। गारो भाषा की असम में बोली जानेवाली बोडो कछारी, राभा, मिकिर आदि भाषाओँ से बहुत समानता है। भाषिक दृष्टि से गारो भाषा तिब्बती–बर्मी परिवार की भाषा है। ग्रियर्सन ने इसे बोडो वर्ग की भाषा बताया है। हलाम समुदाय के लोग अपनी हलाम भाषा बोलते हैं। जातीय रूप से हलाम समुदाय कुकी-चीन जनजाति मूल के हैं । उनकी भाषा भी कमोबेश तिब्बती-बर्मी परिवार की तरह ही है। हलाम को 'मिला कुकी' के रूप में भी जानते हैं, लेकिन भाषा, संस्कृति और जीवन शैली की दृष्टि से हलाम समुदाय कुकी जनजाति से बिल्कुल भिन्न है। जमातिया समुदाय के लोग **कोकबोरोक** भाषा बोलते हैं। मुंडा प्रोटो-ऑस्ट्रलॉइड जनजाति हैं। उनकी भाषा मुंडारी है जो ऑस्ट्रो-एशियाई परिवार से संबंधित है। ओरंग जनजाति के लोग टूटी-फूटी हिंदी में बात करते हैं। इनकी भाषा आस्ट्रेलियन भाषा समूह की भाषा है, लेकिन त्रिपुरा में वे अपनी भाषा में बात नहीं करते हैं, वे हिंदी मिश्रित बंगला भाषा बोलने में सहज महसूस करते हैं । जातीय रूप से त्रिपुरी समुदाय भारतीय-मंगोलियाई मूल के और भाषाई रूप से तिब्बती-बर्मी परिवार के हैं । वे कोकबोरोक भाषा बोलते हैं और लिखने के लिए बंगला लिपि का उपयोग करते हैं। त्रिपुरी समुदाय का एक वर्ग बंगालियों के संपर्क में आया जिसके कारण उसकी भाषा और संस्कृति पर बंगालियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। कोकबोरोक भाषा बोरोक समुदाय की मातृभाषा है। बोरोक को त्रिपुरी भी कहा जाता है। बोरोक समुदाय की नौ उपजनजातियों अथवा कुल के लोगों द्वारा कोकबोरोक भाषा

बोली जाती है। ये उपजनजातियां अथवा कुल हैं–**देबबर्मा, रियांग, जमातिया, त्रिपुरी, नोआतिया, कलई, मुरासिंग, रूपिनी और उचई**। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार कोकबोरोक बोलनेवालों की संख्या 8,80,537 (कुल जनसंख्या का 23.97 %) है। इस भाषा के पास गौरवमयी सांस्कृतिक परंपरा और समृद्ध लोकसाहित्य है। वर्ष 1897 में दौलत अहमद द्वारा प्रथम कोकबोरोक व्याकरण लिखा गया जिसका नाम "कोकबोरोमा" था। इसके बाद 1900 ई. में राधा मोहन ठाकुर की कोकबोरोक व्याकरण पुस्तक "कोकबोरोकमा" शीर्षक से प्रकाशित हुई। राधा मोहन ठाकुर की व्याकरण पुस्तक को त्रिपुरा सरकार ने प्रथम कोकबोरोक प्रकाशन के रूप में मान्यता दी है। कोकबोरोक त्रिपुरा में बोली जानेवाली वृहत चीनी–तिब्बती परिवार के बोडो– गारो उपवर्ग की भाषा है। पड़ोसी देश बांग्लादेश में भी यह बोली जाती है। असम की बोडो, दिमासा और कछारी भाषाओं से कोकबोरोक की बहुत निकटता है। 'कोक' का अर्थ भाषा और 'बोरोक' का अर्थ 'मनुष्य' है। इस प्रकार '**कोकबोरोक**' का अर्थ **मनुष्य की भाषा** है। पहले 'कोकबोरोक' को 'तिप्रा' कहा जाता था। बीसवीं शताब्दी में इसका नाम परिवर्तन हुआ। पहली शताब्दी से कोकबोरोक के साक्ष्य मिलते हैं जब से तिप्रा राजाओं के ऐतिहासिक अभिलेख लिखे जाने लगे । कोकबोरोक की लिपि को "कोलोमा" कहा जाता था। राजरत्नाकर नामक पुस्तक मूल रूप से कोकबोरोक भाषा और कोलोमा लिपि में लिखी गई थी। बाद में दो ब्राह्मण, सुक्रेश्वर और वनेश्वर ने इसका संस्कृत में अनुवाद किया और फिर 19 वीं शताब्दी में इसका बंगला भाषा में अनुवाद किया गया । वर्ष 1979 में त्रिपुरा सरकार द्वारा कोकबोरोक को त्रिपुरा राज्य की आधिकारिक भाषा घोषित किया गया । इसके बाद 1980 के दशक से त्रिपुरा के स्कूलों में प्राथमिक स्तर से उच्च माध्यमिक स्तर तक इसकी पढ़ाई होने लगी। त्रिपुरा विश्वविद्यालय में वर्ष 1994 से कोकबोरोक में सर्टिफिकेट कोर्स और 2001 में पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा कोर्स शुरू किया गया । त्रिपुरा विश्वविद्यालय द्वारा वर्ष 2015 से कोकबोरोक में एम.ए. का पाठ्यक्रम शुरू किया गया । कोकबोरोक भाषाभाषियों द्वारा इस भाषा को संविधान की 8 वीं अनुसूची में शामिल करने की मांग निरंतर की जा रही है । कोकबोरोक एक भाषा नहीं है, बल्कि त्रिपुरा में बोली जानेवाली कई भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है। **मणिपुर** में मैतै के अतिरिक्त 29 आदिवासी समुदाय रहते हैं। यहाँ के निवासियो को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-(1) मैतै अथवा मणिपुरी और (2)आदिवासी। आदिवासी समुदायों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–**नागा समूह के आदिवासी और कुकी–चीन समूह के आदिवासी।** मणिपुर में मणिपुरी अथवा मैतै आम बोलचाल की भाषा है। यहाँ के लगभग 54 % लोग मैतै बोलते हैं। मैतै इस राज्य की राजभाषा एवं संपर्क भाषा है। इसे मणिपुरी भाषा के नाम से जानते हैं। मीतैलोन मणिपुर की मैतै जाति की मातृभाषा है। मणिपुरी भाषा को अधिकांश भाषावैज्ञानिकों ने चीनी–तिब्बती भाषायी परिवार के अंतर्गत तिब्बती बर्मन भाषायी वर्ग की कुकी चीन भाषा के रूप में वर्गीकृत किया है। मणिपुरी भाषा की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऐसी मान्यता है कि मणिपुरी भाषा उतनी ही प्राचीन है जितनी मैतै जाति। घाटी में रहनेवाले लोगों को मीतै अथवा मैतै कहा जाता है और उनकी भाषा को मैतेलोन/ मीतैलोन कहा जाता है। आदिवासियों की भाषा उन आदिवासियों के नाम से जानी जाती है, जैसे–तंगखुल, कुकी, पाइते इत्यादि। फिर भी मणिपुरी घाटी के लोगों के साथ–साथ पहाड़ी लोगों की भी संपर्क भाषा है। टी. सी. हडसन का मानना है कि मणिपुरी आसपास के पहाड़ी आदिवासियों के वंशज हैं और उनकी भाषा मणिपुरियों और आदिवासियों के बीच जुड़नेवाली कड़ी है। डॉ ग्रियर्सन की मान्यता है कि मणिपुरी कुकी–चीन भाषाओँ की दो शाखाओं में से एक है जो तिब्बती–बर्मी परिवार का एक भाषासमूह है। मीतै भाषा की लंबी और गौरवपूर्ण साहित्यिक परंपरा है। पहली शताब्दी से ही इसके साहित्य मिलते हैं। मीतै भाषा में विभिन्न विधाओं के लगभग एक हजार पांडुलिपियों की खोज हुई है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य को 'मीतै मयक' लिपि में लिखा गया है जबकि आधुनिक साहित्य बंगला लिपि में लिखा गया है। 'मीतै मयक' लिपि की उत्पत्ति अस्पष्ट है। मीतै समुदाय के अतिरिक्त आदिवासी समाज के लोग भी मीतै अथवा

मणिपुरी भाषा बोलते हैं। सभी आदिवासी समुदायों की अपनी अलग–अलग भाषाएँ और बोलियाँ हैं जिनका प्रयोग वे आपस में बातचीत के लिए करते हैं। पाइते जनजाति के पास अपनी पाइते भाषा है। ये लोग पाइते भाषा बोलते हैं जिसके दस रूप हैं। अधिकांश पाइते **'तेईजंग' और 'दपजर'** भाषा रूपों का प्रयोग करते हैं। पाइते तिब्बती–बर्मी परिवार की कुकी–चीन शाखा से सम्बंधित भाषा है। शिक्षित पाइते हिंदी और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग भी करते हैं। पाइते भाषा को लिखने के लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया जाता है। **राल्ते** समुदाय के पास अपनी राल्ते भाषा है, लेकिन उसकी कोई लिपि नहीं है। वे अपने परिवार और सगे-संबंधियों से राल्ते भाषा में बातचीत करते हैं। ये लोग अन्य समुदाय के लोगों से मणिपुरी भाषा में बात करते हैं। **थडाऊ** समुदाय के पास अपनी थडाऊ भाषा है, लेकिन इसकी कोई लिपि नहीं है। लिपि के रूप में वे रोमन लिपि का प्रयोग करते हैं। शिक्षित लोग अंग्रेजी और हिंदी भी बोलते हैं। कुकी समुदाय तिब्बती–बर्मी परिवार की आस्ट्रो–एशियाई परिवार की भाषा बोलता है। कुकी समुदाय के सभी गोत्रों की भाषा समान है, लेकिन इसमें स्थानगत उच्चारण भिन्नता दिखाई पड़ती है। मणिपुरी भाषा से कुकी भाषा की समानता है। **आईमोल समुदाय** अपनी आईमोल भाषा बोलता है और लिखने के लिए रोमन लिपि का उपयोग करता है। **टिड्डीमचीन समुदाय** के लोग टिड्डीमचीन भाषा बोलते हैं। टिड्डीमचीन भाषा बर्मा (म्यांमार) के उत्तरी चीन हिल्स प्रांत की आम बोलचाल की भाषा है। **तराव जनजाति** की अपनी बोली है जिसे 'तरावतरोंग' कहते हैं। वेलोग मणिपुरी भाषा भी बोलते हैं और दूसरे समुदायों से मणिपुरी भाषा में बातचीत करते हैं। **अनल समुदाय** तिब्बती–बर्मी परिवार की भाषा अनल भाषा बोलता है और लिखने के लिए रोमन लिपि का उपयोग करता है। सांस्कृतिक दृष्टि से **तंगखुल नागा** जनजाति की माओ और मरम जनजाति से समानता है। पड़ोसी जनजातियों जैसे अंगामी, चाकेसांग और रेंगमा जनजाति से भी तंगखुल समुदाय की निकटता है। सामाजिक–सांस्कृतिक और जीवन शैली की दृष्टि से इन सभी जनजातियों में बहुत समानता है, लेकिन इन सभी की अपनी अलग–अलग भाषाएँ हैं। **थंगल नागा समुदाय** का मणिपुर की अन्य नागा जनजातियों के साथ घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से थंगल नागा जनजाति की मरम, कबुई, जेलियांगरोंग आदि समुदायों से निकटता है। अधिकांश थंगल मरम भाषा समझ लेते हैं, लेकिन मरम लोग थंगल भाषा नहीं समझ पाते हैं। *सांस्कृतिक और भाषिक दृष्टि से चीन हिल्स के निवासियों से **मोनसंग समुदाय** की बहुत समानता है। ये मोनसंग भाषा बोलते हैं जो तिब्बती–बर्मी भाषा परिवार की एक भाषा है। **अनल भाषा** से मोनसंग भाषा की बहुत समानता है। ग्रियर्सन ने मध्य चीन की भाषा से मोनसंग भाषा का संबंध स्थापित किया है जिसमें **लुशाई भाषा** भी सम्मिलित है। मोनसंग भाषा को लिखने के लिए हाल के दिनों तक बंगला लिपि का प्रयोग किया जाता था, लेकिन अब पढ़े–लिखे नवयुवक मोनसंग भाषा के लिए रोमन लिपि का उपयोग करने लगे हैं। इस समुदाय के लोग दूसरी जनजाति के लोगों से वार्तालाप के लिए मणिपुरी भाषा का उपयोग करते हैं।* मोयोन, मोनसांग, लमगंग और अनल समुदाय की भाषाएँ पुराने कुकी समूह में शामिल हैं, लेकिन वेलोग अब स्वयं को नागा कहते हैं। सभी नागा समुदायों की अलग–अलग भाषा है। मरम जनजाति की अपनी मरम भाषा है। यह चीनी–तिब्बती भाषा परिवार की भाषा है। यह नागा–कुकी उपसमूह के तिब्बती–बर्मी भाषा परिवार की भाषा है। औपचारिक रूप से मणिपुर की दो राजभाषाएँ हैं–मणिपुरी (मैतै) और अंग्रेजी। मणिपुर के अतिरिक्त असम और त्रिपुरा के कुछ सीमित अंचलों में भी मणिपुरी बोली जाती है। इसे यूनेस्को द्वारा एक असुरक्षित भाषा के रूप में वर्गीकृत किया गया है। मणिपुरी भाषा भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में शामिल है। यह मणिपुर में स्नातक स्तर तक की शिक्षा का माध्यम है। मणिपुरी को भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर तक एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। मणिपुरी भाषा की अपनी लिपि है-मीतै-मएक । **अरुणाचल प्रदेश** में लगभग 25 प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं। आदी, न्यिशी, आपातानी, हिल मीरी, तागिन, सुलुंग, मोम्पा, खाम्ती, शेरदुक्पेन, सिंहफ़ो, मेम्बा, खम्बा, नोक्ते, वांचो, तांगसा, मिश्मी, बुगुन (खोवा), आका, मिजी इत्यादि प्रदेश की प्रमुख जनजातियाँ हैं। इन सभी जनजातियों की

अलग-अलग भाषाएं हैं, लेकिन लेकिन अधिकांश के पास अपनी कोई लिपि नहीं है । केवल खाम्ती भाषा की अपनी खाम्ती लिपि है, लेकिन इस लिपि का प्रयोग बहुत कम होता है। अरुणाचल की भाषाओँ में इतनी भिन्नता है कि एक समुदाय की भाषा दूसरे समुदाय के लिए असंप्रेषणीय है । डॉ. ग्रियर्सन ने अरुणाचल की भाषाओं को तिब्बती-बर्मी परिवार का उत्तरी असमी वर्ग माना है । यहाँ की राजभाषा अंग्रेजी है। कोई भी जनजातीय भाषा इतनी विकसित नहीं है कि उसे राज्य की राजभाषा बनाया जा सके। इसलिए अंग्रेजी को ही शासकीय कामकाज और राज्य विधानसभा के कामकाज के लिए प्रयोग किया जाता है। विधानसभा की बहस में हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओँ का प्रयोग किया जाता है। राज्य की सेवाओं में भर्ती परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। किसी परीक्षा में हिंदी का विकल्प नहीं है। राज्य की सेवाओं में प्रवेश के लिए अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य है। राज्य सचिवालय एवं जिला स्तर पर कामकाज अंग्रेजी में होता है। केंद्र सरकार और अन्य राज्यों के साथ पत्राचार अंग्रेजी में किया जाता है। राज्य के अधिकांश कर्मचारी हिंदी पढना, लिखना एवं बोलना जानते हैं, परंतु हिंदी में प्राप्त पत्रों के उत्तर भी अंग्रेजी में दिए जाते हैं। सभी लोग संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग करते है। विद्यालयों-महाविद्यालयों में व्यावहारिक रूप में माध्यम भाषा हिंदी है । हिंदी इस प्रदेश की संपर्क भाषा है। पूर्वोत्तर भारत के भाषायी वैविध्य के बीच हिंदी संपर्क भाषा के रूप में विकसित हो गई है। इस क्षेत्र में 220 भाषाएँ हैं और सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। नागालैंड की आओ भाषा बोलनेवाला व्यक्ति उसी प्रदेश की अंगामी, चाकेसांग अथवा लोथा भाषा नहीं समझ सकता है। इसी प्रकार असम का असमिया भाषाभाषी उसी राज्य में प्रचलित बोड़ो, राभा, कार्बी अथवा मिसिंग भाषा नहीं समझ-बोल सकता है। इसलिए हिंदी पूर्वोत्तर भारत की आवश्यकता बन चुकी है। अपनी सरलता, आंतरिक ऊर्जा और जनजुड़ाव के बल पर हिंदी पूर्वोत्तर क्षेत्र में निरंतर विकास के पथ पर अग्रसर है। क्षेत्र के दूरस्थ अंचल तक हिंदी का पुण्य आलोक विकीर्ण हो चुका है। क्षेत्र की विभिन्न भाषाओं-बोलियों के रूप, शब्द, शैली, वचन-भंगिमा को ग्रहण व आत्मसात करते हुए हिंदी का रथ आगे बढ़ रहा है। हिंदी की विकास-गंगा पूर्वोत्तर के सभी घाटों से गुजरती है एवं सभी घाटों के कंकड़-पत्थर, रेतकण, मिट्टी आदि को समेटते तथा अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्हें आकार देते हुए आगे बढ़ती है। यहाँ की हिंदी में असमिया का माधुर्य है, बंगला की छौंक है, नेपाली की कोमलता है, मिज़ो का सौरभ है, बोड़ो, खासी, जयंतिया, गारो का पुष्प-पराग है, आदी, आपातानी, मोंपा भाषा की सरलता है। इस क्षेत्र में हिंदी व्यापार, मनोरंजन, सूचना और जनसंचार की भाषा बन चुकी है। पूर्वोत्तर के नौ केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त राज्य के विश्वविद्यालयों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन व अनुसंधान की व्यवस्था है। यहाँ के हजारों मूल निवासी छात्र हिंदी का अध्ययन-अनुसंधान कर रहे हैं, यहाँ के सैकड़ों मूल निवासी हिंदी के प्राध्यापक हैं। अतः पूर्वोत्तर भारत में हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है।

संपर्क

103, नवकार्तिक सोसायटी, प्लाट न.–13, सेक्टर-65, फरीदाबाद-121004

मोबाइल-9868200085, ईमेल:- bkscgwb@gmail.com

हिंदी-उर्दू विवाद की प्रमुख बहसें

कुलदीप सिंह
एम. फिल. शोधार्थी
भारतीय भाषा केंद्र, भाषा साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
ई-मेल - ks7040204@gmail.com

सारांश

साहित्यिक विवादों में हिंदी-उर्दू का विवाद बहुत पुराना एवं चर्चित विवाद रहा है। जितना अधिक विवाद हिंदी-उर्दू के बीच हुआ है शायद ही अन्य किसी भारतीय भाषाओं के बीच हुआ हो। उन्नीसवीं शताब्दी इस भाषिक विवाद की उत्सर्ग भूमि है। यह हिंदी - उर्दू का झगड़ा अंग्रजों के भारत आगमन के साथ शुरू हुआ था और आज तक यह विवाद कायम है। यह हिंदी - उर्दू विवाद, भारतीय उपमहाद्वीप की भाषा का स्वरूप क्या हो? क्या हिंदी-उर्दू दो नहीं एक ही भाषा है? क्या हिंदी से उर्दू या उर्दू से हिंदी का जन्म हुआ है? जैसे प्रश्नों के साथ शुरू हुआ और धीरे - धीरे यह विवाद दो सम्प्रदायों, दो विचारधाराओं, दो संस्कृतियों के टकराहट में बदल गया। इसी हिंदी - उर्दू विवाद की परिणीति हिन्दू-मुस्लिम विवाद के रूप में हुई। प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य हिंदी-उर्दू विवाद के कारणों का और इस विवाद से संबंधित प्रमुख बहसों का विश्लेषण है।

बीज शब्द: *भाषा, विवाद, संप्रदाय, संस्कार, इतिहास*

शोध आलेख

भारत भूमि भाषाओं का संगम है। यहाँ एक नहीं अनेक भाषाओं में इंसान गाता है, हँसता है, रोता है। यही इस जमीं की खूबसूरती है। भाषाएं किसी भी समाज के लिए फ़क़त अभिव्यक्ति मात्र का साधन नहीं होती बल्कि भाषाओं से समाज बनता भी है और संस्कारित भी होता है। भारतीय समाज गंगा जमुनी तहज़ीब से बना समाज है और गंगा जमुनी तहज़ीब ही इसकी पहचान है। हिंदी और उर्दू महज़ भाषाएं नहीं हैं ये भारतीय समाज के दो दिल हैं जिनका ज़मीर एक है जिनका इतिहास एक है। शम्भुनाथ सिंह हिंदी-उर्दू के संबंध में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं - "हिंदी और उर्दू दो एकदम अलग-अलग परम्पराएँ नहीं थीं, क्योंकि इनका अभ्युदय एक ही जातीय वातावरण में हुआ था। इनका स्वरूप धार्मिक नहीं था। लोक-जीवन में ये जुबान पर आज भी एक हैं, शिष्ट समुदायों में कलम तक आकर भले दो हो जाया करें। इतिहास में कई बार संस्कृति की सहज मिश्रित धाराओं को राजनिनीतिक चालें पुनः अलग-अलग कर देती हैं।"[1] यह दोनों भाषाएं ठीक वैसे ही हैं जैसे हिंदुस्तान और पाकिस्तान का कभी एक ही हुआ करता था और आज राजनीतिक चालों के कारण ही दो देश हैं। आज हम जिसे हिंदी - उर्दू दो भाषाओं के रूप में जानते हैं यदि हम इतिहास में पीछे की और जाएंगे तो पता चलेगा कि हिंदी-उर्दू कभी दो नहीं एक ही भाषा हुआ करती थीं। जिसे हिंदवी या रेख़्ता के नाम से जाना जाता था। अमीर ख़ुसरो इसी हिंदवी अर्थात रेख़्ता के प्रवर्तक माने जाते हैं। विद्वानों ने भी अमीर खुसरों से ही हिंदी-उर्दू जुबां की परंपरा को स्वीकार किया है। रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि "भारत के सांस्कृतिक इतिहास में

[1] शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, आनंद प्रकाशन, 2004, कोलकाता, पृ. 44

खुसरों ने बहुत बड़ी क्रांति की और, सत्य ही, वे हिंदी और उर्दू के प्रवर्तक कहलाने योग्य हैं।"[1] अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अमीर खुसरों खड़ी बोली हिंदी के ही नहीं उर्दू के भी पहले कवि हैं।

हिंदी-उर्दू उत्पत्ति संबंधी विवाद

'हिंदी' एक फारसी शब्द 'हिंद' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ होता है- 'सिंधु नदी का सीमावर्ती क्षेत्र'। भारत में हिंदी का उद्भव और विकास 7वीं शताब्दी के आस-पास संस्कृत की पाली एवं प्राकृत भाषाओं के अपभ्रंश के रूप में हुआ। हिंदी को कई नामों से जाना जाता है। आज भी इसके कई नाम प्रचलित हैं जिसे कहीं विशेषण के रूप में तो कहीं विशेष्य के रूप में प्रयोग किया जाता है जैसे देवनागरी या नागरी, आर्य भाषा, राष्ट्र भाषा या राजभाषा। लेकिन हिंदी ही अधिक पुराना नाम है। अमीर खुसरों की रचना 'खालिकबारी' को हिंदी - उर्दू का सबसे पुराना कोश माना जाता है। उसमें सभी जगह कुल बारह बार 'हिंदी' और पचपन बार 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग हुआ है। हिंदी' का अर्थ है हिंद की भाषा, और 'हिंदवी' से मतलब है हिंदुओं या हिंदुस्तानियों की भाषा। 'खालिकबारी' में कहीं भी उर्दू या रेख़्ता जैसे शब्द का ज़िक्र नहीं हुआ है। लेकिन कुछ उर्दू के हिमायतियों का मानना है कि यह हिंदी या हिंदवी उर्दू का ही पुराना रूप है, जो उचित एवं तर्कयुक्त नहीं लगता। हिंदी से उर्दू या उर्दू से हिंदी के संदर्भ रामधारी सिंह दिनकर का मत उल्लेखनीय है - "जो लोग यह कहते हैं कि हिंदी से उर्दू निकली है, उन्हें यह भी कहना चाहिए कि हिन्दुतान अरब और ईरान के पेट में था। वहीं से कढ़कर वह हिमालय और हिन्द महासागर के बीच फैला है। हिंदी से उर्दू बनी है, उर्दू से हिंदी नहीं। हिंदी में अरबी, फारसी, तुर्की शब्द बढ़ा देने और फ़ारसी मुहावरे चला देने से उर्दू का जन्म हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि हिंदी के बिना उर्दू एक पग नहीं धर सकती और उर्दू के बिना हिंदी के महाग्रंथ लिखे जा सकते हैं।"[2] ऐसे अनेक तर्क मिल जाएंगे जिनके आधार पर एकमत होकर स्वीकार किया जा सकता है कि उर्दू, हिंदी से बनी है, हिंदी, उर्दू से नहीं।

उर्दू मूलतः तुर्की भाषा का लफ़्ज़ है जिसका कोशगत अर्थ है लश्कर या छावनी का बाज़ार। वह बाज़ार जहाँ सब तरह की चीज़ें बिकती हों। हिंदी भाषा का वह रूप जिसमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की आदि के शब्द अधिक हों और जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाए। उर्दू फ़क़त एक भाषा का नाम नहीं है यह एक तहज़ीब, एक संस्कृति की पहचान है। उर्दू भाषा का इतिहास बेहद जटिल रहा है और उर्दू शब्द की उत्पत्ति भी बड़ी ही विवादस्पद रही है। आज तक ठीक ठीक निर्णय कर पाना संभव नहीं है कि उर्दू का प्रयोग पहली मर्तबा कब और किस रूप में किया गया। उर्दू भाषा के आलिम मीर 'अम्मन' के अनुसार उर्दू का जन्म अकबर के समय में हुआ और 'अबे हयात' के लेखक मुहम्मद हुसैन आज़ाद उर्दू की उत्पत्ति ब्रज भाषा से मानते हैं। लेकिन कोई ऐसे तथ्य देखने को नहीं मिलते हैं जिसके आधार पर उर्दू की उत्पत्ति प्रामाणिक रूप से स्वीकार की जा सके। हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद से प्रकाशित पंडित पदम् सिंह शर्मा की अंतिम साहित्यिक कृति 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' में यह उर्दू उत्पत्ति संबंधी समस्या दर्ज है - "उर्दू भाषा के अर्थ में कब से प्रयुक्त और प्रचलित हुआ, यह विषय अबतक विवादास्पद बना हुआ है। इसका ठीक निर्णय किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर अभी नहीं हो सका है। कुछ विचारशील विद्वानों का कथन है कि आमतौर पर उर्दू शब्द भाषा के लिए अठाहरवीं सदी के अंत में इस्तेमाल होना शुरू हुआ।"[3] अठाहरवीं सदी के अन्त तक हिन्दी, हिन्दवी, उर्दू, रेख़्ता, देहलवी, हिन्दुस्तानी, आदि

[1] दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, 2018, नई दिल्ली, पृ. 329
[2] दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 335
[3] शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अकेडमी, 1932, यू. पी., पृ. 28

लफ़्ज़ों का समान रूप में प्रयोग होता रहा किंतु अठाहरवीं सदी के उत्तरार्ध में उर्दू शब्द के कुछ उदाहरण उर्दू ग़ज़लगों की शायरी में दिखाई देने लगते हैं -

ख़ुदा रक्खे ज़बाँ हम ने सुनी है 'मीर' ओ 'मिर्ज़ा' की
कहें किस मुँह से हम ऐ 'मुसहफ़ी' उर्दू हमारी है। - मुसहफ़ी ग़ुलाम हमदानी
नहीं खेल ऐ 'दाग़' यारों से कह दो
कि आती है उर्दू ज़बाँ आते आते। - दाग़ देहलवी

उर्दू भाषा की उत्पत्ति के संदर्भ में रामधारी सिंह दिनकर महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि - "उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत और हिंदी के शब्दों को निकालकर हुआ है। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब तक खड़ीबोली में हिंदी और संस्कृत के शब्द बने रहे, तब तक उसका प्रचलित नाम भी हिंदी, हिंदवी अथवा रेख़्ता ही रहा। किंतु, जब इस भाषा पर फ़ारसी और अरबी का पूरा प्रभुत्त्व हो गया, तब से वह उर्दू कहलाने लगी।"[1] वहीं एहतेशाम हुसैन लिखते हैं कि "प्रत्येक भाषा की तरह उर्दू को भी सामाजिक आवश्यकताओं ने जन्म दिया, जिसमें धीरे - धीरे - धीरे सांस्कृतिक विचारों और साहित्यिक कृतियों का प्रवेश हुआ।"[2] अरबी फ़ारसी के प्रभाव से ही उर्दू भाषा का जन्म हिन्दू-मुस्लिम एकता की भाषा के रूप में हुआ और यही हिंदी मुस्लिम की एकता गंगा जमुनी तहज़ीब के रूप में जानी गयी। किंतु इस एकता की भाषा में उन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में भाषिक संक्रमण पैदा हुआ। जिसे हिंदी - उर्दू विवाद के रूप में जाना गया।

मूल संस्कारों के रूप में हिंदी पर संस्कृत के वृक्ष की परछाईं है तो उर्दू पर फ़ारसी, अरबी के वृक्ष की परछाईं। अधिकतर विद्वानों का मानना है कि हिंदी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की शब्द बढ़ा देने और फारसी मुहावरे चला देने से ही उर्दू का जन्म हुआ, यह बिल्कुल सच है। जो यह मानते हैं कि हिंदी, उर्दू से निकली है उनकी की आलोचना करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में लिखा है - "कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी गद्य की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है।"[3] हिंदी-उर्दू के जो इतिहास लिखे गए हैं उनमें हिंदी के इतिहासकार उर्दू को नयी भाषा मानते हैं तो उर्दू के इतिहासकार हिंदी को नयी मानते हैं। उर्दू अदीबों ने तो यह तक सिद्ध कर दिया कि "भाषा के लिए हिंदी शब्द के सर्वप्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों को ही दिया जा सकता है। हिंदुओं का इसमें ज़रा हाथ नहीं। इस बात को सभी आधुनिक उर्दू इतिहासलेखकों ने स्वीकार कर लिया है - 'उर्दू-ए-क़दीम', 'तारीख़े नस्र उर्दू', 'पंजाब में उर्दू', इत्यादि ग्रंथों के विद्वान लेखकों ने बड़ी खोज के साथ यह साबित कर दिया है कि उर्दू का सबसे पुराना नाम 'हिंदी' ही है।"[4] यह उचित नहीं लगता है। ऐसा मानने में इतिहासलेखकों और पाठकों के बीच आपसी समझदारी की कमी का अभाव ही नज़र आता है। फ़क़त समझ का फेर है।

अतः उम्र के लिहाज से नयी भाषा हिंदी नहीं, उर्दू है। उर्दू भाषा एवं साहित्य का सफ़र हिंदी-उर्दू विवाद के उथल-पुथल से भरा हुआ है। हिंदी-उर्दू के जन्म को लेकर जो विवाद है वह उपर्युक्त मतों के आधार पर ख़ारिज हो जाता है। कहा जा सकता है कि उर्दू, हिंदी से ही निकली है।

[1] दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 333
[2] हुसैन, एहतेशाम, उर्दू-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2016, इलाहाबाद, पृ. 2
[3] शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2019, इलाहाबाद, पृ. 281
[4] शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 16

राष्ट्रीय एकता की कड़ी हिंदी ही जोड़ सकती है उर्दू नहीं। आज यहां 1652 मातृभाषायें तथा 5000 से ज्यादा बोलियां प्रचलित हैं। भारतीय संविधान में हिंदी सहित कुल 22 भारतीय भाषाओं को आधिकारिक भाषा के तौर पर आठवीं अनुसूची में जगह दी गई है। हिंदी यहां के 77 प्रतिशत से ज्यादा लोगों द्वारा बोली तथा समझी जाती है। भारत की संविधान सभा नें 14 सितंबर 1949 को सर्वसम्मति से इसे 'राजभाषा' का दर्जा प्रदान किया था। देश भर में हिंदी भाषा के प्रचार- प्रसार और संवर्धन को प्रोत्साहन देने के लिए वर्ष 1953 से, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के प्रयासों से 14 सितंबर को हिंदी दिवस के रूप में मनाया जाता है।

हिंदी-उर्दू बनाम हिंदुस्तानी का झगड़ा

तत्कालीन भाषा का एक नाम हिंदुस्तानी भी था। जिसका नामकरण यूरोपियन लोगों ने किया। सत्रहवीं-अठारहवीं सदी के दौरान जब विदेशी लोग भारत आए तो उन्होंने हमारे यहाँ कि भाषा को 'इंडोस्तान'(Indostan) नाम दिया। फोर्टविलियम कॉलेज के हिंदी उर्दू अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने हिंदुस्तानी भाषा से संबंधित सोलह किताबें लिखीं, जिसमें 'अंगरेजी-हिंदुस्तानी डिक्शनरी' और 'हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण' किताब मशहूर हुई। गार्सा द तासी ने भी हिंदी-उर्दू के जिस नाम का प्रयोग किया वह 'हिंदुस्तानी' ही है। लेकिन बाद में उसे हिन्दू-मुस्लिम की साझी भाषा के नाम से जाना जाने लगा। हिंदुस्तानी नाम पर "सरकारी सनद की बाकायदा छाप उस समय लगी जब (सन् 1803 ई. में) कलकत्ते के फोर्टविलियम कॉलेज में, डॉक्टर जान गिलक्राइस्ट की देख रेख में, ईस्ट इंडिया कंपनी के यूरोपियन कर्मचारियों को देशी भाषा सिखाने के लिए एक महकमा कायम किया गया और हिंदू मुसलमान विद्वानों से उर्दू-हिंदी में पुस्तकें लिखवाई गईं। हिंदी-लेखकों में पंडित सदल मिश्र और पंडित लल्लूलाल जी प्रमुख थे, और मुसलमानों में मीर 'अम्मन' देहलवी आदि थे।"[1] ऐसा कहा जाता है कि जिस समय हिंदी उर्दू का झगड़ा चल रहा था और एक ओर वह संस्कृत-गर्भित हो रही थी, और दूसरी ओर फ़ारसी, अरबी शब्दों से लबरेज, उस समय एक तीसरी भाषा की उत्पत्ति हुई, उसी का नाम हिंदुस्तानी था। हिंदी-उर्दू बनाम हिंदुस्तानी का जो झगड़ा था उसके संदर्भ में गांधी जी का यह भी मानना था कि 'हिंदी और उर्दू' नदियां हैं और हिंदुस्तानी सागर है। हिंदी और उर्दू दोनों को आपस में झगड़ा नहीं करना चाहिए।'

अयोध्या प्रसाद खत्री हिंदुस्तानी भाषा का जन्मदाता उन लोगों को मानते हैं, जो उक्त दोनों विचारों के विरोधी थे और जो लिखित भाषा को बोलचाल की हिंदी के अनुकूल अथवा निकटवर्ती रखना चाहते थे। राजा शिवप्रसाद भी कुछ हद तक इसी विचार के थे। वास्तव में हिंदी-उर्दू के मिश्रित रूप से ही हिंदुस्तानी भाषा की निर्मिति हुई। हिंदुस्तानी भाषा को लेकर जो मुख्य विवाद था वह राष्ट्रभाषा और राजभाषा के संदर्भ में था। स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में यह विवाद तेज हुआ कि राष्ट्रभाषा हिंदी हो या उर्दू? राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा के मुद्दे पर हस्तक्षेप करते हुए गांधी जी ने हिंदुस्तानी का समर्थन किया। गांधी जी हिंदी-उर्दू की जगह उस हिंदुस्तानी भाषा का समर्थन करते थे जिसे उत्तर भारत के शहरों और गांवों में हिंदू, मुसलमान आदि बोलते हों, समझते हों और आपस के कारोबार में बरतते हों और जिसे नागरी और फ़ारसी दोनों में लिखा-पढ़ा जाता हो।

हिंदुस्तानी भाषा के पीछे अंग्रेज़ों का जो षड्यंत्र काम कर रहा था उसके संदर्भ में हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक शंभुनाथ लिखते हैं "उपनिवेशवाद एक तरफ हिंदी को उर्दू हिंदुस्तानी से लड़ाकर, दूसरी तरफ उसे भारत के दूसरे क्षेत्रों मराठी-बांग्ला-गुजराती-पंजाबी आदि की शब्द-परंपरा और अर्थ-परंपरा से काट कर, तीसरी तरफ उसे हिंदी समूह की विभिन्न

[1] शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 30

भाषाओं-उपभाषाओं, ब्रज, अवधि, मैथिली, भोजपुरी आदि की विरासत से तोड़कर किनारे कर देना चाहता था।"[1] सन् 1946 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हुई, जिसमें हिंदुस्तानी भाषा नीति को रखा गया जो असफल रही। 15 अगस्त 1947 को देश विभाजन के साथ उर्दू पाकिस्तान की भाषा बन गई। इससे हिंदुस्तानी का जो विवाद था कमज़ोर पड़ गया। हिंदी के समर्थकों का मानना था कि हिंदुस्तानी की आवश्यकता नहीं है। पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद 14 सितंबर 1949 को संविधान सभा ने नागरी में लिखी जानेवाली हिंदी भाषा को राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

हिंदी-उर्दू विवाद : नागरी और फ़ारसी लिपि

भाषा को जिस रूप में लिखा जाता है उसे लिपि कहते हैं। लिपि से ही भाषा का लिखित अस्तित्व जुड़ा होता है। लिपि के बिना भाषा का जो रूप हम देखते हैं वह वाचिक रूप कहलाता है। हर भाषा की अपनी एक अलग लिपि होती है। जो लिपि जितनी सरल एवं सुगम्य होगी वह भाषा उतनी ही समाज में लोगों के द्वारा सहज ही स्वीकार की जाएगी। हिंदी और उर्दू दोनों की लिपि क्रमशः देवनागरी एवं फ़ारसी है। देवनागरी लिपि को बाएं से दाएं लिखा जाता है तो फ़ारसी लिपि दाएं से बाएं की ओर। अक्सर कहा जाता है कि हिंदी और उर्दू को जो चीज़ अलग करती है वह लिपि ही है। लिपिभेद के कारण ही विद्वानों ने हिंदी और उर्दू को अलग-अलग माना है अन्यथा दोनों भाषाओं में इतनी अधिक समानता है कि शायद ही भारत की अन्य किसी दो भाषाओं में हो। व्याकरण ही किसी भाषा को अन्य भाषा से अलग करता है लेकिन यहाँ तो हिंदी-उर्दू का व्याकरण समान है, दोनों के सर्वनाम एवं क्रियापद भी एक ही हैं। ऐसा कभी भी दो अलग भाषाओं में देखने को नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर देखें तो हिंदी और बांग्ला भाषा के व्याकरण अलहदा हैं। लिपिभेद ही इस हिंदी-उर्दू विवाद के सबसे बड़े मुद्दों में से एक था। जिसने इस विवाद को और ज्यादा गति प्रदान की। तत्कालीन समाज में सरकारी महकमों में कामकाज के लिए जो लिपि प्रयोग में लाई जा रही थी वह फ़ारसी लिपि थी। सरकारी महकमों में सेवाएं देने वालों में समाज के जो लोग शामिल थे उनमें हिंदू मुस्लिम की बहुलता अधिक थी। जब यह भाषिक विवाद शुरू हुआ तो लिपिगत भेद इसके केंद्र में था।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदी-उर्दू के साथ फ़ारसी-नागरी लिपि का द्वंद भी शुरू हुआ। मुसलमानों के द्वारा उर्दू-फ़ारसी के हक़ में दलीलें दी जा रही थीं। पहली मर्तबा जब सैयद अहमद खां ने 1867 में पश्चिमीमोत्तर प्रांत में एक देशी भाषा में विश्वविद्यालय खोलने के लिए प्रस्ताव रखा (जिसके पीछे उनकी उर्दू भाषा की मंशा काम कर रही थी) और उर्दू की वकालत हेतु 'अंजुमन-ए-तरक्क़ी-ए-उर्दू' जैसे संगठन की स्थापना की तो वहीं दूसरी ओर हिंदू हिमायतियों के द्वारा फ़ारसी के स्थान पर नागरी लिपि के प्रयोग पर जोर दिया गया। अहमद खां के बाद राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद ने 1868 ई. में तत्कलीन सरकार को एक प्रतिवेदन 'मेमोरण्डम कोर्ट कैरेक्टर इन द अपर प्रोविन्स ऑफ़ इंडिया' लिखा जिसका उद्देश्य फ़ारसी लिपि को हटाकर नागरी लिपि बनाना था। कहते हैं कि यहीं से हिंदी-उर्दू विवाद की नींव डली और यहीं से लिपि आंदोलन की शुरुआत भी हुई। जिसके मुख्य प्रस्तोता सैयद अहमद खां और राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद थे। जिन्होंने इस लिपिगत आंदोलन को मुक़म्मल आवाज अर्थात ज़मीन प्रदान की। हिंदू 'हिंदी' और मुसलमान 'उर्दू' के पक्ष में खड़ा था। दोनों ही हर तरह से अपनी अपनी भाषा को बचाए रखने के लिए जोर लगा रहे थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी रहने न पाये, उर्दू चलाई जाये। उनका चक्र बराबर चलता रहा।"[2]

[1] शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, पृ. 36
[2] शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 295

यह बात भी बिल्कुल सही है कि हिंदी - उर्दू विवाद को समाधान देने वालों में बहुत ही गिने चुने लोग थे। बल्कि विवाद को बढ़ाने वालों की संख्या बेहद ज्यादा थी। तत्कालीन समय के न्यायमूर्ति शारदा चरण मित्र को यह मालूम हो गया था कि एक लिपि के बिना यह विवाद ख़त्म नहीं हो सकता और हिंदी-उर्दू तो क्या हिन्दू-मुस्लिम में भी एकता संभव नहीं। एकता के उद्देश्य से उन्होंने 'एकलिपि विस्तार परिषद' की स्थपना की और देवनागर पत्र आदि भी निकाले। किंतु इस संदर्भ में न तो उन्हें हिंदू ही और न ही मुस्लिमों का कोई ख़ास सहयोग मिला, तत्कालीन ब्रिटश सरकार तो यह एकता बिल्कुल भी नहीं चाहती थी। उनका एकलिपि का सपना मुक़म्मल मंज़िल तक न पहुँच सका और असफ़ल रहा। हिंदी-उर्दू विवाद मूल रूप में लिपि संबंधी विवाद का विस्तृत रूप है। पदम् सिंह शर्मा के ठीक लिखा है कि "हिंदी उर्दू को दो भिन्न भागों में विभक्त करने का प्रधान कारण लिपि का भेद है। हिंदी उर्दू के विरोध की बुनियाद लिपि-भेद पर ही कायम हुई ; विरोध का महल इसी पर खड़ा है - दोनों भाषाओं में यही भेद एकता नहीं होने देता। यह लिपि-भेद यदि दूर हो जाय, तो हिंदी-उर्दू विवाद के बखेड़े कभी न हों, सब विरोध शांत हो जाय।"[1]

हिंदी-उर्दू और ब्रिटिश कूटनीति

हक़ीक़त यह है कि हिंदी और उर्दू की वास्विक लड़ाई अंग्रेज़ों के भारत आगमन के साथ शुरू होती है। अंग्रेज़ हिंदी-उर्दू के आधार पर हिन्दू मुस्लिम को बांटना चाहता थे। इस हिंदी-उर्दू को अलग-अलग भाषा के रूप में स्थापित करने में फोर्ट विलियम कॉलेज की केंद्रीय महत्ता स्वीकार की जाती है। ब्रिटिश कूटनीति 'फूट डालो और शासन करो" की नीति ने ही उन्हें एक दूसरे का दुश्मन बना दिया। हिंदी-उर्दू विवाद महज़ एक भाषा या लिपि का विवाद भर नहीं था बल्कि यह एक ख़ास किस्म की सोच का विवाद रहा है। "खड़ी बोली हिंदी के विकास काल में हिंदी उर्दू का भद्दा झगड़ा पैदा हुआ, जो स्वाधीनता आंदोलन के काल से ही सांप्रदायिक राजनीति के साथ-साथ अब तक चल रहा है।"[2] इस हिंदी-उर्दू के विवाद को बढ़ाने में जितना योगदान ब्रिटिश कूटनीति का था उससे भी कई अधिक राजनीतिक एवं सांप्रदायिक भावनाओं ने इस विवाद की अग्नि में घी का काम किया है। बहुत पहले गिलक्राइस्ट ने हिंदी को 'गँवारू और हिंदुओं की भाषा' कहा था। दरअसल हिंदी और उर्दू के बीच बढ़े फासले की मुख्य वजह आम जन का सांप्रदायिक विभजान नहीं था, यह उपनिवेशवाद का खेल था। जिसे फ्रेंच विद्वान गार्सा द तासी के माध्यम से समझा जा सकता है। जो उन्होंने कहा वह औपनिवेशिक' फूट डालो शासन करो' की नीति का उदाहरण है - "हिंदी में हिंदू धर्म का आभास है - वह हिंदू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं।... मैं सैयद अहमद खां जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान की तारीफ में और ज्यादा कुछ कहना नहीं चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों से मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी बात नहीं है... इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली की - सी रह गई है, जो हर गाँव में अलग-अलग ढंग से बोली जाती है।"[3]

सर सैय्यद अहमद ने मुस्लिम समाज में जो हलचल पैदा की, उसके परिणाम बेशक एकायामी नहीं हैं। प्रारंभ में उनका दृष्टिकोण बिल्कुल असांप्रदायिक था, जो बाद में सांप्रदायिक तो हुआ, लेकिन आखिरी दौर में उन्होंने गहरी आत्मालोचना की - "मैं हिंदुओं और मुस्लिमों को एक ही आँख से देखता हूँ और उन्हें एक दुल्हन की दो आंखों की तरह देखता हूँ। राष्ट्र से मेरा अर्थ केवल हिंदू और मुस्लिम है तथा और कुछ भी नहीं। हम हिंदू और मुस्लिम एक साथ एक ही सरकार के अधीन समान मिट्टी पर रहते हैं। हमारी रुचि और समस्याएं भी समान। हैं अतः दोनों गुटों को मैं एक ही राष्ट्र

[1] शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 70
[2] पांडेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, 2016, दिल्ली, पृ. 100
[3] शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 298-299

के रूप में देखता हूँ"[1] दरअसल सैय्यद अहमद जी की जो हिंदू-मुसलमान को लेकर एक दुल्हन की दो सुंदर आँखें वाली भावना थी। वह जज़्बा बाद में ख़ुद नहीं बिखरा, हिंदुओं ने नहीं बिखेरा, अंग्रेजों ने उसे सभ्यताओं की टकराहट का ग्रास बना लिया था। बाद में उन्होंने मुसलमानों के प्रवक्ता के रूप में अपना रूपांतरण कर लिया। "उन्होंने 1869 में कहा, फारसी बलिपि में लिखी हुई उर्दू मुसलमानों की निशानी है"[2] उसी समय से उर्दू मुसलमानों के लिए महज एक भाषा नहीं, उनकी संस्कृति, उनका इतिहास, यहाँ तक कि उनका मजहब बन गई। सैय्यद अहमद की आलोचना करते हुए वीरभारत तलवार ने ठीक ही लिखा है कि "उर्दू को इस्लाम से जोड़ने की प्रक्रिया भी दिलचस्प थी। 18 वीं सदी के उत्तरार्ध से पहले उर्दू इस्लाम का प्रतीक कभी नहीं रही। उलटे वह एक गैरइस्लामिक जुबान समझी जाती थी। ज्ञान और कविता की भाषा फ़ारसी थी और धर्म की भाषा अरबी, जिसे समझने वाले आम मुसलमान तो क्या, पढ़े-लिखे मुसलमान भी बहुत कम थे।"[3] सैय्यद अहमद का जो हिंदू-मुसलमानों को दो आँखों से देखने का नज़रिया था वह बाद में बदला था और उन्हें इस बात की पीड़ा बड़ी सताती रही कि अंग्रेज़ों ने उनका इस्तेमाल किया।

इधर बाद में जो हिंदी आंदोलन चला उसमें बड़े-बड़े विद्वानों तथा संस्थाओं ने भाग लिया। हिंदी के हक़ में जो संस्थाएं खड़ी थीं उनमें आर्य समाज, दयानंद एंग्लो-वैदिक संस्थाएं, नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन आदि शामिल थे और सर सैयद अहमद खां, अंजुमन-ए-तरक्की उर्दू, मुसलिम लीग आदि द्वारा उर्दू का पक्ष लिया जा रहा था। हिंदी के विद्वानों की धारणा उर्दू के प्रति और उर्दू आलिमों की हिंदी के प्रति बेहद नकारात्मक और अश्लील हो चली थी। स्वयं भारतेंदु हरीशचंद्र जिन्होंने उर्दू में अनेक ग़ज़लें लिखीं, ने उर्दू को वेश्याओं और नाचने गाने वाले गँवारों की भाषा कहा। भारतेंदु ने 'उर्दू का स्यापा' लिखकर उसका मज़ाक बनाया। यही बात भारतेंदु मंडल के प्रतापनारायण मिश्र 'उर्दू बीवी की पूंजी' नामक निबंध में कहते हैं जिसमें वे उर्दू की तुलना तवायफ के कोठे से करते हैं। बाल कृष्ण भट्ट तो हिंदी-उर्दू के विवाद को छोड़, मुसलमान को 'माह जघन्य, नीच और परले सिरे के दुष्ट' कहकर हिंदू-मुस्लिम के सांप्रदायिक सौहार्द को ठेस पहुँचाते हैं। यही नहीं वे हिंदी प्रदीप (जुलाई, 1881) में एक जगह तो यह कहने से परहेज भी नहीं करते कि 'आर्यों के एकांत विरोधी मुसलमानों को अपना भाई समझना भूल है। यह वो समय था जब हिंदी-उर्दू का विवाद हिंदू-मुस्लिम के रूप बदल रहा था। भारत-पाकिस्तान का बंटवारा जो मुख्यतः हिंदुस्तानी क्षेत्र का बंटवारा था। नागरी लिपि के मामले में हिंदी का संघर्ष उर्दू के खिलाफ नहीं था, पर इसे यही रंग दिया गया और दीवारें खड़ी की गई।

'उन्नीसवीं सदी का हिंदी नावजगरण बनाम हिंदी - उर्दू की रस्साकशी' नामक लेख में अमिष वर्मा ने एकदम सटीक विश्लेषण किया है - "हिंदी को 'हिन्दू' और उर्दू को 'मुसलमान' करने का जो काम उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में किया गया उसका असर अपने चरम पर आज नजर आ रहा है। उन्नीसवीं सदी में होने वाले हिंदी नावजगरण के विभिन्न पहलुओं और उसके नायकों को अपने-अपने ढंग से 'डिफेंड' करते हुए भी आज तमाम आलोचक और इतिहासकार के इस काल-खंड में ही हिंदी के 'सोलह संस्कार' हुए और उर्दू की पूरी 'मुसलमानी' हुई। हालांकि यह काम फोर्ट विलियम कॉलेज और ईसाई मिशनरियों ने पहले ही शुरू कर दिया था लेकिन इसे अंजाम तक पहुँचाया उन्नीसवीं सदी के हिंदी आंदोलन ने।"[4]

---

[1] https://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A6%E0%A5%80%E2%80%93%E0%A4%89%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%A6%E0%A5%82_%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%B5%E0%A4%BE%E0%A4%A6; 22 फवारी 2021 को देखा गया.

[2] शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, पृ. 39

[3] तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन प्राइवेट लिलिटेड, 2006, दिल्ली, पृ. 253

[4] https://www.hindisamay.com/

हिंदी-उर्दू विवाद का दंश और गलती सुधार की इक्कीसवीं सदी

यूँ तो इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएं, विवाद व भूलें हुई जिनका पुरअसर आज तक देखा जा सकता है। इक्कसवीं सदी का भारत हिंदी-उर्दू विवाद का दंश हिंदू-मुस्लिम विवाद के रूप जिस तरह से झेल रहा है वह अत्यंत दुःखदायी है। लेकिन इस सरजमीं पर जो घटनाएं घटीं, विवाद हुए, भूलें हुई जिन्हें आज याद कर या देख कर रूह तक कांप जाती है। तक़सीम के लिए हिंदी-उर्दू विवाद ने एक चिंगारी का काम किया है। यदि हिंदी-उर्दू में यह विवाद न होता तो शायद उस वक्त इसके कारण जो हिंदू-मुस्लिम समुदाय के बीच दुश्मनी ने जन्म लिया, और जो तक़सीम हुआ वो न होता। साहिर के मन में उस वक्त न जाने क्या रहा होगा जब सन सत्तावन के आसपास उन्होंने यह गीत लिखा - ये दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है... तब चाहे उनके मन में कुछ भी रहा हो लेकिन तक़सीम के बाद उन्हें इस हिन्दुस्तां पर रोना आया होगा और फिर तभी इस गीत के बोल फूटे होंगे... आज साझा सांस्कृतिक विरासत का टूटना, सांप्रदायिकता आदि फैलना भाषा संक्रमण से पैदा हुए माहौल की परिणति है। यह बिल्कुल स्पष्ट हो चुका है हिंदी-उर्दू विवाद भाषा विवाद न रहकर एक सांप्रदायिक विवाद में बदल चुका है। हमारे मन में आज उर्दू के नाम पर मुस्लिम और हिंदी के नाम पर हिंदू धर्म की धारणा बन जाती है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि हमारे यहां भाषा का भी धर्म है। यह भारत भूमि की खूबसूरती नहीं विडंबना है कि हर चीज़ को हिंदू-मुस्लिम में बांटा जाता है। शायर अदम गोंडवी के अशआर यहां मौजूं बैठते हैं -

जो अक्स उभरता है रसखान की नज़्मों में
क्या कृष्ण की वो मोहक तस्वीर बदल दोगे।
जायस से वो हिंदी का दरिया बहके आया,
मोड़ोगे उसकी धारा, या नीर बदल दोगे।

यह आपस में लड़ने-झड़ने का समय नहीं है बल्कि इतिहास की गलतियों को सुधारने का वक़्त है। जितनी हिंदी हमारी है उतनी उर्दू भी। आज उर्दू हाशिए पर जा पहुंची है उसे बचाना उसका संवर्द्धन करना हमारा दायित्व है। इस बाबत हमारी सरकारों का भी ध्यान जाना चाहिए और तालीम देने वाले आलिम-अध्यापकों भी चाहिए कि वे भाषा को भाषा के रूप में पढ़ायें न कि एक धर्म विशेष का सहारा लेकर। विजय बहादुर सिंह ठीक लिखते हैं - "हिंदी-उर्दू पहले से जितनी और अधिक करीब आकर घुल-मिल सकें, यह फ़िरकापरस्ती के इस वक़्त में सबसे बड़ा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक उपहार होगा। जिस तरह मीर और ग़ालिब ने हिंदुओं को अलग रखकर शायरी नहीं की, उसी तरह हिंदी के लोग भी अल्पसंख्यक मुस्लिम बिरादरी को अलग और उर्दू की जनता मानकर न लिखें। कोशिश करें कि जो सांस्कृतिक पुल टूट गए हैं या टूट रहे हैं, वे न टूटने पाएं और शायरी के मार्फ़त दोनों आबादियाँ करीब आएं"[1] यह टिपण्णी बड़ी महत्त्वपूर्ण है जिसे अपनाया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

हिंदी-उर्दू विवाद जो चला उसका सबसे बड़ा कारण ब्रिटिश शासन की कूटनीति ही थी जिसे हमारे अपनो ने समझने में भूल करदी। यह कहना बिल्कुल भी अति नहीं होगा कि आज जो हिंदुस्तान-पाकिस्तान हैं उनके विभाजन की शुरुआत हिंदी-उर्दू विवाद से ही शुरू हो गई थी। हिंदी-उर्दू विवाद को लेकर दरसअल किसी ने अपने हित से परे कभी सोचा ही

[1] विजय बहादुर सिंह (2015), 'ये हिंदी ग़ज़ल क्या चीज़ है', अलाव, वर्ष 2015: अंक 45 (मई-अगस्त) : पृ. 48

नहीं केवल हिंदू हिंदी और मुस्लिम उर्दू के उद्धार के लिए संघर्ष करते रहे और उन्हें यह भी नहीं पता चला कि हमने जो संघर्ष किया दरअसल वो हिंदी-उर्दू के लिए नहीं हिंदू-मुस्लिम का बांटने भर का संघर्ष था। जिसमें ब्रिटिश शासन अपनी उपलब्धि समझता रहा। रामधारी सिंह दिनकर ने ठीक ही लिखा और यह बहुत जरूरी भी है - "भारत की संस्कृति, आरंभ से ही, सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जहाँ भी जो हिन्दू बस्ते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। तब हिन्दू एवं मुसलमान हैं, जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किंतु, उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, जो उनकी भिन्नता को कम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं, शिक्षा और साहित्य के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए।"[1]

अतः निष्कर्ष के रूप में, पदम् सिंह शर्मा के विचारों पर अमल किया जाना चाहिए जिससे हिंदी-उर्दू के विवाद को खत्म किया जा सकता है- "हिंदी वाले उर्दू साहित्य से बहुत कुछ सीख सकते हैं। इसी तरह उर्दू वाले हिंदी के खजाने से फायदा उठा सकते हैं। यदि दोनों पक्ष एक दूसरे के निकट पहुँच जायँ और भेद बुद्धि को छोड़कर भाई भाई की तरह आपस में मिल जायँ तो वह गलतफहमियाँ अपने आप ही दूर हो जायँ, जो एक दूसरे को दूर किये हुए हैं। ऐसा होना कोई मुश्किल बात नहीं है। सिर्फ मजबूत इरादे और हिम्मत की जरूरत है, पक्षपात और हठधर्मी को छोड़ने की आवश्यकता है।"[2]

संदर्भ सूची

1. शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, आनंद प्रकाशन, 2004, कोलकाता, पृ. 44
2. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, 2018, नई दिल्ली, पृ. 329
3. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 335
4. शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अकेडमी, 1932, यू. पी., पृ. 28
5. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 333
6. हुसैन, एहतेशाम, उर्दू-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2016, इलाहाबाद, पृ. 2
7. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2019, इलाहाबाद, पृ. 281
8. शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 16
9. शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, पृ. 36
10. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 295
11. शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 70
12. पांडेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, 2016, दिल्ली, पृ. 100
13. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 298-299
14. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन प्राइवेट लिलिटेड, 2006, दिल्ली, पृ. 253
15. विजय बहादुर सिंह (2015), 'ये हिंदी ग़ज़ल क्या चीज़ है', अलाव, वर्ष 2015: अंक 45 (मई-अगस्त) : पृ. 48
16. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 10
17. शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 173

[1] दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 10
[2] शर्मा, पद्मसिंह, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पृ. 173

Women Education in Ancient India: A Rethinking

Runismita Pritipuspa
Research scholar(Dept of Sahitya)
J.R.R.S.U,Jaipur
Email.id-runismitapritipuspa@gmail.com

Introduction

Every enquiry of ancient Indian education goes back to the Vedic Period. Vedas are self-revealed and others being originated later from them. They are the ways and means of achieving the spiritual goal of life the Puruṣārtha Catuṣtaya[1]. The equivalent words of education in Sanskrit are Vidyā, Śikṣā, and Jñāna. According to A.S. Alteker, from Vedic age down wards the central conception of the India has been that it is a source of illumination giving us a correct lead in the various sphere of life.[2]

Knowledge is the third eye of man which makes him capable to see the real object.[3] Upaniṣad says education is for liberation.[4] It nourishes us like the mother, directs us to to right path like the father and gives us pleasure and removes our pain like the wife. It is just like a desire-yielding tree that fulfills our desire.[5]

The status of women was held high during the Vedic period. According to scriptures women were regarded as Goddess, the embodiment of Śakti. They were worshipped as the symbol of fertility[6]. A sincere attempt has been made in this paper to discuss in details about women education in ancient India. The topic covers from the Vedic period to the Buddhist period.

Key Words: *Ancient, Education, Women, Period*

System of Education:

There was *gurukula* system of education in the Vedic period. Teacher was regarded as *Guru* or *Ācārya.* Education of the students started with *Upanayana* ceremony. The ceremony was continued for three days. During these days the *Guru* holds the disciple within him as in a womb impregnates him with his spirit and delivers him in new birth.[7]

After the ceremony the student emerges as a *Brahmachāri* and the teacher is designated as his spiritual and intellectual father.

Upanayana of Girls:

Without undergoing *upanayana saṁskāra*, nobody can recite Vedic mantras offer Vedic sacrifices. It was obligatory for the girls undergo upanayana.[8] Even Manu has mentioned the importance of *upanayana* for girls. The *Arthavaveda* refers to maidens undergoing the discipline of *Brahmacarya*.[9]

Participation in Vedic Sacrifices:

No sacrifice was complete in which the woman as the spouse of the man performing the sacrifice.[10]

In *Agrahāyaṇa* ceremony a number of Vedic hymns were recited and the harvest sacrifices were performed by women alone.[11] In the *Rāmāyaṇa* we also find Kauśalyā was performing a sacrifice alone in the morning of her husband valī was about to leave the palace to meet Surgreeva in fateful encounter.[13]

We can record the instance of Sītā offering her Vedic prayer during the days of her captivity in Laṅkā.[14]

We also find examples from *Mahābhārata* that Kunti was well-versed in the *Mantras* of *Atharvavedas*.[15]

Center of Education

During the Vedic period the family played a greater role in the educational system. As professional teachers were not available the father was treated as the usual teacher and the home as the usual school. We find so many examples in Vedic and *Upaniṣadic* literature of father teaching their sons. *Prajāpati* was the teacher of his son, *devatās, asuras* and men.[16] Āruṇi had initiated his son Śvetaketu in the study Philosophy.[17] We find rare cases of girls being educated at boaring school or colleges. But in *Mālatimādhava* we notice that Kāmandakī was educated at a college along with Bhurivasu and Devarāta.[18] This is clear case of sending girls outside for their education. *Dharmasūtras* also point out that the girls should be taught at home by their male guardians like the father, the brother or the uncle.

Co-education :

Co-education is not new to our civilization. It was prevalent in Vedic India. Both boys and girls sitting on the lap of the natural in the so called Tapovanas of the forest acquired education in an ideal way from the same Guru. It has been mentioned in *Gṛhyasūtra* that the three castes excluding the last one were required to undergo a period of religious studentship. We have also some evidence from *Chānogyopaniṣad* where king *Aśvapati* says that there is no ignorant person in my kingdom.[19] In *Uttararāmcarita*, we also find Ātreyī receiving education along with Lava and Kuśa.[20] So it is clear from the fact that education was not denied to women during Vedic time.

Type of Student

There was no strees of child marriage in that period. Majority of girls used to get married at the age of sixteen or seventeen. Only few of them could prosecute their studies after that age. The former classes were called *Sadyovadhūs* and the latter class *Brahmavādinis*. Along with the study of Vedic hymns and sacrifices, music, and dancing we taught to *Sadyovadhūs*. *Brahmavādinis* used to marry after their education was over. We find in the *Rāmāyaṇa* that *Vedavatī*, The daughter of sage Kuśādhvaja never got married.

Arrangement for teaching

Not only the male teachers but also the female teachers used to teach the girl students. The male teachers were called as *Upādhyāyas*, and the female teachers as *Upādhyāyā*. Further the wife of a teachers was known as *Upādhyāyinī*. Pāṇini refers to bording houses for girl students, *Chātraśālās* and these *śālās* were under the supervision of the *Upādhyāyās* or lady teachers.[22] But we do not have any clear evidence of the activities of lady teachers and the management of girls boarding. Girls of rich families must have received good education.

Lady Scholars

During the Vedic period the girls who remained unmarried for longer time, used to have mastery over the Vedic literature.[23] Lady student s of *Kaṭha* and *Bahvṛcha* school were known as *Kaṭhi* and *Bahvṛchi* respectively. *Kathivṛndārikā* denoted the foremost female students of the *Kaṭha* school, indicating the success of some woman students in Vedic branch.[24] *Kāśakritsṇin* has composed a treatise on *Mīmāṁsā*. The girls who studied the subject were known as Kāśakṛtsṇā. Poetesses like Viśvavārā, Sikatā,Nivāvari, Ghoṣā, Romāśā, Lopāmudrā, Apālā, Urvaśi had composed Vedic hymns. Some distinguished laady scholars like Sulabhā, Vaḍavā, Prāthiteyi, Maitreyī, and Gārgī contributed a lot to the Vedic literature and philoshophy. Gārgī and Matreyī took part in philosophical discourse along with the *Ṛṣis*.

Names of several South Indian poetesses like Revi, Rohā, Mādhavi and Śaśiprabhā were mentioned in the

Gāthā-Śapta-Sati or *Hāla*.[25]

Education in Cultured Family:

The conditions of cultured families were fairly good. The ladies of the royal families achieved a lot in the field of literary education and became good poetesses.[26] They could appoint special teachers for their girls. Special training was given to them in the fields of domestic arts and fine arts like music, painting, and dancing, garland-making and house hold decorations.[27] It has been said in *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣada* that a parent desirous for birth of a daughter perform rituals. He should pray that his daughter must be a learned one and live for hundred years.[28]

Education in ordinary family:

Unlike cultured families, the ordinary families could not employee special teacher for their girls. Literature and fine arts were te subjects of study for them. The women took resort to spinning and weaving during their leisure time to help the family and children.[29]

Women education in Buddism

Women were allowed to join *Saṅgha*. This resulted an indirect impectus to spread women education. Like *Brahmavādinis*, several ladies became nuns and poetesses to lead a life of celibacy and other went outside India to preach Buddhism. Among the nunscholars Subhā, Anupamā, Sumedhā, Vijayaṅkā and Sanghamitrā were famous. Monastery was the center of education. Girls from well-to-do families and rich merchants used to get education. Monks and nuns were living separately.

Conclusion

From the above discussions we may conclude the following:

1. Our ancient civilization is unque in respect of the position of women in the society.
2. Education was not denied to women in ancient India.
3. Ladies took parts in performing sacrifices along with the gents
4. Child marriage was not prevalent in the society.
5. Most of the educated women engaged themselves with philosophical discourse to know the ultimate reality of life.
6. At last we can creat awareness among the people to bring back the past glory of women to the present fold.

Reference

1. *ālaukikaṁ purūṣārthopāyaṁ vetti aneneti/*
2. Education in ancient India, P.4.
3. *jñānaṁ tṛtīyaṁ manujasya netraṁ samastatatvārthvilokadakṣaḥ/tojo'napekṣaṁ vigatāntrāya prabṛttimatsarva jatttrayepi// (subhāṣitaratnasandehaḥ)* p-194
4. *Sā vidyā yā vimuktaye*
5. *Māteva rakṣti piteva hite niyukte kānteva cāpi ramayatyapaniykhedam/lakṣmītanoti vitanoti ca dikṣukirtiṁ kiṁ kiṁ na sādhayti kalpalateva vidyā// (subhāsitaratnabhaṇḍāraḥ)*3.Iv.14
6. *Yatra nāryastu pūjyante ramante tatra tatra devatāḥ/ (Manusmṛtiḥ)*
7. *Ācārya upanaymāno brahmacāriṇaṁ kṛṇute grbhamantaḥ/ Atharvaveda*-XI*)*
8. *Aminttrikā tu kāryeyaṁ strīṇāmāvṛdaśeṣataḥ/saṁskārārthe śarīrasya yathākālaṁ yathākramam// 2/66*

9. *brahmacaryeṇa kanyā yuvānaṁ vindate patim/*
10. *ayajñno vā eṣa yo'palikaḥ/ śatapatha brahmaṇa* V.1.6.10
11. *Parāsaragṛhyasūtram/*(III.2)
12. *Sā kṣobhavasanā hṛṣṭanityaṁ vrata parāyaṇā/*
    agniṁ juhoti sma tadā mantra viskṛtamaṅgalā// II.20.15
13. *tataḥ svastayayanaṁ kṛtvā mantravidvijayaiṣiṇī/ (tatreva)* (IV-16.12)
14. *sandhyākālamanāḥ śyāmā dṛvamesyti jānakī/*
    nadīṁ cemāṁ śubhrajalaṁ sandhyārtha varavarṇinī/ (*tatreva*) (V-15.48)
15. *Mahābhāratam* II.20
16. *Bṛhadaranyakopaniṣad* [6.2.1]
17. *Chāndogyapaniṣad*[5.3.1]
18. *aṅka*-1
19. V.II.5.
20. *aṅka*-2
21. VII.17
22. *chātradayaḥ śālāyām*/ VI.2.86
23. A.S.Altekar, *Education in India*.P.-210
24. I,II,III,& IV
25. *kāvyamīmāṁsā* –P – 53
26. *kāmasūtram1*.3.16
27. VI.4.17
28. *Arthaśāstram*/ II.23

Bibliography

1. Altekar,A.S. (1975), *Education in ancient India*, Manohar Prakashan, Varanasi-1
2. Dash, B.N. (1994), *Foundation of Educational through and practice*, Kalayani Publishers, New Delhi-2
3. Pathak,P.D(1974) *Bharatiya Shisha Aur Uski Samasyaen*, Vindod Pustak Mandir, Agra-2
4. *Chāndogyopaniṣad*, Greeta Press, Gorakhpur.
5. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*, Geeta Press, Gorakhpur.
6. *Manusṁṛti*,(1987), Chowkhamba Sanskrit Pratisthan, Delhi-7

ग्रामीण ओडिशा में लड़कियों की शिक्षा: समस्याएं और आगे का रास्ता

कल्याणी प्रधान
पीएचडी रिसर्च स्कॉलर, भाषाविज्ञान विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश
मो- 9879734413
ईमेल- kalyanipradhan94@gmail.com

सारांश
ग्रामीण ओडिशा में कई समस्याएं हैं उनमें से लड़कियों की शिक्षा की स्थिति एक है. हालांकि वक़्त के साथ ग्रामीण हिस्सों में काफी बदलाव आया है। लेकिन ग्रामीण ओडिशा में लड़कियों की शिक्षा की स्थिति आज के समय में भी संतोषजनक नहीं है। वहीँ पिछले कुछ दशकों से सरकारों और नागरिक समाजों ने लड़कियों की शिक्षा के महत्व के बारे में बहुत चर्चा की है,इसके बावजूद आज के समय में लाखों लड़कियां स्कूल से बाहर हैं।
बीज शब्द: *शिक्षा, समाज, सरकार, व्यवस्था*

शोध आलेख

ओडिशा भारत का पूर्वी राज्य है। यह पूर्व में बंगाल की खाड़ी से घिरा है। पश्चिम में मध्य प्रदेश, उत्तर में बिहार, उत्तर-पूर्व में पश्चिम बंगाल और दक्षिण में आंध्र प्रदेश। 2011 की जनगणना के अनुसार ओडिशा की कुल जनसंख्या 4 करोड़ 19 लाख 74 हजार 218 थी. जो कि भारत की कुल जनसंख्या का 3.47 प्रतिशत है. जिसमे से पुरुषों की जनसंख्या 2 करोड़ 12 लाख 09 हजार 812 है. जबकि महिलाओं की जनसंख्या 2 करोड़ 07 लाख 64 हजार 406 है। कुल जनसंख्या के लगभग 83.31 प्रतिशत लोग ओडिशा के ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं. ग्रामीण ओडिशा में कई समस्याएं हैं उनमें से लड़कियों की शिक्षा की स्थिति एक है. हालांकि वक़्त के साथ ग्रामीण हिस्सों में काफी बदलाव आया है। लेकिन ग्रामीण ओडिशा में लड़कियों की शिक्षा की स्थिति आज के समय में भी संतोषजनक नहीं है। वहीँ पिछले कुछ दशकों से सरकारों और नागरिक समाजों ने लड़कियों की शिक्षा के महत्व के बारे में बहुत चर्चा की है,इसके बावजूद आज के समय में लाखों लड़कियां स्कूल से बाहर हैं। साल में कई बार ऐसे मौके आते हैं जब हम लड़कियों और महिलाओं को देवी मानकर पूजते हैं और जब अवसर खत्म हो जाते हैं तो हम उन्हें हीन समझकर गाली देते हैं।

शिक्षा सबसे शक्तिशाली उपकरण है जिसका उपयोग व्यक्ति अपने जीवन को विकसित करने के लिए करता है। यह देखा गया है कि दुनिया भर की सरकारें इस क्षेत्र में अधिक पैसा निवेश करके अपने नागरिकों को शिक्षित करने के लिए कड़ी मेहनत कर रही हैं क्योंकि वे जानते हैं कि शिक्षा देश के विकास में अहम भूमिका निभाता है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्षेत्र माना जाता है क्योंकि किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास शिक्षा पर निर्भर करता है। पिछले कुछ वर्षों में, केंद्र और राज्य सरकारों ने अपनी शिक्षा प्रणाली के विकास और और उसके कौशल को बढ़ाने के लिए के लिए कई पहल की हैं। आज देश भर में केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा कई योजनाएं चलाई जा रही हैं। ऐसी योजनाएं बहुत लोकप्रिय हैं और वे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं; मध्याह्न भोजन कार्यक्रम उनमें से एक है। हाल के वर्षों में, शहरी भारत ने लड़कियों की शिक्षा के संदर्भ में ऐतिहासिक विकास देखा है, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत सारे काम किए जाने की जरूरत है।

भारत की 2011 की जनगणना के अनुसार, शहरी और ग्रामीण क्षेत्र के बीच का अंतर लगभग 16 प्रतिशत है और ग्रामीण क्षेत्र में पुरुष और महिला के बीच का अंतर लगभग 20 प्रतिशत थी। शिक्षा का अधिकार अधिनियम के लागू होने के बाद बालिकाओं की शिक्षा की स्थिति धीरे-धीरे पिछली स्थिति की तुलना में बेहतर हो रही है, लेकिन हमें अभी भी इस दिशा में विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में कड़ी मेहनत करनी है। आज के परिदृश्य में, यह कठिन तथ्य है कि लड़कियां विभिन्न क्षेत्रों में अद्भुत काम कर रही हैं। भारत का संविधान हमें जेंडर के मामले में बराबरी का दर्जा देता है लेकिन ग्रामीण समाज में ऐसे कई लोग हैं जो अभी भी लड़के और लड़कियों के बीच भेदभाव करते हैं। ग्रामीण इलाकों में अक्सर देखा जाता है कि शिक्षा देने में लड़कियों की तुलना में लड़कों को अधिक प्राथमिकता दी जाती है। कई बार ऐसा भी होता है कि पैसे और जागरूकता की कमी के कारण गरीब ग्रामीण अपने सभी बच्चों को शिक्षा नहीं दे पाते हैं। ऐसे में जब भी एक या दो बच्चों की शिक्षा देने की बात आती है तो वे लड़कियों की बजाय लड़कों को ज्यादा तरजीह देते हैं। चूँकि यहाँ की ग्रामीण समाज आज भी पितृसत्तात्मक समाज माना जाता है इसलिए कई बार इस मानसिकता के कारण ऐसा भेदभाव भी होता है। इस संबंध में हमें ग्रामीण लोगों को लड़कियों की शिक्षा के प्रति संवेदनशील बनाना होगा।

उड़ीसा में लड़कियों के सामने आने वाली समस्याएं

इसमें कोई शक नहीं कि सदियों से लड़कियों को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। वे अब विभिन्न क्षेत्रों में भेदभाव का सामना कर रहे हैं। आज के समय में इस तरह के भेदभाव के अलावा, कई अन्य समस्याएं हैं जो ओडिशा में लड़कियों की शिक्षा को प्रभावित करती हैं, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में। समावेशी समाज के लिए लड़कियों की शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए। हमें लड़कियों के प्रति अपने भेदभावपूर्ण व्यवहार को रोकना चाहिए क्योंकि इस तरह की प्रथाएं हमारे देश के विकास में बाधक हैं और लड़कियों को हीन बनाती हैं। लड़कियों की शिक्षा में बाधक मुख्य समस्याएँ नीचे दी गई हैं:

लिंग में भेदभाव

ग्रामीण समाज में ऐसे कई परिवार हैं जो अभी भी लड़के और लड़कियों के बीच भेदभाव करते हैं। गांवों में अक्सर देखा जाता है कि लड़कियों से ज्यादा लड़कों को प्राथमिकता दी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में, कुछ परिवार ऐसे हैं जिनकी यह रूढ़िवादिता है कि शिक्षा केवल लड़कों के लिए ही महत्वपूर्ण है। लेकिन वक़्त बदल रहा है, देश के विभिन्न हिस्सों में लड़कियां लड़कों की तुलना में बेहतर प्रदर्शन कर रही हैं। लेकिन आज भी ग्रामीण लोगों की सोच में बदलाब नहीं आ पाया है। इस COVID-19 महामारी के दौरान भी जब शिक्षा ऑनलाइन मोड में बदल गई, तो ऑनलाइन कक्षाओं में भाग लेने के लिए संचार उपकरण अनिवार्य हो गए, तब कई माता-पिता लड़कियों के बजाय लड़कों को मोबाइल फोन और लैपटॉप जैसे संचार उपकरण देने लगे। ऐसी स्थिति में ऐसी सुविधाओं के अभाव में लड़कियों की शिक्षा को काफी नुकसान हुआ है।

गरीबी की मार

आरटीई अधिनियम के लागू होने के बाद, सरकारी स्कूलों में शिक्षा लेना मुफ्त है लेकिन हम सभी जानते हैं कि लड़कियों को अच्छी और आगे की शिक्षा प्रदान करने के लिए वित्तीय स्थिति मायने रखती है। यह हमेशा कहा जाता है कि शैक्षिक अभाव और गरीबी साथ-साथ चलती है, खासकर जब लड़कियों को शिक्षा प्रदान करने की बात आती है। ग्रामीण ओडिशा में ऐसे लाखों गरीब लोग रहते हैं जिनकी आय बहुत कम है, और उनको अगर बेटा और बेटी में किसी एक को

स्कूल भेजने की बात होती है तो वोह बेटी के वजाए बेटे को ही चुनते हैं. गाँव में आधी से जादा लड़कियां किसी स्कूल के वजय घर पर काम करती मिल जायेंगी. गरीबी की मार सब से जादा लड़कियों पर ही पड़ता है.

कम उम्र में विवाह

पिछले कुछ दशकों में, ग्रामीण ओडिशा में कम उम्र में कई लड़कियों की शादी देखी गई है। ग्रामीण इलाकों में, लड़कियों को दूसरों की संपत्ति माना जाता है, इसलिए उन्हें लड़कों की तुलना में अपने माता-पिता और समाज से ज्यादा मूल्य नहीं मिलता है। ग्रामीण भारत में ऐसे कई परिवार हैं जो शादी की उचित उम्र के संबंध में सरकार के नियमों का पालन नहीं करते हैं। उनको लगता है जितनी जल्दी लड़की को विदा कर दिया जाये उतना बेहतर है. या फिर कोई नौकरी वाला रिश्ता आ जाये तो वोह बिना कुछ सोचे लड़की की शादी कर देते हैं. गाँव के आधे से जादा लोग पढ़े लिखे नहीं होते हैं. उनको पढाई का मूल्य भी पता नहीं होता है. उनको लगता है की लड़का अगर पढ़े गा तो घर की उन्नति और लड़की की बरी आती है तो वोह सोचते हैं दो अक्षर पढना आ जाये तो काफी है क्यूँ की आखिर में लड़की को घर ही संभालना है.

असुरक्षित पर्यावरण

लड़कियों के खिलाफ हिंसा अब देश के विभिन्न हिस्सों में एक गंभीर समस्या बन गई है। पिछले कुछ वर्षों में, हमने देश भर में लड़कियों के खिलाफ हिंसा से संबंधित कई मामले देखे हैं। ऐसा मुद्दा मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं है बल्कि लड़कियों की शिक्षा को नकारने में भी बड़ी भूमिका निभाता है। लगभग हर दिन हम अखबारों में लड़कियों के खिलाफ हिंसा से जुड़े सैकड़ों मामलों के बारे में सुनते और पढ़ते हैं। इस तरह की लगातार घटनाएं बताती हैं कि हमारा पर्यावरण किस हद तक लड़कियों के लिए असुरक्षित हो गया है। जिस वजह से गाँव में माता पिता अक्सर लड़की को स्कूल भेजने से मना कर देते हैं. क्यूँ की हर गाँव में स्कूल नहीं होता है. आज भी बहुत सारी जहग में बच्चे ३/४ km दूर स्कूल में पढने के लिए जाते हैं.

घरेलू काम का बोझ

यह देखा गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कई लड़कियों के लिए घरेलू काम का बोझ भी एक बड़ी समस्या है। कई शोध अध्ययनों से पता चलता है की लड़कियों पर लड़कों की तुलना में घरेलू काम का बोझ अधिक होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में, कई परिवार संयुक्त परिवार होते हैं इसलिए घरेलू कार्यों को करने के लिए लड़कियों के साथ-साथ महिला सदस्यों पर भी बोझ पड़ता है। ऐसे में कई लड़कियां अक्सर क्लास मिस कर देती हैं या देर से अपने स्कूल पहुंचती हैं। कई बार यह देखा गया है कि लड़कियां पैसे कमाने के लिए घरेलू कामों में शामिल होती हैं। इस मामले में, वे हर दिन काम में अच्छा समय बिताते हैं और मुश्किल से ही स्कूलों में जाने का समय पाते हैं। कई लड़कियां स्कूल से घर आने के बाद पढने के लिए समय नहीं पति है क्यूँ की उनको घर का काम करना होता है.

शौचालय की सुविधा का अभाव

ग्रामीण क्षेत्रों में आज के समय में भी कई स्कूलों में अलग से शौचालय की सुविधा नहीं है। यह देखा गया है कि लड़कियों के लिए शौचालय की सुविधा की कमी के कारण लड़कियां स्कूलों में सहज महसूस नहीं करती हैं। एक लड़की के लिए मासिक चक्र एक प्राकृतिक प्रक्रिया है जो किसी भी समय कहीं भी शुरू हो सकती है। जब एक लड़की को स्कूल में

मासिक धर्म आता है तो इस कठिन परिस्थिति में, हर कोई उम्मीद करता है कि लड़कियों के लिए अलग शौचालय या बाथरूम की सुविधा होनी चाहिए। यह कड़वी सच्चाई है कि गांवों में स्थित कई स्कूलों में या तो शौचालय की सुविधा नहीं है या फिर इतने गंदे शौचालय हैं की कई लड़कियां स्कूल जाने के लिए इच्छा नहीं करती हैं। यह देखा गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित कई स्कूलों में अभी भी मिश्रित शौचालय हैं और गोपनीयता और आराम की कमी के कारण लड़कियां इसका उपयोग करने में सहज महसूस नहीं करती हैं।

लड़कियों के लिए सरकारी योजनाएं

बालिकाओं के रास्ते में आने वाली विभिन्न समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, केंद्र और राज्य सरकारों ने भारत में लड़कियों के सशक्तिकरण के लिए कई महत्वपूर्ण योजनाएं शुरू की हैं। आज के समय में ऐसी योजनाएँ अब लड़कियों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। कई महत्वपूर्ण योजनाओं का उल्लेख नीचे किया गया है:

बीजू कन्या रत्न योजना

भारत में कुछ क्षेत्रों में बालिकाओं की स्थिति अच्छी नहीं है और यह बहुत महत्वपूर्ण है कि लड़कियों के विकास के लिए पहल की जाए। पहले भी कई योजनाएं और पहल की गई हैं और देश में लड़कियों के लिए कई योजनाएं पहले से चल रही हैं लेकिन अभी भी ऐसे जिले हैं जहां लड़कियों की स्थिति अच्छी नहीं है। ओडिशा में भी कुछ ऐसे जिले हैं जहां बालिकाओं को अभी भी एक बोझ के रूप में लिया जाता है और उनके रहने की स्थिति बहुत दयनीय है। इसे ध्यान में रखते हुए ओडिशा में 3 सितंबर 2016 में बीजू कन्या रत्न योजना नामक एक नई योजना शुरू की गई। इस योजना का मुख्य उद्देश्य है की लड़कियों को प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करना, हर स्कूल में लड़कियों के लिए शौचालय का प्रावधान, लड़कियों के लिए आत्मरक्षा प्रशिक्षण, स्कूलों से लड़कियों के ड्रॉपआउट अनुपात पर नज़र रखना, शिक्षा तक पहुंच को बढ़ावा देना, किशोरियों को यौन और प्रजनन पर संवेदनशील बनाना, स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों आदि।

ओडिशा की खुशी योजना

ओडिशा की खुशी योजना का उद्देश्य राज्य की महिलाओं को अच्छी मासिक धर्म स्वच्छता देखभाल प्रदान करना है। इस पहल का उद्देश्य स्कूल जाने वाली किशोरियों के बीच स्वास्थ्य और स्वच्छता को बढ़ावा देना है जिससे स्कूल में उच्च प्रतिधारण और महिलाओं का अधिक सशक्तिकरण हो सके।

किशोरी शक्ति योजना

किशोरी शक्ति योजना भारत में महिला और बाल विकास मंत्रालय द्वारा शुरू की गई एक योजना है, जिसे एकीकृत बाल विकास सेवा सरकारी कार्यक्रम के तहत 11 से 18 वर्ष की आयु की किशोर लड़कियों के लिए ओडिशा सरकार द्वारा लागू किया गया है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य पोषण और लिंग के नुकसान के अंतर-पीढ़ी के जीवन चक्र को तोड़ना और आत्म विकास के लिए एक सहायक वातावरण प्रदान करना है।

बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ

भारत सरकार ने 22 जनवरी, 2015 को पानीपत, हरियाणा में बेटी बचाओ बेटी पढाओ (बीबीबीपी) योजना शुरू की।

इस कार्यक्रम का उद्देश्य लड़कियों को लिंग आधारित गर्भपात जैसे सामाजिक भेदभाव से बचाना और पूरे देश में बालिका शिक्षा को बढ़ावा देना है। दुनिया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य सामाजिक आर्थिक दृष्टिकोण को बदलना है। बीबीबीपी के मुख्य उद्देश्य नीचे दिए गए हैं।

- शैशवावस्था में बालिकाओं की सुरक्षा और कल्याण की गारंटी देना।
- चुनिंदा लिंग आधारित गर्भपात को रोकना।
- लड़कियों को सुरक्षित माहौल देना।

बालिका समृद्धि योजना

बालिका समृद्धि योजना एक छात्रवृत्ति कार्यक्रम है जिसका मुख्य उद्देश्य गरीब परिवारों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य लड़कियों की सामाजिक स्थिति में वृद्धि करना, उनकी विवाह योग्य आयु में वृद्धि करना और स्कूली अध्ययन के लिए नामांकन में वृद्धि करना है। यह कार्यक्रम ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में उपलब्ध है। जब एक लड़की का जन्म होता है, तो बच्चे की मां को नकद पुरस्कार दिया जाता है, बाद में, स्कूल में, एक बालिका रुपये से लेकर वार्षिक छात्रवृत्ति अर्जित करेगी। 300 से रु. 1000. इस योजना की पात्रता यह है कि लड़की का बच्चा बीपीएल परिवार से संबंधित होना चाहिए। बच्चों का जन्म 15 अगस्त 1997 को और उसके बाद होना चाहिए।

लाडली योजना और कन्या कोष योजना

2011 में, हरियाणा में भारत में जन्म के समय बहुत कम लिंगानुपात था, प्रत्येक 1000 लोगों में से 834 लड़कियां, राज्य सरकार स्थिति को बदलने के लिए विभिन्न कदम उठाती है। फिर उन्होंने लाडली योजना शुरू की, यह रुपये का वित्तीय इनाम प्रदान करती है। 5000 / - हर साल 5 साल तक उन सभी माता-पिता को जिनकी दूसरी लड़की का जन्म 20 अगस्त 2005 को और उसके बाद हुआ है, जाति, धर्म, मजदूरी और बेटों की संख्या की परवाह किए बिना।

2015 में, मनोहर लाल खट्टर के नेतृत्व वाली हरियाणा सरकार ने "कन्या कोष" कार्यक्रम का अनावरण किया, इसमें पहले भाई-बहन शामिल हैं। जब पहली बालिका का जन्म होगा, तो कुल 21,000 जमा किए जाएंगे। जब लड़कियां 18 वर्ष की आयु तक पहुंचती हैं, तो शेष राशि बढ़कर 1 लाख हो जाएगी। इस योजना की पात्रता यह है कि बालिका का जन्म 30 अगस्त 2005 को और उसके बाद होना चाहिए।

निष्कर्ष

कई अध्ययनों से यह साबित हो चुका है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा लेने की बात आती है तो लड़कियों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में हर दिन लड़कियों को लैंगिक भेदभाव, घर के काम, असुरक्षित वातावरण, गरीबी, जल्दी विवाह और शौचालय की सुविधा की कमी जैसी बड़ी समस्याओं का साम ना करना पड़ता है। ऐसी समस्याएं लड़कियों की शिक्षा को बुरी तरह प्रभावित करती हैं और उनके जीवन को दयनीय बना देती हैं। हालाँकि ग्रामीण क्षेत्रों में बालिकाओं की शैक्षिक स्थिति दिन-ब-दिन बेहतर होती जा रही है लेकिन हमें अभी भी इस दिशा में बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। हमें यह समझना चाहिए कि हम लड़कियों को शिक्षित किए बिना समावेशी समाज नहीं बना सकते। हालांकि बालिकाओं के रास्ते में आने वाली ऐसी बड़ी समस्याओं को देखते हुए, केंद्र और ओडिशा राज्य सरकार

ने लड़कियों के सशक्तिकरण के लिए कई महत्वपूर्ण योजनाएं और कार्यक्रम शुरू किए हैं। आज के समय में बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ, सुकन्या समृद्धि योजना, बालिका समृद्धि योजना, मुख्यमंत्री कन्या सुरक्षा योजना जैसी योजनाएं अब लड़कियों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। हमें अपने समाज को शिक्षित करना चाहिए ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोग शिक्षा के मूल्य को आसानी से समझ सकें। हमें समाज की बेहतरी के लिए अपनी लड़कियों को सुरक्षित वातावरण भी मुहैया कराना चाहिए। इसके अलावा, स्थानीय प्रशासन और सरकार को लड़कियों के लिए साफ और अलग शौचालय या बाथरूम की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि वे स्कूल में सहज महसूस कर सकें। देश के एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में हमें लड़कियों से संबंधित अपने भेदभावपूर्ण और पितृसत्तात्मक विचारों को त्याग देना चाहिए जो उनकी प्रगति में बाधक हैं। हमें यह समझना चाहिए कि बेहतर शिक्षित लड़कियां पूरे समाज को बेहतर बना सकती हैं और वे दूसरों को भी शिक्षित कर सकती हैं। शिक्षित लड़की ही अपने जीवन को प्रगति की ओर ले जा सकती है।

उपाय

हर समस्या का समाधान है। इस समस्या के कुछ उपाय भी हैं नीचे दिए गए हैं।

समाज को शिक्षित करें

हमें समाज को शिक्षित करना है; हम उन्हें बताते हैं कि शिक्षा सभी के लिए महत्वपूर्ण है लेकिन लड़कियों के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है। हमने लड़की को पढ़ाया यानी हम पूरे समाज को शिक्षित करते हैं, इसलिए हम लक्ष्य शिक्षा के महत्व को समझते हैं। अगर हम उन्हें बताएं कि यह मददगार होगा। अगर हम एक लड़की को शिक्षित करते हैं तो वह समाज को जवाब देने की अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए अपने कौशल और क्षमता का उपयोग करेगी। पढ़े-लिखे साधु-संन्यासी ये जिम्मेदारी लेते हैं कि गूगल और शहरी इलाकों में जाकर उन्हें बालिका शिक्षा का महत्व बताएं क्योंकि एक गांव की जरूरत होती है क्या शिक्षक बालिका बचपन आपको समाज की मानसिकता को शुद्ध करने में भी शामिल है और जानवर लैंगिक पूर्वाग्रह के जीवाणुओं को अपने से दूर रखते हैं। उनके दिमाग और विचार भी, तभी वे लड़कियों को शिक्षित होने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

सुरक्षित वातावरण प्रदान करें

सरकार और हमारे समाज को सुरक्षित वातावरण की सवारी करने के लिए कुछ उचित कदम उठाने चाहिए जैसे स्कूल परिसर में सीसीटीवी कैमरे लगाना, स्कूलों के अनुकूल माहौल बनाने जैसे प्रारंभिक कदम उठाना, लड़कियों के संस्करण के 1 किलोमीटर में स्कूल खोलना और स्कूल बसों और स्कूल परिसर में महिला अंगरक्षक और शिक्षक कंडक्टर नियुक्त करना। प्रमुख लड़कियों की सुरक्षा और स्वच्छता के लिए मशीनों की सुविधा प्रदान करना, स्कूल में लड़कियों और लड़कों के लिए अलग-अलग शौचालय होना, पाठ्यक्रम में आत्मरक्षा स्कूलों को एक ऐसे विषय के रूप में शामिल करने की पहल करना, और जिसे छात्राओं के लिए अनिवार्य बनाया जाना चाहिए ताकि वे महिला सशक्तिकरण के लिए स्वयं की रक्षा करने में सक्षम हों। विशेष प्रशिक्षण सत्र और कार्यशालाओं का नियमित आधार पर आयोजन किया जाना चाहिए। अधिक योग्य लड़कियों को अवसर देने के लिए इसे खेल या टूर्नामेंट के रूप में भी लिया जा सकता है।

काम का बोझ कम करना

अगर हम लड़कियों के घर के काम के बोझ को कम करने की बात करें तो हम घर के काम को लड़कियों और लड़कों दोनों के बीच बांट सकते हैं ताकि स्वचालित रूप से लड़कियों का काम का बोझ भी कम हो जाएगी और समानता भी आएगी। इसके लिए हमें लड़कों को यह सिखाना होगा कि घर का काम बस लड़कियों का नहीं होता लड़कों का भी होता है क्यूँ की घर दोनों का है। यहां तक कि एनईपी 1986, कोठारी आयोग जैसी सभी शैक्षिक नीतियों और आयोगों ने घरेलू काम करने के कौशल सहित कार्य शिक्षा की अवधारणा पेश की है जो लड़कियों और लड़कों दोनों के लिए कठिन है। अत: यदि इन सभी उपायों का पूर्ण रूप से पालन किया जाए तो ग्रामीण बालिका शिक्षा में आने वाली सभी समस्याएं दूर हो जाएंगी। और लड़कियां दीये की तरह चमकेंगी- ज्ञान, शक्ति, आत्मविश्वास का दीपक, और समग्र रूप से उज्ज्वल भविष्य बनाएंगी।

संदर्भ

1. सेट्टी, ई., और रॉस. ई। (1987)। ग्रामीण भारत में अनुप्रयुक्त शिक्षा में एक केस स्टडी। कम्युनिटी डेवलपमेंट जर्नल, खंड-22, अंक-2, पृ.120-129.
2. सेलवन, ए. (2017)। उच्च शिक्षण संस्थानों में ग्रामीण छात्राओं की समस्याएं। स्कॉलरली रिसर्च जर्नल फॉर ह्यूमैनिटी साइंस एंड इंग्लिश लैंग्वेज, वॉल्यूम-4/23।
3. घोष, एम. और मलिक, डी. (2014)। एक उलझी हुई बुनाई: उत्तर भारत में ग्रामीण महिलाओं के जीवन में शिक्षा के परिणामों का पता लगाना। शिक्षा की अंतर्राष्ट्रीय समीक्षा, खंड-61, पृ.343-364।
4. जैन पी, और अग्रवाल, आर। (2017)। ग्रामीण भारत में महिला शिक्षा। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज एंड ह्यूमैनिटीज, वॉल्यूम -1, पी.21-26।
5. कौर, एस. (2017)। ग्रामीण महिलाओं का शैक्षिक अधिकारिता: पंजाब गांव का एक अध्ययन। शैक्षिक क्वेस्ट: एक इंट। जे. ऑफ एजुकेशन एंड एप्लाइड सोशल साइंस, वॉल्यूम-8, अंक-1, पी.95-101.
6. कौशिक, एस. और कौशिक, एस. एट अल (2006)। ग्रामीण क्षेत्र में उच्च शिक्षा किस प्रकार मानव अधिकारों और उद्यमिता में मदद करती है। जर्नल ऑफ एशियन इकोनॉमिक्स, वॉल्यूम-17, अंक-1, पी.29-34।

Transgenics in Atwood's Oryx and Crake

Priyanka
Research Scholar
Department of English, MEOFL
HNBGU Srinagar Garhwal
Email- npriyanka467@gmail.com

Abstract: *Oryx and Crake details about many experiments which are still in human mind. It looks like a prediction of future where science will do such advancement to create everything. Developments aren't bad but to disturb natural ecology for science will affect us badly. Atwood gives us a hint of those consequences in her novel. The BlissPluss Pill project which was done by the brilliant and intelligent Crake became the reason of pandemic. This too much technology eventually lead all the characters to death. Well, transgenesis has been a major theme in the novel. Pigoon is obviously the first and most talked about in the entire trilogy. Several other experiments are also done at the campus of OrganInc, Nooskin and Watson-crick through transgenesis. All of them has a major role in the plot. They here and there help the plot to proceed. Also, some of them have an impact on the main character, Jimmy aka Snowman.*

Keywords: *Anthropocentric, Genetic alteration, Technology, Mutation, Ecology, Transplantation*

Research Summary: Transgenics came as a revolution to our world. in the late 1970s there happened some experiments with genetic engineering and termed as transgenics. It opened several doors for scientists to a new world. It is still developing and there are many corners which are still untouched. In the novel Oryx and Crake writer introduces a number of creatures who are created through genetic modification and splicing. The main protagonist Jimmy has raised amongst such creatures. The novel presents a picture of how circumstances change for Jimmy after pandemic. There is extra focus on 'pigoons' who were likeable when jimmy was just a boy but the same cute creatures turned into monsters in the later part of the novel. This paper accounts the detail of those creatures and just keep it straight that human brain is a blessing. It may invent a hundred things to make the life comfortable but the condition should be that it must be aware of its limits.

Introduction

Transgenesis is a mode of experimentation involving insertion of a foreign gene into the genome of an organism, followed by germ-line transmission of a gene and analysis of the resulting phenotype in the progeny. Transgenesis can be used to induce the expression of an exogenous gene of interest. Alternatively, gene targeting can be used to interrupt the sequence ("knockout") of a specific endogenous gene.[1]

Transgenesis is an extremely powerful tool for the genetic analysis and manipulation of mice and other animals. As defined above, a transgene is an experimentally introduced DNA segment carried in the genome of a host animal. A transgene can be designed to encode a new gene product in the transgenic animal, or it can be introduced with the intent of altering or disrupting a host gene at its site of insertion. In many cases, a transgene will do both, for example, disrupt an endogenous gene while expressing a new gene product. Thus, the application of transgenesis take advantage of its ability to induce both loss-of-function and gain-of-function genetic alterations.[2]

"Transgenesis can be defined as the uncontrolled transfer of foreign DNA into the germline of an animal species. Transgenesis became possible only after significant advances were made in the

understanding of developmental, reproductive, and molecular biologic principles of the mammalian genome."[3] These definitions put enough light on what transgenics is and how it is done. It is a way through which we can try creating a creature of our own desire. Nowadays crops, insects etc. are tailored using genetic experimentations. Such is done to find a better entity which may adapt in various circumstances and of some use for humans. As almost the researches are anthropocentric so there is always an angle of benefiting the human species. Transgenesis is regarded as a positive step by many but everything comes with some adverse effect as well. The biggest challenge is that many of the biologists see it as a process that support interference to the naturals, to originals.

Oryx and Crake is the first part of MaddAddam trilogy written by Margaret Atwood. It gives a lot of preference to the transgenic projects going inside the compound life where the main character Jimmy aka snowman grows up. Crake is one of the protagonists. He is also raised in compound, gets his higher education from an institution which is engaged in such experiments only. Later he develops a species who is perfect according to him. He is the one who invents the BlyssPluss pill too. Pigoon, rakunk, snat etc. are the names reader come across in the novel. We will further read about the attributes of such creatures in length.

Pigoon: this word is used throughout the work and other parts of the trilogy. Pigoons were the major project on which OrganInc farms people were working on. Farm had invested lots of money on this project. Pigoon was a host body for those people who were looking for kidney, liver or heart to replace. Earlier pigoons could provide one or two organs but Jimmy's father and his team was working on that technique through which a pigoon could provide more than four organs at a time. The body of pigoon was properly vaccinated so that it remained immune to harmful microbes and viruses. Many people need organs when their own stops working for some reason. They have to suffer and search. OrganInc was solution for such people, they wouldn't have to run and contact many. They could simply go to OrganInc during those crucial hours. The advantage of such project was that even you extract all the extra organs from the body of pigoon, they will grow new one. "Pigoon organs could be customized, using cells from individual human donor, and the organs were frozen until needed."[4]

Jimmy on seeing pigoons felt pity on them because they were caged in a small pen; it was inadequate as compared to their large numbers. They were "bigger and fatter than the ordinary pigs"[5] due to extra organs inside them. They were kept under high safety walls to keep their genetic composition secure from rival groups. Everyone had to wear biosuits and face mask inside the pens. Washing hands with disinfectant soap or putting a sanitizer was also a compulsory step. Jimmy liked small pigoons, pigoonlets because the adults were frightening. Pigoons had an entirely different situation during Jimmy's childhood. There used to be twelve in a single row in the pen. They couldn't roam freely and watching them in such conditions used to make Jimmy sensitive about them. He was even uncomfortable while eating in that restaurant with Ramona and his father. When everyone around him was eating he asks his father if he go and see the pigoons because "He didn't want to eat a pigoon, because he thought of the pigoons as creatures much like himself. Neither he nor they had a lot of say in what was going on."[6] The narrative presents two images which are almost same but the viewpoint of the two totally varies. Jimmy watching pigoons at OrganInc farm is totally different from Snowman watching pigoons at Paradice compound. Being Jimmy he was gazing at them, adoring their pink eyes, runny nose etc. Snowman at Paradice compound is running to save his life from them, he doesn't find them cute nor does he want to touch them. He is running to save his life. Those cute faces have disappeared somewhere. They are changed into something who wants to tear him up into pieces:

They have something in mind, all right. He turns, heads back towards the gatehouse, quickens his pace. They're far enough away so he can run if he has to. He looks over his shoulder: they're trotting now. He speeds up, breaks into a jog. Then he spots another group through the gateway up ahead, eight or nine of them, coming towards him across No Man's Land. They're almost at the main gate, cutting him off in that direction. It's as if they've had it planned, between the two groups; as if they've known for some time that he was in the gatehouse and have been waiting for him to come out, far enough out so they can surround him.[7]

Two images teach us that sometime our own creation can become a nuisance for us. Science is a boon if used carefully but it can also bring hazardous impacts. We must check our technological development time to time because if we over do something then there is probability that the same invention which we are creating for a comfortable life may haunt us with its negative impacts. At NooSkins, pigoons were small sized and instead of multi organ business they were used to develop skin related biotechnologies. Its aim was to develop a skin which would be wrinkle and blemish free. It was different from laser thinned or other artificial dermatological technologies. People could get a genuine skin through this technique. It challenged the concept of ageing which is natural to living-beings. Everyone wants to look young but to stay young forever is to go against nature, it would disturb the whole life cycle at earth. It was exactly what Sharon was telling Jimmy's father: "what you're doing_this pig brain thing. You're interfering with the building blocks of life. It's immoral. It's sacrilegious" [8]

Rakunk: it is one of the animals reader comes across throughout the novel. Jimmy is dearly attached with a pet rakunk gifted by his father. Name of this creature was Killer. This is ironical that Snowman remembers every detail of rakunk but not of the person who gifted it. It was the progeny of the first pair that had been spliced. "It was a tiny one, smallest of the litter born from the second generation of rakunks, the offspring of the first pair that had been spliced. The rest of the litter had been snapped up immediately."[9] Jimmy's father described that he had to put a lot of efforts to get Killer. The efforts were worthwhile because it was Jimmy's birthday. It was black and white in color and tiny in size. The creation of rakunk was also done in OrganInc biolabs. From Snowman's memory slot we are told:

There'd been a lot of fooling around in those days: create_an_animal was so much fun, said the guys doing it; it made you feel like God A number of the experiments were destroyed because they were too dangerous to have around – who needed a cane toad with a prehensile tail like a chameleon's that might climb in through the bathroom window and blind you while you were brushing your teeth? Then there was the snat, an unfortunate blend of snake and rat: they'd had to get rid of those. But the rakunks caught on as pets, inside OrganInc. They hadn't come in from the outside world – the world outside the Compound – so they had no foreign microbes and were safe for the pigoons. In addition to which they were cute.[10]

It had a fluffy tail and Jimmy was so happy to found it that he even used to take it to school. Rakunks's description shows that it was friendly to humans. Jimmy talked, kissed and slept with it on the same bed. The animals was made up with the splicing of raccoon and a skunk but it neither had a smell of a skunk nor was it a bad pet like raccoons. Raccoons are difficult to handle once grown up they do a lot of destruction inside the house. This hybrid was a quiet and clean animal. Bandit was the name Jimmy's father had suggested but it was Jimmy who named it as 'Killer'. He took the responsibility of Killer from food to cleaning her excreta. She had brown head, pink nails and soft black-white strips of fur all over her body. She was Jimmy's secret best friend, one he

could trust on with his confidential gossips. He would ask her several questions and then answer on her behalf: "Was that out of line, Killer?" he would ask. "Was that too vile?" Vile was a word he'd recently discovered: Righteous Mom was using it a lot these days. Killer would lick his nose. She always forgave him." [11]

After a while Jimmy's mother, Sharon left them. She didn't go alone but took killer with herself; it left Jimmy angry and sad because both the creatures were close to his heart. He could never forget and replace both of them.

P.S., she'd said. I have taken Killer with me to liberate her, as I know she will be happier living a wild, free life in the forest.

Jimmy hadn't believed that either. He was enraged by it. How dare she? Killer was his! And Killer was a tame animal, she'd be helpless on her own, she wouldn't know how to fend for herself, everything hungry would tear her into furry black and white pieces. But Jimmy's mother and her ilk must have been right, thinks Snowman, and Killer and the other liberated rakunks must have been able to cope just fine, or how else to account for the annoyingly large population of them now infesting this neck of the woods?

Jimmy had mourned for weeks. No, for months. Which one of them was he mourning the most? His mother, or an altered skunk? [12]

The last chapter tells us how affected he is to see the sight where a rakunk is burned by three humans. Genetic engineers are doing such experiments to quench their thirst of invention and sometimes for the need of the world. Pigoon was still a useful experiment but there is not much evidence that may tell why rakunk was necessary to make. Everything in the ecosystem has a function to do, everything has a role and it shouldn't be altered just because humans are uncomfortable with it. Biodiversity is the must for ecology and to earth. All the creatures are the part of a family and we all should adjust and adapt according to other members of it. As human is considered more intelligent than others so it is our duty to keep everyone safe. Always!

Wolvogs: in the BioDefenses department Jimmy found a series of cages, inside every cage a dog was kept. They weren't equal but of different size and colors, their tail was wagging in a friendly manner. Before Jimmy could pat them Crake warned him, "They aren't dogs, they just look like dogs. They're wolvogs – they're bred to deceive. Reach out to pat them, they'll take your hand off. There's a large pit-bull component."[13] He asked Jimmy to stay away as far as possible and not to touch the barriers. Jimmy had a deep desire to tame an animal for so long after Killer's departure he had lost all the hopes of having a pet. He was happy to see them but he wanted to go away from such environment as it reminded him of his past. "The truth was that all this was too reminiscent. The labs, the peculiar bioforms, the socially spastic scientists – they were too much like his former life, his life as a child. Which was the last place he wanted to go back to".[14]

On seeing such friendly animals he asked Crake, if they are for sale? Crake explained him that they weren't dogs, they were wolvogs. The name suggests that they had qualities of wolves and dogs in one body. Crake told Jimmy that the animals were ferocious and wild in nature, they wouldn't friendly either. They were created on the demand of CorpSeCorps to catch criminals. It was very risky for humans to unlock them as they could cut down into pieces. In later chapter Snowman carries a gun to protect himself from wolvogs, he even shoot some. His fear towards both the

animals be it pigoon or wolvogs is quite visible in some chapters. In one of the scene he is talking to himself, "That's the worst thing about wolvogs: they still look like dogs, still behave like dogs, pricking up their ears, making playful puppy leaps and bounces, wagging their tails. They'll sucker you in, then go for you."[15] In the same chapter reader is told that only one thing can be done to protect someone from wolvogs and that is climbing on a tree. Snowman does this because

"Wolvogs can't climb trees, which is one good thing. If they get numerous enough and too persistent, he'll have to start swinging from vine to vine, like Tarzan. That's a funny idea, so he laughs. "All you want is my body!" he yells at them. Then he drains the bottle and throws it down. There's a yelp, a scuttling: they still respect missiles. But how long can that last? They're smart; very soon they'll sense his vulnerability, start hunting him. Once they begin he'll never be able to go anywhere, or anywhere without trees. All they'll have to do is get him out in the open, encircle him, close in for the kill. There's only so much you can do with stones and pointed sticks. He really needs to find another spraygun." [16]

Even in the chapter Wovogs, Jimmy gives hint of the apprehensions of some biologists. He while going through that portion have a conversation about wolvogs. He doesn't utter it out but he contemplates it in his mind: "Why is it he feels some line has been crossed, some boundary transgressed? How much is too much, how far is too far? [17]

Crakers: were designed on the same model with some alterations. Crake had removed those destructive features which according to them were responsible for all the problems. He tried to make them a perfect human. Racism(referred as 'pseudospeciation'[18] in Paradice), hierarchy, territoriality etc. were removed from their system. Nuptial bonds, divorces weren't programmed and they were created to adapt according to their habitat. They don't need to build houses for any weather condition. "They would have no need to invent any harmful symbolisms, such as kingdoms, icons, gods or money. Best of all, they recycled their own excrement."[19]

When Crake let Jimmy to see his creation for the first time Jimmy couldn't believe it. "That was his first view of the Crakers. They were naked, but not like the Noodie News: there was no self-consciousness, none at all. At first he couldn't believe them, they were so beautiful. Black, yellow, white, brown, all available skin colours. Each individual was exquisite. "Are they robots, or what?" he said." [20] Crake had done a lot of research before the production of crakers. His idea was to launch them publicly after a while. Everything was and he had even plans to customize and modify according to buyer's choice. He was especially looking for vegan's feedback on it. He believed people would like to have a good-looking, intelligent, green-eyed child who only survived on grass, "They ate nothing but leaves and grass and roots and a berry or two; thus their foods were plentiful and always available".[21] They could speak but they were programmed to trust on whatever said to them. They were also unfamiliar with the concept of clothes; it was another layer of skin for them. Crake named them after great personalities of all times like Abraham Lincoln, Madam Curie, Leonardo Da Vinchi and so on. They were programmed to follow instruction and not to ask questions. As novel progresses we see that they were showing those attributes they weren't supposed to. They learnt chanting by the time Snowman returned from Paradice. They were asking numerous question and one of them had come out as a leader too. Work division was also happening among them. Crakers were manufactured to set an ideal world but they couldn't remain as perfect as Crake wanted them to be. Eventually they adopted those things due to which humans are divided into different groups. The temptation leads to fall, Crakers also couldn't help it.

Conclusions:

Hence, the work is full of such experimentations but only Crakers are shows in a good light. Others after a point of time has become nuisance for the protagonist and other, if they are alive. Especially pigoons and wolvogs are no less than the hungry man-eaters who are running here and there in search of food in the post-pandemic times. Crakers can also not be described as a success as they too have adapted many of the practices which Crake hadn't wished to install in them. Science is a great boon if used sensibly but it can also bring adverse effect as we have seen in World war 2nd. This novel can be seen as a lesson to humans for using science and transgenics in a proper, balanced way.

Reference:

[1] Gupta Ramesh C. (2011), *Reproductive and Developmental Toxicology*. Academic Press, US.

[2] Maloy Stanley, Kelly Hughes. (2013) *Brenner's Encyclopedia of Genetics (second Edition)*. Academic Press, US.

[3] Chien Kenneth R. (2004) *Molecular Basis of Cardiovascular Disease (second Edition).* Saunders.

[4]Atwood Margaret. (2004), *Oryx and crake*. Knopf Doubleday Publishing Group, pp. 15.

[5] ibid, 20

[6] ibid, 18

[7] ibid, 222

[8] ibid, 42

[9] ibid, 36

[10] ibid, 28

[11] ibid, 45

[12] ibid, 46

[13] ibid, 172

[14] ibid, 171

[15] ibid, 87

[16] ibid, 88

[17] ibid, 172

[18] ibid, 255

[19] ibid, 256

[20] ibid, 253

[21] ibid, 256

गांधी जी के योगदर्शन की आधुनिक प्रासंगिकता

पवन चन्द्र
संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरूविश्वविद्यालय नई दिल्ली
Email -Pawanchandra21594@gmail.com
Mob- 8126745596

सारांश: *गांधी जी का अनासक्ति योग और एकदश महाव्रत मानव के आध्यात्मिक आचरण तथा उत्कृष्ट चरित्र के निर्माण में सहायक है। आज हम जिस समाज में रहते हैं वहाँ चारित्रिक पतन और मानवीय संवेदनाओं का ह्रास देखने को मिल रहा है। इन सभी विषयों का समाधान गांधी जी के योगदर्शन में ढूंढा जा सकता है। कैसे हम समाज में रहते हुये व्यक्तिगत परिवर्तन से समाजिक परिवर्तन की क्रान्ति को जन्म दे सकते हैं, ये सारे विषय गांधी जी के आध्यात्मिक दर्शन में प्रतिबम्बित होते हैं। हमारा अपने राष्ट्र के प्रति क्या दायित्व है? इसे अगर वास्तविक रूप में समझना है तो गांधी जी के योगमय विचारों की सूक्ष्मता को जानना भी आवश्यक है। जब तक हम अपने जीवन को योगमय नहीं बनायेंगे तब तक हम राष्ट्र के प्रति कर्मण्यता का भाव विकसित नहीं कर सकते। गांधी जी का योगदर्शन समाज के सभी वर्ग के लिये समान रूप से लागू होता है जिसमें सबके विकास तथा चरित्र के निर्माण की बात की गयी है। चरित्रवान व्यक्ति ही राष्ट्र को सही दिशा और दशा देने में सक्षम है।*

शोध बीज : *अनाशक्ति, योगदर्शन, महाव्रत, अष्टांगयोग, स्वदेशी , स्वधर्म, ब्रह्मचर्य।*

शोध आलेख

भारतीय ज्ञान परम्परा का केन्द्रबिन्दु अध्यात्मिक विषयों का आधार है। भारतीय साहित्य तथा इतिहास का अध्ययन इस बात का साक्षी है कि नित्य आध्यात्मिक गवेषणा और उस व्यक्ति का सम्यक् आचरण ही उसके सत्यशोधी पृथिवी-पुत्रों के जीवन का एक मात्र लक्ष्य होता है। जीवन को आध्यात्म के वक्षस्थल पर उतार कर ही जीवन की वास्तविक साधना पूर्ण हो पाती है। गांधीजी का व्याख्यान सुनकर हजारों व्यक्ति देश सेवा की भावना से प्रेरित होकर दनदनाती गोलियों के सामने खडे हो गये जो गांधी स्वयं गोली के हृदय वेधी विष को हे ! राम कहकर पी गये, महावीर और बुद्ध ने अतुल्य वैभव को छोडकर तितिक्षा के साथ वनों में तप के भाव को स्वीकार किया। वस्तुतः ये सारे विषय सामान्य आचरण से सम्भव नहीं हैं अपितु आध्यात्मिक आचार से ही इनकी सिद्ध हो पाती है। आध्यात्मिक आचारण से ही एक दृढ संकल्प का निर्माण होता है। आध्यात्मिक आचरण को सामान्य व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिये मन वाणी और कर्म से जीवन को योगमय बनाना पडता है। योग के विभिन्न आयामों पर जीवन के चरित्र की परीक्षा का प्रतिफल ही उसे सिद्ध कर्मयोगी बनाने में सहायक होता है। योगमय जीवन से आध्यात्मिक चरित्र के निर्माण में लिये योगीपुरुष बनाने की आवश्यकता होती है, और अन्त में वही योगीपुरुष युग-पुरुष के रूप में समाज की दिशा और दशा परिवर्तित कर देता है। योगी से युग-पुरुष बनने की स्थिति में जीवन को सही दिशा में निर्देशित करने के लिये किसी पथ प्रदर्शक की आवश्यकता होती है अथवा किसी ऐसे उदीपक की जो हमारे जीवन की दिशा बदल सके। गांधी जी के आध्यात्मिक चरित्र का यह एक विशेष पहलू है जब उनके जीवन में राजचन्द्र जी का आगमन हुआ था। भारतीय ज्ञान परम्परा में गुरु-शिष्य परंपरा के अतिरिक्त सत्संगति और वैचारिक मार्गदर्शन की उपरोक्त परंपरा भी बहुत ही जीवंत रूप से विद्यमान रही हैं। जिसमें कुछ स्थितयों में यदि दो व्यक्तियों के बीच प्रत्यक्ष संवाद न भी हो रहा हो, तब उस प्रभावी व्यक्ति के गुणदर्शन

से गुणग्रहण का आदर्श सर्वदा रहा है। महान शिक्षाविद् विनोबाभावे द्वारा इसे 'गुणदर्शन' कहा गया था। जैन धर्म-दर्शन के ग्रंथ समणसुत्तं में कहा गया है –

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पग-मप्पएणं, जो राग-दोसेहिं समो स पुज्जो।। श्रमणधर्म सूत्र ७

अर्थात् कोई भी गुणों से ही साधु होता है और अगुणों से असाधु. अतः साधु के गुणों को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो ।निर्गुण भक्ति काव्यधारा के संत कबीर जी ने भी एक साधु व्यक्ति की संगति के विषय में लिखा है कि -

संगत कीजै साधु की, कभी न निष्फल होय
लोहा पारस परस ते, सो भी कंचन होय ।। दोहावली- 623

महात्मा गांधी जब इंग्लैंड से बैरिस्टर की पढाई पूरी कर के लौटे थे तब 1891 ई. में पहली बार श्रीमद् राजचन्द्र से गांधी की मुलाकात हुयी थी। राजचन्द्र जी की शास्त्रीय ग्रन्थों में गूढ पकड,विषयों के तर्कात्मक प्रतिपादन की शैली ने गांधी जी को इतना प्रभावित किया कि उन्होने श्रीमद् राजचन्द्र को अपने आध्यात्मिक गुरू के रूप में चुना। जबकि राजचन्द्र जी गांधी जी से मात्र 2 वर्ष ही बडे थे। जब गांधी जी से उनकी पहली मुलाकात हुयी थी तब उनकी उम्र मात्र 24 वर्ष की थी। जन्म के बाद उनका नाम लक्ष्मीनंदन रखा गया था जिसे चार साल की उम्र में बदलकर उनके पिता ने रायचंद कर दिया, बाद में वे खुद को राजचंद्र कहने लगे जो रायचंद का संस्कृत रूप है। श्रीमद् राजचंद्र के बारे में कहा जाता है कि उन्हें अपने पिछले कई जन्मों की बातें भी याद थी। उस समय पर उनकी पहचान परंपरागत जैन धर्म के मुनि के तौर पर नहीं बल्कि आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान देने वाले संत के रूप में अधिक थी। गांधी जी का आध्यात्मिक साक्षात्कार करने का श्रेय भी राजचन्द्र जी को ही जाता है। अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग मे' गांधी जी ने पूरा एक अध्याय श्रीमद् राजचन्द्र जी के ऊपर ही लिखा है। थॉमथ वेबर ने केम्ब्रिज विश्वविद्यायल से प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक **'गांधी एज़ डिसाइपल एंड मेंटोर'** नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि गांधी जी के जीवन में एक समय ऐसा भी आया जब उनका झुकाव हिन्दू धर्म से हट कर ईसाई तथा इस्लाम धर्म के प्रति हुआ था। यहां तक की गांधी जी के मन में धर्मपरिवर्तन करने तक का ख्याल भी आया। उस दौर में जब गांधी जी धार्मिक उलझनों के बीच फंसे थे तथा एक प्रकार की अध्यात्मिक और वैचारिक उथल-पुथल से गुज़र रहे थे तब श्रीमद राजचंद्र के शब्दों से उन्हें शांति मिली ।गांधी ने लिखा है, "उन्होंने मुझे समझाया कि मैं जिस तरह के धार्मिक विचार अपना सकता हूँ वो हिंदू धर्म के भीतर मौजूद हैं, आप समझ सकते हैं कि मेरे मन में उनके लिए कितनी श्रद्धा है" तब उन समस्त संशयों का निवारण श्रीमद् राजचन्द्र जी ने ही किया और साथ ही गांधी जी को हिन्दू धर्म की महानता का भी एक गूढ परिचय कराया। इसीलिये गांधी जी ने अपने मित्र हेनरी पॉलक से कहा था कि वे श्रीमद् राजचन्द्र जी को अपने समय का सर्वश्रेष्ठ भारतीय मानते हैं।

अनासक्ति योग और आचार

योग का ज्ञान कई युगों पुराना है। वेदों, उपनिषदों से लेकर भगवान कृष्ण के योगदर्शन तथा पतंजलि के योगसूत्र तक सभी ने मानव जीवन में योग की महत्ता का प्रतिपादन किया है। योग की छाया में मानव अपने आध्यात्मिक चरित्र के निर्माण में सफल हो पाता है, और साथ ही मानव जीनव के परम लक्ष्यों की खोज में अपनी ज्ञानात्मक चेनता से संसार के उत्थान में अपने कर्मों की दिशा का अनुकरण करता है। महर्षि पतंलजि ने योग की परिभाषा देते हुये चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग माना तथा **'योगश्चितवृत्तिनिरोधः'(योगसूत्र.1.2)** कहकर योगदर्शन के सूत्र का प्रणयन किया। महात्मा गांधी जी

का योग दर्शन वस्तुतः भगवान कृष्ण की भगवद्गीता से काफी प्रभावित है। भगवान कृष्ण ने भी आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर सभी स्थितियों में समत्व का भाव रखने की स्थिति योग माना है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। गीता,2.88

राष्ट्रपिता महात्मा गॉधी ने भी अपने जीवन में कई वर्षों तक अनासक्ति योग का पालन किया है। गांधी जी ने भगवद्गीता का सरल हिन्दी अनुवाद किया अपनी उस पुस्तक को उन्होंने 'अनासक्ति योग' का नाम दिया। हालांकि महात्मा गांधी जी ने 'अनासक्ति योग' की प्रस्तावना की में इसे उपनिषदों का सार स्वीकार किया है। गांधी जी ने इसी ग्रन्थ की प्रस्तावाना में लिखा है कि मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन अर्नाल्ड के पद्य के अनुसार सन् 1888-89 में हुआ था। जिससे गीता का गुजराती अनुवाद पढने की तीव्र इच्छा हुयी और उसके यथा सम्भव अन्य अनुवादित संस्करणों को भी गांधी जी द्वारा पढा गया। उस समय भी गीता के उच्चकोटी के संस्कृत अनुवाद टीकायें थी, और मेरा संस्कृत का ज्ञान भी अल्प है फिर भी मैने गीता का अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की ? यह प्रश्न स्वयं गांधी जी का खुद से था। गांधी जी का मानना था कि उन्होंने गीता को जिस स्तर तक समझा उस स्तर तक उन्होंने खुद तथा उनके साथियों ने गीता के अनुकूल आचारण करने का प्रयास भी किया। गांधी जी ने गीता को आध्यात्मिक ग्रन्थ माना तथा स्वीकार किया कि उसके अनुवाद आचरण में निष्फलता रोज आती है पर वह निष्फलता हमारे प्रयत्न रहते हुये है, इस निष्फलता में सफलता की फूटती हुयी किरणें दिखायी देती हैं। यह नन्हा सा समुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है वह इस अनुवाद में है। गांधी जी के आध्यात्मिक आचार के परिवर्तन में गीता का एक विशेष योगदान रहा है। शास्त्रों के सिद्धान्तों की वास्तविक सफालता हमारे आचार के सकारात्मक परिवर्तन की सर्वोत्कृष्ट सीमा है। जो की गांधी जी के अनासक्ति योग प्रक्रिया में देखने को मिलता है। सिद्धान्त से आचारण तक की सफलता ही वस्तुतः योग की सर्वोत्कृष्ट प्रक्रिया है।

एकादश महाव्रत और अष्टांग योग

आज से हजारों साल पहले महर्षि पतंजलि योगसूत्र की रचना की जिसमें योग के द्वारा शरीर, मन और प्राण की शुद्धि तथा परमात्मा की प्राप्ति के लिए आठ प्रकार के साधन बताये हैं, जिसे अष्टांग योग कहते हैं। योग के ये आठ अंग हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। इनमें पहले पांच साधनों का संबंध मुख्य रूप से स्थूल शरीर से है। ये सूक्ष्म से स्पर्श मात्र करते हैं, जबकि बाद के तीनों साधन सूक्ष्म और कारण शरीर का गहरे तक स्पर्श करते हुए उसमें परिष्कार करते हैं। इसीलिए पहले साधनों - यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार को बहिरंग साधन और धारणा, ध्यान तथा समाधि को अंतरंग साधन कहा गया है। गांधी जी ने मानव जीवन को मूल्यवान बनाने के लिये एकादश व्रतों की अवधारणा दी। गांधी जी द्वारा ये व्रत मुख्य रूप से ने आश्रम में रहने वालों के लिए निर्धारित थे। ये ग्यारह व्रत है। **अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह (अपरिग्रह) शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जनं, सर्वधर्म समानत्वं, स्वदेशी, स्पर्श भावना**। गांधी जी ने अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, को अष्टांग योग के पहले चरण यम के भदों से ग्रहण किया है।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । योगसूत्र,2.30

शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जनम्, सर्वधर्म सामानत्वम्, स्वदेशी, स्पर्श भावनाओं को मिलाकर एकादशात्मक महाव्रतों का एक संकल्प तैयार किया जिससे मानव जीवन को इन आध्यात्मिक उपबन्धों से एक सही दिशा मिल सके। गांधी जी द्वारा इन महाव्रतों को इसक्रम में रखा गया कि, जो उत्तरोत्तर क्रम में एक दूसरे पर आश्रित हैं जहां बहुत से महाव्रत

एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित है कि, पूर्व महाव्रत को पूर्ण किये बिना अगले महाव्रत की सिद्धि सम्भव नहीं हो पाती है।

1.अहिंसा – अहिंसा सर्वदा सर्व प्रकार से सब भूत प्राणियों के प्रति पीडा देने का अभाव है। पतञ्जलि ने यम तथा नियम के लिये अहिंसा को मूल माना है। "**तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोहः" *(योगसूत्र,व्यासभाष्य)***। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। अहिंसा के सन्दर्भ में गांधी जी का मानना था कि अप्राणियों का वध न करना ही इस व्रत के पालन के लिए काफ़ी नहीं है। अहिंसा का अर्थ है इस संसार में निवास करने वाले सूक्ष्म जंतुओं से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों के प्रति एक जैसा भाव रखना। वस्तुतःअहिंसा नामक इस व्रत का पालन करनेवाला घोर अन्याय करनेवाले के प्रति भी क्रोध नहीं करेगा, किन्तु उस पर प्रेमभाव रखेगा, उसका हित चाहेगा और करेगा। किन्तु प्रेम करते हुए भी अन्यायी के वश नहीं होगा, अन्याय का विरोध करेगा, और वैसा करने में वह जो कष्ट दे उसे धैर्यपूर्वक और अन्यायी से द्वेष किये बिना सहेगा।

2.सत्य – महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग के अन्तर्गत यम के भेदों में सत्य की परिभाषा करते हुये लिखा - ***'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं तथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्गमनश्चेति'(योगसूत्र,व्यासभाष्य)***। सत्य यथार्थ वाणी और मन में अर्थात् जो देखा गया है, अनुमान किया गया है और सुना गया है। ठीक उसी के अनुसार रहता है। गांधी जी ने सत्य के विषय में कहा कि व्यवहार में असत्य न बोलना या उसका आचरण न करना ही सत्य का अर्थ नहीं है। किन्तु सत्य ही परमेश्वर है, और उसके अलावा और कुछ नहीं है। गांधी जी का मानना तथा कि इस तरह के सत्य की खोज और पूजा के लिए ही दूसरे सभी नियमों की आवश्यकता रहती है और उसी में से उनकी उत्पत्ति है। इस तरह के सत्य का उपासक और सम्यक् आचारण करने वाला व्यक्ति कभी भी अपने कल्पित देशहित के लिए भी असत्य नहीं बोलेगा, असत्य का आचरण नहीं करेगा। सत्य के लिए वह सदैव प्रह्लाद के समान माता पिता, तथा गुरुजनों की आज्ञा को उसके द्वारा अपना धर्म समझा जायेगा।

3.अस्तेय -शास्त्रविधि – विरुद्ध उपाय से दूसरे का द्रव्य ग्रहण करना स्तेय है। ऐसा न करना तथा इसके प्रति इच्छा का अभाव होना अस्तेय है। पतञ्जलि के योगसूत्र पर लिखे व्यासभाष्य में वेदव्यास ने इसे इसी रूप मे वर्णित किया है – ***'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति'(योगसूत्र,व्यासभाष्य)***। महात्मा गांधी जी ने कहा कि इस महाव्रत के पालन के लिए यही काफ़ी नहीं है कि दूसरे की वस्तु उसकी अनुमति के बिना न ली जाय। वस्तु जिस उपयोग के लिए मिली हो, उससे ज्यादा समय तक उद्देश्य से भिन्न रूप में उपयोग करना भी एक प्रकार की चोरी है।

4.ब्रह्मचर्य- गुप्तेन्द्रिय उपस्थ के संयम को पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य माना है- ***'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः'(योगसूत्र,व्यासभाष्य)***। ब्रह्मचर्य के पालन के बिना ऊपर के व्रतों का पालन अशक्य है। ब्रह्मचारी किसी स्त्री पर कुदृष्टि न करे केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह मन से भी विषयों का चिन्तन अथवा सेवन न करे। और विवाहित हो तो अपनी पत्नी या अपने पति के साथ भी विषयभोग न करे, किन्तु उसे मित्र समझकर उसके साथ निर्मल संबंध रखे। अपनी पत्नी या दूसरी स्त्री का अथवा अपने पति या दुसरे पुरुष का विकारमय स्पर्श या उसके साथ विकारमय भाषण या दूसरी विकारमय चेष्टा भी स्थूल ब्रह्म्चर्य का भंग है।

5.अपरिग्रह – विषयों में उपार्जन, रक्षण, हानि, आसक्ति तथा हिंसादि दोष देखकर द्रव्यों को न ग्रहण करना अपरिग्रह है- ***'विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह'(योगसूत्र,व्यासभाष्य)***। गांधी जी ने अपरिग्रह के विषयों को अस्तेय से भी जोडकर देखा है। इसको अलग व्रत मानते हुये भी अस्तेय को अपरिग्रह के साथ सम्मलित माना है। उनका मानना था कि अनावश्यक वस्तु जिस तरह ली नहीं जा सकती, उसी तरह उसका संग्रह भी नहीं करना चाहिये । इसलिए जिस वस्तु की जरूरत न हो, उसका संग्रह करना मतलब अपरिग्रह के इस व्रत को भंग करना है । उदाहरण के लिये जिसका काम कुर्सी के बिना चल जाए वह कुर्सी न रखे; अपरिग्रही प्रतिदिन अपना जीवन और भी सादा करता जाय । अपरिग्रह के दम पर ही व्यक्ति अपनी बेकार की आवश्यकताओं को धीरे धीरे रोककर एक साधारण जीवन उच्च विचार की भावना को सुदृढ कर सकता है।

6.अस्वाद – भगवान की बनायी इस सृष्टि में भोग करने सहस्त्रों पदार्थ मौजूद हैं। उन भोगों का आस्वादन भी संयम और नियम से करना जरूरी है। गांधी जी ने अस्वाद को एक अलग प्रकार का महाव्रत माना है ।इस महाव्रत के बारे में गांधी जी ने कहा कि मनुष्य जब तक जीभ के रसों पर अपनी विजय हासिल नहीं कर लेगा, तब तक उसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन करना अति कठिन है। इसीलिये अस्वाद को अलग व्रत माना गया है। जीवन में संयम का स्थान ऐसे विषयों के प्रति आत्मिक मजबूती को धारण करने से भी है। वस्तुतः भोजन आदि भोग के विषय केवल शरीरयात्रा के लिये ही हो, भोग के लिये कभी नहीं। इसलिए उसे औषध समझकर संयमपूर्वक लेने की जरुरत है। इस व्रत का पालन करनेवाला, ऐसे मसाले वगैरह का त्याग करेगा, जो विकार उत्पन्न करें। मांसाहार, तंबाकू, भांग इत्यादि का आश्रम में निषेध है। इस व्रतमें स्वाद के लिए उत्सव या भोजन के समय अधिक खिलाने के आग्रह का निषेध है।

7.स्वदेशी – अपने देश तथा देशवासियों के प्रति अनुराग की भावना का भी व्रत का संकल्प सदैव हमारे मन में संकल्पित होना चाहिये। यह भारत देश जैसा हमारा स्वदेश सदैव वन्दनीय है।

वन्दे सदा स्वदेशं एतादृशं स्वदेशम्।
गंङ्गा पुनाति भालं रेवा कटिप्रदेशम् ।। (गीत.प्रो.अभिराजराजेन्द्र मिश्र)

गांधी जी ने स्वदेश महाव्रत को वर्णित करते हुये लिखा कि मनुष्य सर्वशक्तिमान प्राणी नहीं है। इसलिए वह अपने पडोसी की सेवा करने में जगत की सेवा करता है। इस भावना का नाम स्वदेशी है। जो अपने निकट के लोगों की सेवा छोड़कर दूरवालों की सेवा करने या लेने को दौड़ता है, वह स्वदेशी को व्रत को भंग करता है। इस भावना के पोषण से संसार सुव्यवस्थित रह सकता है। उसके भंग में अव्यवस्था घुसी हुई है। आज हम चाईनीज समानों का बहिष्कार इस दम पर कर पा रहे हैं क्योंकि हम कुछ स्तर तक अपने इस व्रत को समझने लगे हैं गांधी जी का यह तार्किक वाक्य वस्तुतः आजि साबित हो रहा है जब उन्होंने कहा था कि इस नियम के आधार पर, जहाँ तक बने, हम अपने पडोस की दुकान से व्यवहार रखें; देशमें जो वस्तु बनती हो या सहज ही बन सकती हो, उसे विदेश से न लायें। गांधी जी ने अपने देश में बनी खादी को काफी महत्त्व दिया । हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सोहनलाल द्विवेदी ने इस अपने एक गीत के माध्यम से खादी को आधार बनाकर स्वदेशी के प्रति अपने भावों को इस प्रकार वर्णित किया है।

खादी के धागे-धागे में अपनेपन का अभिमान भरा,
माता का इसमें मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा। (खादी गीत. सोहनलाल द्ववेदी)

स्वदेशी में स्वार्थ को स्थान नहीं है। कुटुम्ब को, देश के लिए शहर को और जगत के कल्याण के लिए देश को बलिदान कर दिया जाय।

8.अभय - गांधी जी ने इस महाव्रत को **'सर्वत्र भय वर्जनम्'** के रूप में वर्णित किया है। गांधी जी ने कहा कि आप सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन बिना निर्भयता के नहीं कर सकते हैं। जो सत्यपरायण रहना चाहता है, वह न जाति से, बिरादरी से, न सरकार से, न चोर से, न गरीबी से और न मौतसे डरता है। हाल में जहाँ सर्वत्र भय व्याप रहा है, वहाँ निर्भयता का चिन्तन और उसकी शिक्षा अत्यन्त आवश्यक होने से, उसे व्रतों में स्थान दिया गया है।

9.अस्पृश्यता – गांधी जी ने अपने समय में देखा कि उस समय समाज में छूआ-छूत चरम पर था उच्च वर्ग के लोगों द्वारा निम्न वर्ग के लोगों पर जाति गत अस्पृश्यता का प्रभाव काफी प्रभावी हो चुका था । स्मृति ग्रन्थों में वर्णित ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्रों के कर्तव्य कहीं न कहीं समाज में अस्पृश्ता के प्रति रूढीवादी विचारों का आधार बना। जहां किसी एक वर्ग विशेष को अधिक महत्त्व के साथ वर्णित किया गया वहीं दूसरे वर्ग को क्रमशः उससे नीचे के महत्त्व के साथ वर्णित किया गया।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णनां शुश्रूषामनुसूयायाः।। मनुस्मृति,1.91

हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता की रूढ़ि ने जड़ जमा ली थी । गांधी जी ने इस अस्पृश्यता को धर्म नहीं अपितु अधर्म की संज्ञा दी है, तथा अस्पृश्यता-निवारण को अपने नियम में स्थान दिया गया है। अस्पृश्य माने जाते लोगों के लिए दूसरी जातियों के बराबर ही आश्रम में स्थान है। आश्रम में जातिभेद को स्थान नहीं है। मान्यता ऐसी है कि जातिभेद से हिंदु धर्म का नुकसान हुआ है। उसमें छिपी हुई ऊँचनीच और छूआ-छूत की भावना अहिंसा धर्म के लिये भी घातक है।

10.समानता गांधी जी ने जिस आश्रम व्यवस्था की कल्पना की उसमें समानता का आपना विशेष महत्त्व है। अपने इस व्रत के साथ गांधी जी ने **'सर्वधर्म समानत्वम्'** की भावना को समाज के लोगों तक पहुंचाया। साथ ही जिस आश्रम के लिये इस महाव्रत की अवधारणा को विकसित किया उसमें बिना किसी भेद भाव के सभी वर्ग, वर्ण के लोग एक साथ रह सकते थे। गांधी जी ने समाज में फैली रूढियों असमानताओं को दूर करने का प्रयत्न किया तथा गुण, कर्म को आधार बनाकर समानता का विचार प्रकट किया । चातुर्वर्ण्य से प्रभावित मानसिकता वाले समाज मे गांधी जी ने जन्मजात श्रेष्ठता को स्वीकार न करते हुये गीता में वर्णित कर्म और गुणों से श्रेष्ठता को प्राप्त करने का उपदेश दिया।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। गीता4.13

सर्वधर्म सद्भाव के साथ आश्रम की ऐसी मान्यता है कि जगत में प्रचलित प्रख्यात धर्म सत्य को व्यक्त करनेवाले है।हमारे मन में अपने धर्म के लिए जैसा मान है, वैसा ही प्रत्येक धर्म के लिए रखना चाहिए। जहाँ ऐसा समभाव हो वहाँ एकदूसरे के धर्म का विरोध संभव नहीं होता, और न परधर्मी को अपने धर्ममें लाने का प्रयत्न संभव होता है। किन्तु यही प्रार्थना और यही भावना नित्य रखनी उचित है कि सभी धर्मों के दोष दूर हों ।

11.शारीरिक श्रम - महात्मा गांधी जी द्वारा शारीरिक श्रम का समावेश अपने इस महाव्रत में काफी बाद में किया गया । गांधी की का मानना था कि मनुष्य को सामाजिक द्रोह से बचने के लिये शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिये। साथ ही गांधी जी इस बात के लिये ज्याद प्रेरित करते थे कि जो स्त्रीपुरुषों शारीरिक रूप से समर्थ हैं उनको अपना नित्य का सारा काम, जो स्वयं ही कर लेने योग्य हो, कर लेना चाहिए और दूसरे की सेवा बिना कारण नहीं लेनी चाहिए। किन्तु बालकों

की अथवा पंगु लोगों की और वृद्ध स्त्रीपुरुषों की सेवा प्राप्त हो तो उसे करने की सामाजिक जिम्मेदारी को उठाना प्रत्येक समझदार मनुष्य का धर्म है। इस आदर्श का अवलम्बन करके आश्रम में वही मजदूर रखे जाते हैं, जहाँ अनिवार्य हो, और उनके साथ मालिकनौकर का व्यवहार नहीं रखा जाता। शारीरिक श्रम के मानवीय मनोविज्ञान को गांधी जी ने अपने महाव्रत में समाहित किया है।

निष्कर्ष

गांधी जी का अनासक्ति योग और एकदश महाव्रत मानव के आध्यात्मिक आचरण तथा उत्कृष्ट चरित्र के निर्माण में सहायक है। आज हम जिस समाज में रहते हैं वहाँ चारित्रिक पतन और मानवीय संवेदनाओं का ह्रास देखने को मिल रहा है। इन सभी विषयों का समाधान गांधी जी के योगदर्शन में ढूंढा जा सकता है। कैसे हम समाज में रहते हुये व्यक्तिगत परिवर्तन से समाजिक परिवर्तन की क्रान्ति को जन्म दे सकते हैं, ये सारे विषय गांधी जी के आध्यात्मिक दर्शन में प्रतिबम्बित होते हैं । हमारा अपने राष्ट्र के प्रति क्या दायित्व है? इसे अगर वास्तविक रूप में समझना है तो गांधी जी के योगमय विचारों की सूक्ष्मता को जानना भी आवश्यक है। जब तक हम अपने जीवन को योगमय नहीं बनायेंगे तब तक हम राष्ट्र के प्रति कर्मण्यता का भाव विकसित नहीं कर सकते। गांधी जी का योगदर्शन समाज के सभी वर्ग के लिये समान रूप से लागू होता है जिसमें सबके विकास तथा चरित्र के निर्माण की बात की गयी है। चरित्रवान व्यक्ति ही राष्ट्र को सही दिशा और दशा देने में सक्षम है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अनाशक्ति योग, मोहन दास कर्मचन्द गांधी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन,2014
2. सत्य के साथ मेरे प्रयोग, महात्मा गांधी, प्रभातप्रकाशन,2020
3. मनुस्मृति, व्या० स्वामी दर्शनान्दसरस्वती, पुस्तक मन्दिर मथुरा, सं०2019
4. श्रीमद्भग्वद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर,सं2024
5. योगदर्शन, पतञ्जलि, गीता प्रेस गोरखपुर, सं.2064
6. पातञ्जलयोगदर्शनम्,(व्यासभाष्य), चौखम्भा सुभारती प्रकाशन,2020
7. दोहावली,तुलसीदास,सम्पा हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर,2012
8. श्रमणसूत्र, उपाध्याय अमर मुनि, श्रीसन्मति ज्ञान पीठ आगरा।

दत्तोपंत ठेंगड़ी का धर्म सम्बन्धी विचार

सुमीत कुमार गुप्ता
पी.एच.डी. शोधार्थी गाँधी एवं शांति अध्ययन
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
संपर्क न.-6386852048, 8604644279
ईमेल:- sumitkumargupta431@gmail.com

शोध सार:-
भारतीय संस्कृति ने जीवन के भौतिक और अभौतिक का आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की ऐसी समन्वित व्यवस्था का विकास किया है, जो व्यक्ति को विकास की प्रेरणा देती है। भारतीय हिन्दू धर्म के जीवन पद्धति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार भागों में विभाजित किया गया है, जिसमें धर्म का पद सर्वश्रेष्ठ है। चारों के अपने-अपने नियत समय पर करने का विधि-विधान भी है। धर्म देश, काल, युग इत्यादि में एक सामान बना रहा है किन्तु कभी-कभी प्राणी को यह ज्ञात करना मुश्किल हो जाता कि क्या धर्म है क्या अधर्म है ऐसे समय को धर्म संकट कहा जाता है और फिर प्राणी अपने कुल, अपनी परम्परा, अपने रीति-रिवाज अनुसार ही उस समय में अपने कार्य को सम्पादित करते है। हिन्दू/सनातन धर्म मात्र धर्म नही एक जीवन-पद्धति है, एक जीवन-शैली है, जो अति प्राचीन है। संप्रदाय और धर्म में बहुत अंतर है। संप्रदाय एक विशेष काल, विशेष परिस्थिति में निर्मित व्यवस्था है, इसका कोई न कोई अविष्कारकर्ता/संस्थापक व्यक्ति है किन्तु धर्म व्यक्ति के हर पल, हर क्षण किये गए उच्च मूल्य को स्थापित करने वाला कार्य है।

बीज-शब्द:- *धर्म, हिन्दू धर्म, संप्रदाय, राजधर्म, जीवन-पद्धति, धर्म-निरपेक्षता*

आमुख

दत्तोपंत ठेंगडी ने धर्म और धर्म-निरपेक्षता के विषय में उसी तरह सोचते है जैसा ही हमारे पुराणों, उपनिषदों, और धर्म-ग्रंथों में परिलक्षित किया गया है। ठेंगड़ी सेकुलरिज्म के हिंदी अनुवाद धर्मनिरपेक्षता शब्द को भी ससंकित रूप से देखते है। उनका ऐसा मानना है की 'शब्दों की अपनी एक संस्कृति होती है' जिसके वास्तविक अर्थ को समझने के लिए इस संस्कृति के परिस्थितिगत और परिवेश के संदर्भों में देखना आश्यक होता है। किसी विशेष परिस्थिति, परिवेश, चिंतनए व परम्पराओं से उत्पन्न कोई शब्द और उसकी पूरी संकल्पना को भिन्न राष्ट्रीय-सामाजिक परिवेश, परस्थितियों, परम्पराओं, चिंतन एवं संस्कृतिगत सन्दर्भों पर थोपा नहीं जा सकता है। संयोग से धर्मनिरपेक्षता शब्द के भाषानुवाद के साथ ऐसा ही अनर्थ हुआ है।

यूरोप में राज्य सता और चर्च सता के बीच अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए संघर्ष हो रहे थे, तभी इस सेकुलरिज्म(सेकुलर-स्टेट) या धर्म-निरपेक्ष जैसे शब्द का निर्माण हुआ। पोप जब अपने आप को ईश्वर का दूत बताकर राज्य सत्ता पर भी अपने अधिपत्य को स्थापित रखना चाहता था और लोगों में अपने विचार, स्वतंत्रता और अधिकारों की मंजूरी भी पोप से लेनी पड़ती थी, तभी राज्य सत्ता को अपने अधिकार और अधिपत्य वापिस पाने के लिए पोपतंत्र से संघर्ष करना पड़ा। अंततः राज्य सत्ता को अपने अधिकार और पोपतंत्र से आज़ादी मिली। तभी जीवन के समस्त भौतिक आवश्यकताओं के लिए राज्यसत्ता अपने कानून और अपने नियम का निर्माण किया तथा राज्य को धर्म-निरपेक्ष की राह पर अग्रसर किया। चूँकि यूरोप में इसाई धर्म का ही वर्चस्व और इसाईयत और राज्यसत्ता में ही संघर्ष था और यह संघर्ष एक ही धर्म के प्रति उसके संस्कृति और उसके संप्रदाय के प्रति संघर्ष रहा।

भारत में कभी भी एक धर्म और एक ही धर्म से सम्बन्धित कोई भी राज्यसत्ता संचालित नहीं हुई है। प्राचीन समय से

वर्तमान तक कोई भी राज्यसत्ता, सम्राट अशोक को छोड़कर, किसी विशेष धर्म को प्रचारित, प्रसारित नहीं किया। भारत सदियों से धर्म और संप्रदाय के विभिन्नता को बनाएं रखा हुआ है। धर्म, रिलिजन का हिंदी अनुवाद है तथा भारतीय ग्रंथो में भी धर्म की परिभाषा के विषय में बहुत स्पष्ट नही कहा गया है क्यूंकि धर्म शब्द इतना व्यापक है कि इसकी व्याख्या से ही इसको समझने का प्रयास किया जा सकता है।

ठेंगडी ने रिलिजन को एक उच्चतर अदृश्य शक्ति के प्रति आस्था का नाम दिया है जो किसी विशेष पैगम्बर, प्रवर्तक, किसी विशेष प्रकार की पूजा-अर्चना पद्धति और किसी विशेष मान्यताओं से जुडी होती है। उस विशेष परम्परा, पद्धति, उच्चतर अदृश्य शक्ति के मत को मानने वालों के एक पथ प्रदर्शक होते हैं, जो उनके आचरण करने वाले या मानने वाले और उसी पद्धति से पूजा-अर्चना एवं उन सभी मान्यताओं को मानने वालों के लिए स्वर्ग और न मानने वालों के लिए नरक के दंड का अपराधी मानने का विधान है। इस प्रकार के धर्मचिंतन एकांगी, अहंवादी और संकीर्ण है जो भेदमूलक धारणा से प्रतिस्फुटित होती है, यही धारणा मनुष्य को जातिगत उच्चतर और निम्नतर वर्गों में बांटती हैं।

इसके विपरीत धर्म की अवधारणा बहुत ही व्यापक है, यह किसी विशेष, पूजा-अर्चना पद्धति, किसी विशेष मान्यता, किसी विशेष मत या उपासना पद्धति तक ही सिमित नही रह जाता है। इसके अंतर्गत उच्चतर सत्य की प्राप्ति के लिए किये गए प्रयास का आदर किया जाता है, फिर चाहे उसका कुछ भी नाम क्यों न हो, उसकी कोई भी उपासना पद्धति क्यों न हो। धर्म की वह उदार संकल्पना जहां प्रयेक को अपनी आस्था के अनुरूप आचारण करने की स्वतंत्रता प्रदान करती है तथा दूसरों के प्रति सहिष्णुता की भी सीख प्रदान करती है।

धर्म अपने व्यापक स्वरुप में उन सभी मूल्यों और कार्यों को अपने अंदर समाहित करता है जिनका लक्ष्य मनुष्य मात्र के उत्थान के लिए किये जाने वाले समस्त कार्य है, जिनका लक्ष्य लोक-मंगल, लोक हित, और लोक कल्याण से सम्बंधित है। मनुष्य जाति का यह दृष्टिकोण सार्वकालिक ही नहीं अपितु सर्वभौमिक एवं सार्वलौकिक भी है। धर्म की इस तरह के उदाहरण बिना किसी भेदभाव, बिना किसी पक्षपात के सिर्फ मानव होने के नाते प्राप्त होता है, जो किसी भी सम्प्रदाय, किसी भी जाति, किसी भी संस्कृति, किसी भी रिलिजन के पूजन और अर्चन करने वाले हो, सभी के प्रति समान व्यव्हार और समान विकास एवं कल्याण की दृष्टि होती है। इसी अर्थ में धर्म को शाश्वत और सनातन कहा जाता है। जो किसी भी काल में, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी क्षेत्र और रिलिजन के हो, बस उसकी कामना मानव मात्र का कल्याण करना है। इसी से धर्म को मानव-धर्म कहलाता है।

रिलिजन का सम्बन्ध व्यक्तिगत आस्था से है, जो एक विशेष काल, परिस्थिति, संस्कृति एवं मान्यता से निकल कर आई है, जिसकी एक ही पूजन-अर्चन पद्धति है और जिसके अनुसरण करने वाले को उसके नियम और परम्परा को मानना अनिवार्य है। किन्तु धर्म को व्यक्ति से समाज तक प्रसार प्राप्त होता है, धर्म व्यक्तिगत के साथ-साथ सामाजिक आवरण भी प्राप्त करना होता है क्यूंकि उसकी संस्कृति कल्याणकारी है, उसकी प्रकृति मानव-हित है, उसका विचार लोक-मंगल है। सार्वभौमिक होने की स्थिति में उच्च-निम्न का कोई स्थान नहीं है।

धर्म जब राजधर्म के रूप में देखा जाता है तो इस धर्म के अंतर्गत कर्तव्य, न्याय, विधि, लोकहित, जनकल्याण के साथ-साथ श्रेष्ठ परम्पराओं और जीवन मूल्यों के रूप में प्रदर्शित होता है। राज्य से सम्बन्धित धर्म विधि से सम्बन्ध रखता है, जिसमें जन-उत्थान और जनता की सुख-समृद्धि के लिए कल्याणकारी निति-नियम को निर्मित करने के सम्बन्ध में है। लोकहित में किये गए राज्य के इस कार्य को राजा के हित में भी है क्यूंकि राजा का हित उसी में है जिसमें प्रजा का हित है।

यदि प्रजा के आँखों में आंसू है तो राजा की आंखें भी सुखी नहीं रह सकती है और राजा सुखी नहीं है तो फिर प्रजा उससे कभी भी सुख की और लोकहित या कल्याण की कामना नहीं कर सकती है, क्यूंकि जो राजा स्वयं सुखी नही रहेंगा वह प्रजा या अन्य किसी के सुख का ध्यान या निति-निर्माण नहीं कर पायेगा। इस प्रकार का धर्म का स्वरुप राजधर्म के अंतर्गत समाहित है।

दत्तोपंत ठेंगड़ी की ही तरह श्री राम जोइस ने भी यह माना है कि "जब धर्म शब्द का का प्रयोग राजा के कर्तव्यों और अधिकारों के सन्दर्भ में किया जाता है तो उसका अर्थ संवैधानिक कानून (राज-धर्म) से होता है।" अतः यह कहा जा सकता है कि शांति और जनता की समृद्धि तथा समतायुक्त समाज की स्थापना के लिए धर्मराज्य की आवश्यकता है। तब धर्म शब्द राज्य सम्बन्धित के रूप में प्रयोग का केवल एक ही आशय है कानून का शासन कायम करना है।

दत्तोपंत ठेंगड़ी का यह मानना है कि धर्म के बिना कोई भी राज्य चल ही नहीं सकता है क्यूंकि धर्म अति सूक्ष्म और कल्याणकारी है और बिना जन-कल्याण कारक के किसी राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं माना जाता है, व्यवस्था(शासन/कानून) चाहे जो भी हो, जिस काल में हो, जैसी भी हो, सभी व्यवस्थाओं में लोक कल्याण और उच्च जीवन मूल्यों को प्राप्त करना लक्ष्य रखा जाता रहा है। उनका मानना है कि राज्य का धर्म निरपेक्ष होना या राज्य का निधर्मी होना संभव ही नही है क्योंकि राज्य का मूल धर्म लोकहित है और उसमें विधि, न्याय, कर्तव्य, लोकहित और जन-कल्याण के स्थायित्व को बनाये रखना है।

चूँकि धर्म निरपेक्ष या निधर्मी का तात्पर्य राज्य किसी भी धर्म से सम्बन्ध नहीं रखेगा और सभी धर्मों का सम्मान या आदर करेगा। यह अनुवाद प्रायः माना जाता है किन्तु ठेंगड़ी जी इसे संप्रदाय निरपेक्ष के रूप में देखते है उनका कहना है कि 'सर्व धर्म सम्भाव' के स्थान पर सर्व संप्रदाय सम्भाव की दृष्टि होती है। उनका कहना है कि सम्पूर्ण मानव जाति का तो एक ही धर्म है मानवधर्म है किन्तु सप्रदयों की विभिन्नता अलग-अलग होती है। अलग-अलग संप्रदाय के अलग-अलग विशेष पूजा अर्चना विधि होती है, उनकी विशेष मान्यता अलग-अलग होती है, उन सभी के विशेष रीति-रिवाज अलग अलग होते हैं, उनके विशेष उपासना के सिद्धांत अलग-अलग होता है। इसलिए सर्व धर्म सम्भाव नहीं माना जायेगा, क्यूंकि राज्य धर्म के अंतर्गत मानव-कल्याण और उनके उच्च जीवन मूल्यों की प्राप्ति है। किन्तु सभी संप्रदाय के अपनी-अपनी विशेष मान्यता और विशेष जीवन-मूल्य है।

सनातन धर्म/हिन्दू धर्म:-

सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायधीश श्री गजेन्द्र गडकर ने कहा है कि " संसार के दुसरे अन्य मजहबों या रिलिजन की तरह हिन्दू धर्म का कोई एक पैगम्बर नहीं है। यह किसी एक देवता की पूजा का विधान भी नहीं करता। हिन्दू धर्म किसी एक दार्शनिक अवधारणा का पोषक ही नहीं है और न ही यह किसी तरह के उपासना सम्बन्धी कर्मकाण्डों या पूजा पद्धति को अपनाने पर बाद देता है। सच तो यह है कि वह किसी भी मजहब, पंथ या मत मतांतर की संकुचित परम्परागत विशेषताओं को स्वीकार नहीं करता। अतः हिन्दू धर्म को तो एक जीवन-यापन की श्रेष्ठ प्रणाली के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।"

सनातन धर्म के साथ हिन्दू धर्म का प्रयोग पिछले दो हजार वर्षों से किया जाने लगा है। आखिर सनातन धर्म के साथ हिन्दू शब्द को लगाने की आश्यकता क्यों पड़ी? इसके उत्तर में ठेंगड़ी जी कहते है कि जब विभिन्नत जातियां,धार्मिक मत-मतान्तरों एवं मान्यताओं वाले भारत आने लगी तो उन्होंने अपने एक विशेष पूजा-उपासन, रीति-रिवाज, मान्यता, सिद्धांत

का उपयोग एवं उसके प्रति समर्पित नामकरण के साथ दृष्टि-गोचर हो रहे थे। इसलिए सनातन धर्म के साथ हिन्दू शब्द का प्रयोग किया जाने लगा, जो उनके मान्यताओं, पूजा-अर्चना, जीवन-पद्धति इत्यादि रखते थे। वैसे हिन्दू शब्द सिर्फ इस बात का प्रतीक है कि मानव-जीवन के उत्थान की शाश्वत आचार-संहिता की संकल्पना सबसे पहले हिन्दुओं ने की। सिद्धांतो और आविष्कारों के नाम जैसे वैज्ञानिकों- आविष्कारकों के नाम पर रखा जाता है, जो उसने किया है, जैसे- न्यूटन का सिद्धांत, फैराडे का सिद्धांत, वैसे ही जीवन-प्रणाली या मानव-जीवन उत्थान की शाश्वत आचार-संहिता में हिन्दूओं का नाम सर्वप्रथम रूप में जोड़ा जाता है। इसीलिए सनातन धर्म के साथ हिन्दू शब्द जुड़ा हुआ है।

व्यापक, जुदर और सबको साथ लेकर चलने वाली हिन्दू राजनीति को कभी भी व्यक्तिगत या सम्प्रदायगत विश्वासों और मान्यताओं को किसी पर भी आरोपित किया जाये यह हिन्दू धर्म को स्वीकार नहीं है। यह धर्म सभी सम्प्रदायों के न केवल उनके मान्यताओं को अपने अपने व्यक्तिगत और समूहगत मनाने की आजादी ही नही देती बल्कि उन्हें अपने अपने विश्वासों और मान्यताओं को अपने विश्वास और कर्म क्षेत्र में जारी रखने कि प्रेरणा भी देती है। हिन्दू धर्म अपनी-अपनी नैतिक- अध्यात्मिक और विश्वासों को मानने, उसे बदलने, एक जैसा जो व्यक्ति चाहे वैसा मानने की पूरी छुट देता है। व्यक्ति जिस किसी को अपनाकर अपने लक्ष्य और जीवन मूल्यों को प्राप्त कर सके उसका समर्थन करता है। इसी से स्वतंत्रता के बाद भारत हिन्दू बाहुल्य देश होने बाद भी धर्म निरपेक्षता के गुण को अपनाएं हुए है। भारत आज़ादी के बाद ही इससे अलग हुए दोनों राष्ट्र(पाकिस्तान और बांग्लादेश) अपने-अपने बाहुल्यता के साथ धार्मिक राज्य के रूप में घोषित किये हुए है।

हिन्दू जन-मानस प्रकृतया सहिष्णु और संप्रदाय निरपेक्ष है। सभी धर्मों का सम्मान और उनके मानने वालों के बिच एकता और सौहादर्य का दृष्टिकोण हिन्दू धर्म में प्राचीनतम समय से चली आ रही परम्परा के अनुसार ही मानते है। अभी पुरे देश में जो हिन्दू जागरण की लहर फैली है उसे धर्म निरपेक्षता विरोधी, रूढ़िवादी, सांप्रदायिक और अल्पसंख्यक विरोधी सिद्ध करने के जो राष्ट्रव्यापी प्रयास है वह घृणित स्वार्थों की तुच्छ राजनीति द्वारा सम्पूर्ण हिन्दू मानस की घोर उपेक्षा और अवमानना की घृणित और दुराग्रहपूर्ण कुचेष्टा मात्र है।

निष्कर्ष:-

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि दत्तोपंत ठेंगड़ी ने जिस प्रकार से धर्म मी व्याख्या और उसके प्रति अन्य संप्रदाय की भावना और उनके पुरातन का जो सम्बन्ध है वह अति प्राचीन है। धर्म केवल एक रीति-रिवाज या फिर एक पूजा-अर्चना का माध्यम मात्र नहीं है बल्कि धर्म एक जीवन पद्धति है, एक समूह बोध है जो आदिकाल से मनुष्य के और उनके प्रति अपने विचार और व्यव्हार को अलग-अलग रखते हुए भी सामंजस्य और सहयोग, प्रेम और द्वेष से रहित रहकर, सहिष्णु और सौहादर्य के साथ मानव होने नाते रह कर और जीवन के परम लक्ष्यों को प्राप्ति कर सकते है। उसमें भी हिन्दू धर्म की जो व्याख्या उन्होंने पुराणों, धर्मग्रंथों में व्याख्यायित होने वाले स्वरूपों में किया है। वह अति सूक्ष्म और मार्मिक है। धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत भी हो सकता हैऔर धर्म समूह का समूहगत ही हो सकता है। धर्म एक न्याय का स्वरुप है। धर्म सत्य की ओर ले जाने वाला साधन है। धर्म राज्य के कल्याणकारी कार्यक्रम के रूप में भी है। धर्म लोकहित में निति-निर्माण करने में है। धर्म देश की उन्नति की ओर ले जाने वाला वह ज्ञान है जो विवेकानंद के स्वरों में है। धर्म मानव-मानव के प्रेम में है और प्रेम ही सृष्टि का आधार स्वरुप है। मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण खोज सत्य की खोज है, और उसी सत्य को खोजने की प्रक्रिया धर्म ही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. ठेंगड़ी,दत्तोपंत.(1994),स्वदेशी,स्वदेशी जागरण मंच, नई दिल्ली
2. ठेंगड़ी,दत्तोपंत.(1992),भावी भारत का निर्माण, नेशनल आर्गेनाइजेशन ऑफ़ बैंक वर्कर्स, नागपुर
3. ठेंगड़ी,दत्तोपंत.(2011), विचारदर्पण, भारतीय श्रम शोध मंडल, पुणे
4. ठेंगड़ी,दत्तोपंत.(1992), हिन्दू राष्ट्र चिंतन, लोकवाणी प्रिंटिंग प्रेस नयाटोला, पटना
5. ठेंगड़ी,दत्तोपंत.(1985), पुरानी नींव नया निर्माण, जागृति प्रकाशन, गाजियाबाद

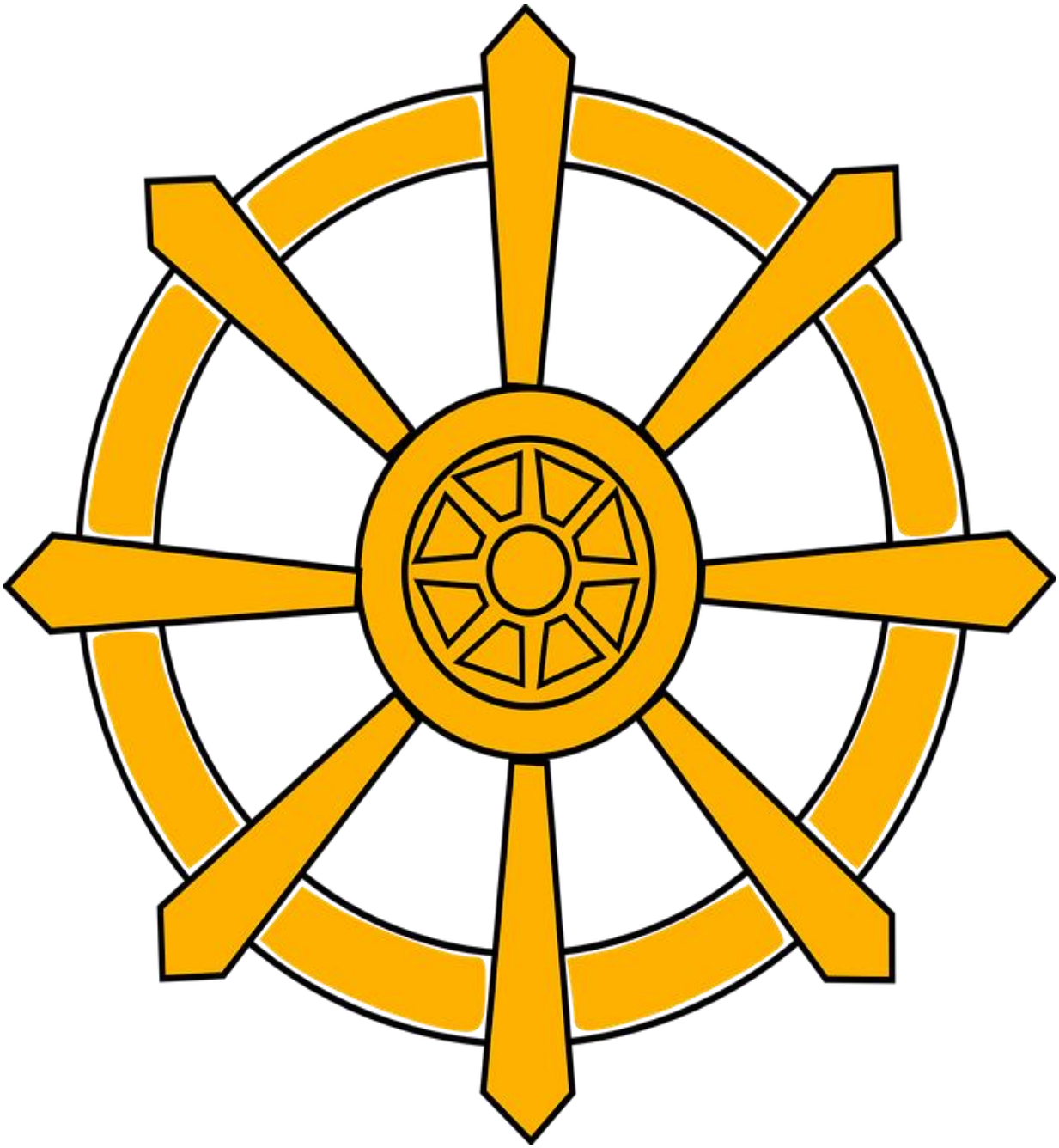

वैदिक वाङ्मय में निहित प्रजातांत्रिक सिद्धान्त

ड़ॉ. शम्भु कुमार झा
सहायकाचार्य
वेद-विभाग
ज.रा.रा.संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

सारांश: *प्रजातंत्र, लोकतंत्र, गणतंत्र, जनतन्त्र ये शब्द पर्याय हैं। संस्कृत वाङ्मय का प्रारंभ वेद से होता है। वेद में लोकतंत्र के अनेकों संदर्भ प्राप्त होते हैं। वैदिक लोकतंत्र में राजा प्रमुख होता था। राजा एवं राजा से संबन्धित वस्तुओं की प्रार्थना वैदिक सभ्यता में प्राप्त होती है।*

बीज शब्द: *संस्कृत, वैद, लोकतंत्र, जनतंत्र*

शोध आलेख

प्रजातंत्र, लोकतंत्र, गणतंत्र, जनतन्त्र ये शब्द पर्याय हैं। संस्कृत वाङ्मय का प्रारंभ वेद से होता है। वेद में लोकतंत्र के अनेकों संदर्भ प्राप्त होते हैं। वैदिक लोकतंत्र में राजा प्रमुख होता था। राजा एवं राजा से संबन्धित वस्तुओं की प्रार्थना वैदिक सभ्यता में प्राप्त होती है। राजा की स्तुति का कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य यास्क निरुक्त में कहते हैं-

"यज्ञ संयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत। राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमगामी भवति।"[1]

अर्थात यज्ञ संपादन के कारण राजा की स्तुति की जाती है ऐसे पुण्यात्मा राजा के साथ जिस किसी वस्तु का संबंध होता है उसकी भी स्थिति की जाती है। यज्ञ शब्द का वैदिक वाङ्मय में अनेक अर्थ प्राप्त होता है। संपूर्ण वैदिक वांग्मय यज्ञ पदार्थ का ही विवेचन कर रहा है। प्रकृत संदर्भ में यज्ञ का अर्थ त्याग है-

"द्रव्यं देवता त्यागः"

राजा और प्रजा दोनों ही त्यागी हो। लोकतंत्र में राजा भी प्रथमतः प्रजा है। पारस्कर गृह्य सूत्र में एक मंत्र पढ़ा गया है-

"सोम एव नो राजेमा मानुषी प्रजाः।"[2]

राजा सौम्य स्वभाव वाला हो तो प्रजा भी सौम्य स्वभाव वाली होती है। चाणक्य नीति दर्पण में भी स्पष्ट रूप से उक्त भाव को प्रकट किया गया है-

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥[3]

महाभारत के शांति पर्व में कहा गया है राजा का व्यवहार प्रजा के लिए आदर्श होता है। पराक्रमहीन राजा के राज्य में अधिकारीगण प्रजा का अहित करते हैं-

[1] निरुक्त.9/2/14
[2] पारस्कर गृह्यसूत्र
[3] चाणक्यनीति

राजा राक्षसरूपेण व्याघ्ररूपेण मन्त्रिणः।
सेवकाः श्वानरूपेण यथा राजा तथा प्रजा ॥[1]

उक्त प्रकरण में आगे कहा गया है प्रजा में, राज्य में योग क्षेम व्याधियाँ, मरण एवं भय आदि का मूल कारण राजा ही होता है-

राजमूलं महोत्साहो योगक्षेम सुवृष्टयः।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥

राष्ट्र की उत्पत्ति के विषय में अथर्ववेद में कहा गया है राष्ट्र की उत्पत्ति परमेश्वर से हुई है। उसने ही सर्वप्रथम राष्ट्रीय भावना दी तथा राष्ट्रीय भावना के साथ ही शत्रुओं का संहार हो गया-

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत्।[2]

राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ नियम कहे गए हैं-

"सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः"[3]

बृहत्सत्य- सत्य को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में अपनाना आवश्यक है।
ऋतम् उग्रम्- प्राकृतिक व्यवस्था का आदर करना।
दीक्षा- लक्ष्य को पूरा करने के लिए कटिबद्ध रहना।
तप- तपस्वी जीवन का होना।
ब्रह्म- वेद का आदर करना, आस्तिक होना, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना।
यज्ञ- प्राकृतिक सनातन यज्ञ को देखते हुए स्वयं को यज्ञिय बनाना त्यागमूलक जीवन व्यतीत करना।

सर्वोत्तम राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि उसकी प्रजा तेज बल सम्पन्न हो। राष्ट्र में सुख समृद्धि के लिए घी, दूध आदि की समृद्धि हो।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥[4]

राष्ट्र में उँच, नीच का भेद नहीं रहना चाहिए तथा परस्पर मैत्री भाव से प्रजा रहे-

"असंबाधं बध्यतो मानवानाम्"[5]

कौटिल्य के अनुसार ऊँचे स्थानों पर नवीन राष्ट्र विकसित करना चाहिए जिसमें अन्य देशों के लोग बसने के लिए प्रेरित किए जाए। राष्ट्र के अधिक जनसंख्या वाले स्थानों से लोगों को बुलाकर बसाया जाए परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रत्येक ग्राम में कम से कम 100 कृषक अधिक से अधिक 500 कृषक आवश्यक रूप से बसाया जाय।

"भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहेन स्वदेशाभिष्यन्दनमानेन वा निवेशयेत्। शूद्र कर्षकप्रायं

[1] महाभारत, शान्तिपर्व
[2] अथर्ववेद.13/1/5
[3] अथर्ववेद.12/1/1
[4] अथर्ववेद.12/1/8-10
[5] अथर्ववेद.12/1/2

कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्।"[1]

शब्दकल्पद्रूम में राष्ट्र का अर्थ विषय बताया है। वाचस्पत्यम् में पं.श्री तारानाथ ने राष्ट्र शब्द का अर्थ जनपद बतलाया है।

किसी भी राष्ट्र की समृद्धि के लिए सभी विद्वानों ने सात अवयवों की चर्चा की है जिसे सप्तांग कहते हैं। शुक्रनीति के अनुसार-

सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः।[2]

1. स्वामी- राजा
2. अमात्य- मन्त्री अथवा पुरोहित
3. जनपद या राष्ट्र- भूमि एवं प्रजा
4. दुर्ग- प्राचीर, खाई एवं राजधानी
5. कोश- आय का स्रोत
6. दण्ड- सेना सुरक्षाकर्मी
7. मित्र- पडोसी राष्ट्र

लोकतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र में राजा का चयन प्रमुख कार्य होता है। राजा वंश परम्परा से हो अथवा योग्यता व पराक्रम से गद्दी पर आसीन हो उभय व्यवस्था में प्रजा की सहमति आवश्यक मानी गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक आख्यायिका पढी गई है तदनुसार- देवता व असुर युद्ध करते थे। देवता असुरों से पराजित हो गये। देवों ने विचार किया कि राजा न होने के कारण हम पराजित होते हैं अतः राजा का चयन करें। सर्वसम्मति से सोम को अपना राजा बनाया। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के चतुर्थ सूक्त के प्रथम से सप्तम मन्त्र तक प्रक्रिया वर्णित है।

अथर्ववेद के अनुसार प्रजाएँ तुझको राज्यशासन चलाने के लिए राजा बनाती है। तुम राज्य के सर्वोच्च स्थान पर बैठकर तेजस्वीता के काम करते हुए प्रजा को यथायोग्य धन प्रदान कर।

राजा का निर्वाचन सर्वसम्मति से होता था। देवों ने सर्वसम्मति से इन्द्र को राजा बनाया था।

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वरं आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्॥[3]

राजा का निर्वाचन निर्वाचन समिति करती थी। इस हेतु से कहा गया है समिति तुझे स्थायी राजा बनाती है तू स्थायी और अच्युत होकर शत्रुओं को निपट कर तथा शत्रुवत् व्यवहार करने वाले को भी नष्ट कर-

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समिति कल्पतामिह॥[4]

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है शासक प्रजा प्रसाद यावत ही शासन कर सकता था।

राजा होने के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि वह प्रजा का प्रिय व्यक्ति हो। राजा प्रजा को प्रसन्न करने के लिए तथा समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे-

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र.2/1
[2] शुक्रनीति.1/61
[3] अथर्ववेद.20/54/1
[4] अथर्ववेद.6/88/3

अस्य श्रियमुपसंयात सर्वं उद्रस्य.....॥[1]

निर्वाचन प्रक्रिया के अतिरिक्त कुछ लोग राजपुत्र को गद्दी का सर्वथा अधिकारी मानते थे। निर्वाचन की पद्दति को अनुचित समझते थे। इन दोनों प्रथाओं में पर्याप्त संघर्ष की सूचना भी मिलती है। कभी कभी राजा के पुत्र सम्बन्धी लोग निर्वाचित राजा को पदच्युत कर देते थे साथ ही निर्वासित भी कर देते थे। प्रजा निर्वासित राजा को ही चाहती थी अतः इसके लिए आन्दोलन संघर्ष आदि करती थी फलतः प्रजा सफल होकर निर्वासित राजा को गद्दी पर बैठाती थी।

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। निर्वाचन पद्धति का विरोध करने वाले चाहे अपने हो या पराये उनको तिरस्कृत करके हटाया जाता था-

यस्ते ह्वं विवदत् सजातो यश्च निष्टयः।
अपाञ्चमिन्द्र ते कृत्वाथेममिहाय गमय ॥[2]

प्रजातन्त्रिक व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ थी क्योंकि स्वार्थी राजा को अपरुद्ध या निरुद्ध किया जा सकता था। राजा प्रजा की भावना एवं इच्छा पर आश्रित थे। प्रजा की भलाई न करने वाला राजा प्रजा द्वारा पदच्युत कर दिये जाते थे। शतपथ ब्राह्मण में 'दुष्टरीतु' नामक राजवंश की चर्चा है जो दसपुरुषवंश परम्परागत राजशासन करने वाले को राज्य से अपरुद्ध कर दिया गया-

"दुष्टरीतुर्ह पौंसायनः दशपुरुषं राज्यापरुद्ध आस"[3]

राजा का कर्त्तव्य-

राष्ट्र का प्रमुख राजा प्रजा के हित में सर्वदा कार्य करें। उसकी सूचना भारवि अपने काव्य में देते हैं-

"क्रियासु युक्तैर्नृपचारचक्षुषैः....."

राजा प्रजा के पारस्परिक द्रोह को शमन करे। राजा का मन प्रजा में लगा रहे इस हेतु से उसे 'नृमणः' कहा गया है-

"त्वं नृमिर्नृमणो...."[4]

अपरुद्ध राजा यज्ञ याजन करने के बाद पुनः सत्ता के योग्य होते थे। पुनः सत्ता प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ वैदिक संहिताओं में वर्णित है। श्रीमद्देवी भागवत में कथा आती है जिसमें युवराज विवाहमण्डप से एक कन्या का अपहरण कर लेता है इस दुष्कृत्य को देखकर वशिष्ठ की आज्ञा से राजा उस युवराज को राज्य से निर्वासित कर देता है।

इसी पुराण में एक अत्यन्त प्रसिद्ध कथा है- इन्द्र ब्रह्महत्या पाप से व्यथित होकर प्रायश्चित्त करने मानसरोवर में कमलनाल में अवस्थित होकर अदृश्य हो गए। इन्द्र एक सर्वोच्च पद है जो रिक्त नदी रह सकता। देवताओं ने मन्त्रणा कर सर्वसम्मति से 'नहुष' को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया। नहुष सत्तासीन होकर उन्मत्त हो गया। वेद एवं वैदिक मार्गों का तिरस्कार करने लगा। अनाचार युक्त होकर इन्द्राणी से सम्बन्ध स्थापित करना चाहा। देवगुरु बृहस्पति के आग्रह पर नहुष को पदच्युत कर दिया गया। साथ ही नहुष का अस्तित्त्व भी समाप्त हो गया। कथा के विश्लेषण से ज्ञात होता है प्रजा

[1] अथर्ववेद.6/73/1-3
[2] अथर्ववेद.3/3/6
[3] शतपथ ब्राह्मण
[4] अथर्ववेद.20/37/3

सर्वोपरि है। उद्दण्ड शासक के लिए प्रजातन्त्र में कोई स्थान नहीं है।

ऐतरेय ब्राह्मण में 9 प्रकार के शासन प्रणालियों का वर्णन है-

"राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने.....स्वस्ति साम्राज्यं, भोज्यं, स्वराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं, राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी....."[1]

1. साम्राज्य- सम्राट के अन्तर्गत छोटे राजाओं का शासन।
2. भोज्य- केन्द्रिय शासन के द्वारा प्रजा के लिए भोजन, आवास, योग-क्षेम की सम्पूर्ण व्यवस्था।
3. स्वराज्य- प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा सञ्चालित।
4. वैराज्य- पंचों के निर्णय से शासित व्यवस्था।
5. पारमेष्ठ्य- प्रजा के द्वारा शासन संचालन हेतु राजा की नियुक्ति। असन्तुष्ट होने पर पदच्युत कर देना।
6. राज्य- इसमें प्रजा राजा की निजी सम्पत्ति मानी जाती थी। राजा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता था।
7. महाराज्य- यह बडा राज्य था। इसके अन्तर्गत छोटे-छोटे राज्य होते थे।
8. आधिपत्यमय- इस शासन में राज्यसत्ता अधिकारियों के हाथ में होती थी।
9. समन्तपर्यायी- सामन्त अर्थात् सेनाध्यक्ष सैनिक शासन। निरंकुश शासन होता है। प्रजा को बहुत दुःख उठाने पडते हैं।

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के नौवें अध्याय में जनराज्य का उल्लेख प्राप्त होता है। यह जनतन्त्र है। इसमें राज्य के शत्रु नहीं होते। इसमें जनता में श्रेष्ठ शक्ति होती है-

"इमन्देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्ये-न्द्रियाय इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।"[2]

जनराज्य सर्वोत्कृष्ट माना गया है। अथर्ववेद में जनराज्य के राजाओं का सुश्रवा से युद्ध हुआ था तथा इस युद्ध में जनराज्य के राजा पराजित हुए थे। सम्राट् लोग जनराज्य से द्वेष करते थे तथा जनराज्य को सैनिक कार्यवाही कर परास्त कर देते थे। जनराज्य के राजाओं के पास युद्ध की समग्री कम होती थी अतः इनके सामूहिक प्रयत्न करने पर भी सुश्रवा पराजित नहीं हुए। इस युद्ध में 60 हजार 99 सैनिक जनराज्य के मरे थे-

त्वमेता जनराज्यो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥[3]

अन्ततः समस्त प्रमाणों के आधार पर कह सकते हैं प्रजा रञ्जन ही शासन का प्रमुख दायित्त्व है। अग्निपुराण में राजा की समानता एक गर्भिणी स्त्री से की गई है। जिस तरह एक गर्भिणी स्त्री सभी प्रकार के कष्टों को सहन करके अपनी सन्तान को सुखी रखने का प्रयास करती है ठीक उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा के हित के लिए अपनी सभी सुखों का परित्याग कर देता है। यथा-

[1] ऐतरेय ब्राह्मण.8/15
[2] यजुर्वेद
[3] अथर्ववेद.20/21/9

नित्यं राजा तथा भाव्यं गर्भिणी सह धर्मिणी।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत्॥[1]

वाङ्मय का अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता में देवीयाँ भी भाग ग्रहण करती थी। देवीयों में सूर्या, सरमा, नदी, वाक्, सरस्वती, इन्द्राणी, इडा, वक्त्री,वरुणानी, सरण्यू, उषा प्रमुख थी। इससे प्रतीत होता है स्त्रियों का प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कालो वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितः मानवाः सन्तु निर्भयाः॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तोमुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत्॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

संदर्भ

1. निरुक्त.9/2/14
2. पारस्कर गृह्यसूत्र
3. चाणक्यनीति
4. महाभारत, शान्तिपर्व
5. अथर्ववेद.13/1/5
6. अथर्ववेद.12/1/1
7. अथर्ववेद.12/1/8-10
8. अथर्ववेद.12/1/2
9. कौटिल्य अर्थशास्त्र.2/1
10. शुक्रनीति.1/61
11. अथर्ववेद.20/54/1
12. अथर्ववेद.6/88/3
13. अथर्ववेद.6/73/1-3
14. अथर्ववेद.3/3/6
15. शतपथ ब्राह्मण
16. अथर्ववेद.20/37/3
17. ऐतरेय ब्राह्मण.8/15
18. यजुर्वेद
19. अथर्ववेद.20/21/9
20. अग्निपुराण.220/4

[1] अग्निपुराण.220/4

बौद्ध संघ के विकास यात्रा में राजव्यवस्था

जगन्नाथ कुमार यादव
रिसर्च फेलो, बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल- jkyadav@buddhist.du.ac.in
मोबाइल- 9971648192

सारांश

'संघ' बौद्ध धर्म के त्रिरत्न में से एक माने जाते हैं। ज्यादातर विद्वानों ने बौद्ध दर्शन एवं इतिहास तथा पालि भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी अध्ययन किया हैं। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म का मुख्य केंद्र 'संघ' ही था और इसी से इसे एक आकार भी मिला। इसके बावजूद बौद्ध धर्म की विशिष्ट विशेषताओं में से एक संघ तथा इसके विकास यात्रा को अक्सर नज़रंदाज़ किया गया। संघ को महज़ एक आध्यात्मिक स्थान के रूप में परिभाषित किया गया, जो निर्वाण प्राप्ति में लगे बुद्ध के अनुयायियों के लिए महज़ एक आवासीय स्थान था। जब हम इसके विकास यात्रा का अध्ययन करते हैं, जो इस शोध कार्य का क्षेत्र है, तो संघ महज़ अध्यात्म में उलझा एक समुदाय के रूप में सामने नहीं आता है, बल्कि विभिन्न राजव्यवस्था मसलन- राजतन्त्र एवं अल्पतंत्र के समानांतर चलता हुआ अपने गंतव्य स्थान यानी गणतंत्रात्मक प्रणाली को अपनाता हुआ प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो राजव्यवस्था के विभिन्न रूपों से गुज़रता हुआ संघ का विकास यात्रा ही इस शोध कार्य का विषय है।

बीज शब्द

बौद्ध धर्म, संघ, राजव्यवस्था, लोकतंत्र, राजतन्त्र, अल्पतंत्र, भिक्षु, समुदाय।

प्रस्तावना

'संघ' भिक्षु एवं भिक्षुणियों का एक समुदाय है, जहाँ रहकर वह जीवन के मुख्य ध्येय 'निर्वाण' प्राप्ति की उम्मीद में धार्मिक अनुष्ठान करते हैं। संघ की कल्पना संभवतः वर्षावास से हुआ होगा। बुद्ध के समय बारिश के मौसम में सभी भिक्षुओं को तीन महीने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हो, इकट्ठे रहना अनिवार्य था, जिसे वर्षावास का नाम दिया गया।

बुद्ध और बौद्ध भिक्षु परिव्राजक परम्परा से जुड़े रहे हैं। जिसके तहत व्यक्ति अपनी पारिवारिक जीवन त्याग कर संसार की रहस्यमय सत्य के तलाश में इधर-उधर घूमते हैं। इससे पूर्व यानी पुराने ढंग के परिव्राजकों का कोई संघ नहीं था, उनके अनुशासन के नियम भी नहीं थे और ऐसा कोई आदर्श भी नहीं था, जिसके लिए उन्हें प्रयास करना पड़ता। इतिहास में पहली बार तथागत ने अपने भिक्खुओं का एक संघ अथवा भ्रातृसंघ बनाया, उनके लिए अनुशासन के नियम बनाए और आदर्श भी निश्चित किए, जिनका उन्हें पालन करना और लक्ष्य प्राप्त करना होता था।[1] शुरुआती दौर में मुख्यतः कस्बाई क्षेत्रों में बुद्ध या भिक्षुओं को दान के रूप में दिए गए पार्क (विहार) से संघ कार्य करता था, जहाँ बुद्ध और भिक्षु सहित

[1] डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, बुद्ध और उनका धम्म, पेज- 359

उनके अनुयायी उपदेश सुनने को एकत्रित होते थे।

फ़िलहाल हमारा उद्देश्य बौद्ध संघ के विकास के विभिन्न चरणों में मौजूद राजव्यवस्था के बीज का आकलन करना है। लेकिन इससे पहले हमें राजव्यवस्था के विभिन्न रूप को जान लेना भी महत्वपूर्ण होगा।

यूनानी विद्वानों ने राजव्यवस्था को मुख्य रूप से तीन भागों में व्याख्या किया है- पहला- राजशाही(राजतन्त्र) यानी एक के द्वारा शासन, दूसरा- अभिजात वर्ग (अल्पतंत्र) यानी समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा संचालित शासन प्रणाली और आखिर में, लोकतंत्र यानी जनता का शासन प्रणाली।[1]

बौद्ध संघ अपने विकास में इन सभी राजकीय व्यवस्था से गुजरते हुए, अंततः एक लोकतंत्रात्मक व्यवस्था कायम करता है। काशी प्रसाद जायसवाल इस बात को स्थापित करते हुए कहते हैं कि उन्होनें (बुद्ध) अपना धार्मिक संघ स्थापित करने में राजनीतिक संघ का नाम और संघटन या रचना-प्रणाली भी ग्रहण की थी।[2] संभवतः इसके पीछे एक और वजह रहा होगा कि बुद्ध का जन्म एक गणतंत्रात्मक प्रणाली वाले राज्य में हुआ था। जाहिर है, यह प्रणाली उन्हें प्रभावित किया होगा क्योंकि उस समय यही एक ऐसी व्यवस्था थी, जो समावेशी एवं बहुजन हिताय पर आधारित थी।

बौद्ध संघ एक समुदाय के रूप में:

बौद्ध संघ के विकास में प्रथम भिक्षु से भिक्षु संघ के सफ़र का अध्ययन करना उचित होगा। यह पहले धर्मोपदेश के साथ शुरू होता है, जब सारनाथ में बुद्ध द्वारा पांच भिक्षुओं को प्रव्रजित किया जाता है। जिसे 'धम्मचक्कप्पवत्तन' कहा जाता है।

बाद में एक वर्षावास के दौरान कई लोगों ने एक साथ बुद्ध को अपना गुरु मान प्रव्रजित हुआ। उस बारिश के मौसम में दुनिया में साठ भिक्षुओं की उत्पत्ति हुई। उसे संबोधित करते हुए बुद्ध ने कहा:

> "भिक्खुओं! जितने भी दिव्य और मानुष बंधन हैं, मैं उन सबों से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष बन्धनों से मुक्त हो। भिक्षुओं! बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओं! आदि में कल्याण- (कारक), मध्य में कल्याण-(कारक) और अंत में कल्याण-(कारक) इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित व्यंजन-सहित, केवल (अमिश्र) परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। अल्प दोष वाले प्राणी भी हैं, धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि होगी। सुनने से वह धर्म के जानने वाले बनेंगे।"[3]

बुद्ध की इस उद्घोषणा से हमें पता चलता है कि बौद्ध धर्म की नीति अपने स्वार्थ की सेवा के लिए नहीं, बल्कि लोगों के सुख और लाभ के लिए थी। यह बौद्ध धर्म का प्रारंभिक चरण था, जहाँ किसी तरह की संगठन बनाने की आवश्यकता नहीं थी। बौद्ध धर्म के प्रारंभिक चरण के दौरान बुद्ध को निश्चित रूप से स्वयं संघ नेता कहा जा सकता है। अन्य समाजों की

[1] ओ.पी. गाबा, राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा, पेज-33
[2] काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू राज्य-तंत्र, पेज- 34
[3] विनय पिटक (अनुवाद- राहुल सांकृत्यायन), पेज-87

तरह बौद्ध धर्म के प्रारंभिक चरण में भी कोई शासकीय निकाय नहीं था। कानून और कार्यविधि निर्धारित नहीं थे। लेकिन सभी भिक्षुओं ने सार्वभौमिक सत्य का पालन किया, जिसे उन्होंने अपने जीवन और कार्यविधि के रूप में अपनाया था। उनके जीवन का कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं था, क्योंकि वे सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण (निब्बान) प्राप्त कर चुके थे।

उनके जीवन का उद्देश्य सामान्य जन को लाभ पहुँचाना था। बौद्ध धर्म में राजव्यवस्था का कोई रूप नहीं था, लेकिन अगर हम राजव्यवस्था के वर्गीकरण के साथ प्रारंभिक बौद्ध धर्म के कार्य पद्धति की तुलना करे तो इसे एक राजशाही (राजतांत्रिक पद्धति) के समक्ष खड़ी की जा सकती है। बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को खुद से निर्देशित किया और उनके अनुयायियों ने उन्हें एक आदेशक के रूप में माना। उनके द्वारा जारी की गई नीति लोगों के हित और खुशी के लिए थी। भिक्षुओं ने बिना किसी सिफारिश, कानून, आदेश के बुद्ध द्वारा घोषित नीति के अनुसार काम किया। उनके काम करने का परिणाम बौद्ध भिक्षुओं और अनुयायियों की वृद्धि के रूप में प्रकट हुई और लोगों ने बुद्ध के अनुसरण में स्वयं को समर्पित कर दिए। इसे हम इस रूप में भी देख सकते हैं कि भिक्षु संघ की स्थापना के पहले चरण के दौरान निर्णय लेने की शक्ति बिना किसी परामर्श, वार्तालाप या बैठक के सीधे बुद्ध के हाथों में था। इस प्रकार, संघ को चलाने और नियंत्रित करने का एकमात्र अधिकार बुद्ध के पास ही था।

बौद्ध संघ के विकास का दूसरा चरण:

पहले बुद्ध खुद ही व्यक्तियों को उपसंपदा एवं प्रबज्या देकर भिक्षु या भिक्षुणी बनाते थे। किन्तु समय के साथ अनुयायियों की संख्या में इजाफ़ा होता गया, जिससे स्वाभाविक तौर पर सिर्फ बुद्ध द्वारा किया जाना संभव नहीं रह गया होगा। जिसके कारण भिक्षुओं को भी उपसम्पदा और प्रबज्या देने की अनुमति दी गई। जैसा कि धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त के उपसम्पदा कथा में कहा गया है:

> "उस समय भिक्षु नाना दिशाओं से नाना देशों से प्रब्रज्या की इच्छाओं वाले, उपसम्पदा की उपेक्षा वाले आते थे कि बुद्ध उन्हें प्रब्रजित करें, उपसम्पन्न करें। इससे भिक्षु भी परेशान होते थे और प्रब्रज्या और उपसंपदा चाहने वाले भी। ध्यानावस्थित बुद्ध के चित्त में विचार हुआ कि क्यों न भिक्षुओं को ही अनुमति दे दूँ, कि हे भिक्षु! तुम्हीं उन-उन दिशाओं में, उन देशों में जाकर प्रब्रज्या दो, उपसंपदा करो।
>
> उपसंपदा देने का प्रकार यह है- पहले सिर, दाढ़ी मुंडवा, काषाय वस्त्र पहना, भिक्षुओं की पाद-वंदना करा, उकडूं बैठा, हाथ जोड़वा कर 'ऐसे बोलो' कहना चाहिए- 'बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ।' इन तीन शरणा-गमनों से प्रब्रज्या और उपसंपदा देने की अनुमति देता हूँ।"[1]

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि भिक्षु अन्यों लोगों को प्रब्रज्या और उपसम्पदा दे सकता था, जिसे खुद की उपसम्पदा प्राप्त किये कम-से-कम दस साल हो गये थे।

संघ में प्रवेश का पूर्ण अधिकार, जो पहले बुद्ध का कर्तव्य था, जब भिक्षुओं को दिया गया वहाँ से बौद्ध संघ का दूसरा चरण शुरू होता है। जैसे-जैसे यह समुदाय बढ़ता गया, बौद्ध आदेशानुसार प्रत्येक सदस्य को उपसम्पदा समारोह में भाग

[1] वहीं, पेज-87-88

लेने का समान अधिकार दिया गया। समय बीतने के साथ न केवल संघ में सदस्यों का प्रवेश हुआ, बल्कि उनके दीक्षित और पर्यवेक्षण की भी आवश्यकता महसूस हुई। युवा भिक्षु को अपनी पसंद के उपदेशक चुनने की अनुमति दी गयी।

यदि इस चरण की तुलना किसी राजनीतिक प्रणाली के साथ किया जाए तो यह अभिजात वर्ग की ओर बढ़ रहा प्रतीत होता है क्योंकि बौद्ध आदेश के मामलों में शक्ति एक व्यक्ति से अब कुछ योग्य भिक्षुओं के हाथों में स्थानांतरित की जा रही है। जिनके पास उच्च जिम्मेदारी और मदद करने की क्षमता है। हालाँकि वह अपनी सामाजिक स्थिति के कारण नहीं, बल्कि अपने गुणों के कारण उच्च हैं। ऐसे भिक्षुओं के समूहों को अल्पतंत्रात्मक व्यवस्था कहा जा सकता है।

संघ के सदस्यों में उच्च गुण विकसित करने के लिए कुछ शर्तें बनाई गई। जो लोग उपाध्याय हो सकते हैं, उनकी अवधि बुद्ध के वचन द्वारा सीमित थी: "भिक्षुओं! अनुमति देता हूँ, चतुर और जानकार दस या दस से अधिक वर्ष वाले भिक्षु को उपसम्पदा करने की।"[1]

धीरे-धीरे बौद्ध के व्यवस्थित संघ में व्याप्त समस्याओं के संदर्भ में कानून और नियम जारी किए गए। वे अकेले बुद्ध द्वारा तैयार नहीं किए गए थे, बल्कि भिक्षुओं के गुणों में सुधार के उद्देश्य से अस्तित्व में आया होगा।

बौद्ध संघ के विकास का तीसरा चरण:

बौद्ध संघ का छोटा समाज समय के साथ बड़ा होता गया। धीरे-धीरे बुद्ध और भिक्षुओं के कार्य बढ़ते गए। बदलती सामाजिक परिस्थितियों के कारण काम करने के तरीकों में भी परिवर्तन आया। संघ में प्रवेश के नियम भी बदल गए। संघ में प्रवेश कार्य या उपसम्पदा विधि जो पहले सीधे भिक्षुओं के हाथों होता था, उसे बदल कर अब संघ को हस्तांतरित कर दी गयी।

यह शक्ति के परिवर्तन का तीसरा चरण था। शुरुआत में शक्ति केवल बुद्ध के हाथों में थी। दूसरे चरण में यह शक्ति कुछ वरिष्ठ और उच्च योग्यता प्राप्त भिक्षुओं को हस्तांतरित कर दी गयी। शुरुआती दौर में निर्णय लेना जो एक व्यक्तिगत प्रक्रिया थी, तीसरे चरण में इसे संघ के हाथों सौंप दी गयी।

निर्णय लेने की शक्ति में लगातार परिवर्तन को हम राजव्यवस्था के अलग-अलग रूपों में पाते हैं। पहली की तुलना एक राजतंत्र से की जा सकती है, जिसमें एक व्यक्ति के हाथों में शक्ति निहित थी। दूसरे चरण में राजतंत्र की शक्ति कुलीनतंत्र या अभिजात वर्ग में स्थानांतरित होती जान पड़ती है, जिसमें निर्णय लेने की शक्ति कुछ लोगों के हाथों में आ जाती है। तीसरी के रूप में कुछ की शक्ति को कई में स्थानांतरित कर दी जाती है, जिसे हम गणतंत्रात्मक या लोकतंत्रात्मक रूप कह सकते हैं।

तीसरे चरण में बौद्ध संघ की कार्यशैली लोकतांत्रिक प्रक्रिया के रूप में सामने आती है, जिसे बुद्ध द्वारा निर्मित किया गया था। संघ में प्रवेश की अनुमति प्राप्त करने के लिए सभी पूर्ण सदस्यों की सहमति जरुरी कर दी गई। जैसाकि 'विनय पिटक' में महावग्ग के पहले अध्याय 'महास्कंधक' में संघ में प्रवेश की विधि 'उपसम्पदा' का विशेष वर्णन है। मुख्यतः इसे तीन चरण में वर्णित किया गया हैं- ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा। जो प्रकार है-

[1] वहीं., पेज-101

(क)ज्ञप्ति- भन्ते! संघ मेरी बात सुने। यह इस नामवाला, इस नामवाले आयुष्मान का उपसम्पदा चाहनेवाला (शिष्य) विध्नकारक बातों से शुद्ध है। इसके पात्र-चीवर परिपूर्ण हैं। यह इस नामवाला उम्मीदवार इस नामवाले भिक्षु को उपाध्याय बना संघ से उपसम्पदा चाहता है। यदि संघ उचित समझे तो इस नामवाले उम्मीदवार को इस नामवाले आयुष्मान के उपाध्यायत्व में उपसम्पदा दें-यह सुचना है।

(ख) अनुश्रावण- 1. भन्ते! संघ मेरी बात सुने। यह इस नामवाला शिष्य, इस नामवाले आयुष्मान का उपसंपदा चाहनेवाला शिष्य आन्तरिक बातों से परिशुद्ध हिया, इसके पात्र-चीवर परिपूर्ण हैं। यह इस नामवाले आयुष्मान के उपाध्यायत्व में उपसम्पदा चाहता है। संघ इस नामवाले उम्मीदवार को इस नामवाले आयुष्मान के उपाध्यायत्व में उपसंपदा देता है। जिस आयुष्मान को इस नामवाले उम्मीदवार की इस नामवाले आयुष्मान के उपाध्यायत्व में उपसंपदा पसंद है, वह चुप रहे। जिसको पसंद नहीं है, वह बोले। 2. दूसरी बार भी इसी बात कहता हूँ- पूज्य संघ मेरी बात सुनें.....। 3. तीसरी बार भी इसी बात को कहता हूँ- पूज्य संघ मेरी बात सुनें.....जिसको पसंद नहीं हैं, वह बोले।

(ग) धारणा- इस नामवाले उम्मीदवार को इस नामवाले आयुष्मान के उपाध्यायत्व में उपसंपदा संघ ने दी। संघ को पसंद है, इसलिए चुप है- ऐसा मैं इसे धारण करता हूँ।[1]

संघ में प्रवेश की इस विधि से साफ पता चलता है कि बुद्ध अपने संघ में किस प्रकार का लोकतंत्र लाने की कोशिश कर रहे थे। संघ के किसी भी बैठक में कम-से-कम बीस लोगों का होना अनिवार्य था। जिसे 'कोरम' का नियम कहा जाता था। यदि कोई कार्य कोरम के बिना होता था तो उसे मान्य नहीं माना जाता था। संघ के आन्तरिक प्रशासनिक कार्य भी इसी विधि से चलता था। यदि किसी प्रश्न पर मतभेद हो, तब उसके पक्ष और विपक्ष में भाषण होते थे, और बहुसम्मति द्वारा उसका निर्णय किया जाता था। कभी-कभी वोट द्वारा भी आम सहमति बनायी जाती थी। चुल्लवग्ग में तीन प्रकार के वोटिंग प्रक्रिया बताए गए है- गुढ़क, सकर्णजल्पक और विवृतक।[2]

उपर्युक्त वर्णित तथ्य ठीक आज के संसदीय लोकतंत्र से मिलता जुलता हैं। जैसे संसदीय काल में चुने गए सभी प्रतिनिधियों को शामिल होना होता हैं। कोई भी नियम बनाने से पहले उसे प्रस्तावित किया जाता है। वाद-विवाद होता है। फिर वोटिंग के आधार पर बहुमत साबित की जाती है। उसके बाद ही कोई नियम देश हित में लागू किया जाता है। जिस प्रकार वर्त्तमान संसदीय काल में सभी प्रतिनिधियों को उपस्थित रहने के लिए राजनीतिक पार्टियाँ 'व्हिप' जारी करती हैं, ठीक वैसे ही संघ के किसी अधिवेशन में कोरम पूरा करने के लिए एक भिक्षु-कर्मचारी की नियुक्ति होती थी, जिसे 'गणपूरक' कहा जाता था।[3]

संघ विकास प्रक्रिया में अपने सदस्यों में हो रहे लगातार सुधारों के माध्यम से प्रगति कर रहा था। भिक्षुओं के प्रत्येक गलत कार्य या अनुचित कार्रवाई को संघ सभा द्वारा विचार तथा सुधार के लिए प्रस्तुत किया जाता था।

बौद्ध संघ क्रमिक एवं निरंतर विकास और संक्रमण की प्रक्रिया के माध्यम से अस्तित्व में आया। यह एक ऐसा समाज था जिसमें व्यक्ति जीवित एवं स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक बहुत ही कम साधनों पर जिन्दा रहते थे। संघ समानता आधारित संस्था थी। यह सच है कि बुद्ध ने संघ के विकास में किसी राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन नहीं किया, किन्तु इससे

[1] वही, पेज- 105-06

[2] वही, पेज- 414-15

[3] सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, पेज-105

तत्कालीन और बाद की राजनीतिक परिस्थितियाँ जरुर प्रभावित हुई।

निष्कर्ष:

विदित है कि बुद्ध राजव्यवस्था के किसी प्रकार के बारे में सीधे तौर पर कुछ नहीं कहा। लेकिन अब यह भी सिद्ध हो चूका है कि वह गणतंत्रात्मक प्रणाली के हिमायती थे। यही वजह रहा कि संघ के अंदर न सिर्फ निरंतर परिवर्तन होता रहा है, बल्कि वह अपने हर परिवर्तन में एक नया व्यवस्था का परिक्षण करता रहा है और अंततः बहुजन हिताय के उद्देश्य से 'लोकतांत्रिक प्रणाली' को अपनाता है। संघ के इस विकास यात्रा से इस तथ्य को और मजबूती मिलता है कि बुद्ध महज़ एक धार्मिक और सामाजिक क्रांतिकारी नहीं, बल्कि संघ के प्रशासनिक कार्य के रूप में अपनाए गए प्रणाली के माध्यम से राजनीतिक क्षेत्र में भी वह परोक्ष या अपरोक्ष हस्तक्षेप कर रहे थे।

संदर्भ सूची:

1. सांकृत्यायन, राहुल (अनु.). (2010). *विनय पिटक*, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली
2. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर. (2016). *बुद्ध और उनका धम्म*, बुद्धम् पब्लिशर्स, जयपुर
3. गाबा ओ.पी. (2010). *राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा*, मयूर पेपरबैक्स, नौएडा
4. जायसवाल, काशी प्रसाद. (2016). *हिन्दू राज्य-तंत्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
5. विद्यालंकार, सत्यकेतु. (1975). *प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएँ और राजनीतिक विचार*, श्री सरस्वती सदन, मसूरी

मध्यकालीन महाजनी सभ्यता में पीड़ित गरीब किसान और सूरदास

- अनिल कुमार
सहायक प्राध्यापक (अतिथि) दिल्ली विश्वविद्यालय
ई मेल : akumarnishad5@gmail.com
दूरभाष : 8750158144

शोध सारांश :

आज के युग में अन्न दाता किसान कॉर्पोरेट के शिकंजे में किस तरह फंसता जा रहा है यह जग जाहिर है। पिछले कई महीनों से देश के विभिन्न राज्यों से दिल्ली की ओर किसान कूच कर रहे हैं। सरकार के द्वारा लाये गये तीनों कृषि कानूनों से देश का किसान नाखुश है जिसका परिणाम है किसान आंदोलन। भारत में कृषि रोजगार का बहुत बड़ा स्रोत है किन्तु आज खेती- किसानी घाटे का सौदा होती जा रही है। महाजनों एवं सहकारी बैंकों से कर्ज लेकर जो फसल बोई जाती है उसका उचित दाम तक किसानों को नहीं मिल पाता। ऐसी स्थिति में किसानों के समक्ष बड़ी समस्या यह आ जाती है कि वह अपने और अपने परिवार का पेट पाले या महाजनों आदि से लिया गया कर्ज चुकाए? किसानों की इसी द्वंद्वात्मक मानसिकता का ही परिणाम है आत्महत्या।

आज के किसानों की समस्या मध्यकालीन सामंती परिवेश के किसानों से भिन्न नहीं है। आज कॉर्पोरेट जगत किसानों की प्रगति की बेड़िया बना हुआ है उसका शोषण करने से नहीं चूक रहा है उसी प्रकार सूर के युग में महाजनी सभ्यता किसानों पर अपनी कू दृष्टि जमाएं हुए बैठी थी। मुंशी प्रेमचंद ने जिस महाजनी सभ्यता में गरीब किसानों को पीड़ित होते हुए दिखाया है उसी प्रकार कृष्ण भक्त कवि सूरदास जी ने भी समय की सीमा में रहते हुऐ कही प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष इस महाजनी सभ्यता की शोषणवादी प्रवृत्ति को पूरे यथार्थ रूप में चित्रित किया था जिस पर विस्तृत चर्चा मेरे इस मौलिक शोधालेख में की गई है।

यह लेख मेरा मौलिक प्रयास है और इस लेख में सहायक, पुस्तक एवं पत्रिका का उद्धरण स्पष्टतः संदर्भ के रूप में दे दिया गया है।

शोध विस्तार :

सूरदास की साहित्यिक दृष्टि मूलतः ग्रामीण क्षेत्र और उसमें बसने वाले निरीह किसानों पर आधारित थी। इनका सम्पूर्ण साहित्य कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष या सांकेतिक रूप से इन्हीं विषयों के इर्द- गिर्द चक्कर काटता है।मध्यकालीन परिवेश में ग्रामीण जीवन पर सामंती शासन और अशिक्षा, अज्ञानता तथा स्वार्थान्धता का दोहरा दबाव था जिसमें आंचलिक जन- जीवन को आर्थिक , धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और मानसिक आदि सभी स्तरों पर गुलाम बनने को मजबूर किया। एक तरफ तो क्रूर सामन्त अपने फायदे के लिए ग्रामीणों का शोषण कर रहे थें, वहीं कुछ ऊँचे वर्ग के ब्राह्मण, पूँजीपति, जमींदार आदि शोषक प्रवृत्ति के लोग बहते पानी में हाथ धो रहे थे, जिसके कारण लोगों को न सिर्फ विदेशी(बाहरी आक्रमणकारी), अपितु देशी मार भी सहनी पड़ रही थी, जिसने उनके आत्म- विश्वास की कमर तोड़ दी थी।

ब्रजांचल की जनता इतनी अज्ञानी, इतनी भोली- भाली थी कि शासन प्रणाली के दो मुंहे कष्ट को वह समझ नहीं पा रही थी और सामाजिक बुराइयों तथा क्रूर सामन्तों के दो पाटों के बीच बुरी तरह पिसती जा रही थी। वह किसान जो अपने खून- पसीने से भूमि को सींचता था, रोपता था और पूरे देश की जनता के लिए अनाज पैदा करता था, सामन्तों की भूमि कर व्यवस्था के कारण वही अब नीलामी और बेदखली की ठोकरें खा रहा था, भूमि हीन हो रहा था।

सूर के काव्य में जिस किसान- जीवन का चित्रण है, उसका एक विशेष सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ है। वह सन्दर्भ सामंती व्यवस्था का है, जिसके भीतर किसान- जीवन के अनुभव का स्वरूप बना है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने सामंती- व्यवस्था के सन्दर्भ के साथ किसान- जीवन के अनुभवों का चित्रण किया है। उसमें सामंती- व्यवस्था के अत्याचार और किसानों की यातना को मूर्त और इन्द्रियग्राह्य बनाने के लिए रूपक का सहारा लिया गया है। एक रूपक में किसानों की निर्धनता के कारण लगान देने में असमर्थता, सामन्तों की लूट और उनके कपटी कर्मचारियों के अनाचार का वर्णन निम्नलिखित पद में है-

"अधिकारी जम लेखा मांगै, तातै हौं आधीनौ।
घर में गथ नहिं भजन तिहारौ, जोन दिए मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातै ठाकुर लूटौ।
अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सबै रही।
सोइ करौ जु बसतै रहियै, अपनौ धरियै नाउं।
अपने नाम की बैरख बांधौ, सुबस बसौं इहिं गाउं।"[1]

सूरकालीन समाज- निरन्तर धीरे- धीरे कई वर्गों में बंटता जा रहा था। प्रत्येक ऊंचा वर्ग अपने से निचले वर्ग पर अधिकार जमाता था। अधिकार की श्रेणी मुख्यतः जाति, धर्म और अर्थ पर आधारित थी, जिसका परिणाम यह हुआ की सबसे गरीब तबके के किसान, मजदूर और श्रमिकों का जीवन शासन और शोषण के अनगिनत तहों के नीचे दबता- पिसता और संकुचित होता जा रहा था। जमींदार, कारिंदे, पटवारी, साहुकार इत्यादि के रूप में सूरदास ने अपने साहित्य में इन्हीं तहों का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया है और बड़ी स्पष्टता से दिखाया है कि उनके पंजो के नीचे किस तरह किसान लगान और कभी न खत्म हो सकने वाले ऋण- भार से दबा हुआ है। मैनेजर पांडेय लिखते है- "सामंती- व्यवस्था में लगान की लूट के साथ सूदखोरी की प्रथा भी किसानों को तबाह करती रही है। भारतीय किसान- जीवन के नए- पुराने सभी बड़े लेखकों की रचनाएं इस बात की गवाही देती हैं।"[2] सूरदास ऋण की प्रथा की क्रूरता से भली- भांति परिचित हैं, इसीलिए उन्होंने लिखा-

"सबै क्रूर मोसों ऋण चाहत, कहौ कहा तिन दीजै।
बिना दियै दुख देत दयानिधि, कहौ कौन विधि कीजै।"[3]

इसी ऋण और ब्याज से किसान जीवन में **महाजनी पूँजीवाद** या **महाजनी सभ्यता** का प्रवेश हुआ। इस महाजनी सभ्यता ने लोगों को इतना हृदयहीन और संवेदनाशून्य बना दिया था कि यही किसान जो खुद उधार लेने पर ब्याज के बोझ के नीचे दबा रहता है, महाजनों को गरियाता है, उनकी हृदयहीनता एवं अमानुषिकता पर ताने कसता है, खुद दो- चार पैसे जमा हो जाने पर उसी व्यवहार को अपनाने लगता है। प्रेमचंद ने इसे ही महाजनी सभ्यता कहा है। जिस सभ्यता में धन ही सब कुछ है। मानव के भाव पूर्णतः मूल्यहीन हो गए हैं। जहां पैसे के कारण मनुष्य स्वयं को भी बेचता है, उसके ईमान का, धर्म का कोई मोल नहीं, शोषण ही शोषण चहु ओर व्याप्त है, वहां भावुकता से कोई सरोकार नहीं।

[1] सूरसागर (भाग-1) पद 185
[2] भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पांडेय, पृष्ठ 297
[3] सूरसागर (भाग-1), पद 196

भारतीय किसानों की सबसे ज्वलंत समस्या ऋण के बोझ से मुक्त होने की है। सूरकालीन या प्रेमचन्दकालीन ही नहीं बल्कि आज भी अधिकांश किसान महाजनी समस्या के पाट के नीचे बुरी तरह पिस रहे हैं क्योंकि "कर्ज़ वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"[1]

मुंशी प्रेमचंद ने अपने निबन्ध 'महाजनी सभ्यता' में महाजनी सभ्यता की विशेषताओं को बताते हुए लिखा है- "इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों का गरज महज पैसा होता है। किसी देश पर राज किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूंजीपतियों को ज्यादा-से-ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानों आज दुनिया में महाजनों का ही राज है। मनुष्य-समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किए हुए है।"[2]

दूसरा सिद्धांत बताते हुए मुंशी प्रेमचंद आगे कहते है कि- "इस सभ्यता का दूसरा सिद्धांत है "बिजनेस इज बिजनेस" अर्थात व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन सिद्धांत में वह लट्ठमार साफगोई नहीं हैं, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और इस नवीन सिद्धांत की आत्मा है। जहां लेन- देन का सवाल है, रुपये- पैसे का मामला है, वहां न दोस्ती की गुहार है, न मुरौवत का, न इंसानियत का। 'बिजनेस' में दोस्ती कैसी। जहां किसी ने इस सिद्धान्त की आड़ ली और लाजवाब हुए। फिर आपकी जबान नहीं खुल सकती।"[3]

प्रेमचन्द ने जिस समय महाजनी सभ्यता पर निबंध लिखा और महाजनों तथा साहूकारों के अत्याचारों के चित्र कथा-साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किए, वामपंथी आलोचकों ने उनकी प्रगतिशीलता को एक ख़ास नज़रिए से मूल्यांकित किया। सूर महाजनी सभ्यता के इस रुख से अच्छी तरह परिचित थे। स्थिति यह थी कि महाजन क़र्ज़ का पैसा वापस न मिलने के बदले में मवेशी तो खोल ही ले जाता था, घर में बचे-खुचे चारा-पानी को भी हज़म कर जाने की इच्छा उसमें पर्याप्त बलवती थी। ज़मीनदारों और पटवारियों के अत्याचार की कथाएं प्रेमचंद साहित्य में पर्याप्त महत्त्व रखती हैं। सूर का किसान प्रेमचंद के किसान से कुछ कम पीड़ित नहीं है। गाँव की ऊसर ज़मीन पर खेती करने से कितनी उपज हो सकती है यह सहज ही महसूस किया जा सकता हैं। पंचजन यदि कारकुन से मिलकर मन-ही-मन षड़यंत्र रचें और ज़मीनदार खेत के कागजात माँगने लगे,तो बेचारे किसान की कितनी दयनीय स्थिति होगी।

सूरकालीन समय में जिस भूमि पर किसान का अस्तित्व और जीविका अवलम्बित थी, वही भूमि क्रमशः हाथ से निकले जाने पर किसान की अवस्था सोचनीय होती जा रही थी। उसका विश्वास टूटता जा रहा था और इससे उसकी आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति, सामाजिक स्तर निम्नतम कोटि का होता जा रहा था। अनावृष्टि, अतिवृष्टि और प्राकृतिक प्रकोपों से जान बचाकर जो फसल घर में आती थी, सामन्तों की नीति के अनुरूप उसे भी लगान के रूप में निगल लिया जाता था, वह भी अत्यंत निर्दयता से , तिस पर 'करेला पर नीम चढ़े' का काम हमारे देश के तथाकथित पूंजीपति और जमींदार, जमीनदारों के कारिंदे जो इस्लामिक शासकों एवं सामन्तों की निर्दयता और कठोरता से रत्तीभर भी कम न रहने की प्रतियोगिता में थे।

मध्यकालीन घोर अन्धकारवादी उस युग में, सामंतवादी शासन के दबाव में पूरे देश की ऐसी अवस्था हो

[1] गोदान, पृष्ठ 338

[2] महाजनी सभ्यता, प्रेमचंद, पृष्ठ 132

[3] महाजनी सभ्यता, प्रेमचंद, पृष्ठ 135

गई थी, कि अब धीरे-धीरे लोगों में चरमराहट और सुगबुगाहट पैदा होने लगी थी। बेबसी और परवशता ने सभी को पंगु बना दिया था तो किसानों की क्या पूछ। उन पर तो एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, शासन करने वाले दर्जनों प्रार्थी थे, वह भी निर्दयता से निरंकुशता से तिस पर भूखे पेट, खाली तन और सैकड़ों बंधन लादकर। बहुत देर तक तरसते रहने के बाद पानी पीकर भी व्यक्ति को वह सुख नहीं मिलता, जो प्यास के तुरंत बाद मिलता है और अगर उसे पता हो कि वह पानी भी सिर्फ देखने के लिए है, तब तो कोई बात ही नहीं। यही दशा उन गरीब किसानों की हो रही थी। जिस फसल के लिए वे रक्त- मांस सुखाकर काम करते थे, उसको देखकर भी उन्हें खुशी नहीं है, जो प्राकृतिक, स्वच्छ माहौल गांवों का वरदान है, उसको पाकर भी उन्हें सुख नहीं। उनकी समस्त इंद्रियां सुन्न पड़ गई है, इंद्रियों ने इतना बर्दाश्त किया है कि अब उस पर कुछ असर नहीं पड़ता। किसानों के खलिहान में अनाज है किंतु वे जानते हैं कि उनके सिर पर लगान का बोझ भी है, पूरा खलिहान खाली करने के बाद भी लगान के रुपये बाकी थे, उन्हें चुकाने के लिए महाजन से ऋण लिया था उसका मूल और सूद भी चूकाना है, आखिर अनाज में एक दाना भी तो अपना नहीं फिर खुश क्योंकर हो? उसकी इन्द्रियां शिथिल क्यों न हो? जब पेट ही खाली हो तो इंद्रियों में शक्ति का संचार कहां से हो?

सूरकालीन समाज में सामन्तों और जमींदारों की शोषकवादी प्रवृत्ति के कारण कृषि की उन्नति ठप्प हो गई थी। महाजनी सभ्यता के विकास के कारण जो किसानों के लिए अहितकारी थीं क्योंकि किसान की उपज को उद्योग-धंधे के लिए सस्ते दामों पर खरीदा जाता था, जिससे किसानों को तो फायदा नाम- मात्र का होता था, पर सामन्तों एवं महाजनों को लगान और ऋण के रूप में कई गुना अधिक लाभ प्राप्त होता था। किसानों का जीवन हाशिये पर पहुंच चुका था, जहाँ उन्हें बचने के लिए कीचड़ में सनना ही पड़ता। अपनी जान बचाने के लिए किसानों को या तो मजदूर बनना पड़ता था, या अपनी जान गंवानी पड़ती।

वस्तुतः मध्यकालीन उस युग में उद्योग एवं व्यापार के विकास के साथ- साथ निम्न समझे जाने वाली स्वावलंबी जातियों (जुलाहा, बुनकर, चर्मकार, ग्वाले आदि) का विकास आरम्भ हो चुका था। पूंजीवाद के आगमन, उसके आगमन के साथ हमारी नैतिकता में परिवर्तन और मूल्यों में गिरावट को बाबा सूरदास बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहे थे। सूरदास इस महाजनी सभ्यता के विरोधी थे और इस सभ्यता से उत्पन्न समस्याओं के कारण चिंतित भी थे। उनका मुख्य विषय था समाज में व्याप्त आर्थिक शोषण का पर्दाफाश करना और गांव में रहने वाले किसानों की स्थिति को आम जनता तक पहुंचाकर उसमें मूलभूत बदलाव करना। यही कारण है कि बाबा सूरदास ने अपने साहित्य में प्रत्यक्ष और सांकेतिक दोनों ही रूप में महाजनों की शोषकवादी मनोवृति को, किसानों की स्थिति को, भारत के विभिन्न अंचलों की स्थिति को और कृषि व्यवस्था को अपने कव्य में पूरी निष्ठा से चित्रित किया हैं।

संदर्भ

1. सूरसागर (भाग-1) पद 185
2. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पांडेय, पृष्ठ 297
3. सूरसागर (भाग-1), पद 196
4. गोदान, पृष्ठ 338
5. महाजनी सभ्यता, प्रेमचंद, पृष्ठ 132
6. महाजनी सभ्यता, प्रेमचंद, पृष्ठ 135

'काल खड़ा सिर ऊपरे': आज के संदर्भ में कबीर

डॉ. बिमलेंदु तीर्थंकर
एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग, हिंदू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली – 110007

bimlendu@hinducollege.du.ac.in

+91-9873404932

सारांश

कबीर को पढ़ना और जानना है तो सबसे पहले जानना होगा उनके समय के समाज को और उसके भीतर के अंतर्विरोधों को। कबीर की कविता सार्वकालिक कविता है। कबीर सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिवर्तन की अपार संभावना के साथ अग्रसर होते हैं। उनकी सबसे बड़ी खासियत है कि वह चुनौतियों को भी स्वीकार करते हैं और चुनौती भी देते हैं। कबीर अतिरेक के कवि नहीं हैं, विवादधर्मी अक्खड़ के रूप में दिखाई देते कबीर संवाद की संस्कृति के वाहक हैं। बात-बात पर साधो, भाई, अवधु, पांडे जैसे संबोधन इसके गवाह हैं।

बीज शब्द

संस्कृति, समय, समाज, कबीर, मुक्ति, संघर्ष

शोध आलेख

आज कबीरदास के बिना हर बात अधूरी रहेगी, कबीरदास हमारे समय की अनिवार्यता हैं। हमारे समय में उपजे सवालों के उत्तर कबीरदास के यहां सीधे-सीधे मिलते हैं। आधुनिक काल में सबसे अधिक इस संत कवि को पढ़ा और गुना जा रहा है। कबीर संज्ञा हैं, कबीर ज्ञान और अनुभव के प्रतीक हैं। प्रतिष्ठित आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं – *"कबीर को पढ़ने के लिए उन्हें अजूबा बनाने के प्रलोभनों से मुक्त होना सबसे पहले जरूरी है। मध्यकाल में होते हुए भी कबीर, अजीब बात है कि आधुनिक से लगते हैं। निरक्षर होते हुए भी कबीर, अजीब बात है कि 'ज्ञानी जी' कहे जाते हैं। मुसलमान वंश में जन्म होने पर भी अजीब बात है कि रामानंद के शिष्य बनते हैं। ... इस तरह की अजब-गजब मार्का बातों के आदि स्रोतों की खोज स्वयं ही रोचक और रोमांचक है। यह खोज तभी की जा सकती है, जबकि आप देश भाषा स्रोतों पर कृपा करने की बजाए उनका सांस्कृतिक सार और आज से समझने की कोशिश करेंगे। मैंने यही कोशिश की है। मैंने कबीर को 'चकित' होकर पढ़ने या उनका मनमाना इस्तेमाल करने की कोशिश नहीं, उन्हें ऐसे लगाव से पढ़ने की कोशिश की है, जिसमें जिरह के लिए विख्यात कवि से जिरह की भी पूरी गुंजाइश है। कबीर को धर्मगुरु बनाने की बजाय उनके कवि व्यक्तित्व के साथ संवाद करने की कोशिश की है।"*[1] यह एक बनता हुआ रास्ता है जिसके माध्यम से कबीर के पास पहुंचा जा सकता है। पुरुषोत्तम अग्रवाल ऐसे समय में कबीर को लेकर उपस्थित होते हैं जब समय पीछे की दिशा में चलने की

[1] अग्रवाल, पुरुषोत्तम; अकथ कहानी प्रेम की, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चौथा संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या 7

तैयारी कर रहा है। दरअसल, इस उत्तर-औपनिवेशिक समय में मध्यकालीन संतों की बेतरह याद आती है। यह समय हमारी आत्मशक्ति, आत्मविश्वास और आत्म बोध को कमजोर कर रहा है। सवाल यह है कि इसके बिना हम क्या कर सकते हैं ? सहस्त्र वर्षों की साधना-तपस्या के बाद आत्मविश्वास अर्जित होता है। बाहरी सत्ता से टकराना थोड़ा कठिन होता है किंतु आत्मा के द्वंद्व से लड़ना सबसे भयावह और कठिन होता है।

आत्म संघर्ष की लड़ाई में हमें मध्यकाल की संत परंपरा सहायक प्रतीत होती है। संतों की वाणियों से साहस मिलती है, आत्मविश्वास और आत्म-शक्ति संवर्धित होती है, हमारे पैरों में बल आ जाता है। कबीरदास आत्मबोध के कवि हैं। यद्यपि किन्हीं अर्थों और प्रसंगों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल उनके योगदान को स्वीकार तो करते हैं किंतु कवि होने पर संदेह व्यक्त करते हैं – *"भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी इसमें संदेह नहीं।"*[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल कबीर की प्रतिभा से बेहद प्रभावित थे। किंतु उनकी भाषा पर सवाल खड़ा कर रहे थे। बतौर कवि शुक्ल जी ने तुलसी को प्रतिष्ठित किया है। दरअसल, कबीरदास का यह मूल्यांकन एक समय के लिए उन्हें ओझल कर देता है। किंतु बदले हुए समय में, कबीर एक नए रूप में हमारे सामने आते हैं और उन्हें सभी ने स्वीकार भी किया है। लेकिन कबीर अनभै सांचा के संत कवि थे। इनकी वाणी से भारत की सम्यक सांस्कृतिक इतिहास उद्घाटित होता था। पुरुषोत्तम अग्रवाल कबीर को पूर्णतः कवि मानते हैं और साथ ही उनकी कविता के बारे में दो टूक राय भी देते हैं – *"कबीर की कविता में प्रखर सामाजिकता और नितांत निजी प्रेमानुभूति तेल और पानी की तरह नहीं जल और बूंद की तरह दीख पड़ती है। उनका ज्ञानकोष हिंदू परंपरा और नाथपंथी साधना के साथ-साथ इस्लाम से भी अच्छे खासे परिचय का प्रमाण देता है। ... कबीर की काव्य संवेदना राम भावना, काम भावना और समाज भावना को एक साथ धारण करती है। इन तीनों के सर्जनात्मक सह-अस्तित्व को पढ़े बिना कबीर को पढ़ने के दावे व्यर्थ हैं।"*[2]

कबीर को पढ़ना और जानना है तो सबसे पहले जानना होगा उनके समय के समाज को और उसके भीतर के अंतर्विरोधों को। कबीर की कविता सार्वकालिक कविता है। कबीर सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिवर्तन की अपार संभावना के साथ अग्रसर होते हैं। उनकी सबसे बड़ी खासियत है कि वह चुनौतियों को भी स्वीकार करते हैं और चुनौती भी देते हैं। कबीर अतिरेक के कवि नहीं हैं, विवादधर्मी अक्खड़ के रूप में दिखाई देते कबीर संवाद की संस्कृति के वाहक हैं। बात-बात पर साधो, भाई, अवधु, पांडे जैसे संबोधन इसके गवाह हैं। कबीर ने हर तरह की चोट खाई थी। इसलिए वे बहुत संवेदनशील हैं। यह अनायास नहीं है कि जब आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को लेकर आते हैं तो उनका परिचय कुछ इस तरह कराते हैं – *"भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को पतित नहीं समझा; क्योंकि उनके दैन्य में भी आत्मविश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेम रूपी मदिरा से मतवाला बना हुआ था, वह ज्ञान के गुण से तैयार की गई थी। इसलिए अंधश्रद्धा, भावुकता और हिस्टारिक प्रेमोन्माद का उनमें एकांत अभाव था। युगावतारी शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युग प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी। इसलिए वे युग प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है: वह सिर से पैर तक मस्त मौला थे – बेपरवाह, दृढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।"*[3]

कबीरदास ने रूढ़ अर्थों में चीजों को स्वीकार नहीं किया बल्कि रूढ़ियों को तोड़ने का काम किया।

---

[1] शुक्ल, रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवां संस्करण, पृष्ठ संख्या 45

[2] अग्रवाल, पुरुषोत्तम; अकथ कहानी प्रेम की, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चौथा संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या 20

[3] द्विवेदी, हजारी प्रसाद; कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवीं आवृत्ति, 2002, पेपर बैक, पृष्ठ संख्या 135

कबीर किसी के सपने के देश में नहीं जीना चाहते थे बल्कि अपने सपनों का देश बनाने के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। यही बात परंपरावादियों को परेशान करती है। किंतु ध्यान देने की बात है कि कबीर बुद्ध से होते हुए गांधी तक में दिखाई देते हैं। कबीर ने बुद्ध के सपनों को बढ़ाया था और गांधी ने बुद्ध और कबीर के सपनों को। गांधी जी का चरखा प्रयोग और ग्राम स्वराज कबीर के सपनों का विस्तार था। कबीरदास सपनों की दुनिया के यूटोपिया को सबके सामने उपस्थित कर रहे थे। अहिंसा, सत्याग्रह, सेवा भावना, मानवता, कर्म पर विश्वास, गुणों का विकास आदि राष्ट्रीय आंदोलन का मूल मंत्र बन सका तो इसके पीछे कहीं न कहीं कबीर दिखाएं पड़ते हैं। कबीर के भीतर यायावरी संस्कार थे। इस यायावरी ने इन्हें दुनिया से जोड़ रखा था। गांधी जी के होने में कबीर की बड़ी भूमिका थी। कबीरदास पवित्रता को हथियार बना रहे थे। कबीर का स्वप्नलोक, समतामूलक समाज और मनुष्य को उपस्थित करने के लिए प्रयत्नशील था। मध्यकालीन समय और समाज के भीतर गुलामी के कई स्तर बने हुए थे और उनके रहते मुक्ति की बात सोचना भी कठिन था। कबीर लौकिक मुक्ति के हिमायती थे। इसलिए कबीर की कविता के भीतर से लोक-मुक्ति की अनुगूंज बहुत साफ सुनाई पड़ती है। उन्होंने राम के माध्यम से मुक्ति संघर्ष का बिगुल फूंका। कबीर अमानवीय होती व्यवस्था को बहुत साफगोई के साथ उद्घाटित भी करते हैं और उससे मुक्ति का आह्वान भी करते हैं। अस्वीकार और असहमति का अपार साहस कबीर के भीतर था। यही कबीर को कबीर बनाता है। मध्यकालीन संतों में कबीर-सा साहस विरले संतों में था। कबीर उस गांव में रहने से इंकार कर देते हैं जो गांव अमानवीयता और शोषण का प्रतीक रूप में मौजूद है। कहना न होगा गांव आज भी लगभग उसी रूप में हैं। यही वजह है कि आज भी गांवों से पलायन जारी है – *"बाबा अब न बसहु इहु गाउ। / घरी-घरी का लेख मांगे काइथु चेतू नाउ। / धर्मराय जब लेखा मांग बाकी निकसी भारी।। / पच क्रिसनवा भागि गए लै बाध्यौ जोउ दरबारी।। / कहहि कबीर सुनहू रे संतहु खेतहि करौ निबेरा।। / अबकी बार बखसि बंदे को बहुरि न भव जल फेरा।।"*[1] इस ग्लोबल होती दुनिया के भीतर के गांवों के भीतर आज भी शोषण जारी है। इसलिए आज फिर कबीर याद आते हैं और कबीर का अमर देशवा भी याद आता है। कबीर कहते हैं कि इस गांव से बेहतर हमारा 'अमर देसवा' है, वह एक ऐसा देश है जहां समतामूलक समाज व्यवस्था है – *"जहवां से आयो अमर वह देसवा। / पानी न पान धरती अकसवा, चांद न सूर न रैन दिवसवा। / बाम्हन न छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा। / आदि जोति नहिं और गनेसवा, ब्रह्म विस्नु महेश न सेसवा। / जोगी न जगम मुनि दरवेसबा / आदि न अंत न काल कलेसवा। / दास कबीर ले आए संदेसवा / सार सब्द गहिं चलौ वहि देसवा।"*[2]

क्या यह आश्चर्य में डालने वाली बात नहीं है कि इस उत्तर-आधुनिक समय में तमाम कोशिशों के बाद भी ऐसा देश नहीं बन पा रहा है (स्वप्नलोक में ही सही) यह समय विषमता और विभेद से स्तरीकृत समाज व्यवस्था को मिटा पाने में असफल रहा है, इस बात को स्वीकार करना चाहिए। और फिर इसके समाधान हेतु रास्ते की तलाश भी करनी चाहिए। शायद इस अंधेर समय में कबीर का अमर देसवा एक सही विकल्प बनकर दुनिया को बदल सके। कबीर कल्पना के भाव लोक में खोए रहने के बजाय यथार्थ के धरातल पर उतरते हैं वह भी पूरे दमखम के साथ। कबीर नारा नहीं गढ़ते हैं बल्कि संघर्ष की जमीन तैयार करते हैं। जान-बूझकर पटरी बैठाने के लिए समन्वय का रास्ता नहीं पकड़ते हैं। वे टकराते हैं उन मूल्यों से, उन संस्थानों से, उन सत्ताओं से जो हमारी अस्मिता और आत्मविश्वास को कमजोर कर वर्चस्व की सत्ता कायम करने की कोशिश करती है। कबीर उनके लिए चुनौती हैं तो आम आदमी के लिए मुक्ति के वाहक हैं। इस टकराव से पहले कबीर आह्वान करते हैं अपने समाज को, उनके भीतर चेतना फूंकते हैं। दरअसल सोए हुए समय और समाज के सहारे कौन-सा मुक्ति संघर्ष संभव है ? इसलिए कबीर चेतावनी के अंदाज में कहते हैं – *"काल खड़ा सिर ऊपरे,*

[1] दास, श्याम सुंदर; कबीर ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014, पपैर बैक, पृष्ठ संख्या -

[2] द्विवेदी, हजारी प्रसाद; कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवीं आवृत्ति, 2002, पेपर बैक, पृष्ठ संख्या 266-267

जागु बिराने मीत। / जाका घर है गैल में, सो कस सो निचीत।"[1] (पद संख्या 204)

कई बार कबीर को पीड़ा भी होती है। वह भी दुख फलक पड़ता है – *"सुखिया सब संसार है खाये अरु सोवै। दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै।।"*[2] (पद संख्या 200)

कबीर समष्टिवादी कवि हैं। वे सामूहिक मुक्ति की बात करते हैं। अज्ञानता और अबोधता भयंकर रोग है। कबीर के सामने कई तरह की चुनौतियां थीं। लोकतंत्र और आधुनिकता के जमाने में जब हमारे भीतर भ्रम की टाटी लगी हुई है, तो वह राजशाही और मध्यकालीन दौर था। यथास्थितिवादी समय में कबीर का सारी चीजों को बेपर्द करना और सच को साहस के साथ रखना कम बड़ी बात नहीं थी। कबीर के पास कोई सीधा-साधा फॉर्मूला नहीं था और न ही कोई बड़ा मठ था जिसका भरोसा रख वह आगे बढ़ रहे हों। उनके मन में भी संशय था इसलिए वह भी आग्रह करते हैं उस ईश्वर से जो जीवनहार बन सकता था। उससे पूछते हैं – *"कैसे दिन कटिहैं जतन बताये जइयो। / एहि पार गंगा ओहि पार जमुना,। बिचवां मड़इया हमका छवाय जइयो। / अंचरा फारिके कागज बनाइन, / अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो। / कहत कबीर सुनो भाई साधो, / बहियां पकरि के रहिया बताये जइयो।"*[3] (पद संख्या 185)

कबीर का बहुत आत्मीय संबोधन है साधो और भाई। इसी से कबीर के मन की कोमलता को समझा जा सकता है। कबीर सबसे संवाद करते हुए आगे बढ़ते हैं। संवाद की संस्कृति टूटने नहीं देते हैं। चाहे वह विरोधी ही क्यों न हो। उससे भी जोरदार संवाद करते हैं। यह कबीर के यहां का लोकतंत्र है। यही कबीर हैं जो पांडे से पूछ बैठते हैं – *"पांडे बूझि पियहु तुम पानी/ वेद कतेब छांड़ि देऊ पांडे, इ सब मन के भरमा। / कहहिं कबीर सुनहू हो पांडे, ई तुम्हरे हैं करमा।।"*[4] (पद संख्या 150)

कबीरदास ब्राह्मण समाज से जमकर सवाल करते हैं। उनके मुक्ति-मार्ग को भ्रामक भी बताते हैं। मूलतः कबीरदास मुक्ति की अवधारणा को नए ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जिसका संबंध लोक से भी है और परलोक से भी है। कबीर के यहां मुक्ति इकहरी नहीं है। वह मानुष जन्म और इस लोक को बहुत ही संवेदनात्मक ढंग से महत्व देते हैं तथा इसकी सार्थकता की बात भी करते हैं। इसलिए संग्रह पर निग्रह की बात करते हैं। जन्म-जन्मों का वही खाता नहीं बनाते हैं। कई चीजें कबीर के यहां बहुत ही स्पष्ट हैं। इसलिए वह अंततः मानवीयता के पक्षधर हो जाते हैं। मनुष्यता ही हमें मुक्ति दिला सकती है। मनुष्य का सेवा धर्म उसे विशिष्ट बना सकता है। कबीरदास कहते हैं – *"मानस जन्म दुर्लभ है कोइ न बारै बारि / जो बन फल पाके भुइ गिरहिं बहुरि न लागै डारि।"*[5] (पद संख्या 110) "बहुरि नहिं आवना या देस / जो जोगए बहुरि नहिं आये पठवत नाहिं संदेस।"[6] (पद संख्या 137)

कबीरदास न तो उलझते हैं और न ही उलझाते हैं। इसलिए सारे बाह्याडंबरों और सामाजिक ताने-बाने को खोलकर सच से साक्षात्कार करा देते हैं। हमारे भीतर के भटकाव को एक तरफ खत्म करते हैं तो दूसरी भटकाने वाली चीजों और मान्यताओं को एक सिरे से खारिज कर देते हैं। कबीरदास राम-रहीम की एकता और गंगा जमुनी तहजीब की बात एक साथ उठाते हैं। हिंदू-मुस्लिम यह ऐसे युग्म है जिससे भारतीयता मजबूत होती है। लेकिन धर्म की राजनीति और

---

[1] द्विवेदी, हजारी प्रसाद; कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवीं आवृत्ति, 2002, पेपर बैक, पृष्ठ संख्या 259

[2] वहीं

[3] वही, पृष्ठ संख्या 254

[4] वही, पृष्ठ संख्या 242

[5] दास, श्याम सुंदर; कबीर ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014, पपैर बैक, पृष्ठ संख्या – 243

[6] द्विवेदी, हजारी प्रसाद; कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवीं आवृत्ति, 2002, पेपर बैक, पृष्ठ संख्या 238

सत्ता की आकांक्षा इसे अलगाने का काम करती है। कबीरदास बहुत साफ कहते हैं – *"कोई रहीम कोई राम बखाने कोई कहे आदेस / नाना भेष बनाय सबै मिली ढूंढी फिरे चहुँ देस। / कहे कबीर अंत न पैहो बिन सतगुरु उपदेस।।"*[1] (पद संख्या 137) इतना ही नहीं – *"हिंदू तुरक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई। कहंहि कबीर सुनहु हो संतो राम न कहेहु खुदाई।"*[2] (पद संख्या 247) इतना प्रवाह है, इतनी समस्याएं हैं कि सबसे टकराने वाले कबीर भी कई बार यह कहते हैं – *"यह जग अंधा मैं केहि समझावो।"*[3] (पद संख्या 254) फिर भी कभी हार नहीं मानते हैं। कबीर अपराजेय हैं। इस आपाधापी के दौर में कबीर बार-बार एक सुंदर लोक के स्वप्न के साथ दिखाई देते हैं। कबीर का दिया हुआ स्वप्न अनहद नाद की तरह अंतस में गूज रहा है, सदैव हमें सजग सक्रिय सजीव बनाए हुए है। हमारे लिए सबसे बड़ी आशा हैं कबीर – *"सखि कह घर सबसे न्यारा, जहं पूरन पुरुष हमारा / जहां न सुख, दुख, सांच झूठ नहीं पाप न पुन्न पसारा / नहिं दिन रैन चंद नहिं सूरज, बिना जोति उजियारा।"*[4] (पद संख्या 236)

कबीर की कविता के करीब जाने का समय है। कबीर को नए ढंग से पढ़ने और समझने की जरूर है। राजसत्ता और पूंजीसत्ता के 'ग्लोबल मॉडल' से सीधे कोई टकरा रहा है तो वह है कबीर का 'अमरपुर देसवा'। संभव है लोक में 'अमरपुर देसवा' की चर्चा हो। इस पर विमर्श हो तो दुनिया न सिर्फ बदल सकती है बल्कि बहुत न्यारी भी हो सकती है। समय कबीर से किनारा होने का नहीं बल्कि कबीर के पास जाने का है।

संदर्भ

1. अग्रवाल, पुरुषोत्तम; अकथ कहानी प्रेम की, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चौथा संस्करण, 2016
2. शुक्ल, रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवां संस्करण
3. द्विवेदी, हजारी प्रसाद; कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवीं आवृत्ति, 2002, पेपर बैक
4. दास, श्याम सुंदर; कबीर ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014, पपैर बैक
5. द्विवेदी, हजारी प्रसाद; कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, नौवीं आवृत्ति, 2002, पेपर बैक
6. दास, श्याम सुंदर; कबीर ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014, पपैर बैक

[1] वहीं

[2] वही, पृष्ठ संख्या 271

[3] वही, पृष्ठ संख्या 273

[4] वही, पृष्ठ संख्या 268

हिन्दी साहित्येतिहास की समस्याएँ

प्रवीन वर्मा
पीएच.डी, हिन्दी,अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
फोन न. 9899670330,8810341549
ई. मेल vermapraveen452@gmail.com

शोध सारांश- *इतिहास चाहे साहित्य का हो या देश का, वह सिर्फ तथ्यों से नहीं बनता बल्कि उसमें तथ्यों से अधिक महत्व व्याख्याओं का होता है। इतिहासबोध की परंपरा में सक्रिय परिवर्तन शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रत्यक्षवादी या विधेयवादी दृष्टिकोण से किया। जिसके अंतर्गत जाति, वातावरण तथा क्षण तीन तत्वों को सर्वाधिक महत्व दिया। शुक्लजी के उपरांत कई इतिहासकारों ने इतिहास लिखे। वह सभी इतिहास शुक्ल के इतिहास को केंद्र में रखकर ही लिखे गए है हालांकि इतिहासबोध की दृष्टि से इतने खरे नहीं उतर पाए सिवाए हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के।*

बीज शब्द – *इतिहासबोध, भाषिक संक्रमण, इतिहास, अपभ्रंश, बंधुत्व, साहित्येतिहास, वर्चस्व, पौरुष, तथ्य, संस्कृति, विभाजन, परिकल्पना।*

शोध आलेख

इतिहास में अतीत की घटनाओं और प्रवृत्तियों का कालक्रमानुसार विवेचन और विश्लेषण होता है। इतिहास में घटनाओं और तथ्यों का समावेश किया जाता है, किन्तु यह सब मिलकर इतिहास नहीं कहलाता। इतिहास चाहे साहित्य का हो या देश का, वह सिर्फ तथ्यों से नहीं बनता बल्कि उसमें तथ्यों से अधिक महत्व व्याख्याओं का होता है। प्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच.कार ने अपनी पुस्तक 'इतिहास क्या है' में लिखा है कि, "इतिहास, इतिहासकार और तथ्यों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक अनवरत प्रकिया है, अतीत और वर्तमान के बीच एक अंतहीन संवाद है।"[1] स्पष्ट है कि घटना प्रवाह में एक तर्क स्थापित करना इतिहास कहलाता है।

यदि हिन्दी साहित्येतिहास की समस्याओं पर विचार करे तो हम पाते है कि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भक्तमाल, कालीदास हजारा, कविमाला, चौरासी वैष्णव की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता इत्यादि रचनाओं में इतिहास लेखन की आरंभिक झलक दिखाई पड़ती है, ये सभी रचनाएँ इतिहासबोध के स्तर पर प्रभाव शून्य हैं। उन्नीसवीं सदी में इतिहास लेखन की औपचारिक शुरूआत हुई। जिसमें गार्सा द तासी का 'इस्तवार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' आदि इतिहासबोध से युक्त नहीं है। जॉर्ज ग्रियर्सन और मिश्रबन्धु के प्रयास में इतिहासबोध के प्रति सजगता दिखाई पड़ती है। लेकिन इनके इतिहास में भी इतिहासबोध की निश्चयात्मक व्याख्या प्रस्तुत नहीं है। इतिहासबोध की परंपरा में सक्रिय परिवर्तन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रत्यक्षवादी या विधेयवादी दृष्टिकोण से किया। जिसके अंतर्गत जाति, वातावरण तथा क्षण तीन तत्वों को सर्वाधिक महत्व दिया। शुक्ल के उपरांत कई इतिहासकारों ने इतिहास लिखे। वह सभी इतिहास शुक्ल के इतिहास को केंद्र में रखकर ही लिखे गए हैं हालांकि इतिहासबोध की दृष्टि से इतने खरे नहीं उतर पाए सिवाए हजारी प्रसाद द्विवेदी के, हमें यह भी ध्यान रखना आवश्यक होगा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी का इतिहास कोई इतिहास नहीं है बल्कि भूमिका मात्र है। बच्चन सिंह ने कहा है कि, "न तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को लेकर कोई दूसरा इतिहास लिखा जा सकता है और न उसे छोड़कर।"[2]

हिन्दी साहित्य के इतिहास के आरंभ को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। कुछ विद्वान हिन्दी साहित्य को

सातवीं शताब्दी से मानते हैं, क्योंकि सातवीं शताब्दी में पूर्ववर्ती अपभ्रंश के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे विद्वानों में जॉर्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, शिवसिंह सेंगर, पंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ. नगेंद्र और डॉ. रामकुमार वर्मा शामिल हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल दोनों हिन्दी साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। द्विवेदी जी की दृष्टि में इसका कारण भाषिक है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानते हैं किन्तु काफी समय तक सांप्रदायिक रचनाएँ होती रही, जिन्हें साहित्य नहीं माना जा सकता। इसीलिए वास्तविक रूप से हिन्दी साहित्य का आरंभ संवत् 1050 या 993 ई. के आस-पास से आरंभ हुआ। गणपति चन्द्रगुप्त और हरीशचन्द्र वर्मा हिन्दी साहित्य का आरंभ बारहवीं शताब्दी से मानते हैं और इसका कारण यह बताते हैं कि बारहवीं सदी के आस-पास अपभ्रंश व अवहट्ट से गुजरते हुए हिन्दी भाषा पुरानी हिन्दी के दौर में प्रवेश कर चुकी थी। वहीं सुनीति कुमार चटर्जी, उदय नारायण तिवारी तथा नामवर सिंह हिन्दी साहित्य का आरंभ भाषा वैज्ञानिक आधार पर चौदहवीं सदी से मानते हैं क्योंकि इस समय तक भाषिक संक्रमण का दौर पूर्णतः समाप्त हो चुका था और हिन्दी अपने वास्तविक रूप में आ चुकी थी। अत: हिन्दी साहित्य का आरम्भ दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है क्योंकि दसवीं शताब्दी के आरंभ में भाषिक संक्रमण एक निश्चित समय तक पहुँच चुका था। इसी समय आधुनिक हिन्दी के आरंभिक लक्षण भी दिखाई देने लगे थे।

हिन्दी साहित्येतिहास में काल विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास जॉर्ज ग्रियर्सन ने किया। उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य को ग्यारह कालों में विभक्त किया। इस विभाजन की समस्या यह थी कि इसमें कई कालखंड गैर-साहित्यिक आधारों पर स्थापित किए गए थे। चारणकाल का निश्चित समय 700 से 1300 ई. बताया किन्तु शेष कालों का निश्चित विभाजन न कर सके। इसलिए यह विभाजन अव्यवस्थित माना जाता है। मिश्रबंधु ने आदिकाल को आरंभिक काल कहते हुए उसका समय 643 से 1387 ई. बताया है। इस काल विभाजन की मूल समस्या यह है कि यह अत्यंत जटिल एवं अतार्किक है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को 'वीरगाथाकाल नाम' दिया। इसका समय 1050 से 1375 संवत् माना है। उन्होंने इसके पीछे तर्क दिया है जो इस प्रकार है, "परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदली हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाग और रचना की भिन्न–भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढ़ाचा खड़ा किया गया था।"[3] हजारी प्रसाद द्विवेदी भी शुक्ल की तरह साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। गौरतलब है कि आदिकाल के नामकरण को लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी की वैचारिक दृष्टि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' नाम बारह पुस्तकों के आधार पर रखा। जोकि चार रचनाएँ अपभ्रंश की और आठ रचनाएँ देशभाषा (बोलचाल) की हैं। प्रश्न यह उठता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर 'वीरगाथाकाल' नाम रखा गया उसमें से कई धार्मिक उपदेशपरक रचनाएँ हैं। जिसको वह साहित्य की कोटि से बाहर रखते हैं। जिसका उल्लेख यह बताने के लिए करते है कि अपभ्रंश भाषा का आरंभ कब से हुआ। इसी आधार पर हजारी प्रसाद द्विवेदी विरोध करते हुए कहते हैं कि, "जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का वीरगाथाकाल नाम रखा गया, उनमें से तो कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं, और कुछ तो पीछे की रचनाएँ है या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को नवीन मान लिया गया है।"[4] 'कीर्तिपताका' जैसे रचनाएँ आज तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। रासो साहित्य की कई रचनाएँ भाषा के आधार पर आदिकाल के बाद सिद्ध होने लगी हैं और कई ऐसी रचनाएँ सामने आने लगी है जो शुक्ल के समय में उपलब्ध नहीं थीं, और यदि होती तो शायद उनके निर्णय को बदल देती। वहीं अमीर खुसरो और विद्यापति को आचार्य शुक्ल फुटकर साहित्य में रखते हैं जबकि उन बारह रचनाओं में अमीर खुसरो, विद्यापति की रचनाएँ सम्मिलित है। अत: द्विवेदी द्वारा आदिकाल नाम पर सहमति बन चुकी हैं क्योंकि इसमें आरंभिक होने के साथ-साथ पूर्वज होने का एहसास भी शामिल है। भक्तिकाल में सगुण साहित्य तक आते-आते आचार्य शुक्ल की दृष्टि में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। तुलसीदास, सूरदास को 'जी' कहकर सम्मान देते हैं। वही निर्गुण साहित्य में संतों को नाम से ही संबोधित करते हैं। आचार्य शुक्ल

रचनाकारों से ज्यादा रचना को महत्व देते हैं। इसी कारण कबीर उनकी आलोचना का पात्र बनते हैं। तुलसीदास का वह बड़ा समर्थन करते है क्योंकि तुलसीदास और शुक्ल जाति से ब्राह्मण है। अगर देखा जाए तो कबीर भी विधवा ब्राह्मणी के अनचाहे गर्भ थे। भाषा के स्तर पर भी आचार्य शुक्ल कबीर को नकार देते हैं। उनकी भाषा को सधुक्कड़ी और फटकार वाली भाषा कहते हैं। कबीर जिस समय समाज से टकरा रहे थे उस समय सभ्य भाषा का प्रयोग उचित नहीं था इसलिए वह जनता के उस बड़े भाग को संभालते है जो प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य पड़ता जा रहा था। बहरहाल भक्तिकाल के उद्भव को लेकर भी द्वंद्व देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल कहते है कि, "देश में मुस्लमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूतियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वह कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में वह अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीति उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[5] स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल भक्ति काल का उद्भव इस्लाम प्रतिक्रिया के रूप में देखते है। हजारी प्रसाद द्विवेदी एक बार फिर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से असहमति जताते हुए कहते है कि, "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[6] लेकिन द्विवेदी चार आना छोड़ते है, कहीं न कहीं वे भी भक्तिकाल का अद्भव मुसलमानों से मानते हैं।

रीतिकाल का वर्गीकरण भी विवादस्पद रहा है। रीतिकाल को मिश्रबंधु ने 'अलंकृत काल' विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'शृंगार काल', रमाशंकर शुक्ल रसाल ने 'कलाकाल' और ग्रियर्सन ने 'रीतिकाव्य' नाम से संबोधित किया। यह सभी नाम किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर रखे गए इसलिए इन सभी नामों पर असहमति बनती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'रीतिकाल' ही मान्य है। गहराई से विचार किया जाए तो यह समस्या हमारे समक्ष उत्पन्न होती हैं कि वीरकाव्य व नीतिकाव्य उस समय लिखे जा रहे थे किन्तु दोनों प्रवृत्ति अतिमहत्वपूर्ण होते हुए भी एकदम गौण बन जाती हैं। रीतिकाल की शुरूआत का प्रसंग भी विवादस्पद है। आचार्य शुक्ल ने केशवदास को रीतिपरम्परा का प्रवर्तक नहीं माना। कारण बताया कि वे अलंकारवादी आचार्य हैं, रसवादी नहीं, बल्कि तथ्य यह है कि केशवदास की रचना 'रसिकप्रिय' पूर्णत: रसवादी रचना है। तथा अन्य रसवादी आचार्यो ने भी अलंकारवादी रचनाएँ लिखी हैं। बहरहाल इस बात का जिक्र करना आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की सबसे बड़ी समस्या तथ्यों की प्रामाणिकता हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कई तथ्य प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिए कबीर के जन्म-मृत्यु की घटनाएँ, जायसी के रचनाओं की मूल प्रतियाँ, सूरदास के अंधत्व का प्रश्न, रासो साहित्य की प्रामाणिकता तथा घनानन्द की रचनाओं की पूरी सूची जैसे कई प्रश्न हैं जिनके निर्धारण की प्रकिया निरंतर चल रही हैं।

आधुनिकता का आरंभ भारतेन्दु युग से माना जाता है, लेकिन आधुनिकता की शुरुआत एक शताब्दी पूर्व ही हो गई थी। ब्रिटिश शासन ने भारतीय शिक्षा प्रणाली पर ज़ोर दिया। माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय शिक्षा अंग्रेजी भाषा में दी जाने लगी। अंग्रेजो ने भारत में फूट डालो की नीति अपनाकर बंगाल, उड़ीसा और बिहार राज्यों के अलावा पूर्णत: भारत पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। अंग्रेजो की इस कूटनीति का विद्रोह भारतेन्दु युग के कवियों की रचनाओं में स्पष्टत: दिखाई देता हैं। यह विद्रोह पद्य की बजाय गद्य में अधिक देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग में काव्य की भाषा ब्रजभाषा और गद्य की भाषा खड़ी बोली रही। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय संक्रमण के जिस दौर से गुजरा इसे कुछ चिंतक पुनर्जागरण कहते हैं, कुछ पुनरुत्थान कहते है और कुछ अन्य नवजागरण। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में,

"पुनर्जागरण दो जातीय संस्कृति की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है।"[7] एक ओर भारतीय संस्कृति है तो दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति। यह भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान व मध्यकालीन दौर से गुजर रही थी। जबकि पाश्चात्य संस्कृति वैज्ञानिक तथा मशीनी क्रांति के आधार पर भौतिकवाद तथा पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व कर रही थी। उनका अध्यात्म पक्ष कमजोर जरूर था, लेकिन वैज्ञानिक तार्किक शिक्षा, इहलौकिक मानसिकता, समानता स्वतंत्रता, न्याय व बंधुत्व के आधुनिक आदर्श थे। जो तत्कालीन भारतीय समाज के लिए दुर्लभ थे। इन दोनों की टकराहट से पाश्चात्य संस्कृति अध्यात्म से प्रभावित हुई। वही भारतीय संस्कृति ने आधुनिक शिक्षा व भौतिकता सीखी। द्विवेदी युग में राष्ट्रीयता का स्वर और प्रखर हो गया। अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि छायावाद में राष्ट्रीयता का स्वर मंद रहा। विचार करने पर पाते है कि छायावाद का मूल उत्स भारतीय स्वधीनता संघर्ष में है। ध्यान देने वाली बात है कि कविता में छायावाद और भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का आगमन लगभग एक ही साथ हुआ। नगेंद्र के अनुसार, " जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्होंने ही भाव (सौन्दर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर।"[8] इसका मतलब यह नहीं है कि छायावाद और गांधी जी की जीवन दृष्टि समान है या स्वाधीनता संग्राम में जो भूमिका गांधी जी की थी, वही छायावाद की हिन्दी साहित्य के संदर्भ में। लेकिन स्वाधीनता संग्राम में छायावाद और गांधी दोनों की परिकल्पना उस दौर में लगभग समान कही जा सकती हैं। सत्य यह है कि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय जागरण सांस्कृतिक जागरण के रूप में आता है। इस सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यक्ति निराला की 'जागो फिर एक बार', पंत की 'प्रथम रश्मि', महादेवी वर्मा की 'जाग तुझको दूर जाना' और प्रसाद की 'प्रथम प्रभात', 'अब जागो जीवन के प्रभात', 'बीती विभावरी जाग री' आदि में देखा जा सकता है। छायावाद शब्द को लेकर भी हमारे समक्ष समस्या उत्पन्न होती है। विभिन्न विद्वानों ने छायावाद के संबंध में अपनी मान्यताएँ दी है, लेकिन आज तक कोई निश्चित परिभाषा तय नहीं हुई है। महावीर प्रसाद द्विवेदी मानते है कि, "छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कही अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।"[9] वहीं शांतिप्रिय द्विवेदी छायावाद को गांधी से जोड़कर पहचान दिलाने की कोशिश करते है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल शुरुआती दिनों तक छायावाद को 'मधुचर्या' कहते रहे। बाद में निराला की कृति 'राम की शक्तिपूजा' प्रसाद की 'कामायनी' से परिचित होने के बाद अपनी धारणा को बदल देते है। जो इस प्रकार है, "इस रूपात्मक आभास को यूरोप में छाया (फैन्टसमाटा) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र में वहाँ के साहित्यक्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र से भी प्रकट हुआ।"[10] इस कथन से स्पष्ट है कि छायावाद पर जितना प्रभाव गांधी जी का पड़ा। उतना ही रवीन्द्रनाथ जी का भी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को नए विमर्शों और नए दृष्टियों का विवेचन करने के लिए शुक्ल के इतिहास से बाहर आना आवश्यक है। आधुनिक काल में हमारे समक्ष नई समस्याएँ आ खड़ी हुई। सबसे बड़ी समस्या भाषाई स्तर पर थी। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का ज़ोर अपनी लय में था। भारत भाषा और समाज दोनों के लिए लड़ रहा था। भारत को आज़ादी तो मिल गई थी लेकिन हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं बन पाई। आज़ादी के बाद हमने जो स्वप्न देखे, वह स्वप्न बनकर ही रह गए। भारत अब अपनों के हाथों का गुलाम बन गया था। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी रोज़मर्रा की बुनियादी चीजें, जिसके लिए भारत ने लंबी लड़ाई लड़ी वह भी प्राप्त नहीं हुई। ईश्वर की जगह मनुष्य केंद्र में आ गया था। उनकी समस्याओं और विद्रोह को नागार्जुन, रघुवीर सहाय, धूमिल, आदि साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। सन् 1980 के बाद स्त्री विमर्श और दलित विमर्श साहित्य में स्थान पाने लगे। अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि स्त्री साहित्य को मुख्य धारा के साहित्य से विमुख रखा गया। परंतु विचार करने पर पाते है कि शुरूआती दौर से ही स्त्री

साहित्य में बनी हुई है जैसे मीरा, महादेवी वर्मा, मन्नू भण्डारी, मृदुला गर्ग आदि। दलित साहित्य को लेकर भी एक प्रश्न बराबर उठता रहता है कि गैर-दलित साहित्यकार की दलित संबंधी रचना को दलित साहित्य की श्रेणी में रखा जाए या नहीं ? जिस प्रकार पुरुषों द्वारा लिखा गया स्त्री साहित्य को साहित्य की श्रेणी में महत्व दिया जाता है फिर गैर-दलित साहित्यकार की दलित संबंधी रचना पर इतनी बहस क्यों ? एक समस्या यह है कि प्रवासी साहित्य को लेकर रुचि का आभास दिखता है। हिन्दी साहित्य में प्रवासी साहित्यकारों को जो स्थान मिलना चाहिए वह स्थान उन्हे नहीं मिलता। विदेशों में रहकर भी हिन्दी भाषा और साहित्य का झण्डा कई वर्षो से फहराया जा रहा है। वह अतुलनीय है। एक ओर समस्या यह है कि मंचीय कविता को साहित्य की कोटि में रखा जाए या नहीं ? इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय कहते है कि, "जो भड़ौती और विदूषक की प्रवृति का हास्य व्यंग्य है ऐसे कवियों को आप जानते हैं और मैं भी जनता हूँ कि अपनी पत्नी को पचास गंदी गालियां देकर हास्य पैदा करते हैं। ऐसी कविताओं को कविता कैसे मानेंगें। इसलिए जो हास्य व्यंग्य की गंभीर और विचारणीय कविताएं हैं। उनके लिए जगह हो सकती हैं।"[11]

अंत में यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता से पूर्व जो इतिहास लिखे गए उनकी मूल समस्या में स्वतंत्रता और हमारी परंपरा का सवाल था। स्वतंत्रता के बाद कई साहित्येतिहास लिखे गए उनकी मूल समस्या सामाजिक, सांस्कृतिक और परंपरा थी। जिसको रामस्वरूप चतुर्वेदी, बच्चन सिंह, और सुमन राजे अपने इतिहास में विशेष रूप से व्याख्यायित करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1) कार,ई.एच., 2016, इतिहास क्या है, मैकामिलन इंडिया लिमिटेड प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 21
2) सिंह, बच्चन, 2016, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: भूमिका (vii)
3) शुक्ल, रामचंद्र, 2012, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: भूमिका (xv)
4) प्रताप सिंह, योगेंद्र, 2016, हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसकी समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 36
5) शुक्ल, रामचंद्र, 2012, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 39
6) प्रताप सिंह, योगेंद्र, 2016, हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसकी समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 90
7) चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 2011, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 79
8) अमरनाथ, 2018, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 151
9) वही, पृष्ठ संख्या: 151
10) शुक्ल, रामचंद्र, 2012, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या: 456
11) समसामयिक सृजन पत्रिका, अप्रैल-जून 2012, वर्ष दो, अंक दो, पृष्ठ संख्या: 145

मुक्तिबोध द्वारा विकसित कला का समाजशात्र

डॉ. सुधांशु भूषण नाथ तिवारी
एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी
आर्यभट्ट कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सारांश

मुक्तिबोध मूलतः कला के समाजशास्त्री हैं। कविता उनके सिद्धान्तों को स्थापित करने का साधन जैसी प्रतीत होती है। इसप्रकार, कला के समाजशास्त्री होने के साथ-साथ मुक्तिबोध ने कविता का समाजशास्त्र भी निर्मित किया है। इसे विश्व साहित्य को भारत की देन के रूप में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की व्यावहारिक समीक्षाएँ उनके द्वारा प्रस्तावित कला के समाजशास्त्र को कविता पर सत्यापित करती हैं। 'कामायनीः एक पुनर्विचार' तथा उनके द्वारा की गयी अन्य समीक्षाओं को इसके प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है। इसलिए मुक्तिबोध के द्वारा निर्मित और व्याख्यायित कला और खासकर कविता के समाजशास्त्र पर विचार करना यहाँ आवश्यक हो जाता है।

बीज शब्द

मुक्तिबोध, समाज, समाजशास्त्र, कला, विचार, साहित्य

शोध आलेख

यूरोप में साहित्य का समाजशास्त्र उपन्यास के आधार पर निर्मित हुआ और इसमें उपन्यास की परिभाषा की बड़ी भूमिका रही जिसमें इसे आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया। इसने रूप और अंतर्वस्तु से संबद्ध कई प्रश्नों को जन्म दिया। इस कथन की व्याख्या ने समाज और साहित्य के अनगिनत पक्षों को सामने लाकर रख दिया। एक पक्ष तो यह था कि वह समाज है जिसने महाकाव्य की जगह उपन्यासों को स्थापित किया। कहा जा सकता है कि समाज केवल अंतर्वस्तु का ही निर्धारण नहीं करता, वह साहित्यिक रूपों का भी निर्धारण करता है। तो दूसरा इसका अर्थ यह भी है कि साहित्य की अंतर्वस्तु ही साहित्यिक रूपों का भी निर्धारण करती है। यह कई प्रकार से मार्क्सवादी विचारधारा के फलस्वरूप विकसित हुई है जहाँ आधार ही अधिरचना का निर्धारण करता है। आधार और अधिरचना के बीच के द्वंदात्मक संबंध को स्वीकार करते हुए भी मार्क्सवादी आलोचना ने साहित्य को अन्तर्वस्तु केन्द्रित बना दिया। रूप अधिरचना का अंग होने के चलते उपेक्षा का शिकार रहा। यह महज संयोग नहीं कि रूप अपने आप में साहित्य जगत का उपेक्षित शब्द बन कर रह गया।

मुक्तिबोध पर बहुत कम विचार किया गया हैं। यदि हुआ भी है तो वह उनके कवि रूप को लेकर ही अधिक हुआ है। परन्तु मुक्तिबोध मूलतः कला के समाजशास्त्री हैं। कविता उनके सिद्धान्तों को स्थापित करने का साधन जैसी प्रतीत होती है। इसप्रकार, कला के समाजशास्त्री होने के साथ-साथ मुक्तिबोध ने कविता का समाजशास्त्र भी निर्मित किया है। इसे विश्व साहित्य को भारत की देन के रूप में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की व्यावहारिक समीक्षाएँ उनके द्वारा प्रस्तावित कला के समाजशास्त्र को कविता पर सत्यापित करती हैं। 'कामायनीः एक पुनर्विचार' तथा उनके द्वारा की गयी अन्य समीक्षाओं को इसके प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है। इसलिए मुक्तिबोध के द्वारा निर्मित और व्याख्यायित कला और खासकर कविता के समाजशास्त्र पर विचार करना यहाँ आवश्यक हो जाता है।

साहित्य का एक बहुचर्चित प्रश्न यह रहा है कि उसकी परिभाषा किस प्रकार से की जाए। क्या केवल कालजीवीपन साहित्य कालजयीपन का आधार है? एडोर्नो ने बहुत ही सार्थक रूप में कह डाला कि कलाएँ समाज का प्रतिसिद्धान्त प्रस्तुत करती हैं। साहित्य की इससे सार्थक परिभाषा नहीं की जा सकती है। परन्तु यह प्रतिसिद्धान्त कैसे बनता है? हेगेल

की शब्दावली में यह अंतर्विरोधों से बनता है। परन्तु इसकी एक प्रक्रिया है। अतः इसके बनने की प्रक्रिया पर विचार आवश्यक है। एक सीमा के बाद इन दोनों प्रश्नों को अलगाया नहीं जा सकता है। जब व्यक्ति ही सामाजिक होता है तो उसके कर्म को वैयक्तिक कह कर संतोष नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति और समाज का संबंध ही संसारिकता का ताना-बाना रचता है। और, इसी आधार पर साहित्य का सृजन होता है। अतः व्यक्ति और समाज के अन्तःसंबंध को समझे बिना साहित्य सृजन को नहीं समझा जा सकता है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''काव्य-रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, वह एक सांस्कृतिक-प्रक्रिया है। फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है, उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन होते हैं।''[1] मुक्तिबोध ने काव्य रचना को सांस्कृतिक कहकर कई प्रश्नों को जन्म दिया है। सांस्कृतिक होने के कारण वह वर्गीय या सामाजिक कर्म है। लेकिन उसे आत्मिक प्रयास कहकर मुक्तिबोध ने साहित्य को व्यक्तित्व के अभिप्राय के साथ जोड़ कर देखा है। यह कई प्रकार से आत्म के निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण है। व्यक्ति और उसकी विश्वदृष्टि के निर्माण में उसकी संस्कृति की भूमिका का मूल्यांकन भी है। अतः साहित्य को इन दोनों के द्वंद में ही देखा जाना चाहिए। समाज और व्यक्ति के इसी द्वंद के बीच व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक रूप भी है। इस सांस्कृतिक, वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कर्म को ही साहित्य कहते हैं।

मुक्तिबोध संस्कृति को उसके विस्तृत रूप में स्वीकार करते हैं। संस्कृति की सबसे विधिवत परिभाषा देने का कार्य टाइलर ने किया। टाइलर की प्रिमिटिव कल्चर सन् 1874 में छपी थी। और कुछ ही दिनों में यह पुस्तक लोकप्रिय हो गयी थी। टाइलर ने लिखा कि संस्कृति या सभ्यता नृवंशविज्ञान के रूप में ग्रहण करने पर समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति द्वारा अर्जित ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, नियम, परम्परा और क्षमताओं और आदतों की जटिल समग्रता है।[2] मुक्तिबोध जब काव्य-रचना के आत्मिक प्रयास में सांस्कृतिक मूल्य खोजते हैं तब वे संस्कृति को इसी व्यापक अर्थ में विश्लेषित कर रहे होते हैं। इस अर्थ में मुक्तिबोध द्वारा की गयी संस्कृति समीक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसे उनके द्वारा की गयी रचनाओं और आलोचनाओं में भी देखा जा सकता है।

काव्य-रचना-प्रक्रिया काव्य के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया है। अर्थात् जिन-जिन स्रोतों-अवस्थाओं से होकर रचना अस्तित्व में आती है उन्हें विश्लेषित करने की प्रक्रिया है। इसमें व्यक्तित्व की प्रमुख भूमिका होती है। यह व्यक्ति समाज-सापेक्ष होता है। मुक्तिबोध की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने व्यक्तित्व के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक रूप को ही काव्यरचना का आधार स्वीकार किया है। इसप्रकार, मुक्तिबोध ने इस व्यक्तित्व को नया आयाम दिया है। मुक्तिबोध का आत्म मार्क्सवाद से लगाव-अलगाव के बाद निर्मित हुआ है।

रचना एक आत्मिक-प्रयास है। मुक्तिबोध ने आत्म को सामाजिक या वर्गीय चरित्र के रूप में विश्लेषित किया है। वर्गीय चरित्र से संचालित होने के कारण वह आत्मा के अभिप्राय से भी संचालित है। रचना-प्रक्रिया को वर्गीय अभिप्राय से संचालित आत्मिक प्रयास कहकर मुक्तिबोध ने रचना को स्वतः स्फुटन मानने वालों का विरोध तो किया ही है, साथ ही काव्य को स्वांतः सुखाय कहने वालों का भी प्रतिरोध किया है। अर्थात काव्य-रचना एक अभिप्रेत प्रयास है। वह रचनाकार के वर्गीय अभिप्राय से संचालित है। वर्गीय हितों की रक्षा उसका लक्ष्य है। रचनाकार के उद्देश्यों से अलगाकर साहित्य को नहीं देखा जा सकता है। ऐसा कहते हुए मुक्तिबोध ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि आत्म, जिसके

[1] मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन, 1980 भाग

[2] Primitive Culture, Tylor, Edward B., ESTES & LAURIAT, 1874, page 1

अभिप्राय की रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका है, को किनारे रखकर कला को नहीं समझा जा सकता है। और तब, आत्म के विकास की प्रक्रिया पर विचार किए बगैर काव्य की रचना-प्रक्रिया पर चर्चा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। आत्म के विकास की प्रक्रिया ही रचनाकार की विश्वदृष्टि का निर्माण करती है। यही लेखक की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती है। यही उसके ज्ञान का आधार है। संसार के बोध का आधार है।

काव्य-रचना को आत्मिक प्रयास कहते हुए मुक्तिबोध ने एक ही साथ काव्य-रचना के अंतर्गत कई तरह के द्वंदों का आरंभ कर दिया है। एक अर्थ में यह आत्मा और रचना के बीच के द्वंदात्मक संबंध को स्वीकृति देना है। यह आत्म और वाह्य जगत के बीच के द्वंद का स्वीकार भी है। दूसरे अर्थ में यह आत्म के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूप के बीच का द्वंद है। यह आत्म की सामाजिकता है तो यह आत्म का आंतरिक स्वरूप भी है।

आत्मिक प्रयास होने के कारण रचना आत्म के निर्माण और उसके विकास के सभी नियमों से संचालित होती है। व्यक्तित्व के विकास का अपनी प्रक्रिया है। वह सांस्कृतिक परम्पराओं और वर्तमान की अपेक्षाओं के द्वंदात्मक संघर्ष से मुक्त भी नहीं है। यह व्यक्तित्व चेतना का ही दूसरा या थोड़ा व्यावहारिक नाम है। मार्क्सवाद में इसका निर्धारण सामाजिक यथार्थ के द्वारा होना बताया गया है। इसे आधार और अधिरचना के साथ भी रखकर देखा गया है। परन्तु मुक्तिबोध इसमें सांस्कृतिक परम्परा के हस्तक्षेप को भी महत्वपूर्ण घटक के रूप में रखते हैं। मार्क्सवाद में मिथ्या-चेतना का सिद्धांत भी है। साथ ही रचना-प्रक्रिया के सांस्कृतिक-प्रक्रिया होने का अर्थ उसे मानव-कर्मों के सह-अस्तित्व में देखना है। मानव-कर्मों की सम्पूर्णता को समझने के लिए कर्म को प्रेरित करने वाले तत्त्वों का विवेचन भी आवश्यक है। ज्ञान के विकास के साथ ही मानव जीवन का विकास होता है। कर्म और ज्ञान आपस में गहरे जुड़े हुए होते हैं। कवि कर्म इसी अर्थ में ज्ञान कर्म है। अतः रचना-प्रक्रिया कई अर्थों में ज्ञान-प्रक्रिया ही है। मुक्तिबोध ने आत्मनिर्माण की प्रक्रिया को लेकर बहुत कुछ लिखा है। एक साहित्यिक की डायरी, जो उनकी रचनावली के चौथे भाग में सम्मिलित है, में तीसरा क्षण शीर्षक में वे आत्म की वृत्तियों का उद्घाटन करते हैं। लिखते है कि 'मनुष्य का व्यक्तित्व एक गहरा रहस्य है'....[1]

मुक्तिबोध चेतना की विभिन्न वृत्तियों को अपनी शब्दावली के अनुरूप प्रयोग में लाते हैं। बुद्धि, ज्ञान और हृदय जैसे शब्द चेतना के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं। दो बहुत प्रचलित शब्द भी उनके यहाँ चेतना की वृत्तियों को दिखाने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं- 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन'। आत्मा उनके लिए वस्तुतत्व से जुड़ी है। यह ज्ञानमीमांसा से जुड़े हुए शब्द हैं। लेकिन केवल वाह्यजगत के आभ्यंतरीकरण तक ज्ञान को सीमित कर देना मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया की एक पक्षीय व्याख्या है। आत्म के विकास में एक अन्य तत्व भी है जो आत्म को संकुचित करता चलता है। कभी उदात्त बनाता चलता है। यह आत्म का ऐतिहासिक स्वरूप है जो सांस्कृतिक परम्परा की देन है। मार्क्सवाद में एक बहुत ही प्रचलित शब्द है डिक्लास। आत्म का यह सांस्कृतिक रूप इसी डिक्लास या वर्ग-परिवर्तन का विरोधी है। मुक्तिबोध की कविता ब्रह्मराक्षस या उनके निबंध में केशव का रूप इसी का पर्याय है। अर्थात आत्म का विकास उसकी सांस्कृतिक परम्परा से टकराकर ही होता है।

उनके द्वारा विश्लेषित कला के तीन क्षण मुख्यतः रचना-प्रक्रिया के ही तीन क्षण हैं। ये क्षण आत्मा के अस्तित्व और अभिव्यक्ति के भी तीन क्षण हैं। इसकी जटिलता को स्पष्ट करने के लिए मुक्तिबोध ने जगह-जगह इसकी व्याख्या भी की है और हर जगह कुछ अधिक गहराई के साथ। ''कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है

[1] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 75

उस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटेसी अपनी आखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है उस फैंटेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।''[1]

कला के तीन क्षण मुख्यतः ज्ञान और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मुक्तिबोध हिन्दी साहित्य के एक सशक्त ज्ञानमीमांसक हैं। पहला क्षण 'जीवन के उत्कट तीव्र अनुभव' का है। अर्थात् जीवन में अपनी सम्पूर्णता में अर्जित उन तमाम अनुभवों में से कुछेक 'तीव्र और उत्कट अनुभव' का क्षण है। वाह्य का आभ्यंतरीकरण निरपेक्ष नहीं होता है। अनुभव अभिप्रेत हुआ करता हैं। इस वाक्य का मूलार्थ अनुभव शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट होता है। ज्ञान-प्रक्रिया का यह पहला क्षण ज्ञान को अनुभव के स्तर पर उद्भूत और विकसित करता है। यहां किसी भी प्रकार के जन्मजात ज्ञान या स्वतः प्रमाणित प्रत्ययों का खंडन है। सहज-प्रत्ययों (इन्नेट आइडियाज) का यह विरोध अनुभूति को यथार्थ से प्रमाणित करता है। चेतना में ऐसा कुछ भी नहीं है जो पहले वाह्य जगत में नहीं था। ज्ञान एक आगन्तुक है- जन्मजात नहीं। ज्ञान आगन्तुक तो है पर पूरा बाह्य जगत हमारी चेतना का अंग नहीं बन जाता है। हम अपने लिए उपयोगी अनुभवों को ही बचा कर रखते हैं। उपयोगिता का निर्धारण वर्गीय आधार पर होता है।

वास्तव में चेतना उसके द्वारा अर्जित ज्ञान है। एक दृष्टिकोण है जिसके आधार पर व्यक्ति समाज से साक्षात्कार करता है। चेतना अपनी वृत्तियों के साथ-साथ एक उत्पाद भी है। मार्क्स ने कांट्रिब्यूशन टू द क्रिटिक आफ पोलिटकल इकानामी की भूमिका में लिखा था कि "सामाजिक उद्पादन करते हुए मनुष्य निश्चित संबंधों को भी बनाता है और ये संबंध अनिवार्य होते हैं और उसकी इच्छाओं से स्वतंत्र भी होते हैं। उत्पादन के ये संबंध भौतिक उद्पादन की शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुरूप होते हैं। उत्पादन के संबंधों का यह पूर्ण योग किसी समाज के आर्थिक आधार को बनाता है- वास्तविक आधार, जिसपर वैधानिक और राजनीतिक अधिरचना खड़ी होती है और जो सामाजिक चेतना के विविध रूपों को अनुरुप होती है।"[2] यह पूरे मार्क्सवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का आधार है। मार्क्स ने आगे लिखा है कि "भौतिक जीवन में उत्पादन की अवस्थाएँ जीवन के सामाजिक,राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है। यह मनुष्य की चेतना नहीं है जो उसके अस्तित्व को निर्धारित करती है, बल्कि, उसके विपरित, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है।[3]

चेतना की रुचियों से सहमति या असहमति ही तीव्र या उत्कट अनुभूति की श्रेणी हो सकती है। चेतना की रुचि का अर्थ चेतना के उसके अभिप्राय से है। चेतना की रुचि प्रथमतः वैयक्तिक होती है। चेतना के ज्ञानात्मक आधार के विकास के साथ-साथ उसकी रुचि सामाजिक (वर्गीय) होने लगती है। यहीं वर्गीय अभिप्राय ज्ञान की कोटियों का निर्धारण भी करता है। ''भले ही इस तथ्य के प्रति हमारे समीक्षकगण नाक-भौं सिकोड़ें, कहे कि यह विदेशी विचारधारा है, पर यह नितान्त सत्य है कि हमारा चरित्र वर्ग-चरित्र होता है, और हमारा दृष्टिकोण हमारे वर्ग-क्षेत्र में चल रही विचारधाराओं और भाव परम्पराओं द्वारा विकसित होता है।''[4] मुक्तिबोध ने बड़ी ही ईमानदारी के साथ यह स्वीकार किया है कि यह विदेशी विचारधारा है। यह व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया भी है।

[1] वहीं, पृष्ठ 85

[2] A Contribution to the critique of political Economy, Marx, Karl, Progress Publishers Moscow, 1959, page 2

[3] A Contribution to the critique of political Economy, Marx, Karl, Progress Publishers Moscow, 1959, page 2

[4] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 75

'कला के दूसरे क्षण' में मुक्तिबोध कहते हैं -''ज्यों ही यह घटना होती है अनुभव के मूल अपनी दुखती हुई भूमि से पृथक हो जाते हैं। अर्थात् वे निरे वैयक्तिक न रहकर अपने से परे हो जाते हैं।''[1] यह वस्तुजगत के निर्वैयक्तिक स्वरूप का आगमन है। यहाँ वस्तुएँ गौड़ हो जाती हैं और उनसे जुड़ा हुआ अभिप्राय प्राथमिक। यह वस्तुओं को कोष्टक में डाल देता है। ज्ञानी इसे एडमंड हुसर्ल के ब्रेकेटिंग का सरलीकृत रूप करार दे सकते हैं। पर मुक्तिबोध अपनी भाषा में यह कह रहे हैं कि यहाँ वस्तुओं के स्थान पर उनसे जुड़े हुए कर्म प्रधान हो जाते हैं। यहाँ मानसिक कर्म प्रधान हो जाते हैं। अर्थात् विचार-प्रक्रिया का आरम्भ कला के दूसरे क्षण से होता है। यहाँ वस्तु अपने मूल से पृथक् होकर 'इंद्रिय-प्रदत्तों की स्थिति में पहुँच जाते हैं। यहीं से ज्ञानार्जन शुरू होता है। ज्ञान प्रक्रिया भाषा की मांग करती है। भाषा के आगमन के साथ परिस्थितिगत तर्क के भीतर संस्कृति की समीक्षा का आरम्भ होता है। यह सब कला का दूसरा क्षण है। तो फिर कला के प्रथम क्षण में क्या होता है? पहला क्षण बाह्य का आभ्यंतरीकरण करता है। मुक्तिबोध कहते हैं -''संवेदना, बोधशक्ति, कल्पना और इच्छाएँ ये मनुष्य की आभ्यंतर शक्तियां हैं, उसकी अंतर की चेतना की अंगभूत हैं। इन सभी शक्तियों या प्रवृत्तियों का बाह्य से जब सम्मिलन होता है, तब वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसे मैं बाह्य का आभ्यंतरीकरण कहता हूँ।''[2]

यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। मुक्तिबोध ने यह नहीं कहा कि ज्ञानेन्द्रियों के बाह्य से सम्मिलन के साथ ही बाह्य का आभ्यंतरीकरण होता है। मुक्तिबोध का कहना है कि मनुष्य की आभ्यंतर शक्तियाँ जिनमें संवेदना, बोधशक्ति, कल्पना और इच्छाएँ सम्मिलित हैं, का बाह्य से सम्मिलन होने पर बाह्य का आभ्यंतरीकरण होता है। कहना न होगा कि मनुष्य के वर्गीय अभिप्राय से ही उसकी आभ्यंतर शक्तियाँ संचालित होती हैं।

'बाह्य का आभ्यंतरीकरण' मुक्तिबोध द्वारा विश्लेषित 'कला का पहला क्षण' ही है। ज्ञान-प्रक्रिया की इन दोनों अवस्थाओं के बीच चेतना कार्यरत होती है। चेतना ही यथार्थ का अमूर्तन करती है और अपने अभिप्राय के अनुरूप यथार्थ सृजन भी करती है। यह प्रक्रिया 'फैंटेसी' निर्माण की है। मुक्तिबोध अभिप्राय से फैंटेसी को जोड़ते हुए भी उसके स्वप्न या महज कल्पना कहे जाने का खंडन करते हैं। फैंटेसी में प्रवाहित हो रहा अभिप्राय फैंटेसी को रूप-रंग देता है और तब फैंटेसी अपने शिल्प के विपरीत अर्थ को अभिव्यक्त कर पाती है। यहां फैंटेसी महज कल्पना नहीं रह जाती बल्कि गहरे संवेदनात्मक उद्देश्यों से संचालित होने के कारण वह यथार्थ को अधिक गहराई तक स्पष्ट करती है। कहना न होगा कि चेतना ही फैंटेसी को अभिप्राय प्रदान करती है।

यह एक बार पुनः अन्तर्वस्तु द्वारा रूप का अतिक्रमण है। यह मार्क्सवादी सोच की ही परिणति है। फैंटेसी भाववादी शिल्प होने के बाद भी यथार्थवादी दृष्टिकोण से संचालित होने के कारण यथार्थवादी बनी रहती है। उसका रूप पक्ष गौण हो जाता है।

यह चेतना का अभिप्राय वर्गीय चरित्र धारण करने के कारण जहां चेतना का निर्माण करता है वहीं यह चेतना की सीमा-रेखा भी खींचता है। व्यक्तित्व का विस्तार होने से ही ऐसा हो पाता है। यह अभिप्रेत के साथ-साथ समीक्षात्मक भी होता जाता है। मुक्तिबोध के लिए 'आभ्यंतर का बाह्यीकरण' मानसिक-कर्म तो है परन्तु यह मानसिक-कर्म मस्तिष्क और भाषा दोनों के अपने संस्कारों से बंधकर चलता है। भाषा अपने अभिप्राय के अनुरूप चेतना के अभिप्राय की सर्जरी भी करती है। कई प्रकार से यह मानव-ज्ञान की सीमाओं का भाषा द्वारा निर्धारण भी है। अधिरचना के विविध रूपों की व्याख्या भी है।

[1] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 85
[2] वहीं

मुक्तिबोध ने साहित्य के इन्हीं सिद्धांतों को आधार बनाकर कला का समाजशास्त्र निर्मित किया। यह एक ऐसा साहित्य-सिद्धान्त जो पूर्ववर्ती साहित्यिक धारा के विरोध में खड़ा हुआ। उसका विरोध स्वभाविक था। मुक्तिबोध की व्याख्या को जड़ मार्क्सवादियों की नजर से देखना संभव नहीं था। विरोध मार्क्वादी खेमें से भी हुआ। चेतना की अवस्थाओं पर विशेष बल देते हुए मुक्तिबोध ने कई जगह बाह्य-जगत को नेपथ्य में डाल दिया। हम इसे यथार्थ की 'ब्रैकेटिंग' भी कह सकते हैं। कई बार यह भाववाद के करीब आती दिखती है। मुक्तिबोध ने बाह्य जगत को ब्रैकेट करने के बाद यथार्थ की जिस तरह से व्याख्या की उसमें यथार्थ अधिक गतिशील होकर उपस्थित हुआ। अतः उन्होंने यथार्थ की सूक्ष्म व्याख्या की है। कहना न होगा कि यह उनकी दूरदर्शिता का परिचय देता है। स्थूल की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए मुक्तिबोध ने ज्ञान-प्रक्रिया को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

मुक्तिबोध की सबसे बड़ी ताकत यह थी कि कविता के समाजशास्त्री होने के साथ-साथ उनमें अपने सिद्धांतों को कलात्मक रूप से रखने की आदत-सी थी। चेतना के अंदर की शक्तियों का बाह्य से सम्मिलन आभ्यंतर की प्रक्रिया शुरू करता है। आभ्यंतरण एक तरफा नहीं है। मानव-मस्तिष्क और वस्तु-जगत के बीच के संबंधों का निर्वाह ही आभ्यंतरीकरण का आधार है। 'संवेदना, बोधशक्ति, कल्पना और इच्छाएँ' चेतना के भीतर एक प्रकार की अंतर्वैयक्तिकता का आग्रह करते हुए अस्तित्व में होते हैं। यह वर्गीय-चेतना अपने उद्देश्यों के अनुरूप बाह्य का आभ्यंतरीकरण करता है। परन्तु यथार्थ जगत् अपने अनुरूप चेतना का निर्माण करते हुए चेतना में हस्तक्षेप भी करता है। 'अंधेरे में' की यह पंक्तियाँ-''पहचानता हूँ/ बाहर जो खड़ा है !!/ यह वही व्यक्ति है, जी हाँ,/ जो मुझे तिलस्मी खोह में दिखा था।/ अवसर – अनवसर/ प्रकट जो होता ही रहता/ मेरी सुविधाओं का/ न तनिक ख्याल कर।''[1]

यथार्थ, कई बार चेतना के उद्देश्य को दर-किनार कर अपने उद्देश्य को चेतना पर प्रक्षेपित करता है। मुक्तिबोध कला के इस पहले क्षण को कई जगह उद्घाटन का भी क्षण कहते हैं, क्योंकि यह संवेदना, इच्छा, कल्पना आदि वृत्तियों के उद्घाटन के साथ प्रारंभ होता है। अर्थात् बाह्य-जगत् हमारे अभिप्राय का उद्घाटन करके ही ज्ञान का विकास करता है। ऐसा करते हुए अभिप्राय कई बार बदलता भी जाता है। और तब बाह्य -जगत का बोध उसी रूप में नहीं होता जिस रूप में वह वस्तुतः उपस्थित होता है। उसके होने और उसके आभ्यंतर में आए अंतर का एक कारण व्यक्ति की वर्गीय-चेतना का अभिप्रायबद्ध हस्तक्षेप होता है। इसके साथ ही बाह्य जगत की गतिशीलता भी अपनी विचारधारा और उसके अनुरूप अभिप्राय रखती है और आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया में अपने तईं हस्तक्षेप करती है। आभ्यंतर की प्रारंभिक स्थिति जिसे हम 'निर्विकल्प स्थिति' कह सकते हैं- अभिप्राय-युक्त होने के चलते सामान्य और विशेष में, ज्ञान और संवेदना में अंतर नहीं करता। यह एक प्रकार का कच्चा माल होता है जिसपर चेतना का अभिप्राय कार्यरत होकर इसे विशेषण युक्त करता है और विशेषण-युक्त होने के साथ ही यह सविकल्प स्थिति निराकार से पुनः साकार हो उठती है। यहीं से कला का दूसरा क्षण शुरू होता है।

कला के दूसरे क्षण का आरम्भ ही अमूर्तन से- अर्थात यथार्थ के अमूर्तन से होता है। मुक्तिबोध की इस मान्यता को अगर सावधानी से न विवेचित करें तो उन्हें भाववादी कहने में कोई परेशानी न होगी। परन्तु ऐसा मुक्तिबोध की ज्ञान-प्रक्रिया संबंधी सोच का निरादर होगा। यह मुक्तिबोध द्वारा की गई यथार्थ की संतुलित और विकसनशील व्याख्या का भी निरादर होगा। कला के दूसरे क्षण में 'यथार्थ का अपने मूलों से पृथक हो जाना' मुक्तिबोध के लिए यथार्थ के भाव का सृजन है जो जाने-अनजाने अपने को चेतना में पुनः प्रस्तुत करता चलता है। मुक्तिबोध यहाँ यह कहना चाहते हैं कि यथार्थ अपने मूलों

[1] मुक्तिबोध रचनावली भाग 2 पेज 323-324

से कट जाते हैं और उनका भाव शेष रह जाता है जिसको संचालित करने का कार्य विचारधारा के द्वारा होता है। यहाँ मनुष्य की विश्वदृष्टि के आधार पर अपने मूलों से पृथक हुए यथार्थ को दिशा मिलती है। मुक्तिबोध इस विश्वदृष्टि के आधार में स्थित विचारधारा के लिए नये शब्द-युग्म का प्रयोग करते हैं। वे इसे संवेदनात्मक-उद्देश्य कहते हैं। यथार्थ तो प्रतिक्षण परिवर्तित है। ऐसे में यथार्थ के भाव का सृजन वगैर इस अमूर्तन के सम्भव नहीं है। मुक्तिबोध इस भाव के सृजन में 'संवेदनात्मक उद्देश्यों' की भूमिका का स्वागत करते हैं। यह स्वीकृति ही उन्हें भाववादियों से पृथक करती है। संवेदनात्मक-उद्देश्य ही चेतना का उद्देश्य है। इसी के आधार पर कला के दूसरे-दूसरे क्षण में फैंटेसी का निर्माण होता है। एक ऐसी फैंटेसी का निर्माण जो अमूर्त यथार्थ का भाव-रूप होने के कारण, अपने पुनर्प्रस्तुति की प्रक्रिया के फलस्वरूप आंखों के सामने बदले हुए यथार्थ में भी उपस्थित होती है। तो क्या यहां एक स्थिरता नहीं है? मुक्तिबोध को इस खतरे का ज्ञान है। नागार्जुन ने शून्यवाद की व्याख्या में एक ही नदी में दो बार स्नान न कर पाने को यथार्थ का मूल स्वरूप माना है। स्वयं द्वंद्वात्मक-भौतिकवाद गतिशील यथार्थ का पक्षधर है। इसके अनुरूप ही मुक्तिबोध फैंटेसी की स्थिरता का खंडन करते हैं। साथ ही उसके गतिशील स्वरूप के अर्जन में 'संवेदनात्मक-उद्देश्यों' की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। फैंटेसी की गतिशीलता संवेदनात्मक-उद्देश्यों के अनुरूप बनी रहती है। मार्क्सवाद में अधिरचनाओं में वैचारिक उद्देश्य समाया रहता है और वही उसको दिशा देता है। मुक्तिबोध लिखते हैं-''फैंटेसी में एक संवेदनात्मक उद्देश्य समाया रहता है। उसमें एक संवेदनात्मक दिशा होती है। फैंटेसी के भीतर यह दिशा और उद्देश्य उस फैंटेसी का मर्म प्राण है।[1] मुक्तिबोध आगे लिखते हैं कि "दिशा और उद्देश्य का मर्म धारण कर फैंटेसी गतिहीन नहीं रह सकती। फैंटेसी गतिहीन-स्थिर चित्र नहीं है। उद्देश्य और उद्देश्य की दिशा के कारण ही वह गतिमय है।''[2]

इस प्रकार, ज्ञान-प्रक्रिया में चल रहे फैंटेसी के स्वरूपगत अमूर्तन की सीमा का निर्धारण प्रदत्त-वस्तुएँ और वैयक्तिक-अभिप्राय, इन दोनों की अपनी स्थिति के अनुसार ही होता है। इस आधार पर फैंटेसी अमूर्त होते हुए भी मूर्त होती है। सच तो यह है कि ऐसा करते हुए वह अपने संवेदनात्मक-उद्देश्यों को ही स्पष्ट कर रही होती है।

फैंटेसी का यह स्वरूपगत परिवर्तन हमें यथार्थ का अभिप्रेत भाव प्रदान करता है। यह भाव कुछ ऐसे अपरिवर्तनशील मूल्यों पर निर्मित होता है जो कि परिवर्तन की स्थिति में भी अपनी अभिप्रेत अस्मिता बनाए रखते हैं। इस प्रकार फैंटेसी को न तो कलावादियों से और न ही अस्तित्ववादियों से प्रभावित समझना चाहिए। यह प्लेटो का यथार्थवादी प्रत्यय भी नहीं है। फैंटेसी में अंतर्निहित-दृष्टि जिसे हम अभिप्राय कह रहे हैं वह किसी भी रूप में यथार्थ से निरपेक्ष नहीं है। वह अभिप्रेत है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए है। एक चुनौती है जिसका एक व्यापक समीक्षात्मक आधार है। स्वयं मुक्तिबोध लिखते हैं-''ज्यों ही यह घटना होती है, अनुभव के मूल अपनी दुखती हुई भूमि से पृथक हो जाते हैं। अर्थात् वे निरे वैयक्तिक न रहकर अपने से परे हो जाते हैं।''[3]

अनुभूत का अपने यथार्थ से अलगाव भाषा में होता है। मुक्तिबोध इस कारण की ओर भी संकेत कर रहे हैं। भाषा एक सामाजिक यथार्थ है। अतः वैयक्तिकता का अतिक्रमण तो अवश्यम्भावी है। साथ ही यहां व्यक्ति की समीक्षात्मक-चेतना का आग्रह भी है जिसका निर्माण वर्गीय चेतना के आधार पर संभव बना है। इस प्रकार वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक तक की इस यात्रा में अंतर्वैयक्तिकता का आग्रह करने वाले कुछ अनुभव ही होते हैं। यह चेतना के अभिप्राय का समीक्षात्मक स्वरूप है जिसने समाज के आधार और अधिरचना की समीक्षा की है। यह व्यक्ति के वर्गीय अभिप्राय का आगमन ही नहीं

[1] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 75
[2] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 89
[3] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 85

वरन् उसके प्रबल होने की सूचना देता है। स्वयं मुक्तिबोध कहते हैं-''जो फैंटेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक होकर अर्थात् उनसे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी; वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ में नितान्त निर्वैयक्तिक होगी। इस फैंटेसी में अब एक भावात्मक-उद्देश्य के द्वारा ही वस्तुतः फैंटेसी को रूप-रंग मिलेगा।''[1] किन्तु यह होते हुए भी वह फैंटेसी यथार्थ में भोगे गए वास्तविक अनुभव की प्रति-कृति नहीं हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैंटेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर दिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतंत्र बन बैठी। फैंटेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है, इसलिए वह उससे स्वतंत्र है।''[2] यह चेतना के विकास का सिद्धांत है। अनुभव से प्रसूत होकर भी वह उन विशिष्ट अनुभवों से स्वतंत्र है। यह अनुभूति का विशिष्ट से सामान्यीकरण है।

इसमें महत्त्वपूर्ण स्थिति वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने की है। फैंटेसी के स्वतंत्र विकासमान-व्यक्तित्व का अर्जन इसी दौरान होता है। 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' में मुक्तिबोध ने फैंटेसी को 'संश्लिष्ट जीवन-चित्रशाला' कहा है। उनकी धारणा है कि ''कल्पना उदीप्त होकर, संवेदना से आलुप्त उस मूल तत्त्व को समरूप अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संश्लेषित करती हुइ एक 'संश्लिष्ट जीवन-चित्रशाला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन से न्यस्त हो जाते हैं और हमारे लिए वह आत्म-तत्त्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं।''[3]

वेदनात्मक-हेतु ही संवेदनात्मक-अभिप्राय का सृजन करता है। यह इंद्रिय-प्रदत्तों के द्वारा एक ऐसे जीवन-संसार का सृजन करता है जो हमारे अभिप्राय का अतिक्रमण कर बाहर आना चाहता है। यह जीवन-संसार ही वह 'संश्लिष्ट जीवन-चित्रशाला' है जिसकी गतिशीलता अब अभिप्रेत संवेदना से स्वतंत्र होकर स्वचालित हो चली है। इस 'संश्लिष्ट-जीवन-चित्रशाला' में किसी एक चित्र-विशेष का केन्द्र में आगमन या प्रस्थान रचनाकार के संवेदनात्मक-अभिप्राय और चित्र की अपनी गतिशीलता से प्रसूत अभिप्राय के बीच के संबंधों के आधार पर संचालित होता है। इसमें बहुत कुछ भूमिका भाषा की होती है। यहीं से कला का तीसरा क्षण प्रारंभ होता है।

कला का तीसरा क्षण भाषा का क्षण है। कई रूपों में यह अभिप्राय की अभिव्यक्ति का क्षण है। कला के दूसरे क्षण में अंतर्विरोध मुख्यतः चेतना के अभिप्राय और फैंटेसी की संरचना के अनुरूप निर्मित उसके अभिप्राय के बीच था। उस गतिशीलता और भाषा के द्वंद का आरंभ इस तीसरे क्षण में होता है। मुक्तिबोध के अनुसार इस तीसरे क्षण में फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का प्रारंभ होता है। अतः इसमें जटिलता स्वाभाविक है। कहना न होगा कि इस प्रक्रिया में अंतर्विरोधों की एक श्रृंखला-सी होती है- भाषा, रूप, अंतर्वस्तु और रचनाकार सभी अपने अभिप्राय के साथ उपस्थित होते हैं। यही नहीं, इन सबकी सीमाएँ भी यहाँ एक ही साथ खड़ी होती हैं। इसी क्षण में रूप और अंतर्वस्तु का अंतर्सम्बन्ध अपने को महत्त्वपूर्ण स्थिति में पाता है। परन्तु इन सबसे होकर जो विकसनशील बनता है, वह है चेतना का अभिप्राय - जो कई बार अपने अभिप्राय का पुनर्सृजन कर चुका होता है। कटते-छटते जो कुछ भी बचा रहता है वह रचनाकार का ही सच होता है। यही सच उसे शिल्पगत विविधता में भी बचा लेता है। यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर उसी के चलते बना रहता है। मुक्तिबोध कहते हैं- ''यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है। यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है - उस शिल्प में जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही

[1] वहीं

[2] वहीं

[3] मुक्तिबोध रचनावली भाग 5 पेज 329

हो।''[1] कला के इस तीसरे रूप में भाषा और रूप के इस सृजन के क्षण में, जो कुछ भी बचकर अर्थवान बनता है वह इन सभी रूपों से विकसित रचनाकार का संवेदनात्मक-समीक्षात्मक-अभिप्राय ही है।

भाषा सामाजिक होती है। भाषा-प्रक्रिया का आरंभ सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया का आरंभ है। भाषा अपने तई अभिप्राय का संशोधन करती है। साहित्यिक रूप भी अभिप्राय का संशोधन करता है। अंतर्वस्तु रूप के अनुरूप ही रचना में आता है और रूप भी अंतर्वस्तु के अनुसार बदलता है। ''कवि की यह फैंटेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, इसमें नए अर्थ- अनुषंग भर देती है। शब्द को नए चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार कवि तीसरे क्षण के दौरान भाषा का निर्माण भी करता है।''[2] चूकि भाषा सामाजिक है अतः इसमें हस्तक्षेप भी सामाजिक-प्रक्रिया में हस्तक्षेप है। यह व्यक्ति द्वारा अर्जित आशावाद है जिसमें वह समाज का समीक्षक है। वह किसी भी प्रकार के वर्चस्व के खिलाफ खड़ा है। और तब कविता या रचना समाज में एक प्रतिवाद की तरह उपस्थित होती है। भाषा की अपनी सामाजिकता उसके वैयक्तिक-स्वरूप का निषेध करती है। विटगेंसटाईन ने तो संवेदना की भाषा को निर्वैयक्तिक कहा है। यह ध्यान देना चाहिए कि यह निर्मित भाषा उस रचनाकार से प्रसूत होकर भी उससे स्वतंत्र होती है। यह भाषा वैयक्तिक नहीं होती- हो भी नहीं सकती। यह मुक्तिबोध के भाषा संबंधी सोच की सीमा है।

इस प्रकार, मुक्तिबोध के यहां रचनाप्रक्रिया जीवन-प्रक्रिया से जुड़ी है। रचना जीवन से अभिन्न है। इसका स्वरूप जीवन-प्रक्रिया की तरह संश्लिष्ट है। मुक्तिबोध द्वारा रचना-प्रक्रिया का विवेचन जीवन-संदर्भों में उपस्थित पूरी ज्ञान-प्रक्रिया का विवेचन है। यह अंतःकरण के आयतन का सृजन है। यह ज्ञान और अभिव्यक्ति की सीमा निर्धारण भी है। मुक्तिबोध द्वारा रचना की सीमा रेखा खीचना जीवन की सीमा-रेखा भी है।

मुक्तिबोध द्वारा किए गए रचना प्रक्रिया संबंधी विवेचन में यथार्थ का जो अमूर्तन हुआ है उसका स्पष्ट सैद्धान्तिक विवेचन उनके लेखन में उपस्थित नहीं है। अतः यह कई प्रकार के भ्रमों को जन्म देता है। यथार्थ को 'ब्रैकेट' में डालकर मुक्तिबोध ने चेतना के विज्ञान को विकसित करने का जो प्रयास किया है वह महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसके सैद्धान्तिक पक्ष का भी उन्हें विश्लेषण करना चाहिए था। यह मुक्तिबोध के रचना प्रक्रिया संबंधी विमर्श की सीमा कही जा सकती है। मनुष्य जाति का इतिहास उसके कर्म का इतिहास है। मनुष्य के कर्म की दिशा उसके अभिप्रेत अर्थ की दिशा की ओर अर्थात् संप्रेषण को पाने की दिशा में होती है। इसे कर्म का उद्देश्य कहना अधिक उचित होगा। कर्म के विविध-रूपों में ही हम स्वयं को परिभाषित कर पाते हैं। इस अर्थ में, मानव-कर्म की दिशा में परिवर्तन उसके संप्रेषणीय अर्थ में उत्पन्न बाधा के कारण होता है और संप्रेषण में बाधा आने का एक प्रमुख कारण, व्यक्ति के स्तर पर, सिद्धान्त और व्यवहार में आया अंतर है। व्यवहार भौतिक जगत की वस्तु है। यह सार्वभौमिक है, क्योंकि इसमें अतर्वैयक्तिकता की मांग सम्प्रेषणीय अर्थ में होती है। अर्थात् व्यक्ति अपने को सम्प्रेषित करने के लिए दूसरे व्यक्ति के साथ सह-अस्तित्व की स्थिति बनाता है। यह अभिप्रेत भी है, क्योंकि व्यवहार का अर्थ संवेदनात्मक कर्म से है। सामाजिक व्यवहार ज्ञान और सिद्धान्त से सम्बद्ध है। इसे मुक्तिबोध की सीमा कहा जा सकता है। और इसे मुक्तिबोध का मार्क्सवाद से प्रस्थान भी कहा जा सकता है।

साहित्य में अंतर्निहित विश्व-दृष्टि ही कई प्रकार से सभी संवेदनात्मक कर्मों का आधार है। वही सामाजिक व्यवहार भी है। इसप्रकार, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही सामाजिक-प्रक्रिया के बीच निर्मित होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि दोनों के विकास के अपने-अपने नियम हैं। अतः दोनों में एक एकात्म अपेक्षित है। यह तादात्म्य व्यक्ति के स्तर पर भी अपेक्षित है।

[1] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 88
[2] मुक्तिबोध रचनावली भाग 4 पेज 93

व्यक्ति का सिद्धान्त भी उसी सामाजिक-प्रक्रिया का अंग है जिसमें उसका व्यवहार अर्थवान बनता है। अर्थ एक सामाजिक निधि है। इसके द्वारा सामाजिकता का ही सम्प्रेषण होता है। सिद्धान्त और व्यवहार के तादात्म्य में आया अंतर सम्प्रेषण की समस्या उत्पन्न करता है। यह अभिव्यक्ति की समस्या भी है। अभिव्यक्ति की समस्या रचना में अंतर्निहित अभिप्राय के दिशा निर्धारण की समस्या भी है। अतः यहां यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि रचना की समीक्षा में इस पर भी विचार किया जाए कि वह क्यों और किसके लिए है। पूर्णतः स्थापित हो चुकी स्वांतःसुखाय रचनाएँ भी ''स्व'' की सामाजिकता की व्याख्या में उतरती जाती हैं। अतः आवश्यकता है कि इस 'स्व' के सामाजिक निर्माण की प्रक्रिया की भी व्याख्या की जाए। कहना न होगा कि इस 'स्व' का निर्माण सामाजिक संवाद के धरातल पर होता है।

यह प्रश्न आधार और अधिरचना के अंतःसंबंध से जुड़ा हुआ है। मुक्तिबोध के यहाँ यह रूप और वस्तु के विवाद के रूप में मौजूद है। वे लिखते हैं कि ''तत्त्व और रूप का प्रश्न इसीलिए हमारे सामने आता है, उसे आना चाहिए। एक चुनौती खड़ी होती है वास्तविक जीवन से; दूसरी चुनौती खड़ी होती है हमारी अभिव्यक्ति शैली की सीमाओं और शब्द-सम्पदा की अक्षमताओं में से। (इन सीमाओं के पीछे अभिरुचि की सीमा काम कर रही है) ये चुनौतियाँ बहुत बड़ी हैं, बहुत विशाल हैं, संभव है कई पीढ़ियाँ खप जाएँ। किन्तु काम तो करना ही होगा।''[1] तो क्या इसे मुक्तिबोध द्वारा विकसित कला के समाजशास्त्र के रूप में नहीं देखा जा सकता जहाँ रूप और वस्तु दोनों अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर विकसित होते दिखते हैं। यहाँ व्यक्ति कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण घटक है जो अपने सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक रूप में अपनी वर्गीय चेतना के साथ उपस्थित होकर साहित्यिक रूपों का निर्धारण करता है। वह वस्तु का भी निर्माण करता है। मुक्तिबोध लिखते हैं "संक्षेप में, तत्त्व अपना रूप लेकर उपस्थित होता है। किन्तु न यह तत्त्व स्थिर है और न यह रूप। यह हृदय में समशील तत्त्वों और अनुभवों से संयुक्त होता हुआ व्यापक अर्थमत्ता से अपने को परिपूर्ण करता जाता है।"[2] यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि रूप और वस्तु का संबंध किसी कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। यह व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया का हिस्सा है। अतः आवश्यकता है रूप और अंतर्वस्तु के अन्तःसंबंध की समझ और उसके अभिग्रहण की। इनमें से किसी एक को आधार बनाकर की गई समीक्षा एक तरफा निर्णय ही देगी। कई लेखों में तो मुक्तिबोध ने प्रश्न भी उठाए हैं-''कला के वस्तु और रूप' के संबंध में विचार करते हुए मेरा मन कुछ बातों पर रुक जाता है। पहली बात तो यह है कि क्या कारण है कि युग-विशेष में कुछ विशेष-विशेष विषयों पर ही कविता लिखी जाती है, कलाकृतियों के विषय ठहरे-ठहराए रहते हैं।''[3] मुक्तिबोध का यह प्रश्न रचनाओं के वस्तु की समानधर्मिता को लेकर है। मुक्तिबोध एक और प्रश्न करते हैं- ''काव्य के 'वस्तु और रूप' के संबंध में सोचते हुए मैं किन्हीं विशेष बातों पर रुक जाता हूँ। वस्तु का अर्थ क्या है? क्या वस्तु से हमारा अभिप्राय काव्य-विषय से है? किन्तु विषय स्वयं अपने-आपमें काव्य का विषय नहीं होता। उदाहरण के लिए, तुलसी का मानस और वाल्मीकि की रामायण, दोनों का विषय एक होते हुए भी, मेरे खयाल से, दोनों के काव्यगत वस्तु-तत्त्व अलग-अलग हैं।"[4]

कहना न होगा कि विषय और वस्तु का एक बड़ा अंतर संवेदनात्मक उद्देश्यों के आगमन के साथ ही उत्पन्न हो जाता है। रचना में अभिप्रेत के विपरीत जो कुछ भी हो जाता है उसका कारण भी यही है। कई अर्थों में यह रूप और वस्तु के द्वारा अपने भाव का सृजन है। यह 'रूप और वस्तु' द्वारा अपनी विचारधारा का, अपने अभिप्राय का सृजन तो है ही, साथ ही

[1] मुक्तिबोध रचनावली भाग 5 पेज 109
[2] वहीं
[3] वहीं, पेज 121
[4] वहीं पेज 106

साथ रचनाकार के हस्तक्षेप और उसके पीछे रचनाकार के विचारधारात्मक अभिप्राय की सीमा का निर्धारण भी है।

'रूप और वस्तु' में इसके बावजूद एक तीसरा पक्ष भी उपस्थित होता है वह है सीमांकन का क्षेत्र। वस्तु की सीमारेखा उसकी भाषा खीचती है। इस भाषाई स्वरूप का अन्वेषण-सत्यापन सामाजिक - सांस्कृतिक प्रतीकों के भाव का सृजन और उसकी समीक्षा के उपरांत ही हो सकता है। "कला के मनस्तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था आत्मसातकृत जीवन-जगत ही है। अतएव, कला के मनस्तत्त्व भी आत्मसातकृत जीवन-जगत का ही अंग है। आत्मसातकृत जीवन-जगत और बाह्य जीवन जगत में हमेशा द्वंद होता है, फिर सामंजस्य होता है।"[1]

इसप्रकार मुक्तिबोध ने कला का समाजशास्त्र तो विकसित किया ही है, कला के आधार पर कविता के समाजशास्त्र को सत्यापित कर दिखाया भी है। यह उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भ

1. मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन, 1980 भाग
2. Primitive Culture, Tylor, Edward B., ESTES & LAURIAT, 1874, page 1
3. A Contribution to the critique of political Economy, Marx, Karl, Progress Publishers Moscow, 1959, page 2

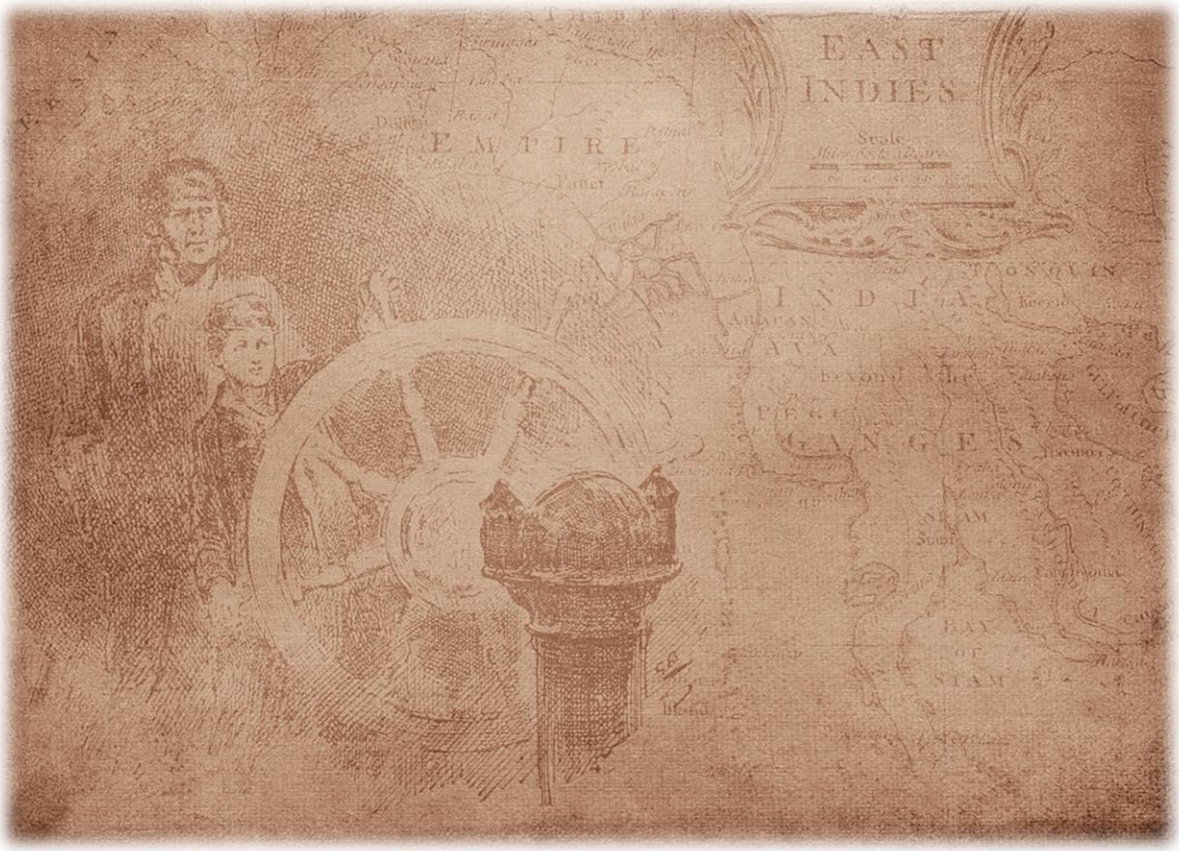

[1] भाग-5 पेज 108-109

विद्यानिवास मिश्र के मूल्य-बोध का समकालीन संदर्भ: (तुम चंदन हम पानी के विशेष संदर्भ में)

रोशन कुमार प्रसाद
पीएच.डी हिंदी
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
ईमेल- helloroshan10@gmail.com
संपर्क- 8126595934

सारांश

समकालीन सन्दर्भ में विद्यानिवास मिश्र का चिंतन हमारे परंपरागत् नैतिक मूल्यों को मात्र समझने का माध्यम ही नहीं है, अपितु मनुष्य को एक स्वच्छ जीवन जीने की प्रेरणा देने वाला विचारात्मक सूत्र भी है। दरअसल मिश्र का मूल्य-बोध प्राचीन वांङ्मय से प्रेरणा पाकर नवीन चिंतन-धारा से केवल प्रभावित ही नहीं हुआ है, बल्कि और भी अधिक विकसित हुआ है। इस रूप में वे भारतीय सांस्कृतिक चिंतनधारा के पुरोधा भी माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति व चिंतन आज विज्ञान व तकनीक के युग में क्या प्रासंगिकता रखता है अथवा मनुष्य में सहयोग व भावनात्मक संवेदना का ह्रास किस स्तर तक हो उठा है इसकी स्पष्ट झलक वउनके लेखन व चिंतन में देखने को मिलती है। मिश्र के लेखन में मात्र भारतीय संस्कृति का शास्त्रीय और लोक पक्ष ही प्रस्तुत नहीं होता, अपितु इसमें जीवन जीने की नई दृष्टि भी समाहित नज़र आती है। भाषा, साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति, दर्शन इत्यादि मानवीय संदर्भों के व्यापक दर्शन उनके निबंधों में होते रहते हैं। विद्यानिवास मिश्र के लेखन की विशेषता भी यही है; जो परंपरागत मनुष्य को आधुनिकता से व आधुनिक मनुष्य को उसकी परंपरा की जड़ से जोड़ती है।

सन् 1957 में प्रकाशित मिश्र के निबंध-संग्रह 'तुम चंदन हम पानी' पर आधारित यह शोध आलेख उनकी चिंतनधारा के माध्यम से मानवीय मूल्यों की परख व उसकी पहचान को रेखांकित करता है। साथ ही समकालीन सन्दर्भ में उनके मूल्य-बोध की प्रासंगिकता का विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

मूल्य-बोध, समकालीनता, दान-धर्म, गुटनिर्पेक्ष, आनंदवाद, सौंदर्य-बोध

शोध आलेख

जब हम मानवीय मूल्यों के परिवर्तमान स्थिति पर विचार करते हैं; तो अनायास ही हमारा ध्यान; मानव-जीवन के विकास के उस ऐतिहासिक काल-खण्ड की ओर चला जाता है; जहाँ से उसकी जय-यात्रा प्रारंभ होती है। आदिम मनुष्य द्वारा कृषि के आविष्कार किये जाने से सबसे पहला काम यह हुआ कि इस क्रांतिकारी उपलब्धि के परिणामस्वरूप मानव-मानव के मध्य परस्पर आर्थिक सहयोग की भावना का जन्म हुआ। पर क्या? मात्र आर्थिक उपादानों के सहारे जीवन को टिकाऊ बनाया जा सकता था? नहीं। अस्तु उसने आर्थिक-सहयोग के साथ-साथ परस्पर मानवीय संबंधों को सशक्त आधार देने या यों कहें कि अपने जीवन को व्यवस्थित करने के लिए कबीलों व कुनबों का निर्माण किया। कहना न होगा कि जैसे-जैसे वह सभ्यता का विकास करता गया, प्रकारांतर से उसके जीवन-स्तर में निरंतर बदलाव आता गया। वह अपनी दुर्दम जिजीविषा के बल पर आदि मानव से मानव और मानव से महामानव के रूप में अपने को स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहा। आज मनुष्य ने अपनी प्रबल इच्छा शक्ति और बौद्धिक कौशल के बल पर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के साथ-साथ ज्ञान की एक वृहत् परंपरा का विकास किया है। यह मानव की महान उपलब्धि का एक पहलू है। दूसरा पक्ष यह है कि भले ही आज उसने ज्ञान–विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण उपलब्धियाँ क्यों न प्राप्त कर ली हों, परंतु आज के इस यांत्रिक युग में कहीं-न-कहीं हमारी संवेदनाएं, मनुष्य को आपस में जोड़ने वाली परस्पर सहयोग, समन्वय एवं

परोपकार की भावनाएं निरंतर समाप्त होती जा रही हैं।

पण्डित विद्यानिवास मिश्र का निबंध साहित्य ऐसे ही मानवीय मूल्यों की पड़ताल करता है। वैसे तो मिश्र के निबंध साहित्य में विषय वैविध्य की प्रधानता है, किंतु उनकी समस्त चिंतन दृष्टि भारतीय संस्कृति की मूल मान्यताओं, हमारे आराध्यों और हमारे मांगलिक प्रतीकों को उद्घाटित करने के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं, परस्पर सहयोग की भावनाओं इत्यादि को अक्षुण्ण बनाए रखने में भी बख़ूबी रमी है। मिश्र का निबंध साहित्य मात्र भारतीय संस्कृति के लोक और शास्त्रीय पक्ष को ही उद्घाटित नहीं करता; प्रत्युत हमें जीवन जीने की नई दृष्टि भी प्रदान करता है। गौरतलब है कि मिश्र के निबंध साहित्य का जब हम अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि यह अपने में विविध संदर्भों को समेटे हुए है। भाषा, साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति, दर्शन इत्यादि मानवीय संदर्भों के व्यापक दर्शन मिश्र के निबंधों में अकसर होते रहते हैं। विद्यानिवास मिश्र के मूल्य-बोध को समकालीन संदर्भ में देखने से पूर्व यहाँ मूल्य एवं समकालीनता का परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यंत समीचीन प्रतीत होता है। अध्ययन की इसी कड़ी में वर्तमान संदर्भ में उनके चिंतन की प्रासंगिकता पर सूक्ष्मता से विचार करने का प्रयास किया जायेगा।

मूल्य का अविच्छिन्न रूप से संबंध किसी वस्तु की उपादेयता या अनुपादेयता से है। अर्थात् जब मानव अपनी सद् या असद् प्रवितियों के द्वारा किसी वस्तु की उपयोगिता या अनुपयोगिता का निर्धारण करता है, समझिये कि वही मूल्य है। वैसे तो इस शब्द का प्रयोग अर्थ-शास्त्र में सर्वाधिक होता है, किंतु दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग अधिकाधिक होने लगा है। मान, प्रतिमान, निकश इत्यादि शब्द भी इसके पर्याय के रूप में हमें देखने को मिलते हैं। इनका अर्थ भी वस्तुओं के गुण-दोष अथवा माप-परिमाप से है। प्रसिद्ध दार्शनिक पैरिंग ने "प्रत्येक वस्तु, छोटी-छोटी क्रियाएँ, सृजन, मनोविकार"[1] इत्यादि को मूल्य की कोटि में स्थान दिया है।

बोध शब्द ज्ञान के अर्थ को द्योतित करता है। साथ ही यह अनुभूति, सोच, विचार, चिंतन और विमर्श के अर्थ को भी द्योतित करता है। किसी सुंदर वस्तु को देखकर हमारा मन अनायास ही उसकी ओर आकृष्ट होता चला जाता है साथ ही स्थिति और भावानुरूप हमारे ऐंद्रिक ज्ञान के स्वरूप में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। मसलन यह कि प्रसन्न होकर हँसना, दुखी होकर रोना ये मनुष्य के परिस्थितिजन्य स्वभाव हैं यही ऐंद्रिक परिवर्तन है क्योंकि मानवीय संवेदनाओं और भावनाओं का प्रत्यक्ष संबंध हमारी इंद्रियों से होता है। प्रकृति और परिस्थिति में जब भी परिवर्तन होता है, उसका प्रभाव हमारी इंद्रियों पर अवश्य पड़ता है। मनुष्य जब किसी वस्तु या पदार्थ के गुण-धर्म और मूल्यों से प्रभावित होता है तब वह उनके प्रति आकृष्ट होता चला जाता है। परिणाम स्वरूप वह वस्तुओं या पदार्थों से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करता है और जब वह अपने को उनके साथ एकाकार कर लेता है तभी हमारी इंद्रियाँ संवेदित हो उठती हैं। मानवीय इंद्रियों के संवेदित होने की इसी अवस्था को साहित्य की भाषा में बोध कहा गया है।

आलोचना के क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली समकालीनता वह अवधारणा है, जिसको किसी एक परिभाषा के चौखटे में बांधकर नहीं रखा जा सकता। यह शब्द एक कालवाचक संज्ञा है, प्रत्यय है। समकालीन का सतही अर्थ है, एक ही समय में रहने वाला व सामान युग में रहने वाला। यह अंग्रेजी के 'कान्टेम्पोरेरी' (Contemporary) का हिंदी पर्याय है। वास्तव में 'सम' शब्द का अर्थ 'एक ही' व 'एक साथ' और 'कालीन' का अर्थ 'समय' व 'काल' है। इस प्रकार समकालीन का स्पष्ट अर्थ एक ही समय में होने व रहने वाला है। मानक हिंदी शब्दकोश के अनुसार समकालीन का अर्थ

[1] 'आधिनिक हिंदी साहित्य चिंतन में मूल्य दृष्टि का अंतरभाव: (भारतीय और पाश्चात्य साहित्य चिंतन में निहित मूल्य दृष्टि के आधार पर)', तेज इंद्रपाल कौर, पृ. -39,

है, "जो उसी काल या समय में जीवित अथवा वर्तमान रहा हो, जिसमें कुछ और लोग भी विशिष्ट रहे हों। एक ही समय में रहने वाला। जैसे महाराणा प्रताप अकबर के समकालीन थे।"[1] वस्तुतः समकालीनता के अर्थ स्वरूप व उसकी परिभाषा को लेकर विद्वानों में मतभेद देखने को मिलता है; किन्तु समकालीनता को लेकर श्री कल्याण चन्द्र का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनके अनुसार "समकालीनता में वर्तमान बोध के साथ ही अतीत और भविष्य का विवेकसम्मत बोध होता है। यह विशिष्ट वर्तमान बोध ही समकालीनता को अभिव्यक्ति देता है।"[2] इस प्रकार समकालीनता का सम्बन्ध अतीत से होते हुए भी अपने विशिष्ट मूल्यों के कारण वर्तमान से बना रहता है। विद्यानिवास मिश्र ने अपने निबंधों में सत्य-धर्म, दान-धर्म, दया-धर्म, आनंद तत्त्व एवं प्राकृतिक सौंदर्य की रक्षा पर अत्यधिक बल दिया है जो समकालीन सन्दर्भ में विलुप्त होती नैतिक मूल्यों का आधार स्तम्भ है। उपर्युक्त बिंदुओं पर विचार करते हुए मिश्र के मूल्य-बोध को समझना इस शोध आलेख का मूल प्रयोजन है।

(क) भारतीय चिंतन परंपरा में सत्य-धर्म का स्वरूप और इसके प्रति विद्यानिवास मिश्र का दृष्टिकोण

सत्य के वास्तविक रूप को समझना किसी भी भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक के लिये सहज नहीं रहा है। इसका सर्वाधिक कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु का अपना ही एक स्वरूप होता है। उदाहरण के तौर पर देखा जाए तो सत्य की वस्तुगत सत्ता को भौतिक विकासवाद , यथार्थवाद या द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के चश्मे से देखने का प्रयास यह सिद्ध करने के लिए किया गया कि समस्त जीव की व्युत्पत्ति सिर्फ और सिर्फ अनेक जैविक क्रियाओं के घात-प्रतिघात से हुई है। जीवन की वस्तु स्थिति यही है कि दो परस्पर विरोधी शक्तियों के मध्य होने वाले संघर्ष से एक तीसरी शक्ति का जन्म होता है। इस प्रकार जीवन का क्रम ऐसे ही चलता रहता है तो आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। जैन दर्शन उपर्युक्त समस्याओं का समाधान ढूँढने का प्रयास करता है। उसके अनुसार सत्य अनेक धर्मगुणयुक्त होता है। वह इस सिद्धांत पर अधिक बल देता है कि कोई भी विचार निरपेक्ष सत्य नहीं होता। हाँ, एक ही वस्तु के संबंध में दृष्टि-अवस्था, गुण आदि भेदों या परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न विचार सत्य हो सकते हैं। "अनन्तधर्मकम् वस्तु"[3]

पण्डित विद्यानिवास मिश्र अपने निबंधों के माध्यम से सत्य के विविध रूपों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। मिश्र जब सत्य के स्वरूप पर विचार करते हैं; तो उनके चिंतन का दार्शनिक पक्ष हमें दिखायी देता है। वे सत्य और असत्य को पृथक-पृथक करके देखना कोरा बौद्धिक श्रम का निरर्थक व्यय मानते हैं। वे किसी भी राष्ट्र को एक आदर्श रूप प्रदान करने के लिए ऐसे सत्य की वकालत करते हैं; जो अखण्ड हो, कर्तव्य की भावना से युक्त हो तथा मनुष्य-मनुष्य के मध्य समन्वय स्थापित करने की उसमें अपार शक्ति हो। सत्य संबंधी मान्यताओं को उनके निबंध 'अहं अनृतात् सत्यम् उपैमि' में सहज ही देखा जा सकता है; जिसमें उन्होंने भारतीय संस्कृति की ग्रहणशीलता (द्रविड़ों के पूजा विधान, निषाद की विनयशीलता तथा विजातीय सत्य) के सम्मिलित रूप को रेखांकित कर उसे 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के रूप में स्वीकार किया है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है, "सत्य एक है और खण्ड है। इसके पहलू कई हो सकते हैं। देश और काल के भेद से उन पहलुओं के कई नक्शे भी हो सकते हैं; पर सत्य अनेक नहीं हो सकता और उसके खण्ड नहीं किये जा सकते। सत्य के बारे में शुद्ध-अशुद्ध का अनुपात नहीं निकाला जा सकता। इंद्र, वायु, वरुण, अग्नि और सूर्य यदि सत्य हैं तो शिव, उमा, विष्णु और दुर्गा भी उतने ही सत्य हैं, निराकार और निरंजन भी उतने ही सत्य हैं, कम-बेशी कोई नहीं।

[1] संपादक वर्मा रामचन्द्र, मानक हिंदी कोश, पांचवा खंड, पृ.-298

[2] चन्द्र कल्याण, समकालीन कवि और काव्य, पृ.-10

[3] 'भारतीय दर्शन', सैलेशचंद्र चटोपाध्याय एवं धीरेंद्र मोहन दत्त, पृ. -112

हमारी सत्य-साधना ने यह सीखा ही नहीं सत्य का सत्य से विरोध होता है, सत्य का सत्य से खण्डन होता है, सत्य का सत्य से भेद होता है। इस लिए जब द्रविड़ों ने पूजा विधान दिया, हमने उसे सिर आँखों लिया। निषाद ने विनय दिया, हमने उसे हृदय से लगाया। हमने विजातीय सत्य को भी स्वीकार किया। किसी सत्य से इनकार नहीं किया। सत्य का पैमाना है, सत्य की खोज, सत्य को पाने की कोशिश। सत्य को कायरता का, पलायन का और वंचना का कवच नहीं पहनाया जा सकता।[1]"

इस उद्धरण में निबंधकार ने सत्य को अविभाज्य, कायरता, पलायनता एवं प्रवंचना रहित मानकर इसे कालबद्ध चेतना के साथ अंतर्भूत करके देखने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में सत्य का चाहे कोई भी रूप क्यों न हो, इसका मुख्य ध्येय मानवीय मूल्यों की रक्षा करना ही होना चाहिए। सही अर्थों में देखा जाए तो साहित्य ही वह क्षेत्र है, जो इनकी रक्षा भावात्मक और विचारात्मक दोनों ही स्तर पर भली-भांति करने का प्रयास करता है। राजनीति शायद यह नहीं कर पाती; इसलिये वह कलुषित हो जाती है। कहना न होगा कि सत्य बड़े साहस से आता है। अपना हृदय निःसंकोच भाव से किसी के समक्ष खोलकर रख देना बड़े ही साहस का काम है और यह साहस हमारी राजनीति की प्राचीन परम्परा में देखने को मिलता है। कहा जाता है कि शकुंतला-दुष्यंत-पुत्र भरत ने अपने सात पुत्रों में से किसी एक में भी राजा का गुण न पाकर दत्तक पुत्र भरद्वाज भिमन्यू को हस्तिना पुर का युवराज नियुक्त कर एक स्वच्छ लोकतंत्र की स्थापना की थी।

शीत युद्ध के दौरान जब विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया तब हमने गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाकर विश्व को एक संदेश दिया था कि गुटनिर्पेक्षता विश्व को संतुलित करती है, जबकि गुटबंदी असंतुलित। हमारी प्राचीन, किंतु स्वच्छ लोकतांत्रिक व्यवस्था को अघोषित साम्राज्यवादी शक्तियों को अपनाने का आह्वान करते हुए विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं--"तुम्हारी शक्ति, तुम्हारा वैभव, तुम्हारा अभिमान, तुम्हारा दावा झूठा है। दूसरों को आश्रित बनाकर आश्रयदाता बनाने वाली तुम्हारी सभ्यता मिथ्या है। उसे छोड़ो, सत्य को स्वीकार करो। एक-दूसरे से दुराव, एक-दूसरे से छुपाव छोड़ो। एक-दूसरे पर विश्वास करना सीखो। एक-दूसरे को सच्चा जानना सीखो।"[2]

उल्लेखनीय है कि पश्चिम के शक्तिशाली देशों ने अपने मिथ्याभिमान एवं झूठे आश्वासन से तीसरी दुनिया के देशों के प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार करने की चेष्टा की। मिश्र ने इस उद्धरण के माध्यम से ऐसे शक्तिशाली देशों द्वारा छल-छद्म की प्रवृत्ति को त्यागकर उनसे एक-दूसरे के मध्य आत्मीय संबंध कायम करने का आग्रह किया है। जैसाकि विद्वानों द्वारा उन्हें पलायनवादी करार देते हुए जीवन की परिवर्तमान स्थिति के प्रति उदासीन होने का उनपर आरोप लगाया जाता रहा है, इस सम्बन्ध में मिश्र जी का उक्त राजनीतिक चिंतन ऐसे भ्रामक धारणाओं का सटीक खण्डन करता है।

(ख) दाम्यत्, दत्त, दयध्वम् की प्रतिष्ठा और विद्यानिवास मिश्र

दाम्यत्, दत्त, दयध्वम् (इंद्रिय निग्रह, उदारता दयालुता) अपने और पराये को जोड़ने वाली प्रवृत्ति है। इसका वास्तविक अर्थ अपनेपन का दावा छोड़ना है। उदाहरणार्थ: भौतिक वस्तुओं के प्रति मोह को त्यागकर निःस्वार्थ भाव से न केवल उसे दूसरे को अर्पित कर देना है, प्रत्युत समस्त मानव-जाति के हृदय में सहिष्णुता की भावना को जागृत करना भी है। भारतीय संस्कृति में दान धर्म की प्रतिष्ठा का उत्कृष्ट उदाहरण हमें महाभारतकाल में देखने को मिलता है। इस काल में ययाति और कर्ण जैसी दान-वीर के रूप में विभूतियाँ हुईं, जिन्होंने जन कल्याणार्थ अशेष हृदय से अपना सर्वस्व

[1] मिश्र विद्यानिवास, (अहं अनृतात् सत्यम् उपैमि), 'तुम चंदन हम पानी', पृ.- 3

[2] वही, पृ.-3

अर्पित कर दिया। विद्यानिवास मिश्र भारत की इसी दान-धर्म की परंपरा को परखते हुए इसे आधुनिक संदर्भ में व्याख्याइत करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'दाम्यत्, दत्त दयध्वम्' नामक निबंध में अपने उद्गारों को इस प्रकार व्यक्त किया है- "मानव का जीवन-मंत्र दान है। दान की परिभाषा है, अपनेपन का दावा छोड़ना। जिसे अपनी मानकर ममता रखी उस वस्तु को सहज भाव से दूसरे को अर्पित कर देना, यह दान अपने और पराये को जोड़ने वाली संधि है। यह दान मानव का उसकी समस्त दुर्बलताओं से उद्धार है क्योंकि दान देकर मनुष्य एकदम बड़ा हो जाता है।"[1]

मिश्र दान-धर्म की सार्थकता तभी सिद्ध मानते हैं, जब वह अपनेपन के दावे से रहित समयानुकूल व राष्ट्रोचित हो। उदाहरण के तौर पर देवकी और वासुदेव को कंस के कारागृह से मुक्ति दिलाने व उसके अत्याचार का प्रतिकार करने हेतु तरुणों, सुहागिनों, माताओं, पिताओं के संयुक्त त्याग व बलिदान को सहज ही देखा जा सकता है। आततायी कंस के अत्याचार से मथुरा वासियों को मुक्ति दिलाना बिना उनके संयुक्त त्याग व बलिदान के असंभव था। आधुनिक संदर्भ में जब हम इसका विश्लेषण करते हैं तो ज्ञात होता है कि आज इसका संबंध निश्चित रूप से श्रम से जुड़ा हुआ है। किसी भी राष्ट्र को सशक्त बनाने के लिये उसके प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पित होना पड़ता है, तब कहीं एक विकसित राष्ट्र का निर्माण होता है। परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त भारत को वैश्विक मंच पर प्रतिष्ठित देशवासियों द्वारा श्रम-दान करके ही किया जा सकता था। मिश्र ने अपने इसी निबंध में तत्कालीन भारतवासियों से श्रम-दान का आह्वान करते हुए लिखा है, "श्रम दो, श्रम दो, श्रम दो। अपने अशेष हृदय से देश के निर्माण की ईंट एक के ऊपर एक बिठलाने के लिये अपने पसीने का गारा दो, भवन अचल हो जायेगा। पसीना मलिन होता है। पर उस पसीने का दान उस मलीनता के लिये चुनौती होता है।"[2] कहने का आशय यह है कि कोई भी परिवार, समाज व राष्ट्र अपना विकासात्मक स्वरूप तभी धारण कर सकता है, जब व्यक्ति अपने आप को उसके कल्याणार्थ मनसा, वाचा, कर्मणा प्रतिबद्ध हो जाए।

(ग) विद्यानिवास मिश्र का आनंदवादी दृष्टिकोण

पण्डित विद्यानिवास मिश्र दाम्यत्, दत्त, दयध्वम् की ही भांति आनंद तत्त्व को एक ऐसी वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसे आत्मसात करके समस्त वादों-प्रतिवादों से मुक्त होने के साथ ही एक स्वस्थ किंतु कल्याणकारी विचारधारा की स्थापना की जा सकती है। आनंदवादी विचारधारा मात्र भोगवाद को प्रश्रय नहीं देती, वह 'परांतः सुखाय' की भावना को लेकर चलने वाली शक्ति भी है। उनकी दृष्टि में आनंद वह तत्त्व है, जो व्यष्टि विशेष की नहीं वरन् समष्टि के कल्याण की बात करता हो। उनके अनुसार वह विचारधारा जो मात्र व्यष्टि की मुक्ति का समर्थन करती हो; वह खोखली है। मिश्र की दृष्टि में 'अस्तित्त्ववादी' विचारधारा उनमें से एक है। वे अस्तित्ववाद के उस सिद्धांत के प्रबल विरोधी प्रतीत होते हैं; जो ईश्वरीय सत्ता को महत्व न देकर व्यक्ति की सत्ता को केवल स्वीकार ही नहीं करता, वरन् मनुष्य जाति के विकास की सर्वोत्तम सामाजिक संस्था की अवधारणा का खंडन भी करता है। 'व्यष्टि और समष्टि की संधि' नामक निबंध में उनकी आस्थावादी और आनंदवादी दृष्टि अत्यंत मुखर हो उठी है। उन्होंने शिव को आनंद के रूप में न केवल स्वीकार किया है, वरन् आनंद रूपी ईश्वर के प्रति अपनी गहरी आस्था भी प्रकट की है। इस संदर्भ में उनके निबंध से एक उद्धरण को देखा जा सकता है "हम ईश्वर या समाज के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित करने की बात क्यों करते हैं? ईश्वर, समाज और व्यक्ति में आनंद को प्रतिष्ठित करने की बात क्यों नहीं करते? संप्रदाय से संप्रदाय का जन्म होगा, उससे अनावस्था आएगी। आनंद

[1] मिश्र विद्यानिवास, (दाम्यत्, दत्त दयध्वम्), 'तुम चन्दन हम पानी', पृ- 5

[2] वही, पृ.-5

या भूमा ऐसी स्थिति है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता फिर उसी के ऊपर क्यों न बल दिया जाए?"[1]

ध्यातव्य है कि पण्डित विद्यानिवास मिश्र की यह उक्ति आज कितनी प्रासंगिक दिखाई देती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। हमारे धार्मिक और राजनीतिक मठाधीश अपनी-अपनी विचारधारा और अपने-अपने संप्रदाय को केवल श्रेष्ठ सिद्ध करने में ही नहीं लगे हुए हैं, बल्कि इन्होंने कट्टरवाद को पल्लवित और पुष्पित करने का कार्य भी किया है।

(घ) विद्यानिवास मिश्र का सौंदर्य-बोध

मिश्र सौंदर्य और कला के पारखी माने जाते हैं। 'तुम चंदन हम पानी' निबंध संग्रह में अवर-सृष्टि और मानव-सृष्टि के सौंदर्य के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। उनके द्वारा इस रचना में कई ललित शब्दावली प्रयुक्त की गई है; जो हमारे अंतःकरण में स्थित लालित्य-तत्त्व को संस्पर्श करती हैं। यथा- प्रफुल्ल, मनोहर, सुंदर, उदात्त, सुषमा, दीप्ति, प्रीति इत्यादि।

विधाता ने जब मानव की रचना की तो उन्होंने उसे बुद्धि-विवेक प्रदान करने के साथ-साथ उसे दृढ़ निश्चयी और अदम्य साहसी भी बनाया। उसकी यही अपराजेय शक्ति समय-समय पर प्रकृति प्रदत्त समस्त उपादानों में उसे एक सौंदर्यात्मक कृति के रूप में प्रतिष्ठापित करती रही है। तमाम सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक विप्लवों या मिथकीय संदर्भ को देखें तो महाकाल द्वारा सृष्टि को जलमग्न कर देने के बावजूद भी उसकी दुर्दम जिजीविषा कभी समाप्त नहीं हुई। उसकी आत्मा पवित्र और दीप्ति की प्रखरता अक्षुण्ण बनी हुई है। यही कारण है कि आज के इस घोर निराषावादी युग में भी विद्यानिवास मिश्र को उसकी अपराजेय शक्ति पर अटूट विश्वास है। उन्होंने 'कला के पलने के पास' नामक निबंध में लिखा है, "मनुष्य की आत्मा कितनी अपराजेय होती है कि वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उपेक्षित रहकर भी अपनी प्रखरता दीप्त किए रहती है।"[2] आज के सन्दर्भ में मिश्र जी का उक्त विचार व्यक्ति को न सिर्फ आत्मबल प्रदान करता है बल्कि उसे सकारात्मक बल भी देता है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र मानवीय सौंदर्य की महत्ता को तो स्वीकार करते हैं किंतु उनकी दृष्टि में सौंदर्य के उत्कर्ष के रूप में जगदीश वर ही हैं। समस्त चराचर जगत में ईश्वरीय सत्ता सौंदर्य के रूप में विद्यमान रहती है। मनुष्य के सुख-दुख में, आशा-निराशा में, प्रत्येक वस्तु में ईश्वरीय सत्ता का अनुभव हमारा सामूहिक चेतन सदियों से करता आया है। यही इस देश की मूल भावना है। मिश्र ने सौंदर्य की एक मात्र प्रतिमूर्ति ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार कर उससे भारतीय भाव या मनोविकारों को संश्लिष्ट करते हुए लिखा है, "जगत के प्रति भाषित सौंदर्य को जगदीश वर से पृथक देखकर उसे अमंगल मानने वाले विचारकों की दृष्टि भारत की मूल संस्कृति के लिए एक अपरिचित और अनात्मीय दृष्टि है। वस्तुतः चराचर जगत के प्रत्येक अंश में मंगलमय प्रभु के अस्तित्व और उल्लास की भावना ही भारत की मूल भावना है।"[3] विद्यानिवास मिश्र ईश्वरीय सत्ता को भारतीय संस्कृति का वाहक मानते हैं जिसे हमारे सभ्यता के विकास में देखा भी जा सकता है। इसलिए वे जगदीश वर को भारतीय संस्कृति से अलग करने की कल्पना का पुरजोर खंडन करते हैं। इस रूप में वे भारतीय संस्कृति एवं सौन्दर्य को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानते हैं। सार रूप में कहा जाए तो मनुष्य के विकास में संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है, किन्तु आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में अपनी ही संस्कृति की उपेक्षा को विद्यानिवास मिश्र

[1] मिश्र, विद्यानिवास, (व्यष्टि और समष्टि की संधि), 'तुम चन्दन हम पानी', पृ.-98
[2] वही, पृ.-76
[3] वही, पृ.-79

असंगत ठहराते हैं। उनकी स्पष्ट धारणा है कि सभ्यता के विकास में जितना महत्व हमारी प्राचीन संस्कृति का है, उतना ही महत्व ईश्वरीय सत्ता का भी है।

मानव-सौंदर्य की ही भांति प्रकृति के प्रति विद्यानिवास मिश्र का अगाध प्रेम उनके निबंधों में स्थान-स्थान पर दिखायी देता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सौंदर्य के आस्वादन के लिये उन्होंने अपने अहं को त्यागने पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि लेखक विंध्य प्रदेश की सुषमा की पोर की सघनता में खो सा गया है। लेखक का प्रकृति के प्रति जो अगाध प्रेम है; वह इस बात की ओर प्रेरित करता है कि हम प्रकृति के समस्त उपादानों से प्रेम कर इनकी रक्षा कर पारिस्थितिकी तंत्र को संतुलित बनाये रखने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि यदि प्रकृति सुरक्षित रहेगी; तो मानव-सृष्टि सुरक्षित रहेगी और यदि मानव-सृष्टि सुरक्षित रहेगी तो ही हमारे जीवन-मूल्य भी सुरक्षित रहेंगे।

प्राकृतिक या कलात्मक सौंदर्यानुभूति के लिए समस्त ज्ञान और अहंकार को त्यागना पड़ता है। ईश्वर प्रदत्त उन समस्त उपादानों से एकाकार होना पड़ता है, जो हमारे अंतःकरण में चिर स्थित आनंद-तत्त्व को जागृत करती रहती हैं। सौंदर्य की साकारता तभी हो सकती है, जब हम उनके साथ तदाकार हो जाते हैं। प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य तभी संभव हो सकता है जब हममें ग्रहणशीलता, उत्कंठा के साथ-साथ हमारे व्यक्तित्व में मौनशीलता, धैर्यशीलता और विनम्रता हो। विद्यानिवास मिश्र इस संदर्भ में लिखते हैं- "जब तक अपने को ग्रहणशील और उत्कंठित बनाकर हम विजन का सौंदर्य निरखने नहीं जाते, तब तक वह सौंदर्य हमारे लिए अगोचर बना रहता है। हमारे मौन रहने पर ही वह बोल पड़ता है। हमारे ठहर जाने पर वह गतिशील हो जाता है और हमारे विनीत हो जाने पर ही वह स्फीत हो उठता है।"[1] प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति इतनी सूक्ष्म दृष्टि विद्यानिवास मिश्र जैसे कला मनोवैज्ञानिक की ही हो सकती है। मिश्र सौंदर्यानुभूति की उसी तदाकारिता की बात करते हैं; जिनका उल्लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने निबंध-संग्रह 'चिंतामणि' के प्रथम भाग के निबंध 'कविता क्या है' में किया है, मुक्तिबोध ने भी अपनी रचना 'एक साहित्यिक की डायरी' के प्रथम लेख 'तीसरा क्षण' में भी इसी तदाकारिता की बात की है। यह तदाकारिता ही ईश्वर, प्रकृति, और मनुष्य के मध्य समन्वय स्थापित करती है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि विद्यानिवास मिश्र का मूल्य-बोध आदर्श मूलक दृष्टि से परिचालित है; किंतु यह जीवन की परिवर्तमान स्थितियों-परिस्थितियों को नये रूप में व्याख्यायित भी करता है। आदर्श मूलक प्रवृत्ति, जिसमें (सत्य, दान, दया, करुणा, प्रेम) के भाव अंतर्निहित होते हैं; उनकी रक्षा पर अत्यधिक बल देने के साथ ही "धारयति इति धर्मः" सूक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय संस्कृति के भाव-पुरुष कहे जाने वाले 'राम' और 'युधिष्ठिर' को कर्तव्यनिष्ठ और सत्य-धर्म के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर वर्तमान पीढ़ी को उनके आदर्शों पर चलते रहने का संदेश भी दिया है; ताकि व्यष्टि और समष्टि द्वारा अपने राष्ट्र के कल्याणार्थ मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पित हुआ जा सके।

मिश्र के मूल्य-बोध की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि वे अखण्डतावादी दृष्टि को सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं; तभी तो उनके चिंतन में विश्वबंधुत्त्व की भावना सर्वाधिक दिखायी देती है। दरअसल विश्व की दो धुरी शक्तियाँ जब एक-दूसरे को तोल रही थीं; तब भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पण्डित नेहरू द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाये जाने को उन्होंने उचित ठहराते हुए महात्त्वाकांक्षी शक्तियों की दंभभरी प्रचेष्टाओं की कटु आलोचना की है। उनकी दृष्टि में मानव धर्म वही है; जो लोलुपता को त्यागकर परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र तथा राष्ट्र से विश्व कल्याण की भावना को

[1] मिश्र, विद्यानिवास, (कला के पलने के पास), 'तुम चन्दन हम पानी', पृ.-79

अपना सके। हमारे विचार से ऐसा व्यापक दृष्टिसंपन्न निबंधकार न तो मात्र अतीतोन्मुखी ही हो सकता है और न ही वह समकालीन चुनौतियों से घबरा ही सकता है। विद्यानिवास मिश्र मात्र अतीत या वर्तमान के विषय में ही नहीं सोचते, बल्कि अतीत से सीख लेकर भविष्य के परिणामों के विषय में भी चिंतनशील दिखाई देते हैं।

यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं कि विद्यानिवास मिश्र के लेखन का मूल्य बोध आज विलुप्त होती नैतिक मूल्यों की आधारशिला है। आधुनिकीकरण के इस दौर में, जहाँ मानवीय संवेदनाओं का पतन व वैयक्तिक स्वार्थ का चरम देखने को मिलता है, ऐसे में विद्यानिवास मिश्र के मूल्य बोध को आत्मसात करने की आवश्यकता जान पड़ती है। इतना ही नहीं, विद्यानिवास मिश्र की चिंतन दृष्टि राष्ट्रवाद के रूप में सदैव राष्ट्रीय एकता व राष्ट्र हित का ही समर्थन करती है जो वर्तमान समय में किसी भी राष्ट्र के विकास व उन्नति के लिए परम आवश्यक है। इस रूप में विद्यानिवास मिश्र का मूल्य बोध आज न सिर्फ प्रासंगिक है अपितु अत्यंत आवश्यक भी जान पड़ता है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. चन्द्र, कल्याण, 1996. समकालीन कवि और काव्य, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, उत्तर प्रदेश
2. तेज इंद्र पाल कौर, (1993), 'आधुनिक हिंदी साहित्य चिंतन में मूल्य दृष्टि का अंतरभाव: (भारतीय और पाश्चात्य साहित्य चिंतन में निहित मूल्य दृष्टि के आधार पर)', इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डी.फिल. की उपाधि हेतु प्रस्तावित शोध-प्रबंध
3. मिश्र, विद्यानिवास, 2000. तुम चंदन हम पानी, नेश्नल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण
4. मुक्तिबोध, गजाननमाधव, 2008. एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञान-पीठ, दिल्ली, आठवाँ संस्करण
5. वर्मा, रामचन्द्र (संपादक), 1993. मानक हिंदी कोश (पांचवा खंड), हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, उत्तर प्रदेश
6. शुक्ल, रामचंद्र, 2002. 'चिंता-मणि' (भाग 1), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण[1]

वादों के दायरे और कुंवर नारायण

डॉ. अनंत विजय पालीवाल
अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली में अध्यापन
ईमेल – avpaliwal25@gmail.com
फ़ोन नंबर - 7982058044

सारांश

हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही कविता को भी 'वाद' के दायरे में संकुचित करने के प्रयास हुए हैं। रचनाकारों व आलोचकों के खेमे से गुजरती कविता पर किसी न किसी वाद की मुँहर चस्पा दी जाती है। गुट निरपेक्ष रचना या रचनाकार का अस्तित्व एक संकट का विषय है। कुंवर नारायण जैसे रचनाकार भी इस संकट से गुजर चुके हैं। इन्हे भी वादों के दायरे में समेटने के तमाम प्रयास किए गए। अस्तित्ववाद से लेकर मार्क्सवादी प्रभाव तक के तमगे उन्हें दिए जा चुके हैं। इस शोध आलेख में कुंवर नारायण की कविताओं पर 'वादों' के प्रभाव को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द

साहित्य, कुँवर नारायण, रचनाकार, अस्तित्ववाद

शोध आलेख - हिन्दी कविता पर वादग्रस्त होने के आरोप नये नहीं हैं। साहित्यकारों व आलोचकों के अपने-अपने खेमे रहे हैं। यह प्रवृत्ति इस कदर हावी है कि गुट-निरपेक्ष रहकर कोई भी रचनाकार चर्चित नहीं हो सकता। हिंदी साहित्य में रचनाकारों को अक्सर उनके लिखे अनुसार इसमें बाँधने का प्रयास किया जाता रहा है। कुछ थोड़े से कवि जो इस गुटबंदी से दूर रहकर स्वतंत्र रचना को महत्व देते हैं उनमें कुँवर नारायण भी एक हैं। ऐसा नही है कि कुँवर नारायण पर वादग्रस्त होने के आरोप नहीं लगे। उनकी विभिन्न रचनाओं को भी अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद, यथार्थवाद आदि दर्शनों के दायरे में बाँधने की कोशिश की गयी है। लेकिन कुँवर नारायण के विषय मैं यह स्पष्ट है कि जहाँ वे किसी दर्शन का नकार नहीं करते वहीं उसे अपने ऊपर लादना भी उन्हें पसंद नहीं है। तीसरा सप्तक के वक्तव्य में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि -"कलाकार या वैज्ञानिक के लिये जीवन में कुछ भी अग्राह्य नहीं : उसका क्षेत्र किसी वाद या सिद्धांत विशेष का संकुचित दायरा न होकर वह संपूर्ण मानव-परिस्थिति है जो उसके लिये अनिवार्य वातावरण बनाती है और जिसे उसका जिज्ञासु स्वभाव बराबर सोचता-विचारता रहता है।"[1]

नंदकिशोर नवल जैसे कुछ आलोचकों ने कुँवर नारायण को अस्तित्ववादी कहा है मुख्यत: 'चक्रव्यूह', 'परिवेश : हम तुम' और 'आत्मजयी' की कविताओं के आधार पर। लेकिन के. सच्चिदानन्द इसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं - "मैं इससे इंकार नहीं करता कि कुँवर नारायण ने भी कई दूसरे कवियों की तरह जो पाँचवें दशक के उत्तरार्ध और छठें दशक में उभर कर सामने आए किर्केगार्द , सात्र , मार्सेल और यास्पेरस को पढ़ा होगा और अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रभाव में अस्थायी तौर पर निराशा, आशंका, स्वतंत्रता की चिंता और अनस्तित्व के विरुद्ध अस्तित्व के संघर्ष के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया होगा, तथापि स्वयं एक कवि के रूप में ऐसे वर्गीकरणों को मैं संदेह की दृष्टि से देखता रहा हूँ।"[2.]

दरअसल अस्तित्ववाद पर उस पुराने तर्कवाद का प्रभाव है जो द्वंदवाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ सम्बद्ध न होकर उसके लिये अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह विच्छिन्न इकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर सामन्तकालीन धार्मिक अंधविश्वासों का गहरा असर है। इस नज़रिये से देखा जाए तो कुँवर नारायण किसी भी तरह अस्तित्वादी नहीं ठहरते। दरअसल किसी भी लेखन के पीछे वक़्ती हालात बहुत हद तक असर डालते हैं। भारत स्वतंत्र हो चुका था लेकिन भविष्य को लेकर अभी भी कई आशंकाएँ शेष थीं। भयानक गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी से निराशा, कुंठा,आशंका का उभरना स्वाभाविक था। गांव से महानगरों की ओर पलायन, परिवार और सामाजिक संबंधों का टूटना और इससे उत्पन्न मानसिक पीड़ा के मद्देनजर लोगों का आत्महत्या तक के लिये प्रेरित हो जाना, ये कुछ ऐसी चीजें थीं जो हिंदी के 'नई कविता' के दौर में उभर कर सामने आ रही थीं जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेज़ी साहित्य में तो आत्महत्या की ओर नजर दौड़ाने वालो की एक लम्बी परम्परा है लेकिन हिन्दी के 'नई कविता' के दौर में भी इस परिपाटी को ढोने वाले कवियों की कमी नहीं है। कुँवर नारायण के समकालीन अधिकतर कवियों ने इस अस्तित्ववादी दर्शन को अपनाया। अस्तित्ववादी दर्शन में भले ही वस्तुजगत मृत हो, मानव-चेतना ही सत् हो लेकिन व्यवहार में कवि के लिये मुर्दा चीज़ें जानदार हैं और जानदार चीज़ें मुर्दा हैं।

लक्ष्मीकांत वर्मा लिखते हैं-

"आज मैं प्रेत हूँ
क्योंकि मैं अपनी मौत से नहीं मरा हूँ
मैंने की है आत्महत्या जान-बूझकर!"

गिरिजाकुमार माथुर -

"किसी ने भी
मेरी अंतिम आत्महत्या नहीं देखी|"

अशोक वाजपेयी -

"लगातार -
मैं मर रहा हूँ
मर रहा है एक – संसार|"

वहीं कुँवर नारायण "आत्मजयी' के "मृत्यु मुखात्प्रयुक्तम' में लिखते हैं -

"नचिकेता को लगा
वह प्रतिभा अभी मरी नहीं ,
न कठोर हुई,
न उसमें काल की अनन्तता व्यापी है:
उसमें अपनत्व की
एक सघन व्यथा अभी बाकी है"

यह सही है कि कुँवर नारायण के आत्मजयी में कई जगहों पर अस्तित्ववादी लक्षण दिखाई दे जाते हैं किन्तु यह पूरी रचना अस्तित्ववादी नहीं कही जा सकती। दरअसल कुँवर नारायण नयी कविता के भीतर अस्तित्ववाद की भारतीय व्याख्या में लगे हुए थे। अस्तित्ववादी नयी कविता में मृत्यु, निराशा, आक्रोश, उबकाई लिजलिजापन, दुर्गनध, वमन आदि जैसे

मनुष्य के स्थायी भाव बन गए थे। इस लिहाज स कुँवर नारायण संभवत: उस दौर के अकेले ऐसे कवि थे जिन्होंने आधुनिक अस्तित्वबोध को दर्शन, परंपरा व इतिहास में खोजने का सार्थक प्रयास किया। आत्मजयी की भूमिका में कुँवर नारायण ने यह स्वीकार किया है कि उसका धार्मिक या दार्शनिक पक्ष विशेष चिंता का विषय नहीं, बल्कि मानवीय अनुभव ज़्यादा महत्वपूर्ण है। आज का मनुष्य जिस दबाव से गुजर रहा है नचिकेता उसका प्रतीक है। दरअसल आत्मजयी काव्य का विस्तार कुछ इस प्रकार का है कि उसमें भारतीय वेदान्त के साथ अस्तित्वादी पक्ष भी जुड़े हुए लगते हैं लेकिन प्रक्रिया में दोनों ही पक्षों में अन्तर है। कहा जाए तो यह अस्तित्ववाद के बजाए अस्तित्व-बोध के ज़्यादा निकट है। उनका मनुष्य कबीर के मनुष्य के करीब है जो प्रतिक्षण संप्रदायवाद , बाह्याचार और बाहरी भेदभाव पर कठोर आघात करता रहता है। कुँवर नारायण अपनी प्रारम्भिक कविताओं में अस्तित्ववादी उपमानों से पूर्णतः मुक्त नहीं कह जा सकते जैसे इस कविता में -

समय के केंचुल सरीखा रास्ता
मारकर खाया हुआ-सा पड़ा
चारों ओर खाली नगर-पंजर...
लुंज दीवारें...
सहारे
डरी, सिकुड़ी पड़ी
कुछ परछाइयाँ। ...

तत्कालीन कविता की ऐसी परिपाटी को देखते हुए रामविलास शर्मा ने अस्तित्ववादी दर्शन में न्यूरोसिस के कुछ हल्के-फुल्के लक्षणों की पहचान की है। वे लिखते हैं - "सड़कों का उछलना-कूदना, लैम्प पोस्टों की बातें करना न्यूरोसिस को छूने वाले दिवास्वप्न मात्र हैं..... जब सड़कों का यह हाल है तब दीवारें दूसरो की बातें करें उन पर विचार करें यह वाज़िब ही है। उनके कान बहुतदिनों से हैं।"[3] उनके इस तंज में कुंवर जी की यह कविता भी शामिल थी-

मुंडेरों के कंधे हिलते हैं
झरोखे झाँकते हैं
दीवारें सुनती हैं
मेहराबें जमुहाई लेती हैं।

(अनात्मा देह : फतेहपुर सीकरी)

रामविलास शर्मा ने संभवत: यह पंक्ति व्यंग्यात्मक रूप में लिखी कि 'उनके (दीवारों) बहुत दिनों से कान हैं।' दरअसल यह कविता उन खण्डहरों का मानवीकरण मात्र नहीं है। इसमें अतीत की वे मानवीय संवेदनाएँ हैं जो आज उपेक्षित हैं। उनमें वह खामोश स्पंदन है जो अतीत को वर्तमान से जोड़ती हैं।

कुँवर नारायण ने अपनी कविताओं को लेकर किसी पक्ष या खेमे की जरूरत कभी महसूस नहीं की। यह उस दौर में बड़े जोखिम की चीज थी, जिसमें हर दूसरा कवि किसी न किसी वाद' का झंडा थामे खड़ा था। अपना स्वर ऊँचा रखने के लिये दूसरों से तेज चीखना, वेदना या संत्रास व्यक्त करने के लिये लिजलिजे और अश्लील शब्दों का चयन करना उन्हें कभी गँवारा नहीं हुआ। कुँवर नारायण की कविताएँ किसी की नीयत पर शक नहीं करती हैं लेकिन उन्हें पता है दूसरों की सोच इससे विपरीत है। इसलिये वे बार-बार गलत समझे जाने, पीड़ित किये जाने, बेदखल किये जाने के चित्र अपनी कविताओं मे ले आते हैं -

वे सब मिलकर
मेरी बहस की हत्या कर डालते हैं
ज़रूरतों के नाम पर
और पूछते हैं कि जिंदगी क्या है
जिंदगी को बदनाम कर।
(जरूरतों के नाम पर)

कोई गश्त लगा रहा है मेरी यादों में -
मैं पहरे में हूँ। (विकल्प-2)

कहीं यह भी कोई जुर्म न हो
बहुतों के मामले में
बहुतों से अलग राय रखना! (आसन्न संकट में)

झूठ या सच से नहीं
इस तरह यकीन रखने वालों के बहुमत से
डरता हूँ
आज भी! (आज भी)

इस प्रकार कुँवर नारायण के अस्तित्ववादी दर्शन के बारे में विष्णु खरे की यह पंक्तियाँ ज्यादा सटीक लगती हैं कि - "कुँवर नारायण की यह और ऐसी कविताएँ कोई काफ़्का-काम्यूनुमा छद्म नहीं है, वे दरअसल एक बर्फीला चीत्कार हैं जो चीजों को देख समझ पाने वाले बीसवीं सदी के मस्तिष्क में लगातार गूँजता रहता है।"[4]

यहाँ देखने की बात यह है कि कुँवर नारायण विचारधाराओं को अस्वीकार करते हए भी विचार पक्ष पर बल देते हैं। कुछ इसी तरह मार्क्सवाद से पूर्णत:: सहमत न होते हुए भी मार्क्सवाद की जरूरत पर बल दते हैं। क्योंकि उनका मानना है कि ऐसी अनेक विचारधाराएँ आज भी हैं जो एक देश नहीं पूरी मानव-जाति के लिये महत्व रखती हैं। मार्क्स , फ्रायड, आइन्सटीन आदि के विचारों का दायरा उनके ही देश नहीं बल्कि उनके विषयों के बाहर भी उस पूरे चिंतन में व्याप्त है जिसे हम आधुनिक कहते हैं।[5] कुँवर नारायण मार्क्स के इसी आधुनिक चिंतन के पक्षधर हैं जिसके केन्द्र में मानव-जाति है। वह उस वर्ग-व्यवस्था के खिलाफ हैं जहाँ व्यक्ति ऊँचे और नीचे पायदानों से पहचाना जाता है। वह शोषक और शोषित की पहचान भलीभांति जानते है साथ ही इस शोषण के खिलाफ तीखी बेचैनी भी ज़ाहिर करते हैं -

कया हम अभी भी
उन्हीं नीचाइयों में खड़े हैं
जहाँ ऊँचाइयों का असर
पड़ता है?

रूसी क्रांति के इतने दशक बाद और भारत में चले तमाम आंदोलनों के बावजूद भी ऊँचाइयों का नियम बदस्तूर जारी है। समाज में मौजूद स्तरीकरण ही हर आदमी की नियति को तय करता है। 'लापता आदमी का हुलिया' कविता में कुँवर नारायण इस मुल्क के एक आदमी की वर्तमान स्थिति को इसी संदर्भ में बयाँ करते हैं -

रंग गेहूँआ, ढंग खेतिहर
उसके माथे पर चोट का निशान
उम्र पूछो तो हज़ार साल से कुछ ज़्यादा बतलाता है।
देखने में पागल-सा लगता-है नहीं
कई बार ऊँचाइयों से गिरकर टूट चुका है
इसलिये देखने पर जुड़ा हुआ लगेगा
हिन्दुस्तान के नक्शे की तरह।

(लापता का हुलिया)

दरअसल यह ऐसी सत्ता है जो कबीलाई संस्कृति से आज तक सिर्फ अपने मुखौटे बदलती आई है। वर्ग-संघर्ष का यह इतिहास आदिम युग से वर्तमान तक आज भी स्थायी है। सत्ता की ऐसी ही नुमाइश को वे इतिहास से वर्तमान तक लेकर आते हैं -

अब किसी बात को लेकर चिंता
करना व्यर्थ है
वे आ गए हैं।
उन्होंने फिर एक बार हमें जीत लिया है।
उनके जत्थे अब
लूट की खुली छूट के लिये बेताब
हैं।

(बर्बरों का आगमन)

इस तरह मार्क्सवादी चेतना से प्रभावित कुँवर नारायण की कई अन्य कविताएँ भी हैं। लेकिन उनका मानना है कि लेखक विचारधाराओं से तटस्थ रहते हुए भी उनसे विचारतत्व ग्रहण कर सकता है, ताकि उसकी मेधा में विचार स्वातंत्र्य की जगह हमेशा सुरक्षित रहे। 'परिवेश : हम तुम' की भूमिका में वे कहते हैं -"मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिये कुछ सामाजिक नियमों को मानना अनिवार्य हो जाता है, लेकिन ये नियम चाहे समाज के हों, चाहे राज्य के, इस सीमा तक मान्यनहीं हो सकते कि व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक हो जायें।"[6] व्यक्ति स्वतंत्रता को लेकर मार्क्स की यह खीझ भी प्रसिद्ध है कि, मुश्किल तो यह है कि मैं मार्क्सवादी नहीं, मार्क्स हूँ।

इस प्रकार कुँवर नारायण 'मार्क्सवाद' को पूरी तरह खारिज कभी नहीं करते बल्कि साहित्य में उसकी जबरदस्त उपस्थिति को वे स्वीकार करते हैं क्योंकि यह भी सत्य है कि जितनी आलोचना मार्क्सवाद ने आकृष्ट की उतनी शायद किसी और विचारधारा ने नहीं की। अन्तत: कुँवर नारायण की वाम-विचारधारा के संबंध में 'विष्णु खरे' की यह पंक्तियाँ ज़्यादा सटीक लगती हैं "वे वामपंथी नहीं है लेकिन यदि अन्याय, अत्याचार, बर्बरता , तानाशाही तथा फासीवादी मानसिकता के विरुद्ध बिना गुर्राए, रेंके या छुँछआए खड़ा रहना प्रतिबद्धता है तो कुँवर नारायण की पक्षधरता असंदिग्ध है।"[7]

'तीसरा सप्तक' में प्रकाशित वक्तव्य में कुँवर नारायण ने सन् 1959 में ही कहा था कि कविता मेरे लिए कोई भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है। सम्भवत: इसलिये कुँवर नारायण की कविताएँ चीख-पुकार से दूर यथार्थ को उसकी संवेदना के साथ प्रस्तुत करती हैं। उनके यहाँ यथार्थ केवल वो नहीं जो नजरों के समक्ष है या जो स्वयं भोगा हुआ है। बल्कि उनका मानना है कि "कविता यथार्थ को नज़दीक से देखती मगर दूर

की सोचती है। वह एक बारीक मगर ज़रूरी फर्क करती है जीवन-यथार्थ और जीवन-सत्य के बीच।... एक कवि में अगर दूर तक सोच सकने की ताकत नहीं है तो उसकी कविता या तो यथार्थ की सतह को खरोंचकर रह जाएगी, या किसो भी आदर्श से चिपककर।"[8] कविता में यह दूर तक सोच सकने की ताकत केवल इस पर निर्भर नहीं करती कि कवि अपने चारों ओर की जिंदगी का कितना सही-सही चित्रण करता है बल्कि इस पर कि वह अपने बाह्य और आन्तरिक यथार्थ का कितना संशिलष्ट रूप हमें दे पाता है। साधारण शब्दों में कहें तो कविता यथार्थपरक होते हुए भी अत्यंत आत्मीय और निजी भी हो सकती है जैसे निराला की सरोज-स्मृति। आत्मीयता या निजता यथार्थवाद का एक हिस्सा हो सकते हैं किंतु आवश्यक शर्त नहीं। यहाँ यथार्थ को लेकर कवियों के अपने नजरिये भी देखे जा सकते हैं जहाँ अज्ञेय कहते हैं कि 'जितना तुम्हारा सच है, उतना ही कहो' वहीं कुँवर नारायण कहते हैं कि -

क्या वह हाथ
जो लिख रहा है
उतना ही है
जितना दिख रहा?
या उसके पीछे एक और हाथ भी है
उसे लिखने के लिये बाध्य करता हुआ?

(सतहें)

कुल मिलाकर नयी कविता के यथार्थ ने जहाँ शिल्प की अभिजात्यता को तोड़ा वहीं कविता में संज्ञाएँ भी 'आमजन' के बीच से ही ली जाने लगीं। सर्वेश्वर, नागार्जुन, धूमिल और रघुवीर सहाय ने इसे और ज़्यादा सावधानी से निभाया। "हरचरना', "मुसद्दीलाल" या "रामदास' जैसे चरित्र रघुवीर की कविता में बराबर आए। कुँवर नारायण की कविता में भी ऐसे चरित्र हमसे टकराते हैं, जैसे 'सम्मदीन', 'रहमत अली शाह', 'ढोढ़ूँ भाई' आदि। दरअसल यह नई कविता का यथार्थ है जिसके देखने के चश्मे अलग हैं। उसमें अतीत का विरोध नहीं बल्कि उससे संवाद है, तर्क है। उनका यह संवाद, यह तर्क उन सभी वादों, विचारधाराओं से भी है जिन्होंने अतीत से लेकर वर्तमान तक मनुष्यता को युद्ध और उन्माद दिये हैं। सभ्यताएँ तब भी थीं, आज भी हैं, पतन तब भी हुआ था और आज भी हो रहा है। ऐसे मैं नचिकेता के माध्यम से कवि केवल इतना ही वरदान चाहता है -

यह दुनिया- यह भविष्य
तुमको सादर वापस
मिल सके अगर तो
एक दृष्टि चाहिये
जीवन बच सके
अंधेरा हो जाने, से- बस।

दरअसल इन स्थापित वादों , दर्शनों के बीच और उनसे इतर भी कुँवर नारायण का अपना रचना संसार है जो केवल मनुष्य पर शुरु होता है और लगातार उसी के साथ चलता रहता है। उनके लिये यह समाज, इसमें होने वाले युद्ध, सत्ता की दौड़, मारकाट, हिंसा, सांप्रदायिकता इन सभी के बाद जो अंतिम हद है, वह है घर। यह किसी भी लक्ष्य की अंतिम हद है, किसी भी जीत का अंतिम प्रमाण। इस परिप्रेक्ष्य में कुँवर नारायण पूरी मनुष्यता के लिये यही बयान दर्ज करना चाहते हैं कि-

घर रहेंगे, हमी उनमैं न रह पाएँगे

समय होगा, हम अचानक बीत जाएँगे।

संदर्भ

1) मिश्र, यतीन्द्र(सं), कुँवर नारायण उपस्थिति-2, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2002, पृ. 424.

2) मिश्र, यतीन्द्र(सं), 'कुँवर नारायण उपस्थिति-2', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2002, पृ.377.

3) शर्मा, रामविलास , नई कविता और अस्तित्ववाद , राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2012, पृ. 22-23.

4) खरे, विष्णु, 'मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो', आलोचना की पहली किताब, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम सं- 1983, पृ. 84.

5) श्रीवास्तव, परमानंद, 'समकालीन हिंदी आलोचना' , "आधुनिक समय-रचनात्मकता", कुँवर नारायण, साहित्य अकादेमी, पृ. 178.

6) नारायण, कुँवर, भूमिका- परिवेश : हम तुम, वाणी प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2006, पृ. 07.

7) खरे, विष्णु, 'मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो', आलोचना की पहली किताब, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम सं- 1983, पृ. 91.

8) नारायण, कुँवर, 'सामाजिक यथार्थ और कविता का आत्मसंघर्ष: कुछ नोट्स', समकालीन हिंदी आलोचना, संपादक- परमानंद श्रीवास्तव, साहित्य अकादेमी, पृ. 179.

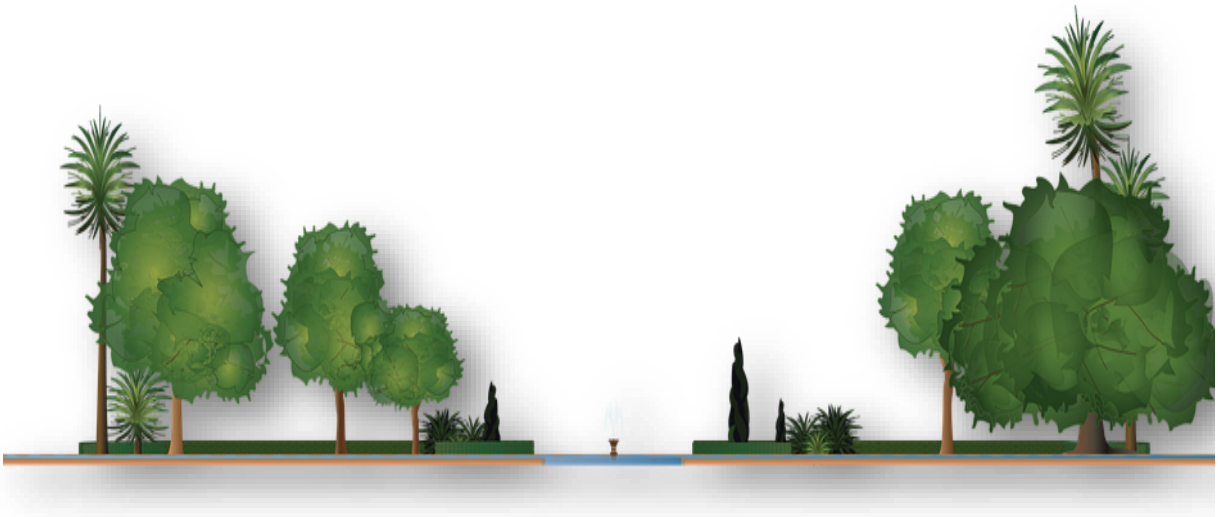

वर्तमान बेरोजगारी का नया कलेवर और अन्वेषण उपन्यास की प्रासंगिकता

पूजा मदान(पीएच.डी. शोधार्थी)
प्रो. आलोक गुप्त (शोध निर्देशक)
हिन्दी अध्ययन केंद्र
गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय
मो. 7428524687
ईमेल- poojamadan91@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध आलेख बेरोजगारी पर केन्द्रित है। बेरोजगारी जिससे आज का हर युवा जूझ रहा है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद भी युवाओं को वह मुकाम नहीं मिल रहा जिसके वे हकदार है। समाज और शासन व्यवस्था से उनका संघर्ष निरंतर जारी है। बेरोजगारी की पीड़ा एक ओर उनके भविष्य को गर्त में धकेल रही है तो दूसरी तरफ उनके स्वाभिमान पर भी प्रहार कर रही है। शैक्षिक संस्थानों से लेकर रोजगार कार्यालयों तक में भ्रष्टाचार के विषाणु इस कदर बढ़ गए हैं कि आम व्यक्ति कठिन परिश्रम के बावजूद भी असफल है। यह आलेख बेरोजगारी से उत्पन्न युवाओं की आंतरिक और बाह्य प्रकृति दोनों को उद्घाटित करता है।

बीज शब्द

बेरोजगारी, स्वाभिमान, शिक्षा, व्यवस्था, भ्रष्टाचार और हिंसा।

शोध आलेख

"एक बात बताओं, हमारे जो इतने साल बर्बाद हुए, उसे कौन वापस करेगा? इन वर्षों में हमने जिंदगी नहीं जाना। हमने नहीं जाना कि सुख क्या होता है? हमने नहीं जाना सुकून क्या है। उस समय को फिर से कोई वापस देगा? वे दिन जब हम अपने आदमी होने को सबसे ज्यादा शिद्दत से महसूस कर सकते थे। लोगों के सामने उसे सिद्ध कर सकते थे- वे बेमतलब के बीत गए। वह वक्त हमें फिर मिल सकता है? यदि ब्रह्मा या यमराज जो भी हों,-कहे हमारी उम्र दस वर्ष बढ़ गयी तो भी बात बन नहीं सकती। हमारे खराब हुए यौवन के वर्ष हैं, दान दिए वर्ष तब के होंगे जब कोई मृत्यु का इंतजार करता है, जिंदगी का नहीं।"[1]

'अन्वेषण' उपन्यास में कही यह बात आज के प्रत्येक युवा मन के भीतर लगातार कौंध रही है। चाहे वह तीस की उम्र पार कर चुका कोई युवक हो या अट्ठाइस की दहलीज पर खड़ी अपने सौन्दर्य को पीछे छोड़ती एक लड़की। गाँव की पगडंडियों को पार कर पक्की सड़क पर चलने का जो अदम्य साहस इस वर्ग ने दिखाया है तथा अपने पुरखों द्वारा किये संघर्ष को सम्मान में परिवर्तित करने का जो संकल्प इन्होंने लिया है क्या वह सब देखते ही देखते धराशायी हो जायेगा? क्या पितृसत्तात्मकता को चुनौती देकर उच्च शिक्षा संस्थानों तक पहुंची लड़कियां घर की देहरी में फिर से कैद हो जाएंगी? दिन-रात प्रतिरोध को उकेरती उनकी धारदार कलम वक्त की मार से अवरुद्ध हो जाएगी? क्या उनके सुनहरे सपने किसी भयंकर दिवास्वप्न में तब्दील होकर रह जाएंगे? इस तरह के हजारों प्रश्न है जिनसे आज का युवा वर्ग निरंतर जूझ रहा है। लगातार बढ़ रही बेरोजगारी की दर और आए दिन सरकार द्वारा निजीकरण को महत्त्व देना साफ-साफ बतला रहा है कि वर्तमान युवा वर्ग का भविष्य कहाँ तक सुरक्षित है। बेरोजगारी की यह पीड़ा न सिर्फ युवा वर्ग में आत्मविश्वास की कमी को बढ़ा रही है अपितु पारिवारिक रिश्तों से भी उन्हें कोसों दूर करती जा रही है। रोज खत्म होती मानवीय संवेदनाएँ इस बात की गवाही स्पष्ट रूप से देती प्रतीत हो रही है। युवाओं के नष्ट होते कैरियर को लेकर युवा लेखक गंगासहाय मीणा

अपने एक लेख में लिखते हैं- "युवा भारत संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। एक तरफ शिक्षित व प्रशिक्षित युवाओं की संख्या में तेजी से इजाफा हो रहा है, वहीं दूसरी तरफ बेरोजगारी की दर भी बढ़ रही है। हर नया आंकड़ा बढ़ती बेरोजगारी की दास्तां बयान करता है। एनएसओ की ताजा रिपोर्ट बता रही है कि जनवरी से मार्च 2019 की तिमाही में शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारी की दर में इजाफा हुआ है।"[2]

बेरोजगारी की इसी तलख सच्चाई को उजागर करता एक अनूठा उपन्यास है 'अन्वेषण'। तद्भव के संपादक अखिलेश द्वारा सन् 1992 में रचित यह उपन्यास बेहद प्रासंगिक है। उपन्यास आदि से अंत तक भारतीय युवाओं के खत्म होते कैरियर की बात सिरे से उठाता है। जिसकी कथा के केंद्र में एक ऐसा व्यक्ति (नायक) है जो उच्च शिक्षित है किन्तु नौकरी न मिलने के कारण घोर निराशाजनक स्थिति में है। एक तरह से यह व्यक्ति(नायक) समस्त बेरोजगार नवयुवकों का प्रतीक मॉडल भी है। दिन-रात अपनी असफलताओं और निराशाओं से जूझता वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष करते हुए आगे बढ़ता है। उपन्यास का फ्लैप भी नायक की इसी अंतहीन जिजीविषा की ओर संकेत करता है- "सहज मानवीय उर्जा से भरा इसका नायक एक चरित्र नहीं, हमारे समय की आत्मा की मुक्ति की छटपटाहट का प्रतीक है। उसमें खून की वही सुर्खी है, जो रोज-रोज अपमान, निराशा और असफलता के थपेड़ों से काली होने के बावजूद, सतत संघर्षों के महासमर में मुँह चुराकर जड़ता की चुप्पी में प्रवेश नहीं करती, बल्कि अँधेरी दुनिया की भयावह छायाओं में रहते हुए भी उस उजाले का अन्वेषण करती रहती है, जो वर्तमान बर्बर और आत्महीन समाज में लगातार गायब होती जा रही है।"[3]

उपन्यास की शुरुआत ही कथानायक की बढ़ती उम्र और बढ़ती बेरोजगारी के साथ होती है। उम्र के साथ बढ़ती बेरोजगारी न सिर्फ उसे मानसिक रूप से प्रताड़ित करती है अपितु शारीरिक रूप से भी वह खुद को कमजोर महसूस करता है। नायक द्वारा कहा गया यह वाक्य **'मैं जिन्दगी के उन्तीसवें साल में हूँ या मैं मृत्यु के उन्तीसवें साल में हूँ।'**[4] हमारे समय का सबसे त्रासदपूर्ण वाक्य है। जीवन में कुछ न कर पाने के कारण उसके मन में निरंतर छटपटाहट होती रहती है। नौकरी के अभाव में वह न तो खुद सुख की अनुभूति कर पाता है और न ही अपने माता-पिता को कोई सुख दे पाता है। वह माँ के लिए रंग-बिरंगी साड़ी नहीं ला सकता और न ही पिता के लिए कोई कीमती घड़ी। इतने वर्षों बाद मिली पूर्व प्रेमिका विनीता को मैंगो जूस तक नहीं पिला सकता। यहाँ तक कि मकान-मालिक का किराया भी समय पर नहीं चुका पाता। एक तरह से वह जीवन के हर क्षेत्र में खुद को असमर्थ महसूस करता है। इस संदर्भ में हरे प्रकाश उपाध्याय लिखते हैं-"कथाकार अखिलेश का पहला उपन्यास अन्वेषण दरअसल भयावह बेरोजगारी और कैरियरवाद के बीच व्यवस्था से जूझते उस संघर्ष और सरोकार की तलाश की कोशिश है, जो कहीं दीप्त तो अपनी आभा के साथ है मगर उसके लापता हो जाने का खतरा सामने पेश है।"[5]

यह हमारे समाज का एक क्रूरतम सच है कि जिसके पास नौकरी है लोगों की नजरें सबसे पहले उसी पर पड़ती है उसी के ठाठ-बाट के सब दीवाने हुए जाते हैं जबकि वहीं एक बेरोजगार व्यक्ति घोर परिश्रम करने के बावजूद भी खुद को उस पायदान पर खड़ा हुआ नहीं पाता। उसका दिमागी विवेक एकदम शून्य हो जाता है परिणामस्वरूप वह खुद को समाज से परे कर लेता है। कुछ ऐसी ही हालत कथा के नेरेटर की भी है। नौकरी न मिलने के कारण गाँव या आस-पास के लोगों की बातें उसे कील की भांति चूभती है। वह समाज की नजरों से बचकर कहीं छिपना या दूर भाग जाना चाहता है। जब भी कोई उससे उसकी नौकरी के बारे में पूछता है तो वह स्वयं को युद्ध में हारे हुए सिपाही की भांति पाता है। जिसके घाव में हो रहे दर्द का अंदाजा लगा पाना बेहद कठिन है। चाय पर दोस्तों के सामने वह खुद पर लोगों द्वारा की जाने वाली मारक टिपण्णी को बताते हुए कहता है- "आजकल क्या कर रहे हो ?" यह सवाल मेरे लिए सबसे ज्यादा हिंसक, क्रूर और

दैत्यकर था। जब भी कोई मुझसे पूछता, मैं लहूलुहान और कुचला हुआ हो जाता।"[6]

असफलता के इस पुल पर खड़े हुए कई बार वह आत्महत्या करने की भी सोचता है लेकिन पीछे मुड़ जब वह अपने दोस्तों को देखता तो उसे महसूस होता है कि बेरोजगारी के इस रणक्षेत्र में वह अकेला नहीं है बल्कि उसके दोस्त भी हाथों में ज्ञानरूपी तलवार लिए वर्षों से प्रतीक्षारत है। चाय के मध्य बातचीत में मुईद (दोस्त) देवेन्द्र की आत्महत्या का जिक्र छेड़ते हुए कहता है- "पिछले साल, नवम्बर में देवेन्द्र ने आत्महत्या कर ली।"....राखी में बहन नहीं आई तो वह बहन के घर राखी बँधाने खाली हाथ गया था। बहन ने राखी बाँध दी और कहा, तुम हमारी हँसी क्यों उड़वाते हो? वह दरअसल उसी क्षण मर गया था लेकिन उसने आत्महत्या रास्ते में की। हालाँकि बहन कोई अकेली वजह नहीं थी। बहन की तरह बहुत लोगों ने उसे मारा था। वह बहुत बार मरा था लेकिन आत्महत्या उसने रास्ते में की।"[7] अखिलेश ने उपन्यास में नायक तथा उसके दोस्तों के माध्यम से आज के युवा समाज की दिन-ब-दिन खराब होती मन:स्थिति और बढ़ती आत्महत्याओं की ओर भी संकेत किया है।

बेरोजगारी व्यक्ति को समाज की नजरों में ही शर्मिंदा नहीं करती बल्कि वह उसके प्रेम को पाने में भी बाधक बनती है। बेरोजगार युवक के सामने विवाह एक बड़ी समस्या है। जीवन के संघर्ष में पढ़ते-पढ़ते वह उम्र के उस पड़ाव पर पहुँच जाता है जहाँ 'नौकरी' और 'विवाह' दोनों ही व्यक्ति की जरूरत है। चूंकि उपन्यास का नायक एक मध्यवर्गीय पात्र है ऐसे में उसके लिए सरकारी नौकरी अलादीन के जादुई चिराग से कम नहीं है क्योंकि यह चिराग ही उसके प्रेमविवाह तक पहुँचने का शीर्षतम साधन है। प्रस्तुत उपन्यास में नायक का प्रेम विनीता है। वह उसे पाना चाहता है। उसे पाने का केवल एक ही आधार है और वह है 'नौकरी'| वह नौकरी पाना चाहता है क्योंकि उसे पता है कि यदि नौकरी नहीं मिली तो विनीता भी नहीं मिलेगी। प्रेम को पाने के लिए वह (कथानायक) अपनी पढ़ाई के दौरान ही नौकरी के फार्म भरता रहता है ताकि नौकरी प्राप्त करके विनीता से जल्द से जल्द शादी कर सके, लेकिन नौकरी पाना उतना आसान नहीं है। अपनी इसी आत्मपीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए वह कहता है- "मेरा एम.ए का रिजल्ट निकल आया। मैं नौकरी को पाना चाहता था क्योंकि मैं विनीता को पाना चाहता था। मैं चाहता था कोई नौकरी कर उससे शादी कर लूँ। लेकिन नौकरी खफा थी।"[8] नौकरी न मिलने के साथ प्रेम न मिलने की जिस दुखद त्रासदी का चित्रण उपन्यासकार ने किया है वह कहीं न कहीं हमारे तथाकथित समाज की दोहरी मानसिकता का परिचय देती है। शिक्षित युवाओं में बढ़ रही इस बेरोजगारी को लेकर डॉ. परमेश्वर सिंह अपनी पुस्तक 'भारतीय कृषि' में लिखते हैं कि- "इस समय अधिकांश पढ़े-लिखे युवा रोजगार की तलाश में इधर-उधर भटकते रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार देश की विभिन्न शिक्षण संस्थाओं से प्रतिवर्ष 7 लाख के लगभग छात्र अपनी शिक्षा समाप्त करके निकलते हैं और इसमें से सिर्फ आधे लोग ही रोजगार प्राप्त कर पाते हैं। इस प्रकार शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी निरन्तर बढ़ती जा रही है। एक गैर सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार इस समय देश में लगभग एक करोड़ से भी अधिक शिक्षित लोग बेरोजगार है। देश में तकनीकी अथवा औद्योगिक शिक्षा की कमी, के कारण भी शिक्षित बेरोजगारी तेजी से बढ़ रही है।"[9]

लेखक ने नायक के माध्यम से दिखाया है कि किस प्रकार एक बेरोजगार व्यक्ति खुद को समाज के सामने, परिवार तथा प्रेमिका के सामने असहज महसूस करता है। किस प्रकार बेरोजगारी की बढ़ती लकीरें उससे उसका आत्मबल और स्वाभिमान छीनती जाती है। जीवन के हर क्षेत्र में वह खुद को भीड़ से घिरे हुए नहीं बल्कि एकदम अकेला कमजोर पाता है जिसके अच्छे-बुरे की खबर तक लेने वाला कोई साथी मौजूद नहीं होता। यदि कुछ साथ होती है तो वह रेगिस्तान की तरह दूर-दूर तक पसरी बेरोजगारी जिसकी रेतीली हवाएं नायक को निरंतर सूखाती रहती है। ऐसी स्थिति में वह अपने

पुराने दिनों को याद करते हुए सोचता है कि पहले वह अपने दोस्तों के बीच कितना मशहूर था- "एक वक्त था कि मेरे दोस्तों ने मेरे बारे में मशहूर किया था कि मैं जीवन के किसी भी इलाके में प्रवेश करूँ, सफलता कदम चूमेगी। सचमुच, मेरे मित्रों का दावा था कि मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा लेखक बन सकता हूँ? मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा अफसर बन सकता हूँ। मैं चाहूँ तो बड़ा स्मगलर बन सकता हूँ। मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा अभिनेता बन सकता हूँ। मैं जो भी चाहूँ, बन सकता हूँ।"[10] आज जिस तरह से समाज में बेरोजगारी की बाढ़ आई हुई है उसका सीधा जुड़ाव भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी से ही है। बड़ी-बड़ी संस्थाएं घूस के दम पर ही फल-फूल रही है। जितनी तेजी से विकास की गति बढ़ रही है उससे कहीं अधिक तेज गति से प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार के बीज पनप रहे हैं। लेखक ने कथानायक के पिता के माध्यम से भ्रष्टाचार एवं बढ़ती घूसप्रवृति को दिखाया है। बेटे के नौकरी न लगने पर एक पिता की मज़बूरी और शासनतंत्र के प्रति उनका विरोधी रवैया साफ तौर पर देखा जा सकता है- "आजकल भ्रष्टाचार है, बेईमानी है। बिना पैसा-कौड़ी के कोई काम होता नहीं...तो ये जो सत्ताइस हजार हैं, इनसे अगर कोई नौकरी मिल जाए तो बात करो ...|"[11] बेरोजगार बेटे के हाथ में रूपये थमाते हुए पिता का यह वाक्य जितना संवेदनशील है उतना ही व्यवस्था पर प्रहारक भी। उपन्यासकार द्वारा उठाया गया यह प्रसंग आज उतना ही ज्वलंत है जितना की पहले था। वर्तमान व्यवस्था अपने जिस कुत्सित एजेंडे के चलते युवाओं के भविष्य को लील रही है उसका भीतरी ढाँचा अत्यंत भ्रष्ट, हिंसक, क्रूर और अमानवीय है जिसमें बदलाव की आवयश्कता है वरना वह दिन दूर नहीं जिस दिन संपूर्ण भारत अंधकारमय हो जायेगा।

इस प्रकार आदि से अंत तक बेरोजगारी की भयावहता को प्रदर्शित करता यह उपन्यास अपने समय का बेहद महत्त्वपूर्ण आख्यान है जो कभी न खत्म होने वाली बेरोजगारी की भयावहता के साथ-साथ भ्रष्ट तंत्र पर भी तीव्र प्रहारक के रूप में खड़ा होता है। साथ ही औपन्यासिक नायक के जरिये देश के हर उस युवक-युवती की बात भी सिरे से उठाता है जिनके वर्तमान और भविष्य पर बेरोजगारी का संकट मंडरा रहा है। इस दृष्टि से यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि अन्वेषण आज के आदमी के भीतर दबे हुए प्रश्नों एवं दबी हुई चेतना की मुखर अभिव्यक्ति का सशक्त रूप है।

संदर्भ सूची:

1. अखिलेश, *'अन्वेषण'*, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-1992 पृष्ठ संख्या-96
2. (patrika. com/c/46222762, epaper, बुधवार, 27नवम्बर 2019)
3. अखिलेश, *'अन्वेषण'*, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-1992, फ्लैप
4. वही, पृष्ठ संख्या-10
5. वही, पृष्ठ संख्या-277
6. वही, पृष्ठ संख्या-85
7. वही, पृष्ठ संख्या-97
8. वही, पृष्ठ संख्या-27
9. डॉ. सिंह, परमेश्वर, '*भारतीय कृषि*,' कैलविन पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण-2015, पृष्ठ संख्या-102
10. अखिलेश, *'अन्वेषण'*, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-1992 पृष्ठ संख्या-13
11. वही, पृष्ठ संख्या-104

मन के किमियागार रचनाकार दोस्तोवस्की और मुक्तिबोध....

डॉ. भारती शुक्ला
हवाबाग कॉलेज, जबलपुर, मध्य प्रदेश
ईमेल: bhartivts@gmail.com
मोबाईल: 9407851719

सारांश

फ्योदोर दोस्तोवस्की से मुक्तिबोध की गहरी मित्रता है दोनों के बीच सदी के अंतराल के बाद भी मुक्तिबोध की कहानियों को पढ़कर यह बात समझी जा सकती है। इंसान को परत दर परत खोलना और उसके साथ हाथ पकड़कर चलते हुए ये लेखक जीवन की प्रतिकूलताओं से जूझते हुए भी सपने-बुनना नहीं छोड़ते। टुकड़े-टुकड़े जिंदगी को एक कुशल कारीगर की तरह संवेदनाओं के धागों सेतुरपाई करते हुए जोड़ते चलते हैं जिसमें जीवन रमा हुआ है। कहानियों में मनुष्य और उसका जीवन इस तरह बहता महसूस होता है कि पाठक उस बहाव में स्तब्ध, कौतूहल से भरा, अपने आप से बात करता, बहता चला जाता है। ये कहानियां जीवन के ठोस अनुभवों की कहानियां हैं जिसके केंद्र में मनुष्य है।

इन लेखकों ने अपने समय की अंर्तकथा को गहन और विस्तृत फलक पर समझा/देखा और अभिव्यक्त किया। तमाम विवादों, टांग खीचने की ईष्याओं के बीच आर्थिक कष्टों के बीच, प्रतिद्वंद्विता के कटु अनुभवों के बीच भी दोस्तोवस्की ने अपनी रचनात्मक सफलता के शिखर को पाया। मुक्तिबोध को जीते जी अपनी विकट प्रतिभा को सम्मान देने वाली न तो साहित्यिक दुनिया मिली, न बौद्धिक दुनिया। 'पिस गया दो पाटों के बीच ऐसी ट्रेजिडी है नीच' कहने वाले इस अदभुत रचनाकार ने फासीवादी चेहरा भी देखा पूंजीवाद की विद्रुपता भी देखी और बौद्धिकों का दोगलापन भी...।

इन दोनो लेखकों की कुछ कहानियों जैसे दोस्तोवस्की की दिल का कमजोर,एक अटपटी घटना, एक थी विनीता और मुक्तिबोध की विपात्र,जिंदगी की कतरन, क्लाड ईथरली को इस आलेख का आधार बनाया है।

मुक्तिबोध मनुष्य के गहनतम गुहालोक से उसके अंतरंग भाव के सूक्ष्म तारों को बुनकर जिस तरह साक्षात खड़ा कर देते हैं उसे पढ़ते हुए हमेशा दोस्तोवस्की याद आते हैं मन के कहीं बहुत गहरे तार इन दोनो सर्जकों को जोड़ते हैं।

बीज शब्द

हिरास, गुहालौक, अन्तश्चेतना, औपनिवेशिक मानस, आक्रांत, आत्मतंत्री, निर्वासन, निःसंग, तिरस्कृत, जार शाही, आत्मदमन, विद्रूप स्वप्न चित्र।

शोध आलेख

दोस्तोवस्की एवं मुक्तिबोध की कहानियां आत्मकथात्मक हैं जैसे खुद की खुद से बोल रहे हों, परंतु सही मायने में, जैसे 'ग्लोब' पर खड़े होकर पूरी दुनिया को देखते हैं जहां से पूरी दुनिया उनके साथ और वो पूरी दुनिया के साथ चल पड़ते हैं। 'मुक्तिबोध गहरे अंतर्द्वंद और तीव्र सामाजिक अनुभूति के कवि हैं। मुक्तिबोध गोत्र हीन व्यक्ति हैं हिंदी में उनका कोई पूर्वज नहीं खोजा जा सकता है। उनके पूर्वज टॉलस्टाय, दोस्तोवस्की, गोर्की इत्यादि थे।'

मुक्तिबोध ने जीवन के संत्रासों से भागने की कोशिश नहीं की, दुखों में डूबे नहीं बल्कि उनके सामने खड़े हुए ये अनुभूतियां उनकी रचनात्मकता का अभिन्न हिस्सा बन और उनकी विकट अभिव्यक्तियों में कड़वी दवा की तरह शामिल हुई। 'आजकल संत्रास का दावा बहुत किया जा रहा है अगर मुक्तिबोध का एक चौथाई तनाव भी कोई झेलता तो उनसे आधी उम्र में मर जाता और बिना कुछ किए ही मर जाता।'

जारशाही का दमन झेलते तमाम प्रतिकूलताओं के बाद दोस्तोवस्की को जीवन काल में ही गौरवमय उदात्त मुकाम हासिल हुआ। रूस के साथ पूरी दुनिया ने उनका अभिवादन किया, किंतु मुक्तिबोध सत्ता, फासीवाद एवं समकालीनों की उपेक्षा का, षड्यंत्र का और छल का शिकार हुए, उन्हें उनकी मृत्यु के बाद मूल्यांकित किया गया। इसलिए जरूरी है कि दुनिया के फलक पर मुक्तिबोध नाम के तारे को अब उसकी सही जगह पर रखा जाए। सामाजिक असंगतियों और प्रतिकूलताओं से अभिन्नतः समय को पढ़ते हुए,उस समय की विकटताओं ने उन चरित्रों को गढ़ा जो आज भी हमारे इर्द-गिर्द मौजूद हैं। सृजन के उद्भट मानवीय क्षणों के रोमांच से ये सर्जक गुजरते हैं। इनका विश्वास है कि मानव मन मूलतः विद्रोही है और उसकी आत्मा मुक्ति के लिए निरंतर छटपटाती है उसे समझौतों से बेहतर नष्ट हो जाना लगता है।

इनकी कहानियों में नफासत ओढ़े कमीनगी से भरे चरित्र, झूठ और पाखंड से ढंकी आत्मछबियां, अपने-आप से दूर भागते और भीड़ में अपने-आपको ढूंढ़ते, पहचान पाने/बनाने के संघर्ष से गुजरते, समझौतों को नकारते, कृतज्ञताओं को ढोते, अभिजात्यपन ओढ़ नुकीले नाखूनों से रिश्तों को कोंचते, मौका परस्त लोग निराशाओं के स्याह तालाब के किनारे बैठे प्यार को, जीवन को, आल्हाद को जीते लोग, आत्माभिमानी स्त्रियां, असुरक्षाओं से घिरे भयभीत लोगों का गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। समाज के दोगलेपन, पाखंडपूर्ण आचरण की त्रासदी को बिना किसी परायेपन के अपने कंधों पर ढोते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि मुक्ति अकेले में अकेले को नहीं मिलती। यातना के रास्ते ही मनुष्य अकल्पित प्राप्त और करिश्माई तक पहुंचता है मनुष्य ऐसा प्राणी है जो हर हाल में जीने का आदी हो जाता है मेरे विचार से यह मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा है।'

पतनशील जीवन मूल्यों और मनुष्य की गरिमा को खोते समय के साक्षी हैं ये लेखक।साक्षी तो एक समय के बहुत से लोग होते हैं पर उसकी रग-रग से वाकिफ उसके खिलाफ खड़े होने वाले ये कलाकार, मानव आत्मा के जासूस बन अवचेतन के बीहड़ जंगलों के गुहा लोक में एक चित्तता और आल्हाद के साथ दाखिल होते हैं।

उनका जीवन और साहित्य दो अलग पटल नहीं है जो जी रहे थे वही लिख रहे थे। निजताओं को समग्रता में और समग्रता को निजता में समेटे ये रचनाकार लगातार लड़ते हैं। हर रचना अगली लड़ाई को बयां कर रही होती है उदासी और निराशाओं से गुजरते हैं, परंतु जिंदगी को पूरी तल्लीनता, से पूरी प्रखरता से व्यक्त करते हैं। गहरी उदासी को समेटे जिंदगी की तमाम बेचैनियों की गवाह इन रचनाओं को पढ़ते हुए सिर पर जैसे घन पड़ते हैं। एकांतिक अंधेरे में डूब से जाते हैं परंतु मन की परतों की यह सघन पड़ताल आतंकित नहीं, सजग कर देती है जीवन सत्यों के प्रति। 'एक घनघोर बारिश से टकराती हुई सुबह का गीला सन्नाटा उनके जीवन की शून्यता को बढ़ाता है। गली में दौड़ता लड़का वह गली में भाग रहा है मानो हजारों आदमी उसके पीछे लगे हों, भाले लेकर, वरछियां लेकर वह हांफ रहा है। मानो लड़ते हुए हार रहा हो, वह पीछे देखता है उसका पीछा करने वाला कोई भी तो नहीं है, पर ऐसा कौन था जो उसका पीछा कर रहा था। लगातार पीछा कर रहा था? देखता हूं हजारों प्रश्न लाल बर्रों से उसके हृदय के अंधकार मार्ग पर वेग के कारण सूं-सूं करते हुए उसका पीछा कर रहे हैं। उसको व्याकुल कर देते हैं और वह निस्सहाय उसमें घिर जाता है और निकल नहीं पाता।'

इस तरह आक्रामक स्वप्न चित्रों की दीर्घ ऋंखला मुक्तिबोध की अंतश्चेतना का अभिन्न हिस्सा है, जहां से व्याकुल संवेगों से भरे चरित्र आकार लेते हैं। जिंदगी की कतरनों को समेटते हुए यही निसंग व्याकुलता दोस्तोवस्की के वास्या और अर्कादी (कहानी दिल का कमजोर) मैं भी दिखाई देती है अवलोकन की गहरी दीर्घ प्रक्रिया दोनों लेखकों में अंतरभुक्त है। भावनाओं के अंतर्द्वंद को उन्होंने हमेशा एक (कन्फेशन) आत्म स्वीकृति की तरह लिखा। 'वे चमकीले

कमरों से बचते थे, भीड़ से वे जल्द से जल्द भाग निकलना चाहते थे अपने तंबाकू की गंध, किताब और कागजों से भरे कमरे में पहुंचने के लिए अकेले-अकेला होने के लिए।'

दोस्तोवस्की वंचितों के प्रति गहरी विनम्रता अनुभव करते हैं, वंचितों पर लिखते हुए जितनी उदासी अनुभव करते हैं उतना ही खौलता हुआ मस्तिष्क और रोता हुआ मन उनके अंदर हलचल मचाए रखता। वे निरंतर उन दो दुनियाओं के बीच संघर्ष करते हैं, जो उनका परम आंतरिक है, जो अतार्किक है, जो संवेदनाओं, पीड़ाओं और प्यार से भरा हुआ है, जो उनकी आत्मा का घेरा है, जहाँ तर्क नहीं भावानुभूतियों का सघन लोक है। दूसरी ओर बाहरी दुनिया जो बोझिल तर्क-कुतर्क, कार्य- कारण, नफे-नुकसान पर टिकी हुई है। वहाँ वे असहज हो जाते हैं। तीव्र आत्मसंघर्ष के क्षणों से गुजरते हुए मानवीय संपूर्णता को स्पर्श करते हैं।

इस तरह दोनों रचनाकार अपने कालखंड के विशेष प्रतिनिधि हैं। दोस्तोवस्की अंतर्मन की घनी दृष्टि की पैनी प्रतिभा रखते हैं और मुक्तिबोध विचारधारात्मक सरोकारों के साथ मानस पटल पर उतरने वाली संवेदना और बौद्धिक संज्ञान के संश्लिष्ट रचनाधर्मी चिंतक हैं।

दोस्तोवस्की रूस की जार शाही के दौर में लेखकों, बुद्धिजीवियों की भूमिका को लेकर गोष्ठियों में विचार रखते थे। निकोलस प्रथम के राज्यारोहण के साथ ही उसने दो स्तरों पर खुफिया आयोग का गठन किया। प्रथम किसानों (गुलामों) की समस्याओं को समझने के लिए दूसरा बुद्धिजीवियों पर नजर रखने के लिए खुफिया संगठन बनाया। दोस्तोवस्की को एक गोष्ठी में पढ़े गए पत्र के आधार पर गिरफ्तार किया गया। इस गोष्ठी में उनसे पूछा गया कि यदि दासों के पास अपनी मुक्ति के लिए विद्रोह के अलावा कोई विकल्प नहीं हो तो उन्हें क्या करना चाहिए? तब उन्हें विद्रोह करना पड़ेगा, दोस्तोवस्की का यह स्पष्ट मत था। इसी निर्भीकता के लिए 12 अप्रैल 1949 को उन्हें गिरफ्तार किया गया।'

दोस्तोवस्की का अमानवीय यातनाओं का सफर साइबेरिया तक चला। बस मृत्युदंड से यह सजा कठोर सश्रम कारावास में बदल दी गई इस बात की खुशी थी। इन कठिन दिनों में भी दोस्तोवस्की लगातार लिखते रहे। नई कहानियां, नए उपन्यासों की आधार भूमिका यहां तैयार होती रही। 'मृत्युदंड दिए जाने के 5 मिनट पूर्व भी फ्योदोर सोच रहे थे यह 5 मिनट व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए उससे अधिक से अधिक ग्रहण करना चाहिए अनादि, अनंत, आलोक में लीन होने से पहले उसकी सारी सात्विकता का आनंद जी लेना चाहिए।'

यह एक सर्जक का अप्रतिम आनंद लोक था जब उसकी आयु महज 27 वर्ष थी। एक लेखक की डायरी में वह लिखते हैं क्या आप जानते हैं मृत्यु दंड का क्या मतलब होता है? जिन्हें छूता हुआ उनके बगल से नहीं गुजरा वह इसे नहीं समझ सकते। मृत्यु दंड से मुक्ति यानी जीवन.. जिसे दोस्तोवस्की हर पल जीना चाहते थे। साइबेरिया की ओर जाते हुए वो अपने भाई को पत्र लिखते हैं मेरे भाई मैं निराश नहीं हूं जीवन हर कहीं जीवन है जीवन हमारे अंदर है हमारे बाहर नहीं, वहां भी मैं मनुष्य के बीच मनुष्य की तरह रहूंगा और हमेशा रहूंगा किसी भी परिस्थिति में कमजोर नहीं पड़ना, गिर नहीं पड़ना, जीवन का सही अर्थ यही है। यह बात पुनः रेखांकित करने योग्य मुझे लगी।

मृत्यु को इतने करीब से देखने के बाद कठोर कारावास के बंदी के रूप में जाता यह नौजवान फ्योदोर दोस्तोवस्की मनुष्य की नब्ज पकड़े बिना उसे पढ़ लेने वाला गहन संवेदनशील रचनाकार कैसे बना यह समझा जा सकता है। यही कारण है कि जीवन के प्रति इतने उत्कट प्यार से भरे हुए जुनूनी चरित्र दोस्तोवस्की गढ़ पाए। वो जैसे अबोध भाव बोध से तार्किक दुनिया की अनंतता को भेदने का प्रयास करते हैं और सफल भी होते हैं उनके उपन्यासों, कहानियों के कुछ पात्र

असामान्य नजर आते हैं परंतु यह असमान्यता इस कदर मानवीय है, इस कदर इमानदारी से भरी हुई है कि हमारा सामाजिक/दुनियादारी से भरा मानस निरुत्तर हो जाता है। इस महारथ के साथ दोस्तोवस्की उतनी ही सहजता से मनुष्य के अंतर्मन में घुसकर अनिर्वचनीय अनुभव क्षण और अनापेक्षित रहस्य खोज लाते हैं।

वहीं मुक्तिबोध प्रकृति की विराटता और विज्ञान की घुसपैठ को स्वीकारते हुए मनुष्य तक पहुंचते हैं वे दुनियादार आदमी की सामाजिकता की शल्यक्रिया करते हैं और उसके मानस की अनचीन्हीं अशोध्य अनुभूतियों और क्षणों से एकाकार होते हैं उनके चरित्र हमारे अगल बगल में बैठे लोग और हम ही हैं परंतु हम अपने अंतर्मन के उस गुहा लोक की कभी कल्पना नहीं कर पाते, इन गहन अनुभूतियों को व्यक्त करने में जब पारंपरिक भाषिक संरचना और तकनीकी साथ नहीं देती तब फेंटेसी के गूढ़ गहन माध्यम से जीवन के सहज अनुभवों को संवेदनात्मक स्पर्शों के साथ व्यक्त करते हैं। 'कोई भी प्रतीक तब तक भावोत्तेजना पैदा करता है जब तक उसकी जड़ें सामाजिक अनुभवों की धरती में समाई रहती है। मात्र व्यक्तिगत धरातल पर तो हजारों प्रतीक खड़े किए जा सकते हैं। मुक्तिबोध की फैंटेसी की जड़ें धरती में धंसी हैं उनके बिम्ब और प्रतीक स्वप्नलोक से नहीं जिंदगी की त्रासदियों से आए हैं। 'मेरे दिमाग में संवेदनाओं और भावों के अजीब रास्ते गलियां और पगडंडियां एक दूसरे से मिलती है फिर समानांतर चलने लगती है फिर एक-दूसरे की ओर दौड़ पड़ती हुई परस्पर काटती हुई भिन्न दिशाओं की ओर निकल जाती है ख्याल जब बहुत तेज हो जाते हैं तो वह वेदनाओं का रूप धारण कर लेते हैं।'

मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया तथा चिंतन धारा का मुख्य आधार प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध की सामाजिक समस्या का फलक रहा है।'

इस युद्ध में भारत को जबरदस्ती झौंका गया। इन युद्धों का असली चरित्र उनके साम्राज्यवादी हित थे जिसमें भारत को कुबेर के खजाने की तरह इस्तेमाल किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध से उपजे, छलावे, शक्ति संपन्नों के विद्रुप चेहरे तथा उस समय के आर्थिक-सामाजिक हालात के बीच फंसा संवेदनशील मनुष्य।

मुक्तिबोध, भारत के पूरे मुक्तिसंग्राम को क्रांति की तरह जी रहे थे और उसी तरह उसमें शामिल थे। क्रांति जो आमूलचूल बदलती है गुलाम दिलो-दिमाग से मुक्त देश का संघर्ष और स्वप्न, जिसके केंद्र में मनुष्य की गरिमा और उसकी मुक्ति थी यह मालिकों के बदलने के लिए किया गया संघर्ष नहीं था, बल्कि पूरे व्यक्ति, चरित्र और समाज-चरित्र के रूपांतरण का सपना था, जो क्रांतिकारी नौजवानों ने देखा था परन्तु आजादी के तत्काल बाद किसानों, मजदूरों, उत्पीड़ितों का जिस तरह से दमन किया गया, घनघोर व्यक्तिवादी पूंजीवादी चरित्र ने पूरे देश को जकड़ लिया, वहां से तैयार हुई असुरक्षित, खंडित चरित्र, अवसरवादी समझौतों की शर्त पर जीवन जीने की अपरिहार्य शर्त से भरे मनुष्यों की भीड़...। अपने सुख साधन जुटाने, सफल जीवन जीने चमकीले पूंजीवाद (चांद का मुंह टेढ़ा) की आकर्षक दुनिया में फंसे मध्यम वर्ग की प्रचंड वैयक्तिकता निजता के साथ कदम मिलाने में मुक्तिबोध अयोग्य थे। यह अयोग्यता ऐसे तमाम संवेदनशील लोगों के जीवन की शर्त की तरह थी, मुक्तिबोध के अधिकांश समकालीन रचनाकार इस समझौते से भरी दुनिया में शामिल हो गए थे, परंतु मुक्तिबोध 'हिंदुस्तान के एक कोने में बैठा हुआ मैं एक साधारण ईमानदार मनुष्य उक्त वास्तविकता से बेचैन हो उठा हूं। मैं कभी अपनी टूटी-फूटी गृहस्थी के सामान को देखने लगता हूं अपने फटेहाल बच्चों की सूरत की ओर देखने लगता हूं। दिन भर की चिंता में घुलने वाली अपनी स्त्री की ओर देखकर करुणा से भर उठता हूं और कभी अपने स्वदेश के प्रति कर्तव्य मार्ग पर चलने के लिए स्वयं के बलिदान की बात सोचने लगता हूं... जी हां,

शायलॉक ने बेसोनियों से सिर्फ एक पौंड गरम-गरम जीवित देह मांस मांगा था लेकिन आजादी के बाद 1947 से 1960-61 के आज के हिंदुस्तानी शायलॉक तो पूरी की पूरी देह मांग रहे हैं।'

मुक्तिबोध बेगाने समय के सबसे अबोध तीव्र संवेगों से भरे और संवेदनशील लेखक हैं उन्होंने गला दबाए जाने की घुटन को महसूस किया था। अयोग्य व्यापारिक बौद्धिकों के बीच, तंत्र के बीच यह अजनबीयत में खोया रचनाकार था।मुक्तिबोध आजादी के बाद निर्मित हुए मध्यमवर्ग, निम्न मध्यवर्ग की स्वप्न हीनता को सब कुछ सहन कर जीने की बाध्यता भरी चुप के बीच, मर्मान्तक व्याकुलता के साथ उपस्थित थे परंतु यह चुप्पी पलायन कारी चुप नहीं थी बल्कि एक अनोखी दृढ़ और स्थाई कोमलता भरी चुप्पी थी जो कभी नहीं मुरझाती। विचारधारात्मक संवेदनात्मक ठोस अभिव्यक्ति का अखंड मौन था जो व्यवस्था के विरुद्ध और समाज के उत्पीड़तों के साथ था।'

दोस्तोवस्की की कहानी दिल का कमजोर दो मित्रों की गहरी मित्रता की काव्यात्मक शृंखला है जो शुरू से अंत तक आल्हाद और उदासी से भरी हुई है एक मित्र की तरंगे दूसरे तक बिना कहे पहुंच रही हैं। 65 पृष्ठों की यह कहानी पढ़ते समय मन चाहता रहता है कहानी खत्म ना हो। वास्या और आर्कादि निम्न मध्यम वर्ग के चरित्र हैं कठोर परिश्रम करके जीवन यापन करने वाले दो युवा चरित्र हैं उनकी पूंजी सिर्फ उन का श्रम है । लीजा के प्रति वास्या का प्रेम उसे जीवन की अनोखी अनचीन्ही अनुभूति में डूबा देता है यह प्रेम इतना गहरा और एकांतिक है कि वास्या उसके खोने की कल्पना मात्र से डर जाता है। वास्या के अंदर की ईमानदारी, उसकी निर्मलता जितनी प्रेम के प्रति समर्पित है उससे थोड़ा भी कम महत्व उसके लिए उसके काम का नहीं है एक ओर प्रेम है दूसरी ओर कृतज्ञता, दोनों के खो जाने के भय से आक्रांत है वास्या। दरअसल यह उसकी मासूमियत भरी सरलता है, उसकी पवित्रता है, जो उसे हर संबंध को पूरे सौन्दर्य, कौतूहल और समूचे पन के साथ जीने और पाने का आनंद देती है।यह वही नेकनियति है जो उसे हर हाल में रिश्तों के प्रति पूर्ण समर्पण रखने के लिए बाध्य करती है यह कृतज्ञता ही ब्रह्मांड की समूची रचनात्मक ऊर्जा से उसे जोड़ती है वास्या दोस्तोवस्की का युवा अंतर्मन है जब वे मारिया के प्रति एकनिष्ठ प्रेम में पड़ जाते हैं ।

ये कहानी मनुष्य का सूक्ष्म मनोविज्ञान है; जब हम अपने-आप से दूर अपने- आप के खिलाफ आत्मघात और आत्म दमन में पड़े अपने-आप को नष्ट कर रहे होते हैं तब अपने आपसे अपनी पहचान/मुलाकात सबसे दुष्कर हो जाती है।ये कहानी ईमानदार मध्यवर्गीय आदमी की कृतज्ञता को व्यक्त करती दीर्घ कविता है जिसमें टूट कर जीने की इच्छा भी है परिस्थितियों के साथ संघर्ष की अदम्य जिजीविषा भी है बिना शर्त मित्रता का सौंदर्य है और है जीवन का संगीत। उदासी में डुबाने वाली कहानी, जीने का कोई आदर्शवादी फंडा नहीं बताती। जो घट रहा है उसे मनोभावों की तीव्रता, संवेगों से स्पर्श करती है बस।

मुक्तिबोध द्वारा लिखित 'विपात्र' को वैसे तो एक दीर्घ कहानी कहा जाता है परन्तु यह 'एक लघु उपन्यास या एक लंबी कहानी या डायरी का एक अंश या लंबा रम्य गद्य या चौंकाने वाला एक विशेष प्रयोग कुछ भी संज्ञा इसे दी जा सकती है, पर इन सबमें से विशेष है, यह कथा कृति जिसका प्रत्येक अंश अपने आप में परिपूर्ण और इतना जीवंत है कि पढ़ना आरंभ करें तो पूरी पढ़ने का मन हो और कहीं भी छोड़ें तो लगे कि एक पूर्ण रचना पढ़ने का सुख मिला। 'क्योंकि मैं कविता/कहानी की जड़ें तात्कालिक जिंदगी में उसमें रचे-बसे इंसानों में खोज रहा था।'

विपात्र सरल जिंदगियों के तल्ख अनुभवों से भरा आख्यान है। मैं अनगढ़ और खुरदुरा हूं। मुक्तिबोध का यह खुरदुरापन उनकी कहानियों, कविताओं की ऊर्जा है, जहां से यह तय होता है कि कवि समाज के किस पक्ष के साथ खड़ा

है। मैं बचपन से मानस विश्लेषण को अपना विषय बनाता रहा हूं। यह मानस विश्लेषण विपात्र की आधार भूमि है। क्लाड ईथरली कहानी अपराध बोध को अलग-अलग पहलुओं से परखती है। समझौतों और बेचारगी के बीच मनुष्य का, मनुष्य की तरह दिखाई देते रहने का पाखंड, भद्र समाज में अपने आपको जीवित रखने के प्रयासों की ऊहापोह से भरे मानव मन को मुक्तिबोध विपात्र में विस्तार देते हैं और मनुष्य के सामाजिक अंर्तविरोधों, कमीनगी से भरी आत्म स्वीकृतियों, जीवन जीने की बाध्यताओं से निर्मित समझौतों के आदर्शवादी मुलम्मों को परत-दर-परत आवेग भरी फेंटेसी के जरिए खोलते हैं... सब ओर सघन-आत्मीय नीला एकांत फैला हुआ है और उसके अंधेरे नीले में फूटे-टूटे आंगन में खिली हुई रातरानी महक रही है और उस अहाते में जो पीली धुंध भरी खिड़की है, उसमें से मैं सड़क पर झांक कर देखता हूं कि बात क्या है?

यह झांक कर देखना किसी दीवार के आरपार देखना नहीं है, बल्कि मध्य वर्ग के मन की परतों के उस ओर झांकना है। 'यह दृश्य मेरे अंतःकरण में संस्कारशील गरीबी की सारी वेदना, कष्ट, ममता, भावावेश, आलिंगन-चुंबन, निस्सहायता और कठोर निर्मम आत्मनियंत्रण के मानव चित्रों के साथ जुड़ा हुआ है। दिल फाड़ देने वाले रोमांस, कदम-कदम पर नैतिक प्रश्नों के सींग उठाने वाली जीवन परिस्थितियां, बेतहाशा आंसू, भद्दे लगने वाले आंसू और उन्हें थामकर रखने वाली जबरदस्त डांट, दिल के भीतर बैठा हुआ एक चाबुकबाज हेडमास्टर जो उच्छश्रृंखल प्रवृत्तियों को मुर्गा बनाकर खड़ा कर देता है। इन सबसे मिलकर मध्यवर्ग का जीवन बना है।

जिंदगी की यंत्रणाओं को चेतन-अचेतन ढोते लोगों के जीवन में मुक्ति का ख्याल भी मन के तहखाने में दब जाता है। दुनिया के अनुकूल अभिनय करते हुए गुलामी की सीमाओं में ही मुक्ति को अपचयित कर जीने के रास्ते निकालते हैं। स्थिति भेद और स्वभाव भेद के अनुसार पूंछ हिलाने की अलग-अलग बोलियां हैं। मध्य वर्ग की तटस्थता भरी चुप भी उसे किसी एक तरफ खड़ा करती ही है। चुप्पी की भी अपनी भाषा है, जो गुलामी का बदसूरत रूप है इसके बाद पैदा हुई रिक्तता, अपने मनुष्य होने की पुष्टि जरूर करती है।

रचनाकार अपनी निजता को विस्तार देते हुए एक नवीन रूप स्थापना एक नूतन व्यक्ति प्रतिष्ठा की टोह में निकल पड़ता है अपार आकाश के बीच सुदीर्घ फैली पृथ्वी के वृहद वक्ष पर। 'जीवन की प्रवाहमान दुर्दम आकांक्षा से प्रेरित यह मानवमन उत्कट हो पड़ता है। तन्मय हो जाता है, आत्म विस्मृत हो जाता है। अपने ही सृजन के, अपने ही नाश के प्रेम के आवेशमय अत्युच्च बिन्दु पर यह जड़ चेतन का युद्ध हमारे सारे आध्यात्म का मूल आधार है।'

आजादी के बाद संवेदनशील रचनाकार एक अलग संकट को अनुभव कर रहा था। घर में ,व्यक्ति के मन प्राण में। दूसरी ओर महाजनी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता की अराजकता के दबाव में नामी-गिरामी लोग इनकम टैक्स चोरी करते हैं। नौकरशाह रिश्वतखोरी करता है, व्यापारी शोषण और व्यभिचार करते हैं और सत्ता में बैठा नेता-मंत्री जनता को धोखा देने का षड्यंत्र रचता है। देश के अंदर गहराते सांस्कृतिक, आर्थिक, बौद्धिक खोखलेपन को मुक्तिबोध वैयक्तिक सीमा में नहीं देखते, बल्कि साम्राज्यवादी हितों के बढ़ते वर्चस्व के नीचे औपनिवेशिक दिमागों की घुटनाटेक कार्यवाहियों और नियत के संकटों के रूप में देख/समझ रहे थे।

विपात्र ऐसे ही वैचारिक संकट/संघर्ष से गुजरते मनुष्यों के आत्मसंवाद की कहानी है, जो अपने अंदर चल रही दुविधाओं, आत्मालोचनाओं और ग्लानि से निरंतर गुजरता है, यही कारण है कि बार-बार स्याह अंधेरे में डूबते मन को अगले ही क्षण दिए की टिमटिमाती लौ दिखाई देने लगती है, पूरी कहानी में। विपात्र बुद्धिजीवियों के आत्म केन्द्रित हस्तक्षेपों, उनके आत्ममुग्ध एकालापों, अंर्तविरोधों, उनके काइयांपन, अवसरवादी चरित्र की घटिया राजनीति की क्षुब्धता

से भरी कहानी है। अपने डरपोक, स्वार्थी चरित्र में ढके समाज को बदलने के लिजलिजे शब्दाडंबर में डूबे ये वर्ग छद्म सामुदायिकता, सैर सपाटा और तफरी में जीवन की पूर्णता को पा लेता है। अंदर से खुदबुदाते समाज में रहकर भी एक अत्यंत तीव्र निस्संगता और अजनबीपन महसूस करता है। ये महफिलें जो शाम पांच बजे से लेकर रात के बारह-एक बजे तक चलती रहतीं, उस अभाव का परिणाम थीं, जिसे अकेलापन कहते हैं। अपने को

'एक अटपटी घटना' कहानी नौकरशाही की ऐसे ही गुलाम दिमागों की कहानी है। गुलामी की नब्ज को दोस्तोवस्की ने बचपन में ही पकड़ लिया था। 'उन्हें प्रताड़ित करना, आदेश देना बंद करो, वे अपनी पीठ सीधी करेंगे और संवेदनशील मनुष्य हो जायेंगे, जो अपनी गहराइयों में वे हैं।' दोस्तोवस्की मनुष्य के अंर्तमन की यातनाओं के ख्याल से आक्रांत थे।

यह कहानी अभिजात्य वर्ग के तीन उच्चाधिकारियों के छोटे से समारोह से शुरू होती है। दो अधिकारी साफ तौर से यह स्वीकार करते हैं कि वे मानवीयता निभा नहीं पायेंगे, किन्तु ईवान इल्यीच मानवीयता को निभाने का दावा करता है। रईसों के विद्यालय में उसने शिक्षा पाई थी और 'बेशक वहां से थोड़ा ही ज्ञान प्राप्त किया था, फिर भी उसने नौकरी में सफलता प्राप्त कर ली और जनरल के ओहदे तक पहुंच गया था। मेरी दृष्टि में मानवीयता ही मुख्य हैं, यह याद रखते हुए अपने मातहतों के प्रति मानवीयता कि वे भी इंसान हैं। मानवीयता से ही सब कुछ की रक्षा होगी और सब कुछ ठीक हो जायेगा।' मानवीयता यानि मानव प्रेम।

जारशाही से आजाद रूस, शिक्षित वर्ग में ऊंचे पदों पर पहुंचने की होड़ लगी है। आभिजात्यपन और नौकरशाही की दौड़ में जीत गये, अभी-अभी बने जनरल ईवान इल्यीच आसमान में उड़ने की पींगे भरता नौजवान, अपनी वाह-वाही, प्रशंसा उसे ऊर्जा से भर देती और अपनी मंजिल तक न पहुंच पाने की जरा सी भी नाकामयाबी उसे व्यर्थता बोध से भर देती। यानि पद, पैसा, प्रतिष्ठा उसकी धमनियों में रक्त संचार पैदा करते और बढ़ाते। छद्म लोकहितवादी बुर्जुआ वर्ग के ये चरित्र दरअसल दुनिया कचरित्र दरअसल दुनिया को अपनी शर्तों पर बेहतर बनाने के मनोकूल सपनों में डूबे, समाज में बिखरे मिलते हैं। इस अंत तक पहुंचने के पूर्व निम्न मध्यमवर्गीय परिवार के आर्थिक, सांस्कृतिक, मानसिक भूगोल से गुजरना बहुत रोचक किन्तु उदासी से भरा है।

दरअसल यह कहानी व्यवस्था और जन (आम आदमी) के बीच की कहानी है। एक अपमानित कर रहा है, एक जो हो रहा है, जिसके पीछे खड़ा है साम्राज्यवादी स्याह पहाड़ जो सबको धकेल रहा है। जिसके नीचे गुलामी सा जीवन जीते लोगों की अपार भीड़ है। उस भीड़ के करुण पक्ष की कहानी कहने वाले रचनाकार हैं दोस्तोवस्की और मुक्तिबोध। मानव की अवमानना को निरूपित करने के लिए दोस्तोवस्की मानव आत्मा में वह गहनताएँ व्यक्त करता है, जिनकी कल्पना भयानक है। उसके चरित्र हर तरह के स्वाग्रह के विकृत रूप को प्रदर्शित करते हैं। किसी मध्यवर्गीय या मध्यवर्गीय सामंती समाज में (19वीं शती के रूस की भांति) और अधिक स्पष्ट साम्राज्यवाद के काल के पूंजीवादी समाज में जहां मानव की (या पूरे राष्ट्र तक की) अवमानना ऊंचे से ऊंचे स्तर पर पहुंच जाती है। वहां दोस्तोवस्की द्वारा उद्घाटित मनोवैज्ञानिक अवस्था विशेषतः तीक्ष्ण है।

मुक्तिबोध की कहानी क्लॉडईथरली जो हिरोशिमा नागासाकी पर बम बरसाने वाले हवाई जहाज का पायलट है, प्रतीक रूप में पूरी कहानी का केंद्रीय चरित्र है। बर्बर नरसंहार के बाद क्लाड ईथरली की अंतरात्मा बेचेन हो उठती है। मुक्तिबोध इस बेचैनी को हर उस संवेदनशील कलाकार में पढ़ते हैं, जो कुछ कहना चाहता है, परन्तु कह नहीं पा रहा है।

छद्म महानताओं के तमगे आत्मा की आवाज को दबा देते हैं। सही मायने में राष्ट्रीयता की विकृत सांस्कृतिक अवधारणा मनुष्यता के उग्र स्वरों को तो फूटने ही नहीं देती, हल्की सी बुदबुदाहट को भी नकारती हैं, जिस तरह आज, पृथ्वी पर युद्ध को खत्म करने की आकांक्षा रखने वाले लोग कारावासों में फेंक दिए जाते हैं, पागल करार दिए जाते हैं। हिंसा, युद्ध, मृत्यु से बजबजाती दुनिया का सच और इससे मुक्त प्रेम से भरी मानवीय दुनिया के आकांक्षी संवेदनशील मनुष्य के द्वंद्वों की पड़ताल है ये कहानी, जिसमें छुपा व्यंग्य बोध अंदर संत्रास पैदा करता है। 'आजकल हमारे अवचेतन में हमारी आत्मा आ गयी है। चेतन में स्वहित और अधिचेतन में समाज से सामंजस्य का आदर्श, भले ही वह बुरा समाज क्यों न हो। यही आज के जीवन विवेक का रहस्य है।'

क्लाड ईथरली के आत्मसंत्रास को मुक्तिबोध मनुष्य के अंदर बची हुई बेचैनी और पश्चाताप की तरह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में संवेदनात्मक अभिप्रायों के साथ कहानी का विषय बनाते हैं, जो कहानी की अंर्तवस्तु को पुर्नरचना की प्रक्रिया से जोड़ देती है। यानि भोगे जाने वाले जीवन से जीवन की पुर्नरचना का सारतः एक होकर भी उससे अलग होना और अलग होकर भी सारतः एक होना। 'विशिष्ट से सामान्य में रूपांतरित करने की प्रक्रिया जो अनुभूत सत्य को सारभूत एकात्मकता में बदल देता है। इस तरह वास्तविक जीवन से पुर्नरचित जीवन का जो सारभूत अभेद है, जो सारभूत एकात्मकता है, उससे कथाकार सामान्यीकरण की ओर बढ़ जाता है, जिसके मूल में लोकानुभूति से संप्रक्त मानस का उदात्तीकरण है। 'इस तरह वैयक्तिक अनुभूतियां साधारणीकृत हो लोकानुभूति का हिस्सा बन जाती हैं।'

हिरोशिमा पूरी तरह ध्वस्त हो गया क्लाडइथरली अपनी कारगुजारी देखने उस शहर गया, उस भयानक बदरंग बदसूरत कटी लाशों के शहर को देखकर उसका दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया उसे पता नहीं था कि उसके पास ऐसा हथियार है और उस हथियार का यह अंजाम होगा। उसके दिल में निरापराध जनों के प्रेतों, शवों, लोथड़ों, लाशों के कटे-फटे चेहरे तैरने लगे उसके हृदय में करुणा उमड़ने लगी। उधर अमरीकी सरकार ने उसे इनाम दिया और वह वार हीरो हो गया, लेकिन उसकी आत्मा कहती थी कि उसने पाप किया जघन्य पाप किया। उसे दंड मिलना ही चाहिए। वह वॉर हीरो था, महान था, क्लाड इथरली महानता नहीं, दंड चाहता था..। आत्मग्लानि और बेचैनी को लिए आत्महंता क्लाड इथरली इस अपराध बोध से मुक्त होना चाहता है, कहानी एक विषादमय लय के साथ आगे बढ़ती है। मुक्तिबोध निराशाओं, उदासियों के बीच संभावनाओं में जीने वाले कथाकार हैं। इथरली के इस अपराध बोध को फेंटेसी के रास्ते आम-आदमी एवं बौद्धिक समाज के संवेदनशील वर्ग के साथ खड़ा कर देते हैं। 'हमारे अपने मन हृदय मस्तिष्क में ऐसा ही एक पागल खाना है, जहां हम उच्च पवित्र और विद्रोही विचारों और भावों को फेंक देते हैं जिससे कि धीरे-धीरे या तो वे खुद बदल कर समझौतावादी पोशाक पहन सभ्य भद्र हो जायें यानी दुरुस्त हो जाएँ या उसी पागलखाने में पड़े रहे।' सामाजिक अनुकूलन की गहन प्रक्रिया से गुजरती दुनिया, जो आदमी आत्मा की आवाज कभी-कभी सुन लिया करता है और उसे बयान करके छुट्टी पा लेता है, वह लेखक हो जाता है, आत्मा की आवाज को लगातार जो सुनता है और कहता नहीं ,वह भोला-भाला-सीधा-साधा बेवकूफ है, जो उसकी आवाज बहुत ज्यादा सुना करता है और वैसा करने लगता है। समाज विरोधी तत्वों में यों ही शामिल हो जाया करता है, लेकिन जो अपनी आत्मा की आवाज जरूरत से ज्यादा सुन कर हमेशा बेचैन रहा करता है और उस बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है, पुराने जमाने में संत हो सकता था, आजकल उसे पागलखाने में डाल दिया जाता है।'

वहीं एक बहुत बड़ा वर्ग धीरे-धीरे परिस्थितियों से अनुकूलित हो, सत्ता प्रायोजित प्रेम और करुणा का समर्थक बन अंध राष्ट्र भक्ति का पुख्ता प्रचारक बन जाता है। इस तरह सत्तागत हिंसा देश की सुरक्षा की गारंटी बन पवित्रता का

जामा पहन लोकहित में तब्दील हो जाती है। पाप और पुण्य में फंसी ये वैचारिक हिंसाएं समाज को शताब्दियों पीछे घसीट ले जाती हैं। हमारे यहां आधुनिक सभ्यता में गहरी खामोशी है सबको महानगरों में बिना कहे मालूम है कि वे सभ्य अमरीका के लघु मानव बनते जा रहे हैं जो अमेरिका की नकली संस्कृति या सभ्य कालोनियां अपने ड्राइंग रूम या अपने महानगरों या उद्योग केंद्रों में बस रहे हैं वे लघु मानव है वे जनसाधारण थोड़े होना चाहते हैं लघु मानव जनसाधारण से ऊंचा होता है।'

यह आजादी के बाद का संकट है जहां बुद्धिजीवी सुविधा परस्ती, आत्मसुख, आत्मोपलब्धि के शिकार हो गए। विवेक कहीं खो सा गया अनुत्तरित सन्नाटा समाज में पसरता चला गया हम मूल प्रश्नों को छोड़ इर्द-गिर्द भटकते रहे आधुनिक दुनिया का यह क्षुब्ध रूप था, जहां घुटन है परायापन है भयाक्रांत मानस है अजीब जल्दबाजी है पाने की नहीं, हड़पने की। पूंजीपतियों की मुट्ठियों में समुदाय का बढ़ता आयतन। आजादी के तत्काल बाद का यह निराशाजनक दृश्य सम्मुख था, जो कहानी नहीं थी सच था। 'मैं स्वस्थ मन से आत्मसंघर्ष करता रहा पर एक व्यक्ति का आत्म संघर्ष पूरे मध्य वर्ग में बढ़ते हुए गलत रुझान को रोक नहीं सकता। यही मेरे समय का आधुनिकता बोध का संकट है।' आत्म निर्वासन जब मनुष्य अपने-आप को निर्वासित, पराया, अलग पाता है। मुक्तिबोध की कहानी उस आत्मनिर्वासन की ही कहानी है, जब पूंजीवादी तंत्र के सम्मुख एक समूचा मनुष्य उसकी संवेदनाएं, उसकी भावुकतायें शून्य में बदल गई। यह आत्म निर्वासन मन के अंदर घटित होने वाली कोई मनोवैज्ञानिक परिघटना भर नहीं, उत्पीड़ित समाज का निर्विकल्प सच है 'और फिर हम दोनों के बीच दूरियां चौड़ी होकर गोल होने लगी। हमारे साथ हमारे 'सिफर' भी चलने लगे अपने-अपने शून्यों की खिड़कियां खोल कर मैंने हम दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा कि आपस में बात कर सकते हैं या नहीं?' मुक्तिबोध की कविता बढ़ते-बढ़ते डायरी हो जाती है और डायरी चलते-चलते कहानी। यही कारण है कि कहीं भी मुक्तिबोध अनुपस्थित नहीं।'()फ्योदोर दोस्तोवस्की और मुक्तिबोध अपने उलझे स्वप्न चित्रों की यात्राओं से ही मनुष्य की यथार्थ भावनाओं की कथा कहते हैं।

हमारी आजादी शब्दों में, संविधान में, कानूनों में ही सीमित है जीविकाएं हमें अघोषित रूप से गुलाम बना देती हैं, जहां अपनी बात कहने की स्वतंत्रता हम खो देते हैं हम अपने श्रम के साथ-साथ विचार, अभिव्यक्ति और समय भी बेचने बाध्य हैं। अन्यथा जीविका हाथ से जाते देर नहीं लगती। देश ने पूंजीपतियों की अधीनता स्वीकार की उस वर्चस्व की चमकीली सतह के नीचे अंधेरे में डूबी आत्म निर्वासित दुनिया अपने आप से जुदा अपने आप से दूर होती गई पर यह मुक्ति नहीं थी। आजादी के बाद संवेदनशील बौद्धिक यकायक अपने अनुपयोगीपन के ख्याल से थर्रा उठा था बदले हुए सत्ता चरित्र ने क्रांति का स्वप्न लिए बैठे लोगों के भयमुक्त इरादों को धकिया कर ठेल दिया था। इस व्यक्ति पूजक समय में बहुत बड़ा वर्ग आइसोलेशन का शिकार हुआ। सभ्यता, प्रेम और सांप्रदायिकता के विराट भाव की जगह संत्रास, घुटन लेने लगी जहां से गहरी चुप्पी ने आकार ग्रहण करना शुरू कर दिया था 'प्रत्येक आकर्षण इश्क नहीं है यह मैं समझता हूं मुझे सचमुच समझ नहीं आता कि जिंदगी क्यों है। महीने में तनख्वाह मिलते ही मैं अपनी भाभियों दोस्तों की पत्नियों और उनके बच्चों को खिलौने ला देता हूं खिलौने देकर भी कोई संतोष नहीं होता आखिर अंदर के खालीपन को भरने के लिए ही तो यह सब किया गया है।' अगर जिंदगी मन बहलाव है तो बाज आया ऐसे मन बहलाने से क्योंकि इस तरह का बहलाव सिर्फ खालीपन और उदासी छोड़ जाता है। जीवन में यदि केंद्र ना हो तो बड़ी भारी कोलाहल भरी भीड़ में रहते हुए भी आप अकेले हैं और यदि वह है तो रेगिस्तान के सूने मैदानों में भी सहचरत्व प्राप्त है और जिंदगी हरी भरी है।'

निष्कर्ष

ये रचनाकार जिस समय लिख रहे थे वह समय संदर्भ महत्वपूर्ण हैं। दोस्तोवस्की 'जारशाही' की आक्रामकता के बीच पूंजीवाद के बढ़ते प्रभाव के साथ बदली हुई सामाजिक प्रक्रिया एवं सामाजिक मूल्यों को अभिव्यक्ति दे रहे थे जहां 'गुलामी' थी, अभिव्यक्ति की परतंत्रता थी, समाज के चेतस कहे जाने वाले वर्ग की भयाकुलता थीं समझौता परस्ती थी , साहित्यिक दुनिया की संकीर्ण, चिरौरीभरी गला काट स्पर्धा थी तो लगातार भूख, अभाव, अपमान, और अभिजात्य वर्ग की छद्म उदारता भी थी, जहां उन्हें रहना सजा से कम नहीं था। 'दोस्तोवस्की चमकीले कमरों से बचते थे, घर लौटने पर वे अपने को सोफा पर फेंक देते और अपने साथियों की ईर्ष्या के बारे में सोचते, गोष्ठियों में अपने अपमान के बारे में सोचते। साहित्य की दुनिया के तलछट। हिम्मत है तो सामने से वार करें, लेकिन पीठ में छुरा भोंकने से बख्शें। पुश्किन ने कटाक्ष करते हुए लिखा था 'तुम्हारे लिए तुम्हारा बर्तन अधिक कीमती है, क्योंकि इसमें तुम्हारा भोजन पकता है- 'चीख कर दोस्तोवस्की ने कहा था' बिल्कुल जरूरी है न सिर्फ मेरे लिए, बल्कि मेरे परिवार के लिए बल्कि सभी के लिए। कला के सौन्दर्य पर मुग्ध होने के पहले मैं इसमें खाना पकाता हूं। मेरा कर्त्तव्य है कि सबसे पहले सामंतों-शोषकों के खिलाफ अपना और अपनी जनता का पेट भरूं।'

संवेदनशील कलाकार की यह आत्मीय जिद थी उनकी प्रतिबद्धता थी, जिसे उन्होंने पूरी ईमानदारी से निभाया। रोजमर्रा के जीवन की हर घटना में उन्हें अनेक संकेत दिखते थे अच्छे-बुरे, जिनके साथ लगातार उनका मानसिक द्वंद्व चलता, ये संकेत दरअसल तीव्र आवेश से भरे सृजन के क्षण थे। वे उन अंतरिम क्षणों में मूर्छित हो जाते, भयानक यातना से गुजरते ये सृजन के अप्रतिम मानवीय क्षण थे, जब वे एक साथ भौतिक और पारलौकिक अनुभूति की गहन संवेदनाओं के बीच होते। यह दोस्तोवस्की के संपूर्ण लेखन की मूलभूत कुंजी है। उनकी कहानियों के चरित्र यहीं से जन्म लेते हैं, घोर अनैतिक, अविश्वसनीय, चालाक, षड्यंत्रकारी और बहुत बुरे। क्योंकि वो मानते थे- पाठक को हंसाने के साथ उसके हृदय को छूना, उसे आंसुओं के बीच मुस्कुराने को मजबूर करना। एक लेखक के लिए जरूरी है।

मुक्तिबोध स्वतंत्र भारत में स्वतंत्रता को ढूंढ़ता, मनुष्य की गरिमा को खोजता, लंपट उठाईगीर सभ्यता के बीच गुम हो गए ईमानदार आदमी को खोजता, हिरास थका हुआ, उदास कर देने वाला रचनाकार है। 'क्या मैं जिसे आधुनिक भारत की ट्रैजिडी की कविता कहता हूं- यह फेंटेसी उसी की अधूरी कथा या मिथ नहीं है? मेरे भीतर भी सपनों का एक भारत बंद है, एक द्वार-द्वार बिलखता भारत वर्ष अधूरा छटपटा रहा है।'

'जो है उससे बेहतर चाहिए इस समाज को साफ करने के लिए मेहतर चाहिए' कहने वाले मुक्तिबोध समाज में निहित गंदगियां जो जीवन-मूल्य की तरह जिंदगियों से अभिन्नता के साथ जुड़ गई थीं से निटपने का स्वप्न भर नहीं पालते, आत्ममूल्यांकन से भी गुजरते हैं- क्या 'मैंने अभी तक नौजवानी के अपने दिलो दिमाग की ताकत को बिजली में रूपांतरित किया है? क्या मैंने बंजर धरती की जिंदगी में इश्क और इंकलाब की रूहानियत की फसल खड़ी की है? दिलो दिमाग की ताकत को मानवीय बिजली में रूपांतरित करने वाला बिजलीघर कहां है?' मुक्तिबोध के समय संदर्भों में विभाजन की त्रासदी, एक भयानक, विदीर्ण करने वाले सच की तरह उपस्थित है। इसके बावजूद मुक्तिबोध के साहित्य में इसकी अनुपस्थिति के कारणों को खोजना होगा। सम्भवतः इस तथ्य का आंकलन करने के लिए भिन्न दृष्टिकोण से तत्कालीन समय को समझने की जरूरत है।

मुक्तिबोध गहरे बादलों के बीच चमकते सूर्य की तलाश निरंतर करते रहे, उन्हें जीवन पर विश्वास था,उन्हें पता था कि ये बेचैन चमकते हीरे इस व्यवस्था और समाज में तिरस्कृत हैं- अच्छे आदमी क्यों दुख भोगे- इतने नेक आदमी और इतने अभागे! दुनिया में बुरे आदमियों की संख्या नगण्य है, अच्छे आदमियों के सबब जिंदगी बहुत खूबसूरत चीज है। वह

जीने के लिए है, मरने के लिए नहीं। मैं मानसिक रंगों के पीछे पागल हो जाता। धूप की गहराई या घनापन इतना अधिक हो जाता है कि उसको छोड़कर अपनी वस्तु प्राप्त कर लेना सरल काम नहीं है। किन्तु साहस और रोमांच गुलिवर की यात्रा सा होता है घनेपन को छेदने की हिम्मत करता कोलंबस का साहसिक अभियान होता है। छेदने की हिम्मत करना इतना आकर्षक उन्मादक होता है। यह मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया थी, जो मन के अतलांतो पर चलती, किन्तु खड़ी जमीन पर होती। इस सघन प्रक्रिया के दौरान वे जिस मानसिक आवेग और उत्तेजना से गुजरते, वही उनके अंतरिम सृजन के क्षण होते, जो पूरी तरह से थका देने वाले तार-तार कर देने वाले क्षण होते, परन्तु यही थकान नवोन्मेष से भर भी देती।'कविता लिखने के बाद जो भयानक मनःस्थिति मुझे ग्रस्त कर लेती है उसका तर्जुबा बहुत कम लोगों को है। मैं उस प्रतिभा रूप के पीछे दौड़ पड़ता हूं, चाहिए, हां चाहिए मुझे वही प्रतिभा चाहिए। मुझे छोड़ दीजिए, मुझे जाने दीजिए उस नव्यतर के पास।'

दोस्तोवस्की और मुक्तिबोध की कहानियां आत्मकथात्मक है। मुक्तिबोध के अतिप्रिय रचनाकारों में दोस्तोवस्की शामिल थे। चरित्र का मेरा अध्ययन का तरीका दोस्तोवस्की सा रहा है। हम दोनों दार्शनिक हैं, धुंध के बीच आत्मसंघर्ष किया करते हैं।'

इन लेखकों ने अपने समय की अंर्तकथा को गहन और विस्तृत मैदान पर समझा/देखा और अभिव्यक्त किया। तमाम विवादों, टांग खीचने की ईष्याओं के बीच आर्थिक कष्टों के बीच, प्रतिद्वंद्विता के कटु अनुभवों के बीच भी दोस्तोवस्की ने अपनी रचनात्मक सफलता के शिखर को पाया। जनवरी 1981 की एक रात जब वे अपने डेस्क पर काम कर रहे थे, उनके हाथ से कलम छूट कर शेल्फ के नीचे लुढ़क गई, जैसे ही दोस्तोवस्की ने झुक कर उठाना चाहा, उन्हें गले के ऊपर गर्म उबाल चढ़ता महसूस हुआ, उन्होंने अपने ओंठ पौंछे वह रक्त था यहां से उनकी अंतिम यात्रा का दुखद पक्ष आरंभ हुआ- 'दो दिन लगातार बिगड़ती हालत के साथ दोस्तोवस्की मृत्यु से जूझते रहे, परन्तु आखिरी सांस तक साहित्य और समाज के बीच पूरी जिंदादिली से रहते-रहते अलविदा कह जाते हैं।'

मुक्तिबोध को जीते जी अपनी विकट प्रतिभा को सम्मान देने वाली न तो साहित्यिक दुनिया मिली, न बौद्धिक दुनिया। 'पिस गया दो पाटों के बीच ऐसी ट्रेजिडी है नीच' कहने वाले इस अदभुत रचनाकार ने फासीवादी चेहरा भी देखा पूंजीवाद की विद्रुपता भी देखी और बौद्धिकों का दोगलापन भी...।

मुक्तिबोध 'अपनी तरफ बढ़ती हुई मृत्यु को साफ देख रहे थे, उससे जिंदगी की जकड़ कम नहीं हुई थी, यह किसी भी तरह जीवन से अटके रहने का घटिया मोह नहीं था। ऐसा नहीं कि जीवन के सारे संदर्भ कटकर सिर्फ आत्ममोह बचा हो। आत्म मोह अंतिम क्षण तक उस आदमी में नहीं आया। वह सिर्फ जीवन संदर्भों में उलझा हुआ था।'इन महान रचनाकारों को व्यवस्था और समाज ने किसी काम के योग्य नहीं समझा, जैसे-तैसे घटिया नौकरशाही की मातहती करते इन्होंने निरंतर आर्थिक कष्टों में जीवन बिता दिया, कितना क्षुब्ध होता है मन ये पढ़कर, कितना शर्मनाक है ये किसी भी स्वस्थ समाज के लिए। मनुष्य को पढ़ने वाले, मनुष्य के सर्वोत्तम सर्जक ने फटे जूतों में पूरी जिंदगी बिता दी, पर वो झुके नहीं। विद्रोह मनुष्य को न सिर्फ रचता है, वह जिंदा होने का संकेत है, वह उसे मानवीय गरिमा भी देता है। मुक्तिबोध भी 'वे मरे, हारे नहीं' मरना कोई हार नहीं होती।'

1821 में जन्म और 1881 में मृत्यु महज 60 वर्ष की आयु में दोस्तोवस्की विदा हो लिए- 'उनकी जिंदगी जैसे अविश्वसनीय घटनाओं और प्रारब्ध का रंगमंच थी, जिसमें गहरी निराशा, विक्षोभ, प्रेम, सौन्दर्य, वंचना, मृत्यु एक के बाद एक गुजरते रहे। अपने आंतरिक जीवन को उन्होंने रूस की अंतरात्मा और नियति से जोड़ दिया। इसी ने उन्हें शक्ति दी कि

वे गहन द्वंद्वों से भरे अपने जीवन को महान कथाकृतियों में रूपांतरित कर दें। मानवीय चेतना के जिन अतलांतों में वे उतरे, वह उनके जीवन अनुभवों की परिणति थी।'

1917 में जन्म और 1964 में मात्र सैंतालीस साल की उम्र में बड़ी बेचैनी भरी विदा ली मुक्तिबोध ने। मौकापरस्तों, चाटुकारों के बीच 'मालवा के पठारों में पैदा हुआ एक मामूली आदमी, जिसने एक मामूली जीवन जिया और एक दुखद मृत्यु में जिसके जीवन की पीड़ाओं का अंत हुआ। कैसे जीवन को बदलने की रचना प्रक्रिया का पाठ बन गया? क्या था उस जीवन में, जिसने सफलता के चक्करदार घेरों की बजाय समाज के रूपांतरण के अग्नि स्फुलिंग अपनी रचनाओं में इकट्ठे किए? भावी क्रांति के अग्निकाष्ठ वह बीनता रहा।'

मन के कीमियागार इन रचनाकारों की रचना एवं रचना प्रक्रिया उनके समय और व्यवस्था को समझने का यह प्रयास है, उनकी जीवन शैली में एकसापन लगभग नहीं था; हां, पर तंबाकू की गंध दोनों को मोहती थी।

संदर्भ

1- दोस्तोवस्की: हेनरी त्रेनेट: अनुवाद,वल्लभ सिद्धार्थ
2- फयोडोर दोस्तोवस्की:कहानियां: रदूगा प्रकाशन,अनुवाद- डॉ मधु
3- मुक्तिबोध की आत्मकथा: विष्णुचंद्र शर्मा
4- वही
5- परसाई रचनावली:3
6- विपात्र
7- मुक्तिबोध रचनावली -3,4,5
8 -. E पत्रिका- रचना कार से
9- मुक्तिबोध:काठ का सपना

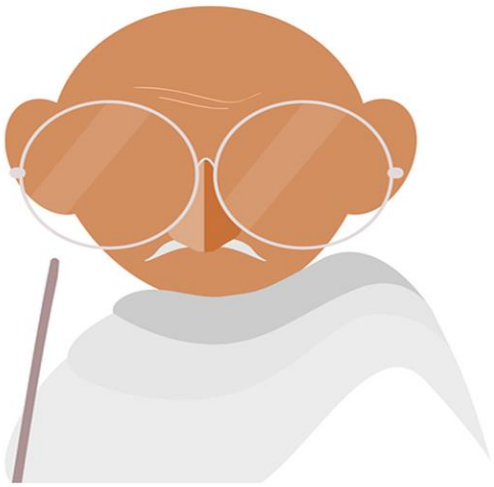

मध्यम वर्गीय परिवार में बचपन (विशेष सन्दर्भ प्रेमचंद की कहानियां)

अभिषेक रंजन,
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
मौलाना आजाद नेशनल उर्दू विश्वविद्यालय, हैदराबाद
संपर्क सूत्र :9958308724
ईमेल : aranjan.in@gmail.com

सारांश

प्रेमचंद हिंदी कथा साहित्य में अग्रणी लेखक माने जाते है। कथा साहित्य को प्रेमचंद ने अपनी लेखनी से उत्कृष्ट बनाया है। प्रेमचंद की कथा साहित्य की अगर बात हो तो हम पाते है कि प्रेमचंद की कहानियों में बाल मनोविज्ञान का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन मिलता है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में बालकों के बचपन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उनकी कहानी लेखन शैली की उत्कृष्टता को दर्शाता है। प्रेमचंद की कहानियो में बचपन का स्वरूप अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग तरह से निकल कर आता है। प्रेमचंद ने जिस तरह से एक बालक के बचपन को दर्शाया है उससे यह स्पष्ट होता है कि प्रेमचंद ने बहुत पहले ही भविष्य का आकलन कर लिया था। प्रेमचंद की कहानियो से स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी कहानियों में जिस बचपन का वर्णन प्रस्तुत किया है वह सामान्य नहीं है।

बीज शब्द

प्रेमचंद, साहित्य, कहानी, बचपन, समाज,

प्रस्तावना

प्रेमचंद हिंदी कथा साहित्य में अग्रणी लेखक माने जाते है। कथा साहित्य को प्रेमचंद ने अपनी लेखनी से उत्कृष्ट बनाया है। प्रेमचंद की कथा साहित्य की अगर बात हो तो हम पाते है कि प्रेमचंद की कहानियों में बाल मनोविज्ञान का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन मिलता है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में बालकों के बचपन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उनकी कहानी लेखन शैली की उत्कृष्टता को दर्शाता है। प्रेमचंद की कहानियो में बचपन का स्वरूप अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग तरह से निकल कर आता है। प्रेमचंद ने जिस तरह से एक बालक के बचपन को दर्शाया है उससे यह स्पष्ट होता है कि प्रेमचंद ने बहुत पहले ही भविष्य का आकलन कर लिया था। प्रेमचंद की कहानियो से स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी कहानियों में जिस बचपन का वर्णन प्रस्तुत किया है वह सामान्य नहीं है। प्रेमचंद की कहानियों में बालक बचपन में ही वयस्क होता दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद की कहानियों में बालक की सोच एक वयस्क की सोच बनती है। प्रेमचंद की कहानियों का बालक सामान्य बचपन नहीं जीता बल्कि अपने बचपन में ही संघर्ष करता दिखाई पता है। चाहे वह बालक ईदगाह का 'हामिद' हो या बड़े भाई साहब के 'हलधर'। वहीं नादान दोस्त का 'केशव' और उसकी बहन 'श्यामा' की नादानियाँ हो अथवा रामलीला के 'बालक प्रेमचंद' हो दोनों के बचपन में काफी अंतर और विशिष्टता दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद ने जहा गुल्ली डंडा के माध्यम से बालक के बचपन में पारंपरिक खेलों के महत्व को स्पष्ट किया है और यह बताने का प्रयास किया है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देशी खेलों का कोई महत्व नहीं रह गया है। छोटा से छोटा बालक हो या कोई वयस्क सभी विलायती खेलों की तरफ अपना ध्यान आकृष्ट कर रहे है।

मध्यम वर्गीय परिवार में बचपन

यहाँ प्रेमचंद की जिन कहानियों का चयन किया गया है, उनमें से अधिकांशत: कहानी का पारिवारिक परिवेश मध्यम

वर्गीय है। जिन कहानियों की यहाँ चर्चा की जा रही है उनमें एक समानता दिखाई पड़ती है और वह कि उन सभी कहानियों में मध्यम वर्ग का चित्रण किया गया है। कहानी 'ईदगाह' में जिस मध्यम वर्गीय परिवार का वर्णन किया गया है वह परिवार गरीबी की मार झेल रहा है जिसकी वजह से उस परिवार के बालक 'हामिद' का बचपन अभावों में कटता है। हामिद को अच्छे कपड़े उपलब्ध नहीं हो पाता है तथा दो वक्त का भोजन भी ठीक से नहीं मिल पता है। जब हामिद की दादी उसे ईदगाह के लिए भेजती है तब उस दिन भी वह पुराने कपड़े और फटे हुए जूते पहन कर ईदगाह जाता है। यहाँ तक की बालक हामिद के पास इतने पैसे भी नहीं होते है कि वह ईदगाह में मिठाईयां खा सके। उसके दोस्त उसे मिठाई दिखा-दिखा कर चिढ़ाते है। बालक हामिद अपने हम उम्र साथियों को खूब मजे करता देखता है तो उसका भी मन होता है कि वह भी उनकी तरह अच्छे-अच्छे खिलौने खरीदे, मिठाई खाए तथा झुला झूले किन्तु हामिद स्वयं को किसी तरह समझा कर मना लेता है। बालक हामिद का बचपन पूरी तरह से संसाधनों के अभाव में बीत रहा होता है। उसकी दादी भरसक प्रयास करती है कि वह हामिद को किसी चीज़ की कमी नहीं होने दे और बालक हामिद को ऐसा न लगे की उसके पास कुछ नहीं है। एक मुस्लिम परिवार में बालक का बचपन जिस परिस्थिति में बीतता है, उसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'ईदगाह' कहानी है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अगर हम इस कहानी के आधार पर मुस्लिम समाज के बालक के बचपन की बात करे तो पाते है कि आज के समय में भी मुस्लिम परिवार के बालकों की बचपन अधिक अच्छी नहीं है। इस कहानी के विपरीत आज मुस्लिम समाज के बालक का बचपन पूर्णत: नष्ट हो रहा है। आज के समय में मुस्लिम परिवार में बालकों की शिक्षा पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है। इसके अतिरिक्त बालकों को बचपन से ही काम-धंधे में लगा दिया जाता है।

'चोरी' कहानी के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि एक मध्यम वर्गीय परिवार में बचपन बड़े ही आदर्शों एवं कड़े नियमों के साथ बीतता है। बालक प्रेमचंद और उनके चचरे भाई जब एक रुपया की चोरी करते है तो उसके लिए उन्हें सजा मिलती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अगर हम बात करे तो पाते है की आज भी एक मध्यम वर्गीय परिवार में बालकों को बालपन से ही नियमों एवं आदर्शों का पाठ पढाया जाता है जिससे बालक बाहर नहीं निकल पाता है। इन नियमों और आदर्शों में बालक का बचपन भी कई बार नष्ट हो जाता है। जब परिवार में नियम और आदर्शों को अधिक महत्व दिया जाये तो इससे स्पष्ट होता है कि उस परिवार में बालकों के स्वयं कुछ करने की स्वतंत्रता नहीं होती है। ऐसे परिवार में बालकों को वही करने दिया जाता है जो कि परिवार के बड़े-बुजुर्ग कहते है। इस स्थिति में बालक स्वयं को बंधन में पाता और जिससे बालक विकास प्रकिया भी प्रभावित होती है। 'चोरी' कहानी का बालक और उसका भाई अपने घर में बहुत दर कर रहते है जिसकी वजह से वे न तो अपनी मर्जी से खेल पाते है और न ही कहीं घूम पाते है। वर्तमान में समाज की बिगड़ते परिवेश को देखा कर यह भी कहा जा सकता है कि बालकों को अपने घर से बाहर भी नहीं निकलने दिया जाता है क्योंकि माता-पिता को लगता है कि उनका बालक समाज में जिन बालकों के संपर्क में आएगा और उनसे चीजों को सीखेगा जो कि उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करेगा। इसलिए मध्यम वर्गीय परिवार के बालकों पर अधिक नियंत्रण रखा जाता है और उन्हें अनुशासन एवं आदर्श का पाठ पढ़ाया जाता है।

'नादान दोस्त' कहानी का मध्यम वर्गीय परिवार यह दर्शाता है कि वे अपने बच्चों पर भी नियंत्रण रखना चाहते है। इस कहानी का बालक भी अपनी बचपन की तमाम गतिविधियों में लिप्त है। बालक केशव की माँ केशव और उसकी बहन पर नज़र रखती है कि कहीं दोनों बच्चे किसी प्रकार की शरारत तो नहीं करते है।

'बड़े भाई साहब' कहानी दो भाइयों की कहानी है, जो कि छात्रावास में रहकर पढ़ाई करते हैं। भाई-बहन के बीच एक

तरह की सामान्य लड़ाई प्रायः ही चलती रहती है, भाई-बहन हों या बहन-बहन हों, उनके बीच एक अलग ही तरह का झगड़ा होता रहता है। प्रस्तुत कहानी 'बड़े भाई साहब' कुछ अलग तरह के मनोविज्ञान की कहानी है, एक ही छात्रावास में रहने वाले सगे भाई अलग तरह की ज़िन्दगी जीना पसंद करते हैं। बड़े भाई साहब के मन में कहीं-न-कहीं असफल होने की कुंठा है, जिसे वह छोटे भाई पर उतारना चाहता है। छोटा भाई मस्तमौला है, वह पढ़ाई के बोझ को खेलने, पतंग उड़ाने में या फिर मित्रों के बीच खालिस गप्पबाजी में बिताना चाहता है। हालाँकि इसका यह मतलब नहीं है कि छोटा भाई पढ़ाई में अच्छा नहीं है। पहले यह कहावत बहुत प्रचलित थी कि *'खेलोगे-कूदोगे होगे खराब.....पढोगे-लिखोगे होगे नवाब।'* बड़े भाई साहब इस कथन पर बहुत विश्वास करते हैं, इसीलिए वे दिन-रात पढ़ाई में लगे रहते हैं। बावजूद इसके उनके साथ असफलता लगातार बनी रहती है। छोटे और बड़े भाई के बीच ज्यों-ज्यों कक्षाओं का अंतर कम होता जाता है, उनमें एक तरह की दूरी भी आने लगती है, छोटा भाई जहाँ बेफिक्र होकर पूर्ववत अपने दैनिक जीवन में लगा रहता है, वही बड़ा भाई अपने असफलताओं के बीच इस डर में जी रहा है कि उसका छोटा भाई कहीं बिगड़ न जाए। भारतीय समाज की नैतिकताओं का ही प्रभाव है कि बड़े बही या बहन एक तरह से द्वैतीयक अभिभावक की तरह होते हैं, छोटे भाई-बहन का उनसे डरना स्वभाविक होता हैं। छात्रावास में रहने वाले ये दोनों भाई एक सामान्य मध्यमवर्गीय परिवार से आते है, उनकी जरूरतें सामान्य रूप से उनके माता-पिता पूरी करते हैं। आधुनिक युग में भी देखे तो पते हैं कि पढ़ाई और कैरियर को लेकर आज की पीढ़ी एक भयंकर दबाव में जी रही है। छोटे बच्चों का स्कूली बस्ता उसके खुद के भार से ज्यादा होता है। लगातार बढ़ती आबादी ने आज की पीढ़ी को कैरियर को ले कर एक तरह के डर में जीने को मजबूर किया है। प्रस्तुत कहानी भी इसी तरह के दवाब से गुजरती दिखती है, अंग्रेज़ी की पढ़ाई का दबाव देता रहता है। वास्तव में उस समय भी पढ़ाई को एक बोझ की तरह ही लिया जाता था, नैतिक मूल्यों का बहुत दबाव होता था, छोटी-छोटी बातें किसी के चरित्र का मूल्यांकन करने के लिए काफी होती थी। खेलना या घूमना अच्छी आदतों में नहीं आता था, बड़े भाई होने के कारण छोटा भाई कई बार बेफिक्र भी रहता था।

'रामलीला' कहानी का बालक भी कुछ इसी तरह का बेफिक्र स्वभाव का बच्चा था। सामान्य बच्चे की तरह उसमे समाज और अन्य चीजों को लेकर जिज्ञासा और उत्सुकता भी बराबर थी। प्रेमचंद की कहानियों के चरित्र प्रायः ग्रामीण पृष्ठभूमि से आते हैं, इसलिए उनके आस-पास पाया जाने वाला वातावरण भी कोई आसाधारण नहीं होता, बल्कि जीवन की सामान्य घटनाएँ ही होती हैं। जीवन के प्रथम चरण में हर बच्चा जिज्ञासु और कुतूहल से परिपूर्ण होता है, उसे हर चीज़ नई लगती है, अच्छी लगती है। किसी का रोकना-टोकना उसे बिल्कुल नहीं भाता। समाज के भीतर होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक कार्य भी उसे बहुत लुभाते हैं। चूँकि जिम्मेदारियाँ उसे मिली नहीं होती हैं, इसलिए वह इनमें शामिल होने के लिए लालायित रहता है। प्रस्तुत कहानी में बालक को रामलीला बहुत पसंद थी, जो उसके घर के सामने ही हुआ करती थी। बालक प्रेमचंद समाज में होने वाले अंतर्विरोधी व्यवहारों से दुखी भी होता है। रामलीला में राम का चरित्र निभाने वाले की उपेक्षा और नाचने वाली स्त्री की तरफ लोलुप निगाह रखने वाले लोगों की वह मन ही मन बहुत भर्त्सना करता है। अपने बचाए पैसे को वह अपने 'राम' को दे देता है, यह सोचकर कि उनके कुछ काम आ जायेगा। समाज के अंतर्विरोधी व्यवहार, लालच और भोग-विलासपूर्ण व्यवहार को बालक बहुत जल्द समझ लेता है। जब हम समाजीकरण की प्रक्रिया पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि कोई भी बालक जिस व्यवहार को अपने आस-पास पाता है, उसी व्यवहार को अपनाते हुए जीवन भर उसका पालन करता है। इस तरह कई बार कुछ रुढ़िवादी विचारों और नियमों पर कोई सवाल उठाया ही नहीं जा सकता, चीजें ऐसे ही चलती रहती हैं। बालक प्रेमचंद को अपने पिता से भी अभूत गुस्सा था, क्योंकि उन्होंने राम जी की पूजा के बजाए एक नाचने वाली स्त्री का ज्यादा सम्मान किया, जो प्रेमचंद की नजर में गुनाह करने जैसा था। बालक एक संपन्न परिवार से है, उसके पिता सख्त मिजाज के है। सवाल पूछना या घूमना-फिरना उसके पिता को

बिलकुल पसंद नहीं। भारतीय समाज में यह अजीब सा नियम है कि अभिभावक का सख्त होना जरूरी है, नहीं तो वह बिगड़ जाएगा। उन्हें अपनी वृद्धावस्था में यह शिकायत रहती है कि बच्चे अपने परिवार में व्यस्त रहते है और वृद्धों को समय ही नहीं देते। वास्ताविकता यह है कि उनमें जुड़ाव हो ही नहीं पाता। संयुक्त परिवार परंपरा में बच्चे को विशेष तरीके से नहीं देखा जाता, बल्कि उसका काम सिर्फ पढ़ाई करना और भोजन करना मात्र होता है....उसकी किसी जरूरत को भी बहुत विशेष दर्जे के साथ नहीं सुना जाता। जबकि बच्चों के मनोविज्ञान, उनकी जरूरतों और उनके व्यवहार को समझने के लिए उनके साथ बातचीत करना और उनके क्रिया-कलापों पर नजर रखना आवश्यक होता है। बच्चे को उसके किसी कार्य या गलती के लिए दण्डित किया जाना भी गलत है, कई बार इससे वह कुंठित होता है या हिन-भावना से ग्रस्त हो जाता है। खेल को भी उसके जीवन का अभिन्न हिस्सा बनाया जाना चाहिए, जिससे उसका शारीरिक और मानसिक विकास संतुलित रूप से हो सके।

'दो भाई' कहानी का वातावरण बाकि कहानियों से थोड़ा अलग है। केदार और माधव, जो बचपन में एक-दूसरे को इतना प्रेम करते थे कि एक-दूसरे के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं करना चाहते थे। खाना, खेलना, पढ़ना, सोना, नहाना इत्यादि सारे कार्य वे दोनों एक-दूसरे के साथ ही करते थे। जैसे-जैसे वे बढ़ते गए, उनका प्रेम भी बढ़ता गया। समस्या तब होती है, जब उन दोनों का विवाह होता है। केदार की पत्नी चंपा और माधव की पत्नी श्यामा के आते ही परिवार में विघटन प्रारंभ हो गया। दोनों भाइयों के बीच बँटबारा हुआ और साथ ही उनके बीच का प्रेम भी विभाजित हो गया। स्त्रीवादी नज़रिए से देखें तो यह विवादित कहानी है, क्योंकि यहाँ स्त्रियों को परिवार तोड़ने का कारण बताया गया है। वही अगर सामान्य नजर से देखें तो पाते है कि दोनों भाइयों के प्रेम का विस्थापन हो गया था, और उनकी जगह उनकी पत्नियों ने ले ली थी। वास्तविकता यह है कि जीवन के अलग-अलग स्तरों पर जैसे ही हमारी परिस्थितियाँ और जरूरतें बदलती हैं, हम प्राथमिकताएं भी बदल देते हैं। भारतीय समाज व्यवस्था में इस तरह का पारिवारिक विभाजन कोई नई बात नहीं, दोनों भाई आगे चलकर एक-दूसरे के खिलाफ रहने लगते हैं। हाँलाकि उनकी पत्नियों को भी कुछ हद तक इस बात के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है कि अपने पतियों को भड़काने में उनका भी हाथ होता है, लेकिन धैर्यपूर्वक जिस मुद्दे को सुलझाया जा सकता था, उसमें दुश्मनी पैदा हो जाती है। दोनों भाई एक-दुसरे का नुकसान करने, सम्पति हडपने की योजना बनाते पाए जाते हैं। आज 21वीं में भी संयुक्त परिवार इसी तरह टूटते जा रहे हैं, नगरीकरण, महँगाई, एकल परिवार व्यवस्था के फायदे इत्यादी ने लगातार परिवारों को विभाजित किया है। संयुक्त परिवार के टूटने और एकल परिवार प्रथा के भविष्य को प्रेमचंद ने प्रस्तुत कहानी के माध्यम से बहुत पहले ही घोषित कर दिया था।

'कजाकी' कहानी में भी एक संपन्न परिवार के बालक की कथा मिलती है, जिसमें वह अपने जीवन के अलग-अलग दौर में अपने से छोटे वर्ग के लोगों के साथ मिलता है और उनसे उसका लगाव हो जाता है। अधिकारी पिता और गृहिणी माता के अनुशासन में जी रहा बच्चा कहीं-कहीं बहुत संवेदनशील भी दिखाई देता है। बच्चा अभी स्कूल नहीं जाता बल्कि उसकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य घर पर ही चल रहा है। 'कजाकी' नाम का चरित्र उसके पिता के मातहत काम करता था। कजाकी को बालक से बहुत प्रेम था, एक निश्चित समय पर वह बालक के पास हर दिन पहुँचता है, उसके साथ खेलता है,उसके लिए कुछ न कुछ चीजें भी लाता है। कहानी का मूल तत्व यह है किएक शिशु का स्नेह जाति, धर्म, वर्ग या नस्ल के इतर सिर्फ स्नेह की तरफ झुकता है, लाभ-हानि से उसको कोई मतलब नहीं होता। बालक को कजाकी से अलग-अलग विषयों पर कहानी सुनना भी पसंद था, अपने माता-पिता के अनुशासन से हटकर वह कजाकी के साथ स्वयं बहुत को आज़ाद महसूस करता है। बच्चे अपने दोस्त मुन्नू के साथ भी बहुत समय बिताता था, उसके साथ प्राय: प्रचलित खेल खेला करता था। पिता जी द्वारा कजाकी को नौकरी से निकालना बालक को बहुत दुखी कर देता है, उसके व्यवहार को

सुन्न कर देता है। बच्चे अपने बालपन में लाभ-हानि या ऊँच-नीच की भावना से परे होते हैं, इसलिए तो उन्हें इश्वर का दूसरा रूप भी माना जाता है।

'गुल्ली डंडा' कहानी का बालक अपने बचपन में बहुत अकेलापन महसूस करता है। सम्पन्न परिवार होने के कारण बालक के माता-पिता अपने काम में व्यस्त रहते है, जबकि पिता को अपने पुत्र की चिंता भी रहती है कि वह भविष्य में क्या करेगा। बालक को गुल्ली डंडा खेलना पसंद है, जिसे वह समाज के छोटे तबके के बच्चों के साथ खेलता है। बच्चा अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल में पढ़ता है, जो उसकी उच्च आर्थिक स्थिति को अभिव्यक्त करता है। 'गया' उसका बालपन का साथी है और गुल्ली डंडा खेल का नियमित साथी भी। पिताजी के तबादले के साथ ही उसके दोस्त भी बदलते रहते हैं, लेकिन 'गया' की स्मृति उसके मन में लगातार बनी रहती है। युवावस्था में जब वह वापस गया से मिलता है, तो फिर से गुल्ली डंडा खेलने की ख्वाहिश जाहिर करता है, परन्तु यह स्वाभाविक रूप से संभव नहीं हो पाता। बालक पढ़-लिखकर बड़ा अधिकारी बन चूका है और गया किसी का निजी मजदूर, उनके बीच सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की मोटी दिवार खड़ी हो चुकी है। गया, बालक को अफसर या साहब मानता है, उसके साथ मन से खेल नहीं पाता, लेकिन अपने वर्ग के लोगों में वह सहज रहता है। कहानी का सन्देश यह है कि बचपन में तो हम सब जिससे चाहें उससे मित्रता कर लें, खाने-पीने का साथ बना लें या विद्यालय में साथ रहें, परन्तु बड़े होते ही माहौल बदल जाता है। समाज व्यवस्था के कुछ नियम अभी भी वैसे ही हैं, जैसे वे कुछ सदी पहले रहे होंगे।

निष्कर्ष:

प्रेमचंद की कहानियों में बाल जीवन को लेकर बहुत अलग-अलग परिस्थितियाँ मिलती हैं। कुछ बातें और नियम जो पहले जैसे थे, वैसे ही आज भी हैं, कुछ भी बदलाव नहीं आया है। अभिभावक आज भी बच्चों को डर, दबाव और गैरजरूरी अनुशासन में रखना चाहते है, पर वे यह नहीं समझते कि जिस चीज़ को जितना दबाया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही विपरीत होती है। समाज के अलग-अलग पारिवारिक पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों का सामाजीकरण भी अलग-अलग होता है। सामाजिक नियम, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, क्रियाकलाप... जो भी बच्चा देखता है, वही सीखता है और उसी का व्यवहार अपने जीवन में करता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 1*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
2. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 2*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
3. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 3*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
4. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 4*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
5. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 5*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
6. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 6*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
7. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 7*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.
8. प्रेमचंद. (2013). *मानसरोवर भाग 8*. प्रकाशन संस्थान. नई दिल्ली.

'आँच की जाँच' के मायने....

मनीषा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल manishagauraniya@gmail.com

सारांश

बीसवीं सदी के आरम्भ से ही दलित लेखकों व चिंतकों ने वर्णव्यवस्था व जाति के मूल आधार पर ही प्रश्नचिन्ह खडा कर दिया। बेचैन जी ने इस जाति के प्रश्न को कहानी "आँच की जाँच" में बड़ी ही बारीकी से उजागर किया है। इसमें बताया है कि सवर्ण व्यक्ति कितना ही पढ़-लिखा या विचारों से प्रोग्रेसिव क्यों न हो लेकिन वह फिर भी जातिवाद का कट्टर समर्थक होता है।

यह कहानी बताती है कि कैसे आज भी दलित कही जाने वाली जातियाँ सवर्णों की नज़रों में समाज के उसी पायदान पर मौजूद है जहाँ सामाजिक संरचनाओं ने उन्हें स्थान दिया था। इसलिए आज भी व्यक्ति को कर्म या श्रम के आधार पर नहीं अपितु जातिगत आधार पर मान व प्रतिष्ठा मिलती है।

बीज शब्द

दलित, समाज, व्यवस्था, जातियाँ, वर्णव्यवस्था, संघर्ष, अस्मिता

शोध आलेख

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था वैदिक काल से ही विद्यमान रही है । समाज में वर्णव्यवस्था के अंतर्गत दलित की स्थिति केवल सेवाभाव की रही है । वहाँ वह वर्णव्यवस्था के श्रेष्ठ कहे जाने वाले तीन आधार स्तंभों ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों की सेवा के लिए ही उत्पन्न माना गया है । वर्तमान समय में भी भारतीय समाज वर्णव्यवस्था को प्रत्यक्ष रूप से बेशक न अपनाने का दावा करता हो लेकिन अप्रत्यक्ष या मानसिक रूप में इसकी जड़ें आज भी उस के अंदर बहुत गहरे से पसरी हुई है । इन जड़ों को भरपूर पानी व खाद भी अपने ही समाज के अन्तर्गत आने वाले लोग दे रहे हैं । देखा जाए तो भारतीय समाज में यह जाति व्यवस्था अत्यंत जटिल व रूढ़ है, यदि हम सूक्ष्मता से भारतीय समाज को जानने की कोशिश करेंगे तो पाएंगे कि यह केवल भारत में ही अपने इस रूप में मौजूद है अन्य देशों में नहीं।

आज भारत ने कितनी भी तरक्की क्यों न की हो लेकिन इतनी तरक्की अभी तक भी नहीं कर पाया है कि इस वर्णव्यवस्थावादी मानसिकता या इसकी उपज जातिगत व्यवस्था को समाप्त कर सके । हम इक्कीसवीं सदी में पैर रखने के बाद बेशक गुलामी से तो आज़ाद हो गए हों लेकिन जातिगत अपमान से हमारे ही समाज का दलित कहे जाने वाला तबका आज भी मुक्त नहीं हो पाया है। न ही हम स्वयं इस जातिगत भेद को मिटा पाए हैं। यह जाति आधारित भेद कुछ जातियों को तो श्रेष्ठ साबित करता है लेकिन कुछ तथाकथित निम्न जातियों पर असभ्य होने का ठप्पा लगाकर उन्हें सभ्य समाज से अलग खड़ा कर देता है। इसलिए दलित साहित्य में स्वयं दलित साहित्यकारों ने अपनी समस्याओं व संघर्ष को उजागर करना शुरू किया है, क्योंकि यह साहित्य समता, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व की भावना को लेकर चलता है। इसका ही परिणाम है कि जाति के प्रश्न को दलित साहित्य के अंतर्गत बड़ी ही मुखरता व उत्तेजना के साथ उठाया गया है। वास्तव में **"'जाति' व्यवस्था का एक चौखटा है जिसे ब्राह्मणों ने तैयार किया और उसपर स्वयं अपनी प्रतिष्ठा की मौहर लगा दी। उन्होंने जाति नियम इतने मजबूत किये कि जाति का उल्लंघन करने वाले के लिए दंड व्यवस्था निर्धारित की। हिन्दू धर्म जातिवाद का हिमायती है।"1** बीसवीं सदी के आरम्भ से ही दलित लेखकों व चिंतकों ने

वर्णव्यवस्था व जाति के मूल आधार पर ही प्रश्नचिन्ह खडा कर दिया। बेचैन जी ने इस जाति के प्रश्न को कहानी "आँच की जाँच" में बड़ी ही बारीकी से उजागर किया है। इसमें बताया है कि सवर्ण व्यक्ति कितना ही पढ़-लिखा या विचारों से प्रोग्रेसिव क्यों न हो लेकिन वह फिर भी जातिवाद का कट्टर समर्थक होता है।

यह कहानी बताती है कि कैसे आज भी दलित कही जाने वाली जातियाँ सवर्णों की नज़रों में समाज के उसी पायदान पर मौजूद है जहाँ सामाजिक संरचनाओं ने उन्हें स्थान दिया था। इसलिए आज भी व्यक्ति को कर्म या श्रम के आधार पर नहीं अपितु जातिगत आधार पर मान व प्रतिष्ठा मिलती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में **" 'जाति' ही जहाँ मान-सम्मान और योग्यता का आधार हो, सामाजिक श्रेष्ठता के लिए महत्त्वपूर्ण कारक हो ,वहाँ यह लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है।"2** चूँकि भारतीय समाज में जातिवाद हाल के वर्षों की ही दें नहीं है, यह तो लम्बी प्रक्रिया के तहत चली आ रही परंपरा के रूप में पहले से ही विद्यमान है। विभिन्न धर्मग्रंथों को पढने के उपरान्त आप जानेंगे कि कैसे समाज में यह पहले से ही मौजूद था। अजय नावरिया लिखते हैं, **"धर्मग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि ब्राह्मणों,क्षत्रियों,वैश्यों में भी आपस में छुआछूत का चलन था, ब्राह्मण जाति के लोग आपस में भी श्रेष्ठ-हीन मानते हुए ब्राह्मणों के साथ ही अस्पृश्यता का व्यवहार करते थे।"3** लेकिन इसके बावजूद जातिगत भेदभाव का सबसे ज्यादा भुक्तभोगी दलित वर्ग ही रहा है। इसका परिचय कहानी में भारद्वाज की मानसिकता से मिलता है। व्यक्ति के लिए आज भी कहीं न कहीं मानवता से ज्यादा जाति मायने रखती है। कहानी का सवर्ण पात्र भारद्वाज, बालक रोशन के शरीर पर होने वाली बीमारियों के इलाज से कहीं ज्यादा उसकी जाति का पता लगाने के लिए व्याकुल है। वह कहता है- **"मुझे तो सबसे बड़ी व्याधि यानी इसकी जाति का पता करना है,इसकी जाति और धरम का पता लगाना परम आवश्यक है।"4** भारतीय समाज में यही वह महत्तवपूर्ण बिंदु है जिसके चलते समाज मानवीयता की राह से भटक गया है। साथ ही इस कहानी में पिछड़ी जातियों के साथ सदियों से होते आ रहे अन्याय का भी पर्दाफाश किया गया है। इस संदर्भ में व्यंग्यात्मक रूप से जो प्रश्न सागर से किया है वह इसी अन्याय की ओर इशारा करता है। वह कहता है- **"क्या महज इत्तेफ़ाक़ है कि सभी अमीर सवर्णों के बेटे ही बेटे और गरीबों-दलितों के घर बेटियां ही बेटियां।"5** इसकी जवाबदेही के रूप में कहना अनुचित न होगा कि यह महज इत्तेफाक नहीं है बल्कि दलितों के साथ सदियों से हो रहे अमानवीय व्यवहार, भेदभाव या उनके खिलाफ हो रही साजिश का यथार्थ वर्णन है। जहाँ गरीबों-दलितों के हिस्से सिर्फ बेटियां इसलिए आती है ताकि भारद्वाज जैसे सवर्ण समाज की नाक कटने से बची रहे। यह वह नाक है जिसका जिम्मा हमारे समाज ने सिर्फ बेटियों के ही हवाले किया है बेटों के नहीं। इसलिए उस नाक को बचाये रखने के लिए बेटियों को भ्रूण हत्या उपहार स्वरूप जन्म से पहले ही दे दी जाती है।

यहाँ प्रश्न उठाना जायज़ है की क्या दलितों की कोई नाक नहीं होती और अगर नहीं होती तो क्यों नहीं होती उसके पीछे क्या कारण मौजूद है? भारद्वाज ने एक वाक्य कहा है, **"आजकल लडकियां इंटरकास्ट मैरिज भी कर लेती हैं।"6** यहाँ यह समझना आवश्यक है ,की यह वाक्य किस सन्दर्भ में कहा गया है, चूँकि अगर लड़कियां इंटरकास्ट मैरिज कर भी लेती हैं तो भी उन्हें भ्रूण हत्या के हवाले कर देना कहाँ तक उचित है। साथ ही क्या इंटरकास्ट मैरिज सिर्फ लडकियाँ ही करती हैं लड़के नहीं। यहाँ भी मसला इंटरकास्ट मैरिज के अर्थ में अपने से निम्न जाति से विवाह कर लेने का है, मतलब भारतीय समाज की जाति आधारित संरचना ही है। आज यह प्रायः कई जगह देखने को मिल जाता है जहां इंटरकास्ट मैरिज कर लेने पर लड़के और लड़की को मौत की सजा मिलती है। वही समाज आज भी कहीं-कहीं देखने को मिलता है। यहाँ 'कहीं-कहीं' कहने का मतलब है कि समाज में सब जगह ऐसा नहीं होता लेकिन छोटे कस्बों और गाँवों में प्रायः ऐसा देखने को मिल जाता है। कहानी में भी जातियता के व्यूह में घिरे सवर्णों में यह मानसिकता दिखाई देती है कि लडकियां

इंटरकास्ट मैरिज कर लेती हैं इसलिए उन्हें पहले ही मौत के घाट उतार देने में ही उनकी व उनके समाज की भलाई है।

बड़े दुःख की बात है की आज़ादी के इतने सालों बाद भी हमारा समाज जाति व्यवस्था से मुक्त नहीं हो पाया है इसलिए ऐसे ज्ञान-विज्ञान के भी कोई मायने नहीं है जो किसी की जाति न बता सके। भारद्वाज का मानना है , **"जब इतना कुछ डॉक्टर कर रहे हैं तो क्या जाति का राज नहीं बता सकेंगे?"7** इस सन्दर्भ में यदि डॉक्टर जाति नहीं बता सकते तो ऐसा ज्ञान-विज्ञान उनके लिए व्यर्थ ही साबित होता है। आज यह ज्ञान-विज्ञान भी व्यक्ति को लूटने-खसोटने में पीछे नहीं है। यही इस कहानी में भी उद्घाटित किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि डॉक्टर भी भगवान् का ही एक रूप होता है जो व्यक्ति को दुनिया में लाने का सौभाग्य प्राप्त करके आया है पर आज वही डॉक्टर मोटी-मोटी फीस वसूलने के लिए मरीज़ को तमाम तरह के मर्ज़ बता कर अपनी जेबें गर्म कर रहे हैं। जेबों की भरपाई के लिए वे खून,दिल व मांस-मज्जा की जाँच से भी जाति का पता लगाने का दावा कर रहे हैं।जब भारद्वाज डॉक्टर से कहता है, **"डॉक्टर साहब, क्या खून की रिपोर्ट से बच्चे की जाति का पता चला?"8** जवाब में डॉक्टर उससे कहता है, **"अभी तो नहीं, पर ऐसा कौन सा रोग है जो डिटेक्स न होता हो, पेशेंस रखिये .....चाहे तो बच्चे को एक महीने के लिए भर्ती करा दीजिए। आपकी एसोसिएशन लाख-दो लाख तो अफोर्ड कर ही सकती है।"9** इसलिए पैसों के कारण ही मेडिकल स्पेशलिस्टों ने बच्चे की जाँच प्रक्रिया तेज़ कर दी थी।

इसके अलावा कहानी में आरक्षित वर्ग के तहत आने वाले डॉक्टरों के प्रति अनारक्षित वर्ग के डोक्टरों का क्षोभनीय रवैया भी देखने को मिलता है। यह फासला भी केवल जातिगत खाई ने ही पैदा किया है। वहाँ यह मान लिया जाता है कि एस.सी व एस.टी कोई डॉक्टर-वोक्टर नहीं होते हैं, क्योंकि वे तो आरक्षण पाकर डॉक्टर बने होते हैं। यहाँ तक कि वे तो शुन्य अंक प्राप्त करने ओपर भी एम.बी.बी.एस बन जाते हैं। यहाँ मतलब साफ़ है कि इन्ही लोगों ने मेडिकल व्यवस्था की दुर्दशा की हुई है न कि भ्रष्टाचार में लिप्त डॉक्टरों ने। इस सन्दर्भ में यहाँ पुनीता जैन के शब्द यहाँ एकदम सटीक प्रतीत होते हैं, **"वर्तमान समय में आरक्षण आदि के कारण दलित समाज की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया है किन्तु उनके सामजिक,सांस्कृतिक अस्मिता पर अभी भी प्रश्नचिंह मौजूद है। उच्छ शिक्षित समाज में भी जातिवादी मानसिकता होना उसकी जड़ता को दर्शाता है।"10** सामान्यतः दलितों का आर्थिक पक्ष कमजोर ही रहा है। लेकिन फिर भी यह आर्थिक कमजोरी उन्हें इतना बीमार नहीं बनाती जितना हमारे ही समाज से मिलने वाला यह जातिगत अपमान बनाता है।

भारतीय समाज में मौजूद जातिवाद इतनी गहराई तक अपनी जड़ें जमाये हुए है कि व्यक्ति मरना तो पसंद कर सकता है लेकिन जीवन बचाने के लिए किसी दलित व्यक्ति का खून का सहारा लेना नहीं। कहानी में बनारसी तिवारी को जब खून चढ़ाया जा रहा था और उसे पता चला कि खून किसी अछूत व्यक्ति का है तो उसने खून चढाने से ही साफ़ मना कर दिया। उसने कहा, **"डॉक्टर साहब मर जाऊँगा परन्तु किसी भंगी-चमार का खून नहीं चढ़ाऊंगा।"11** यह उसी समाज का बनारसी तिवारी है जो फोर्थ क्लास कर्मचारी के नवजात शिशु के रूप में केवल लड़कों को तो अपना सकता है लेकिन किसी दलित के खून के सहारे नया जीवन पाना उचित नहीं समझता।

भारतीय संविधान धर्म निरपेक्षता की बात करता है पर क्या भारत धर्म निरपेक्ष है , क्योंकि यहाँ तो धर्म में भी उच्च जाति वालों का बोलबाला है। भारतीय समाजिक संरचना में मौजूद जाति एवं धर्म दोनों ऐसी सच्चाई है जिस से इस समाज की सभी गतिविधियां संचालित व बाधित होती है। सन् 1927 में आम्बेडकर ने महाड़ आन्दोलन सिर्फ इसलिए चलाया था जिससे दलितों को मन्दिर में प्रवेश दिला सकें। उस आन्दोलन में सफलता पाने के बावजूद आज भी कई जगह दलितों का

मन्दिर में प्रवेश वर्जित है। कहानी में रोशन की जाती का पता चलने से उसे मन्दिर प्रवेश की अनुमति सवर्ण समाज का भारद्वाज नहीं देने देता है। उसके लिए पहले बच्चे की जाति जानना आवश्यक है। इसलिए भारद्वाज के दृष्टिकोण में,**"बच्चे को कॉलोनी के मन्दिर के अन्दर नहीं, सीढ़ियों के नीचे बैठने की व्यवस्था करा देनी चाहिए , जब तक इसकी जाति ज्ञात नहीं होती तब तक यह बच्चा ब्राह्मण तो नहीं माना जा सकता और तब तक इसे रखा तो शूद्र-अतिशूद्र अथवा अछूत की तरह ही जाएगा।"12** इसलिए भारद्वाज को मेडिकल साइंस पर भरोसा है कि यदि बच्चे के अंग-अंग की जाँच होगी तो किसी न किसी अंग से बच्चे की जाति पता चल ही जायेगी।

अंत में यह कहानी भारतीय समाज में व्याप्त इस जातिवादी खाई को पाटने का कार्य भी करती है। इसमें संत रैदास के हवाले से कहा गया है कि जिस तरह चांडाल के गुणवान होने पर, वह भी पूजने योग्य है उसी तरह दलित भी अगर गुणवान है तो वह भी उतना ही पूजनीय है।इस सन्दर्भ में देखा जाय तो गुणवान दलित भी कहाँ पूजे जा रहे हैं। किसी भी दलित साहित्यकार को व्यक्तिगत तौर पर जानेंगे तो पायेंगे कि तमान ओहदे व शैक्षणिकता के आधार पर भले ही उन्होंने समाज में साहित्य में अपना स्थान बनाया हो लेकिन फिर भी कई जगह जातिगत आधार पर उन्हें दुत्कार ही मिला। ऐसा कहा जाता है कि दलित गंदे रहते हैं लेकिन साफ़-सुथरा होने के बाद भी मुख्धारा का समाज उन्हें अपने समकक्ष कहाँ ला पा रहा है ? **"ख़ास बात यह है कि इस अनदेखेपन का मुख्य कारण 'जन्म' अर्थात जन्म के कारण एक ख़ास जाति (दलित) में होना रहा है।"13** दलित साहित्य के अंतर्गत सिर्फ 'आँच की जाँच' नहीं बल्कि ऐसी बहुत सी कहानियाँ है जहाँ व्यक्ति को केवल और केवल जाति के कारण अपमान और उत्पीड़न मिला है।

इसके लिए आवश्यक है कि वर्णव्यवस्था के स्वरुप को वर्तमान परिपेक्ष्य में समझा जाए। प्राचीनकाल में वर्णव्यवस्था के चार आधार स्तंभ ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य तथा शूद्र थे तो वर्तमान समौय में इनका स्थान जनरल, ओबीसी, एससी तथा एसटी ने ले लिया है। इसलिए सिर्फ रूप बदला है व्यवस्था वही की वही है। इस व्यवस्था का उन्मूलन वास्तविक रूप से तभी संभव है जब सवर्ण तथा अवर्ण एक साथ मिलकर जाति व्यवस्था से ऊपर उठ मानवता को प्राथमिकता देंगे , क्योंकि **"श्रेणीबद्ध समाज-रचना में मनुष्य की पहचान मनुष्य के रूप में नहीं की जाती , जाति के रूप में होती है। इस कारण श्रेणीबद्ध समाज-रचना को नष्ट कर समतावादी समाज का निर्माण दलित साहित्य का स्वप्न है।"14** दरअसल दलित साहित्य का आधार आम्बेडकर की वैचारिकी और फुले का दर्शन है। इन दोनों के मूल में समानता,स्वतंत्रता व बन्धुत्व रहा है। इस श्रेणीबद्ध समाज को तोड़ने के लिए भारतीय समाज में इन तीनों तत्त्वों का व्याप्त होना आवश्यक है अन्यथा समाज में विषमता ही विद्यमान रहेगी । यह कहानी या कहें कि सम्पूर्ण दलित साहित्य ही जाति व्यवस्था के तंग गलियारों से होकर गुजरा है इसलिए वे भली-भाँती परिचित हैं कि दलितों को मनुष्यों की कोटि में लाने वाले सभी रास्ते काँटों से भर दिए गए हैं। इसलिए दलित साहित्यकार उन रास्तों को साफ़ करने में लगे हुए हैं जिससे उन्हें भी मनुष्यों की कोटि में लाया जा सके। इसके लिए समाज में व्यक्तियों के परस्पर समानता, स्वतंत्रता व बंधुता की भावना का होना अत्यंत आवश्यक है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है 'आँच की जाँच' कहानी भारतीय समाज की उस सच्चाई कप उजागर करती है जो आज भी समाज में अपनी जड़ें ज्यो की त्यों जमाए पड़े है। वह सच्चाई है जाति-व्यवस्था। कहानी बताती है कि कैसे भारतीय सामाजिक संचरना में ही पहले से रची-बसी जाति-व्यवस्था , कैसे आज भी अपना काम कर रही है। व्यक्ति के मानसिक पक्ष और समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था में यह जाति-व्यवस्था बहुत गहरे-से पसरी हुई है। प्रोग्रेसिव व्यक्ति भी इस जाति-व्यवस्था से इस कदर जकड़ा हुआ है कि कहने को तो वह इस व्यस्था में कहीं मौजूद ही नहीं है

लेकिन वास्तविक रूप से वह इस से घिरा हुआ है। समतामूलक समाज निर्माण के लिए इस व्यवस्था का विनाश होना आवश्यक है अन्यथा समाज का एक तबका 'जाति' के कारण अपमानित ही होता रहेगा। समतामूलक समाज के लिए जरूरी है की मुख्यधारा उर हाशिये के समाज को मिलकर मंच पर एक साथ आना होगा होगा और सबसे ऊपर सिर्फ और सिर्फ मनुष्यता को रखना होगा।

सन्दर्भ सूची

1. मस्के साक्षांत, परम्परागत वर्ण-व्यवस्था और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या-20
2. वाल्मीकि ओमप्रकाश, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या-82
3. संपादक-संजय सहाय. हंस, अंक-4, नवम्बर 2019, पृष्ठ संख्या-5
4. बेचैन श्योराज सिंह , मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एंड सन्ज प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या-108
5. वही पृष्ठ संख्या-109
6. वही पृष्ठ
7. वही पृष्ठ
8. वही पृष्ठ संख्या-112
9. वही पृष्ठ संख्या 109-110
10. संपादक-ऋत्विक राय, लमही, अंक-3, जनवरी-मार्च 2020, पृष्ठ संख्या-284
11. बेचैन श्योराज सिंह , मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एंड सन्ज प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या-112
12. वही पृष्ठ संख्या
13. संपादक-श्योराज सिंह बेचैन, सामाजिक न्याय और दलित साहित्य,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्य-105
14. संपादक-संजीव कुमार, आलोचना, अंक-66, जुलाई-सितम्बर 202, पृष्ठ संख्या-38

जैनेन्द्र की कहानियों में स्त्री, 'जान्ह्वी' के विशेष सन्दर्भ में

कुमकुम पाण्डेय
शोधार्थी, पीएच. डी. (हिन्दी)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067
मोबाइल नं. – 9868325939
ईमेल: kumkum.jnu@gmail.com

सारांश

आधुनिक काल में कहानियों के माध्यम से समाज की कई मुख्य समस्याओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का कार्य कहानीकारों ने किया है। जैनेन्द्र कुमार को प्रेमचन्दयुगीन कहानीकारों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। जैनेन्द्र कुमार मनोवैज्ञानिक कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी कहानियों के पात्रों में बाह्य की अपेक्षा आंतरिक तथा मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व देखा जा सकता है। इनके पात्र समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं के विरूद्ध कोई बाह्य विद्रोह या क्रान्ति नहीं करते। वे अपनी मनोवैज्ञानिक मनःस्थिति के माध्यम से पाठकों के विचारों को प्रभावित करते हैं। जैनेन्द्र की कहानियों में स्त्री पात्रों को प्रमुखता मिली है। इनकी अधिकतर कहानियों के नाम स्त्री पात्रों के नाम पर रखे गए हैं। जैनेन्द्र कुमार की कहानियों में 'जान्ह्वी' का मुख्य स्थान है। इसकी नायिका समाज की दकियानुसी परम्पराओं को न मानते हुए अपनी जिन्दगी अपने हिसाब से जीती है। ये स्त्री पात्र भले ही समाज में क्रान्तिकारी के रूप में सामने न आए हों परन्तु अपनी मनोवैज्ञानिक तथा आंतरिक मनःस्थिति के माध्यम से पाठकों पर विशेष प्रभाव डालती हैं तथा समाज में परिवर्तन का एक नया आयाम खड़ा करती हैं।

बीज शब्द

रूढ़िवादी, परम्परा, मनोवैज्ञानिक, मनःस्थिति, दार्शनिकता, वैचारिकता, नैतिक-मर्यादा, तादात्म्य, सम्बद्ध, यौन-नैतिकता।

शोध आलेख

जैनेन्द्र ने कहानी को वैचारिकता एवं दार्शनिकता का एक नया धरातल प्रदान किया। हिन्दी कहानी को नई चेतना से लैस करते हुए उन्होंने कथावस्तु को सामाजिक धरातल से ऊपर उठाकर व्यक्तिगत एवं मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा में जीते हुए भी अपने लेखन की एक पुष्ट व्यक्तिवादी परम्परा स्थापित की। पहली बार हिन्दी कहानी में मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करते हुए व्यक्ति के अस्तित्व के प्रश्न को जीवन के मूलभूत प्रश्न और उनकी सार्थकता से सम्बद्ध कर देखा गया है। मनोविज्ञान की सहायता से जैनेन्द्र मनुष्य के आंतरिक जगत में प्रवेश कर उसकी थाह लेने लगते हैं। जैनेन्द्र की कहानियों में स्त्री मुख्य विषय बनकर आती है। इन्होंने अपनी नायिका को घर एवं पतिव्रत्य की चहारदीवारी से मुक्त कर नारी के रूप में चित्रित किया है और उनकी यह मुक्ति नैतिक-मर्यादाओं, विशेषकर यौन-नैतिकता के अतिक्रमण के सन्दर्भ में देखने को मिलती है। 'जान्ह्वी', 'रत्नप्रभा', 'प्रतिमा' आदि इनकी प्रमुख नारी केन्द्रित कहानियाँ हैं।

जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में स्त्री के कई रूपों को दिखाया है। पत्नी, प्रेमिका, बेटी परन्तु हर रूप में ही नारी की

किस प्रकार उपेक्षा की जाती है, उसे दबाया जाता है, उसके सम्मान को कुचला जाता है इसका यथार्थ चित्रण किया है। नारी को ही नारी के विरोध में दिखाया गया है। इन्होंने अपनी कहानियों 'त्रिवेणी' 'एकरात' आदि के विषय से अलग हटकर एक नए सन्दर्भ में नारी के चरित्र को दर्शाया है। जान्ह्वी अपनी इच्छानुसार अपनी जिन्दगी जीना चाहती है। वह समाज के बन्धनों में बंधकर अपनी जिन्दगी को खत्म नहीं करना चाहती। वह जिससे प्रेम करती है उसी के प्रति समर्पित है, उसके अलावा वह किसी और से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती, वह अपने प्रेमी की याद में ही पूरा जीवन गुजारना चाहती है। उसका प्रेमी किसी कारण या समाज की दकियानूस बातों, बन्धनों की वजह से उससे विवाह नहीं कर पाता फिर भी जान्ह्वी को एक आशा की किरण दिखाई देती है। उसकी आशा निम्न पंक्तियों में दिखाई देती है – 'दो नैना मत खाइयो पिउ मिलन की आस'। कौओं के साथ उसका अपनापा दर्शाता है कि वह संकीर्ण विचार वाले मनुष्यों के साथ रहने से अच्छा उस पक्षी के साथ रहना पसन्द करती है जिसे समाज ने अशुभ और मूर्ख माना है। लेकिन जान्ह्वी का रोज-रोज कौओं को खिलाना उन रूढ़िबद्ध मान्यताओं और प्रेम के दुश्मन समाज की मान्यताओं का श्राद्ध करने की ओर ईशारा करता है। कौओं को खाना एक विशेष पक्ष में खिलाया जाता है और जान्ह्वी है कि हर रोज खिलाती है। वह केवल प्रेम के दुश्मन समाज से ही नहीं धार्मिक मान्यताओं के भी परे जाकर अपना विद्रोह दिखाती है। वह उन कौओं के साथ अपना तादात्म्य देखती थी, उनके साथ वह भी उड़ जाना चाहती है। उड़ते हुए कौओं को देखकर वह इस समाज तथा संसार से जैसे कहीं दूर चली जाती है, परन्तु जल्दी ही उसे सच्चाई का आभास हो जाता है और वह फिर से वहीं खड़ी हुई अपने को पाती है। इस कहानी का पात्र 'मैं' कहता है – "उसके देखने में सचमुच कुछ दिखता ही था, यह मैं नहीं कह सकता। पर, कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति चेतन हो आयी।"(1)

प्रेम करना समाज में जैसे गुनाह माना जाता है। जब जान्ह्वी अपनी सच्चाई पत्र के माध्यम से ब्रजनन्दन को बता देती है तो उसकी चाची कहती है – "वह लड़की आशनाई में फँसी थी। पढ़ी-लिखी सब एक जात की होती हैं।"(2) ऐसा लगता है जैसे जान्ह्वी ने प्रेम नहीं कोई अपराध कर दिया हो। यह केवल उस समय की सोच नहीं है बल्कि आज भी जब हमारा समाज इतना आगे निकल चुका है, शिक्षित हो चुका है फिर भी उसकी मानसिकता में कोई ज्यादा अन्तर दिखाई नहीं देता। आज भी अगर कोई लड़की प्रेम करती है तो समाज उसे तरह-तरह के उलाहने देता है, उसे कुलक्षणी, कलंकिनी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। जान्ह्वी में जैसी चाची है वैसी स्त्री आज भी हमारे समाज में मिल जायेंगी।

अपने पात्रों के सम्बन्ध में जैनेन्द्र कहते हैं – "मेरा पात्र परिस्थितियों को धक्का देकर तोड़ने में उतना उद्यत मालूम नहीं होता। परिस्थिति में मिसमिताता है, लड़ता-झगड़ता है तो ऐसा मालूम होता है कि वह अपने साथ ज्यादा लड़ता-झगड़ता है – बाहर के साथ कम लड़ता है – चेतना परिस्थितियों का उपयोग करके अपने को विकसित कर सकती है। परिस्थिति को टक्कर देकर उसमें छेद या दरार करके चेतना विकास पाती है, ऐसा मैं नहीं मानता।"(3) परन्तु जैनेन्द्र की 'जान्ह्वी' अपनी परिस्थिति में मिसमिताती नही है बल्कि अपनी सच्चाई निःसंकोच बताती है। वह एक पत्र अपने भावी पति ब्रजनन्दन को लिखती है – "आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पाएँगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिलनी चाहिए वह जीवन संगिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ इसमें मुझे बहुत सन्देह है।"(4) वह जिस तरह

सत्य कहने का साहस दिखाती है ऐसा चरित्र जैनेन्द्र ने बहुत कम कहानियों में दिखाया है। जान्ह्वी के निर्णय को सफल बनाने में ब्रजनन्दन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। क्योंकि वह कोई उपभोग की वस्तु नहीं खरीद रहा था बल्कि उसे जीवन संगिनी चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रजनन्दन रिश्तों की अहमियत को भली प्रकार समझता है। यदि ब्रजनन्दन विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता तो 'जान्ह्वी' भी 'घूँघरु', 'एकरात' आदि कहानियों की नायिकाओं की तरह ही होती जिनका मन प्रेमी के प्रति स्नेह रखता है परन्तु जिन्हें सामाजिक दबाव ने तन को तथाकथित पति को देने के लिए विवश कर दिया।

जैनेन्द्र ने अपनी कहानी 'जान्ह्वी' में आधुनिक नारी का चित्रण किया है। जो अपने मूल्यों पर जीवन जीना चाहती है तथा इस समाज की झूठी मान्यताओं से लड़ते हुए अपने जीवन को समाज की बलि नहीं चढ़ने देती। जान्ह्वी के पत्र से ब्रजनन्दन में आए बदलाव पर मधुरेश लिखते हैं – "जान्ह्वी के लिखे उस पत्र को अपने से अलग नहीं करता। प्रेम अपने प्रभाव में कैसा संक्रामक होता है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि बहुत ठाठ से रहने वाले ब्रजनन्दन में एक चमत्कारी परिवर्तन होता है।"(5) ब्रजनन्दन जान्ह्वी की सहजता तथा सच्चाई से उससे प्रेम करने लगता है। उसका प्रेम मात्र जान्ह्वी के शरीर को पाना नही है, वह जानता है कि उसके मन में किसी और के लिए प्रेम है, वह शादी से इन्कार कर देता है। जान्ह्वी के सच कहने के साहस तथा सादगी ने ब्रजनन्दन को भी बदल दिया। जान्ह्वी जैसी पात्र हिन्दी कहानी में पहले नहीं हुई। मधुरेश लिखते हैं – "जान्ह्वी अपने प्रिय की अन्तहीन प्रतीक्षा में शाश्वत विरह का प्रतीक बनकर खड़ी है। अपनी स्थितियों से न तो वह असंतुष्ट दिखती है और न ही संकेत से व्यंजित पारिवारिक, सामाजिक अवरोधों के प्रति उसके मन में कहीं विद्रोह की चेतना है। वह अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ प्रेम के लिए समर्पित एक ऐसी नायिका है जो इससे पहले हिन्दी कहानी में दिखाई नहीं देती।"(6)

जैनेन्द्र ने जिस तरह से जान्ह्वी का चरित्र पाठकों के सामने रखा है वह अपने-आप में एक विद्रोह है और ऐसे लोगों को जान्ह्वी जवाब देती है जो स्त्री को अपना गुलाम समझते हैं। ऐसा नहीं है कि जान्ह्वी को यातनाएँ नहीं उठानी पड़ी होंगी लेकिन उसके साहस ने स्त्री को एक नया मार्गदर्शन दिया जो स्त्री के संकोच को खुल कर व्यक्त करने के लिए प्रेरणा देती है। वह जिस तरह बिना समाज से डरे अपने प्रेम की सच्चाई अपने भावी पति को बताती है वह इस समाज के मानदण्डों के प्रति विद्रोह ही है। आज के समय में जब कि प्रेम करने पर ऑनर किलिंग तथा खाप पंचायत द्वारा सजा सुनाई जाती है। ऐसी घटनाएँ हर रोज आती हैं, ऐसे में उस समय के समाज में जिसमें इतना विकास भी नहीं हुआ था जान्ह्वी अपने मानदण्डों पर जीती है। वह समाज द्वारा थोपे गए बन्धनों में बंधने से इन्कार करने का साहस दिखाती है। जैनेन्द्र ने जान्ह्वी के माध्यम से आधुनिक नारी का चरित्र प्रस्तुत किया है। परन्तु उस समय जो परिस्थितियाँ थीं उससे हमारा वर्तमान समाज बहुत आगे नहीं निकल पाया है। इस दृष्टि से जैनेन्द्र की कहानी आज भी प्रासंगिक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. जैनेन्द्र रचनावली, संपादक – डॉ. निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, खण्ड-4, पेज नं. – 496
2. वही, पेज नं. – 499

3. कहानी : अनुभव और शिल्प, जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं. – 46-47
4. जैनेन्द्र रचनावली, डॉ. निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, खण्ड-4, पेज नं. – 499
5. कहानीकार जैनेन्द्र कुमार, मधुरेश, समान्तर प्रकाशन, पेज नं. – 89
6. वही, पेज नं. - 87

छायावादी कविताओं में मातृभूमि का चित्रण

डॉ. जाहिदुल दीवान
पोस्ट डॉक्टरल फेलो
भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसांधान परिषद
नई दिल्ली

सारांश

आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल छायावादी काव्य में ही दृष्टिगोचर होता है। छायावादी काव्य साहित्य का जन्म उथल-पुथल भरी परिस्थितियों में हुआ था। इस धारा को जन्म के समय से ही पूर्ण विकास काल तक अपनी पहचान बनाने हेतु बड़े-बड़े झंझाबातों का सामना करना पड़ा। जबकि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय जागरण, विश्व बंधुत्व, उदात्त भावनाओं की जैसी सुंदर संभावना है वैसे किसी भी काव्यधारा के साहित्य में दुर्लभ है। छायावादी काव्य गांधी युग की मिट्टी में अंकुरित पुष्पित पल्लवित हुआ। गांधी युग राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष काल था। भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरव गान, भारत के वर्तमान दयनीय दशा का चित्रांकन एवं भारत के उज्जवल भविष्य का रूपांकन; इन तीनों भावों को एक सूत्र में बांधने वाला कालक्रम है छायावाद। इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की समुचित अभिव्यक्ति हुई है।

बीज शब्द:

राष्ट्रीय चेतना, मातृभूमि, पुनर्जागरण, स्वतंत्रता, विश्व बंधुत्व

शोध आलेख

जननि जन्मभूमि स्वर्गोदिपि गरियसी

प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास को देखा जाए तो व्यक्ति अपनी मातृभूमि के प्रति पूर्ण निष्ठावान और आत्म बलिदान एवं समर्पण की भावना से प्रेरित होता दिखाई देता है। यही आत्मसमर्पण एवं बलिदान की भावना ही उसे अपने अस्तित्व के प्रति जागृत करती है। आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल छायावादी काव्य में ही दृष्टिगोचर होता है छायावादी काव्य साहित्य का जन्म उथल-पुथल भरी परिस्थितियों में हुआ था। इस धारा को जन्म के समय से ही पूर्ण विकास काल तक अपनी पहचान बनाने हेतु बड़े-बड़े झंझाबातों का सामना करना पड़ा। एक तरफ तो विदेशी साम्राज्य की क्रोधदृष्टि का शिकार बनना पड़ा तो दूसरी तरफ से हिंदी साहित्य के तथाकथित मठाधीश और महान आलोचक एवं विद्वानों के विद्वेष-भावना और पक्षपात का शिकार होना पड़ा। जबकि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय जागरण, विश्व बंधुत्व, उदात्त भावनाओं की जैसी सुंदर संभावना है वैसे किसी भी काव्यधारा के साहित्य में दुर्लभ है।

छायावाद हिंदी साहित्य के कि वह काव्यधारा है जो लगभग सन 1918 से 1936 तक की प्रमुख युगवाणी रही। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। छायावाद नामकरण का श्रेय मुकुटधर पांडेय को जाता है। इन्होंने 'श्री शारदा' पत्रिका में एक निबंध प्रकाशित किया था जिस निबंध में उन्होंने छायावाद शब्द का प्रथम प्रयोग किया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से जिसे गांधी युग कहा जाता है साहित्यिक दृष्टि से उसे ही छायावादी युग की संज्ञा दी जाती है। तात्पर्य यह है कि छायावादी काव्य गांधी युग की मिट्टी में अंकुरित पुष्पित पल्लवित हुआ। गांधी युग राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष काल था। उस समय भारतीय जनमानस में राष्ट्रप्रेम का समुद्र हिलोरें मार रहा था। छायावादी काव्य से यह आशा करना स्वाभाविक ही था कि वह अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हुए राष्ट्रीय चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति करें।

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के मुख्य तीन भाव भूमियाँ हैं- भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरव गान, भारत के वर्तमान दयनीय दशा का चित्रांकन एवं भारत के उज्जवल भविष्य का रूपांकन। इन तीनों भावों को एक सूत्र में बांधने वाला कालक्रम ही नहीं मनोवैज्ञानिक क्रम भी है छायावाद।

शताब्दियों से गुलामी के बंधन में जकड़े हुए भारतवासियों में व्याप्त हीनता की भावना को दूर कर उसमें आत्म गौरव और आत्मविश्वास का संचार करने के लिए भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरव-गान आवश्यक था । इसे अपनी पूर्णता तक पहुंचाने के लिए मातृभूमि वंदना, राष्ट्रीय एवं जागरण संदेश के गीतों को भी जोड़ा गया है, महाकवि निराला 'खंडहर के प्रति' नामक कविता में भारत के महामानवों का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं-

आर्त भारत! जनक हूँ मैं
जैमिनि पतंजलि व्यास ऋषियों का
मेरी ही गोद पर सहसा विनोद कर
तेरा ही बढ़ाया मान
राम-कृष्ण भीमार्जुन देश में नर देवों ने।

छायावादी कवियों की राष्ट्रीय गीतों में राष्ट्रप्रेम और मातृभूमि वंदना की सीधी और सहज अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद के 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार', निराला के 'भारति देश जय भारत देश' तथा 'भारत माता ग्रामवासिनी' आदि गीतों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। मातृभूमि की वंदना करते हुए प्रसाद जी गा उठते हैं-

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता है एक सहारा।

वसुदेव कुटुंबकम का आदर्श पंत जी की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है- क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर, मानवता का निर्माण करें जग में लोकोत्तर। इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की समुचित अभिव्यक्ति हुई है। आजादी की लड़ाई के दौर के साहित्य का प्रमुख भाव देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना ही थी। देश प्रेम का सीधा संबंध मातृभूमि के प्रति अनुराग और दायित्व बोध से होता है। निराला की कविताएं मातृभूमि के प्रति अनुराग भाव से भरी पड़ी है। कभी अपनी वाणी को मातृभूमि की वेदना से गौरवान्वित करते हैं और हर कंठ से जन्मभूमि की पुकार सुनना चाहता है। जिससे चारों दिशाओं में जन्मभूमि की वंदना की लहरें उठती महसूस हों-

बंदू पद सुंदर तव
छंद नवल स्वर गौरव।
जननी, जनक- जननी- जननी,
मातृभूमि भाषे।
जागो नव अंबर भर, (गीतिका)

विदेशी आक्रांता उसे पद दलित जन्मभूमि के चरणों में जीवन समर्पित करके उसके आंसुओं को पोछ देने की कामना कवि करता है-

नर जीवन के स्वार्थ सकल
बली हो तेरे चरणों पर माँ
मेरे श्रम-संचित सब फल

.....

दृग जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल।

बलिदान चाहती है जन्मभूमि खेलोगे जान ले हथेली पर (महाराज शिवाजी का पत्र) अपना पूरा जीवन, पूरी शक्ति देश के लिए लगा देने की इच्छा। कठिन परिस्थितियों को झेल सकने, प्राण निछावर कर देने की कामना ही जैसे कवि के जीवन का लक्ष्य है। वह ईश्वर से प्रार्थना करता है तो भी अपने लिए नहीं भारत की स्वतंत्रता के लिए सरस्वती की वंदना करते हुए कहता है कि देश को वरदान दो कि हर तरफ स्वतंत्रता का अमृत मंत्र गुंजायमान होता सुनाई दे। भारत का नवनिर्माण करो जिससे हर तरह के अज्ञान और अंधकार के बंधन नष्ट हो जाए, इसके जीवन में नई गति नया कंठ और नयी मुक्ति का अवसर भर दो -

वर दे वीणा वादिनी वर दे।
प्रिय स्वतंत्र- रव अमृत -मंत्र नव
भारत में भर दे।

छायावादी काव्य में यह राष्ट्रीयता मुख्यतः सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुई है। कविवर पंत ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है "छायावादी युग में हिन्दी काव्य भारतीय पुनर्जागरण की चेतना तथा लोक जागरण के आह्वान के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं को भी युगबोध के अनुरूप नवीन वाणी दे सका है और उसका सृजन अपना अलग महत्व रखता है।" सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यक्ति प्रसाद की 'प्रथम प्रभात ' 'अब जागो जीवन के प्रभात ' 'बीती विभावरी जाग री 'आदि कविताओं में है। इसकी अभिव्यक्ति हम पंत, निराला और महादेवी वर्मा की 'जाग तुझको दूर जाना' जैसी कविताएं इस दृष्टि से विचारणीय है। लहर में संकलित प्रसाद की कविता 'अब जागो जीवन के प्रभात' पर विचार करें तो प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना स्वच्छंदतावाद की मूल चेतना से अभिन्न जान पड़ेगी-

अब जागो जीवन के प्रभात
वसुधा पर ओस बने बिखरे।
हिमकन आंसू जो क्षोभ भरे
उषा बटोरती अरुण गात।।

कवि जयशंकर प्रसाद उपर्युक्त पंक्ति के माध्यम से देशवासियों को जगाने की बात कर रहे हैं। वह देशवासियों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने को प्रेरित कर रहे हैं। वह कह रहे हैं कि जिस प्रकार सूर्य रात के अंधकार को समाप्त करता है , उसी प्रकार तुम भी जागो और पराधीनता रूपी रात को समाप्त करो। अभी तक के विश्लेषण पर ध्यान दें तो लगेगा कि हम राष्ट्रीय चेतना को छायावाद में एक सांस्कृतिक चेतना के रूप में ही देख रहे थे।

प्रसाद का मातृभूमि प्रेम स्वदेश के सौंदर्य के अछूते चित्रों के रूपों में व्यक्त हुआ है। संपूर्ण भारत उनके लिए सौंदर्य का भंडार है। भारत के प्राकृतिक सौंदर्य पर मुग्ध होकर कवि ने भाव विभोर हो देश के सौंदर्य का चित्रण किया है-

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।

कवि के प्यारे देश में जब जब विदेशी शक्ति का आधिपत्य या आक्रमण हुआ , तब तब कवि की लेखनी दृढ़ होकर लोगों के जनमानस तक पूर्ण संग्राम में बलवीर बनकर शामिल होने के लिए पुकारती रही।ऐसी ही पुकार सिकंदर के आक्रमण के उपरांत प्रणय गीत में देखने को मिलती है-

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती

स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती ।।

प्रणय गीत में देशवासियों को शत्रु का डटकर सामना करने की प्रेरणा दी गई है। भारत के अमर वीरों तथा साहसी युवाओं का आह्वान किया गया है कि वह देश में घुस आए विदेशी शत्रुओं का वीरतापूर्वक सामना करें। कवि जयशंकर ने ' बीती विभावरी जाग री' के माध्यम से भी लोगों को जागृत करने के लिए प्रेरित किया है-

बीती विभावरी जाग री
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा घट उषा नागरी।।

कवि इन पंक्तियों में भी जनमानस को स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने को प्रेरित कर रहा है। कवि का कहना है कि अब गुलामी रूपी रात को छटने का समय आ गया है। अब आजादी रूपी उषा का फैलना है। अतः सभी देशवासी एक साथ मिलकर विदेशियों का सामना कर उन्हें अपने देश से भगा दें और सूर्य की तरह अपने मातृभूमि पर फैल जाए। छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने मातृभूमि के प्रति प्रेम को अभिव्यक्त किया है। माखनलाल चतुर्वेदी अपनी कविता पुष्प की अभिलाषा में लिखते हैं-

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊं,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि,डाला जाऊं,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ू,भाग्य पर इठलाऊं
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।

आचार्य शुक्ल ने कविता क्या है नामक निबंध में लिखा है कि जो अपने देश के वन, नदी पर्वतों से प्रेम नहीं करते वह हजार बार देश प्रेम, देश प्रेम रटते रहे उनकी देश भक्ति अवास्तविक ही होती है। भारत के प्राकृतिक भूगोल के भीतर भारत माता की कल्पना वास्तव में नवजागरण के साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। भारत का ऐसा ही चित्र खींचते हुए उसके बौद्धिक, प्राकृतिक , सांस्कृतिक उत्थान, समृद्धि और विजय की कामना निराला करते हैं। महाकवि निराला ने युगीन आवश्यकता को दृष्टिगत रखकर राष्ट्रीयता को संस्कृति के स्वरूप में ढ़ालकर चित्रित किया। भारती वंदना, यमुना के प्रति, मातृवन्दना, जागो फिर एक बार, दिल्ली, खण्डहर के प्रति, छत्रपति शिवाजी का पत्र, राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास आदि में राष्ट्रीयता का भव्य स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। भारत भूमि को माता मानकर स्तुति करते हुए लिखते हैं-

भारति, जय विजय करे
कनक-शस्य-कमल धरे
लंका पद-तल-शत दल
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।1

भारत की गरिमामय संस्कृति की उपेक्षा एवं तिरस्कार करके पाश्चात्य सभ्यता की चकाचैंध के मोहजाल में आत्म विस्मृत हो अंधाधुंध दौड़ती भारतीय पीढ़ी को चेतावनी देते हुए उसे सर्व संहारक बताया है-

तुम ने मुख फेर लिया,
सुख की तृष्णा से अपनाया है सरल,
ले बसे नव छाया में
नव स्वप्न ले जगे
भूले वे मुक्तगान, सामगान, सुधापान।

महाप्राण निराला की युग चेतना से अनुप्राणित कविता में भारत की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों को आत्मसात करने वाली मिली है। 'तुलसीदास' में इतिहास पर नयी दृष्टि डालते हुए कवि ने कुसंस्कारों के वशीभूत हो पतन के कगार पर खड़ी भारतीय संस्कृति की तुलना को तत्कालीन स्थिति से करके भारत के सांस्कृतिक वैभव के सूर्य के अस्त होने का चित्रण कर सावधान किया-

भारत के नभ का प्रभा पूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज के - तमस्तूर्य दिड़मंडल।

हिंदी साहित्य में छायावादी कविता के उद्भव के सौ वर्षों (1918-2018) बाद भी छायावादी काव्य आज भी इतर काव्य विधाओं के मध्य अपनी कलात्मक और अलंकृत भावाभिव्यक्ति के लिए कालजयी काव्य साहित्य के रूप में विद्यमान है।

छायावादी काव्य में शक्ति के आवाहन का एक और रूप इस युग के जागरण गीतों में मिलता है। पुनर्जागरण चेतना की बड़ी सूक्ष्म और प्रीतिकर अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है। मनुष्य की और प्रकृति की भी सुप्त चेतना को जगाने का उपक्रम यहाँ कवि ने सामान्यतरू प्रशमित और कभी-कभी ओज की मुद्रा में किया है। छायावादी काव्य में एक बड़ी संख्या इन प्रभाती और जागरण गीतों की है, जिनमें एक और शक्ति और चैतन्य का आवाहन है और एक दूसरे तथा समकालीन संदर्भ में वे राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष से जुड़े हैं। 'प्रथम प्रभात, आँखों से अलख जगाने को, अब जागो जीवन के प्रभात!, बीती विभावरी जाग री!' (प्रसाद), 'जागो फिर एक बार, प्रिय, मुद्रित दृग खोलो!, जागा दिशा ज्ञान, जागो जीवन धनिके!' (निराला), 'जाग बेसुध जाग, जाग तुझको दूर जाना!' (महादेवी)', 'प्रथम रश्मि, ज्योति भारत' (सुमित्रानंदन पंत), जैसी अनेक जागरण की कविताएँ स्मरण हो आती हैं। इनमें से कुछ गीतों में व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र-जागरण के भाव एक-दूसरे में घुल-मिल गए हैं। मानवीय प्रणय और देश-प्रेम का संश्लिष्ट रूप वस्तुतरू छायावादी काव्य से पहले ही श्रीधर पाठक, नरेश त्रिपाठी आदि स्वच्छंदतावादी कवियों की रचनाओं में मिलने लगता है, रामनरेश त्रिपाठी के खंड काव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' का विधान मुख्यतरू इसी वस्तु पर विकसित हुआ है। मुख्य बात यह है कि छायावादी काव्य के इस बहुत बड़े अंश में पुनर्जागरण की चेतना सीधे प्रकट होती है। गीतों के अतिरिक्त लंबी कविताओं के खंडों में जागरण का यह स्वर गूँजता है। 'आँसू' के परवर्ती हिस्से में एक पूरे का पूरा खंड प्रातरूकालीन बिंबों के बीच जागरण-बेला का चित्रण करता है-

वह मेरे प्रेम विहंसते
जागो, मेरे मधुवन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में!

मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सोने वाले!

छायावादी कवियों ने परतंत्र युग में आँखे खोली थीं। उस समय भारत में स्वाधीनतावादी आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर थे। वस्तुतः छायावाद का जन्म ही स्वाधीनता की चेतना से हुआ। ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय आंदोलनों को कुचलने के लिए रोलेट ऐक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकांड, साइमन कमीशन, भगत सिंह को फाँसी जैसे वीभत्स कार्यों को अंजाम दिया। परिणामस्वरूप भारतीय जनता में अंग्रेज सरकार के प्रति आक्रोश और बढ़ता गया। समाज का प्रत्येक वर्ग आजादी के लिए बेचैन हो उठा। यह बेचैनी छायावादी काव्य में भी सर्वत्र देखी जा सकती है। छायावादी कवियों पर अपने वर्तमान से पलायन का आरोप भी लगाया जाता है जो कदापि उचित नहीं है। प्रसाद, पंत, निराला आदि ने भारतीय जनमानस में मातृभूमि-प्रेम, राष्ट्रीयता, आत्म-गौरव, बलिदान एवं स्वाधीनता की भावना को जगाने का साहसी कार्य किया। इन कवियों मातृभूमि के प्रति प्रेम के स्वर को अद्योपरांत सर्वत्र देखा जा जकता है। छायावादि कवियों ने अपने वर्तमान से आँखे मूँदकर अतीत के स्वर्णिम आलोक में ऊर्ध्वगमन नहीं किया। उनके ऐतिहासिक तथा पौराणिक प्रबंध काव्यों का भाव-बोध भी तदयुगीन समाज की यथार्थपरक भूमि पर आधारित है। 'राम की शक्ति पूजा' एवं 'तुलसीदास' नामक लम्बी कविताओं में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की अद्भुत झलक है। छायावादी कवियों में निराला का व्यक्तित्व सर्वाधिक क्रांतिकारी है, उन्होंने बादल के माध्यम से विप्लव कर आह्वान कर दीन-हीन शोषित जनता में क्रांति की भावना का संचार किया -

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझको बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार है,
ऐ जीवन के पारावार!

मुख्यतः निराला के क्रांतिकारी काव्य की विषय-वस्तु सर्वहारा वर्ग के दलित, गरीब, मजदूर, किसान रहे हैं। छायावादी युग में रचित 'वह तोड़ती पत्थर', 'दीन', 'गरीबों की पुकार', 'भिक्षुक', 'दीन', 'विधवा' आदि कविताएँ इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। 'जन्मभूमि' 'स्वाधीनता पर', 'बादल-राग', 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', 'दिल्ली' 'जागो फिर एक बार', 'आवाहन' आदि कविताएं भारतीय स्वाधीनतावादी आंदोलन से अनुप्रेरित हैं। निराला की भाँति अन्य छायावादी कवियों ने भी अपने काव्य के माध्यम से स्वाधीनतावादी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इनमें प्रसाद, पंत, रामकुमार वर्मा आदि ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। इन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास के स्वर्णिम वृतांतों के माध्यम से संस्कृति की अभूतपूर्व झाँकी प्रस्तुत की तथा जनता में स्वाधीनता की भावना को जाग्रत किया। इस तरह छायावाद ने प्रत्यक्ष रूप से भी समकालीन राष्ट्रीय आंदोलन को प्रतिबिम्बित और प्रभावित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। यह जरूर है कि सभी कवियों ने समान रूप से इस भाव की कविताएँ नहीं लिखीं, लेकिन यह सच है कि सभी कवियों ने राष्ट्रीय आंदोलन के किसी किसी पहलू को यथाशक्ति चित्रित करने की कोशिश की। इन सबमें निराला सबसे आगे रहे।

निराला की कविता में प्रकृति, प्रेम और सौंदर्य के साथ तदयुगीन समाज, संस्कृति तथा स्वाधीनतावादी आंदोलन की झलक को भी साफ देखा जा सकता है। 'राम की शक्ति पूजा' 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'दिल्ली' जैसी कविताओं में स्वाधीनतावादी आंदोलन की झलक साफ नजर आती है। निराला ने भारतीय जनमानस में आत्म गौरव, स्वाभिमान और

स्वाधीनता की भावना का संचार किया। स्वतंत्रता की ऊष्मा से अभिमण्डित निराला देशी-विदेशी दासता के विरुद्ध आज तक लड़ता रहा है। अतः छायावादी कल्पनाओं की रंगीनी के साथ निराला में स्वतंत्रता की भावना का नवोन्मेष ओत-प्रेत है। अदम्य साहस, अपराजित स्वाभिमान उनकी कविता कामनी को रणचंडी बनाने के लिए पर्याप्त है। 'दिल्ली' कविता में इतिहास पर दृष्टि डालते हुए वह भारतीय जनमानस में आत्म गौरव, देश प्रेम एवं स्वाभिमान की भावना का संचार करते हैं - भारत के स्वाभिमान को जाग्रत कर भारतीयों को अपने इतिहास से परिचित कराना और उसके अनुकूल आचरण का संदेश देना निराला की अन्यतम विशेषता रही है। यथा-

क्या यह वही देश है-
भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र,
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ वायुमंडल में
उज्जवल, अधीर और चिरनवीन?

'जागो फिर एक बार' कविता में निराला ने स्वाधीनता आंदोलन का शंख फूँका है। इसमें भारतवासियों को संबोधित करते हुए वह कहते हैं कि स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अन्याय के विरुद्ध शेर की तरह अंग्रेजों का मुकाबला करो। बलि के लिए शेरनी का बच्चा कोई नहीं छीन पाता क्योंकि वह अत्याचार नहीं सहती, बल्कि वह अपने शत्रु पर आक्रमण करती है जबकि बकरे की माँ कायर होने के कारण अपने शिशु की रक्षा नहीं कर पाती। परिणामस्वररूप उसके बच्चे की बलि दे दी जाती है। अतः भारतवासियों को सिंह की तरह अंग्रेजों का सामना करना चाहिए क्योंकि कायर और डरपोक लोग चुपचाप रहकर अत्याचार सहते हैं। अतः निराला ने परतंत्रता से मुक्ति के लिए देशवासियों में अंग्रेजों से शेर की तरह मुकाबला करने आह्वान किया है-

सिंही की गोद से
छीनता रे शिशु कौन?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण? रे अजान!
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमे।

इस प्रकार निराला ने भारतवासियों में स्वाधीनता की भावना जगाते हुए उन्हें अज्ञान अकर्मण्यता और कायरता की नींद से जगाने का प्रयास किया है। निराला ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भारतवासियों में स्वाधीनता की भावना का संचार करते हुए लिखते हैं-

शेरों की मांद में
आया है आज स्यार-
जागो फिर एक बार।

इसका प्रमाण उनकी सन् 1920 ई॰ में रचित 'जन्मभूमि' कविता है। यह उनकी प्रथम देशभक्ति पूर्ण कविता थी। इसके बाद वह लगातार देश-प्रेम एवं स्वाधीनता प्रेम से सम्बंधित कविताएं लिखते रहे। वे आर्थिक राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता के साथ मानसिक स्वतंत्रता को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ' नामक निबंध में उन्होंने स्त्रियों की स्वाधीनता को समाज के लिए महत्वपूर्ण माना है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि निराला ने स्वाधीनता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने सभ्य

समाज के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता के समांतर व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वाधीनता पर भी विशेष बल दिया। इस प्रकार देखने से लगता है कि छायावाद काल के काव्य में स्वाधीनता प्रेम के साथ मातृभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा देखने को मिलती है। वह स्वाधीनता के सच्चे साधक थे। वे तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक, एवं राष्ट्रीय विचारधाराओं से परिचित एवं प्रभावित थे। उनकी कविता में प्रारम्भ से राष्ट्रीय स्वाधीनता का स्वर दिखायी देता है। वह केवल उल्लास-विलाष के ही कवि नहीं हैं, उनके काव्य में समाज के यथार्थ चित्र भी विद्यमान है।

छायावादी काव्य में मातृभूमि प्रेम की अभिव्यंजना करने वाले गीत हैं, मातृभूमि की वंदनाएँ व उद्बोधन हैं, शोषण मुक्त समाज की संकल्पना है तथा आध्यात्मिक चेतना, रहस्य व निच्छल भक्ति से पूरित भावुक भक्तिगीत भी हैं । इनके अतिरिक्त सांस्कृतिक आलोक को बिखेरने वाली उनकी लम्बी कविताएँ हैं । राष्ट्रीयता, देश की मिट्टी के प्रति प्रेम, उसकी विरासत के प्रति प्रणत भावना, उसके जन और संस्कृति के प्रति प्रेम और निष्ठा, अतीत की गरिमामय संस्कृति की गाथा, वीर पुरूषों के प्रति श्रद्धा, वर्तमान स्थिति का विश्लेषण और भविष्य के प्रति उज्ज्वल आकांक्षा आदि में प्रकट होती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. सिंह, बच्चन, क्रांतिकारी कवि निराला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 5वाँ संस्करण, 2003, पृष्ठ- 165।
2. नवल, नंदकिशोर (संपा०), निराला रचनावली, भाग-1, राजकमल प्रकाशन, 5वाँ संस्करण, 2014, पृष्ठ- कवर पेज।
3. सिंह, बच्चन, क्रांतिकारी कवि निराला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 5वाँ संस्करण, 2003, पृष्ठ- 42।
4. वही,पृष्ठ-136।
5. उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, द्वितीय संस्करण,1965, पृष्ठ-67।
6. नवल, नंदकिशोर (संपा०), निराला रचनावली, भाग-1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 5वाँ संस्करण, 2014, पृष्ठ-281।
7. नवल, नंदकिशोर(संपा०), निराला रचनावली, भाग-1, राजकमल प्रकाशन, 5वाँ संस्करण, 2014, पृष्ठ- 153
8. वही, पृष्ठ-153।

'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए': पूर्वी बंगाल की दास्तान'

डॉ. प्रियंका
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
माउंट कार्मल कॉलेज, स्वायत्त, बैंगलोर
ईमेल-prix3030@gmail.com

सारांश

'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए' *उपन्यास पूर्वी बंगाल की उस दास्तान को साहित्य में दर्ज करवाता है जिसकी आहट साहित्य में इससे पहले महसूस नहीं की गई थी। बंगाल विभाजन के समय बंगाल को दो हिस्सों में बाँटा गया पूर्वी और पश्चिमी बंगाल। यही पूर्वी बंगाल देश विभाजन के पश्चात पूर्वी पाकिस्तान एवं भारत-पाक युद्ध के पश्चात बांग्लादेश नाम से संबोधित किया गया। वर्तमान बांग्लादेश के अतीत की कहानी को जिसमें अन्धाधुन्ध क़त्लेआम और अपना सबकुछ छोड़कर दूसरे देश में शरणार्थी का जीवन जीने की विवशता, ऑपरेशन सर्चलाइट जैसे अमानवीय कृत्य शामिल हैं, इन्हें सहने के लिए वे निर्दोष लोग मजबूर थे जिन्हें पता ही नहीं था कि आखिर उनका कसूर क्या है!*

बीज शब्द

फ़रमान, शरणार्थी, विभाजन, नजरबंद, मूल निवासी, गिरफ्तार, दंडकारण्य, न्याय, रियायत, जब्त, दोहन, ऑपरेशन सर्चलाइट।

शोध आलेख

'भारत' एक ऐसा शब्द जिसे सुनते ही सभ्यता, संस्कृति, संस्कार का बोध हो जाता है। जो भी यहाँ आया वह यहीं का होकर रह गया, उसे माँ की गोद का सुकून यहीं मिला। अनेक संस्कृतियों, सभ्यताओं, धर्मों, परंपराओं, रीति-रिवाजों, खान-पान आदि को अपने में समेटे 'भारत देश' है। हम अपने देश को 'भारत माता' कहकर पुकारते हैं। इसने अपनी ही गोद में अपने बच्चों को खून से लथपथ कटते, मिटते, तड़पते, मरते और विभाजित होते देखा है। मूल विषय पर आने से पूर्व उस इतिहास को जानना जरूरी होगा, जिसके दर्द की अभिव्यक्ति इसके केन्द्र में निहित है।

19 जुलाई 1905 को वायसराय कर्जन के द्वारा बंगाल विभाजन का एलान किया गया था। जिसका उद्देश्य एक मुस्लिम बहुल प्रान्त का सृजन करना था। भारत सरकार के गृहसचिव रिसले ने 6 दिसंबर 1904 को एक टिप्पणी में लिखा- ''एकजुट बंगाल अपने-आप में एक शक्ति है। बंगाल और विभाजित हो तो सभी भागों की दिशाएँ अलग-अलग होंगी।''1 उनका उद्देश्य यहीं खत्म नहीं हो जाता, वे आगे लिखते हैं- ''हमारा एक उद्देश्य हमारे शासन के विरोधियों को तोड़ना और इस प्रकार उन्हें कमजोर करना है।''2 रिसले महोदय का यह स्वप्न पूरा भी हुआ। 1947 में विभाजन के बाद बंगाल भी दो भागों में विभाजित हो गया। हिन्दू बहुल इलाका भारत को और मुस्लिम बहुल इलाका पाकिस्तान को मिला। यानी कि भारत का बंगाल 'पश्चिम बंगाल' और पाकिस्तान का बंगाल 'पूर्वी बंगाल' कहलाया। 1955 में पाकिस्तान सरकार ने इसका नाम पूर्वी बंगाल से पूर्वी पाकिस्तान कर दिया।

पूर्वी पाकिस्तान का पश्चिमी पाकिस्तान से कोई जमीनी संबंध नहीं था। केन्द्रीय सरकार के सभी उच्च अधिकारी पश्चिमी पाकिस्तान से ही थे। जहाँ लोग उर्दू और पंजाबी बोलते थे, वहीं, पूर्वी में बंगाली भाषा अधिक बोलने वाले थे, जिनपर उर्दू भाषा को थोपने की कई कोशिशें की गईं लेकिन 7-8 वर्षों के कड़े संघर्ष के बाद 1956 में बांग्ला को आधिकारिक दर्जा मिला। शुरू से ही पूर्व के साथ पश्चिम का रवैया कुछ ठीक नहीं रहा, लेकिन आबादी की दृष्टि से पूर्वी की जनसंख्या पूरे पाकिस्तान की 60 प्रतिशत थी, फिर भी बजट का केवल 30 प्रतिशत ही उस पर खर्च किया जाता था। निर्यात के द्वारा भी

उसका जबरदस्त शोषण हो रहा था। पश्चिमी पाकिस्तान के द्वारा एक भेदभाव पूर्ण नीति पूर्वी पाकिस्तान के साथ शुरूआत से ही अपनाई गई, जिसके चलते वहाँ अवामी लीग का गठन हुआ। जिसके नेता शेख मुजीबुर्रहमान थे। जिनके नेतृत्व में 1966 में एक आंदोलन शुरू हुआ, जिसे 6 पाइन्ट मूवमेन्ट कहा जाता है। जिसमें 6 माँगें रखी गईं, जिनका मुख्य उद्देश्य पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा पूर्वी पाकिस्तान के शोषण को समाप्त करना था-

1. संघीय प्रणाली

2. रक्षा एवं विदेशी मामले को छोड़कर, बाकी सभी मामलों में कानून बनाने की ताकत राज्य को होनी चाहिए।

3. एक अलग मुद्रा और एक अलग राजकोषीय नीति।

4. कराधान की शक्ति

5. बाहरी देशों के साथ व्यापार करने की शक्ति तथा विदेशी मुद्रा आरक्षित यानी कि विदेश के साथ जो भी व्यापार करेंगे, उससे जो भी पैसा आएगा वह पूर्वी और पश्चिमी पाक के लिए अलग हो क्योंकि पहले पूर्वी पाक का पैसा पश्चिमी पाक में पलायन कर जाता था।

6. अलग फौज और अलग नेवी

इन्हीं सब माँगों के पश्चात् पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब खान ने शेख मुजीबुर्रहमान को जेल में डलवा दिया। अयूब खान ने 1969 तक सत्ता में रहने के पश्चात् तानाशाही याहया खान को सत्ता सौंपी। इन्होंने आते ही यह ऐलान किया कि अब चुनाव के आधार पर ही सत्ता के उम्मीदवार का चुनाव होगा, क्योंकि अभी तक सत्ताधारी चुनावी गतिविधियों से होकर नहीं गुजरता था। अर्थात् 1970 में राष्ट्रीय सभा और प्रांतीय विधानसभा के बीच में चुनाव होने वाले थे। उस समय पाकिस्तान में एक पार्टी थी 'पाकिस्तान पीपल्ज़ पार्टी' इसके उभरते हुए नेता जुल्फ़िक़ार अली भुट्टो थे। जो कि अयूब खान के कार्यकाल में विदेश मंत्री पद पर रह चुके थे। वे भी चुनाव के लिए खड़े हुए। इन चुनावों में सीट का बँटवारा जनसंख्या के आधार पर हुआ। जहाँ पूर्व की आबादी 6.8 करोड़ एवं पश्चिम की 6 करोड़ थी। पहली बार राष्ट्रीय सभा के पाकिस्तान में चुनाव होने जा रहे थे।

1970 में चुनाव से पहले ही पूर्वी पाक में दो प्राकृतिक आपदाएँ आईं। बाढ़ और चक्रवर्ती तूफान (भोला तूफान) जिसके कारण 3 से 5 लाख लोगों की मौत हुई। याहया खान ने पूर्व पाक को इन आपदाओं के समय किसी भी प्रकार की सहायता मुहैया नहीं कराई। भारत एवं अन्य देशों द्वारा मदद की पेशकश को भी ठुकरा दिया। परिणामतः पूर्वी लोगों का गुस्सा दिसम्बर-जनवरी में होने वाले चुनावों पर फूटा। फलतः अवामी लीग ने 162 में से 160 सीटें जीत लीं। दूसरी ओर जुल्फ़िक़ार अली भुट्टो की पार्टी ने 138 में से 81 सीटों पर कब्जा किया। नतीज़े के आधार पर अवामी लीग के नेता शेख मुजीबुर्रहमान को प्रधानमंत्री बन जाना चाहिए था, लेकिन पश्चिमी पाक कैसे मंजूर कर लेता! इन चुनावों को स्थगित कर दिया गया। याहया खान, जुल्फ़िक़ार अली भुट्टो, शेख मुजीबुर्रहमान के बीच कई वार्तालापें हुईं, जिनका नतीजा कोई सार्थक नहीं निकल सका। याहया खान के भीतर यह भय अवश्य पैदा हो गया कि भुट्टो और मुजीबुर्रहमान की नजदीकियाँ मुझसे सत्ता छीन लेगीं, इसी भय के चलते दोनों को जेल में डलवा दिया। मुजीबुर्रहमान को जेल में डालते ही पूर्व पाक में हड़ताले, धरने, विरोध प्रदर्शन शुरू हुए। अवामी लीग ने इसी समय मार्च 1970 से ही अर्ध सरकार के रूप में कार्य करना

शुरू कर दिया। यानी कि वे अब अपने ऊपर पश्चिमी पाक का शासन नहीं चाहते थे। पाकिस्तानी आर्मी द्वारा इस विरोधपूर्ण गतिविधि को दबाने के लिए कई लोगों पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाई गईं। जिसे देखते हुए अवामी लीग ने 26 मार्च 1971 को घोषणा की कि आज से हम पाकिस्तान से अलग हो रहे हैं। घोषणा के तुरंत पश्चात् पाकिस्तानी आर्मी ने ऑपरेशन सर्चलाइट जैसा अमानवीय कृत्य शुरू कर दिया। मार्च से दिसम्बर 1971 तक पाकिस्तानी आर्मी ने बड़ी संख्या में बंगाली बुद्धिजीवियों, राष्ट्रवादियों, छात्रों, अवामी लीग के समर्थकों और हिन्दुओं को मारा। जिसमें लगभग 3-5 लाख लोगों ने अपनी जान गँवाई। लाखों महिलाओं के साथ दुष्कर्म हुए। इसके पीछे कारण यह था कि पढ़े-लिखे लोगों को मार दो जिससे यह सोच अपने-आप खत्म हो जाए। इस ऑपरेशन सर्चलाइट के खिलाफ पूर्वी पाक के लोगों ने हथियार उठाए और मुक्ति वाहिनी सेना का गठन किया। उन्होंने पाकिस्तानी सेना के खिलाफ गुरिल्ला युद्ध की तकनीक इस्तेमाल की।

भारत में लगभग 1 करोड़ शरणार्थी पूर्वी पाक से आ चुके थे। जिनके लिए कैम्प, खान-पान की व्यवस्था करना भारत के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य था। भारत ने शुरू में तो पूर्व का खुलकर समर्थन नहीं किया, जिसके पीछे कारण यह था कि नागा-मिजो आदिवासी स्वयं को भारत से अलग करने की बात कर रहे थे। ऐसे समय में यदि पूर्वी पाक की स्वतंत्रता का समर्थन भारत करता तो उसे नागा-मिजो को भी स्वतंत्र करना पड़ता। लेकिन भारत पश्चिमी पाक पर दवाब बनाने की कोशिश लगातार करता रहा, जिसमें संयुक्त राष्ट्र ने उसका साथ दिया। जब इस दबाव का कोई असर पश्चिमी पाक पर नहीं हुआ तो भारत ने अप्रैल 1971 को स्पष्ट शब्दों में ऐलान कर दिया कि हम बांग्लादेश के लोगों के साथ हैं। नवम्बर माह से भारत-पाक की सेनाएँ सीमाओं पर संगठित होना शुरू हुईं। 3 दिसम्बर को पाकिस्तानी फोर्स ने भारत के पश्चिमी हिस्से के हवाई ठिकानों पर अचानक से आक्रमण कर दिया। इसके तुरन्त बाद ही भारत ने पूर्वी और पश्चिमी सीमा पर हमला कर दिया। परिणामतः 13 दिनों के भीतर भारत ने ढाका पर कब्जा कर लिया। 16 दिसम्बर को ढाका में पाकिस्तानी सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। भारत के जनरल लेफ्टिनेंट जगजीत सिंह अरोड़ा के सामने पाकिस्तान के जनरल लेफ्टिनेंट अमीर अब्दुल्ला खान निआजी के साथ नब्बे हजार सैनिकों ने भी आत्मसमर्पण किया। 12 जनवरी 1972 को शेख मुजीबुर्रहमान सत्ता में लौटे एवं उन्हें बंगबंधु की उपाधि से नवाज़ा गया। 1975 में उन्हें उनके पूरे परिवार समेत मार दिया गया। उनकी दो बेटियाँ बचीं जो कि उस समय विदेश में थी, उनमें से ही एक बेटी बांग्लादेश की वर्तमान प्रधानमंत्री शेख हसीना हैं।

भारत विभाजन एक ऐसी घटना थी जिसका असर कई वर्षों तक, लाखों-करोडों जिन्दगियों पर पड़ा। जिन कठिनाइयों, संघर्षों, भयंकर स्थितियों, दर्दनाक हादसों का सामना उन लोगों को करना पड़ा उन्हें व्यक्त करने के लिए शब्दों की सार्थकता भी कम जान पड़ती है। विभाजन का दर्द, जान बचाने के लिए घर-द्वार छोड़कर दर-दर ठोकरे खाना, शरणार्थी का जीवन जीने को विवश हो जाना, अपने अतीत को ऐसे दिलो-दिमाग से साफ कर देना जैसे तेजाब से कीड़े-मकोड़ों को, एक ही झटके में लावारिशों की तरह जीवन काटने को विवश हो जाना। वर्तमान बांग्लादेश के इसी अतीत की कहानी को जिसमें अन्धाधुन्ध क़त्लेआम और अपना सबकुछ छोड़कर दूसरे देश में शरणार्थी का जीवन जीने की विवशता की दास्तान लेखिका अल्का सरावगी ने अपने उपन्यास 'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए' में की है।

एक पल में अपना घर-द्वार, गाँव-शहर, व़तन को छोड़ देना और दर-दर ठोकर खाने को मोहताज हो जाना, भागते-भागते जो अपने पीछे छूट गए, उनकी ओर पलट कर न देखना, दिल को कड़ी जंजीरों से जकड़ लेना। लेकिन क्या फिर भी अपना घर, द्वार, गली, मोहल्ले, गाँव, माटी को भूलाया जा सकता है! भले ही सात समुन्दर दूर बसेरा बन जाए लेकिन वह जो पीछे छूट गया है दिल के उतने ही करीब लगता है। ''सच भूषण, गंगा किनारे का हमारा कुष्टिया का घर अभी भी सपने

में आता है। घर तो वहीं खड़ा होगा। जाने कौन मुसलमान रहता होगा उसमें? कैसे हम लोग रातों-रात सब कुछ छोड़ कर चले आए थे।''3 घर तो करीब लगता है लेकिन यह सोचकर रूह भी तड़प जाती होगी जब यह ध्यान आता होगा कि अब उस घर में उसी शख्श का डेरा होगा जिसकी यातनाओं का परिणाम यह वर्तमान दुर्दशा है। यह पीड़ा ऐसी है जिसे भुक्तभोगी खुद के खून को भी महसूस कराने में असमर्थ है। शायद कुलभूषण भी अपने बेटे प्रशान्त को यह एहसास दिलाने में असमर्थ ही है। ''प्रशान्त को क्या मालूम कि देश और काम छिन जाना क्या होता है? बिना एक तिनके के सहारे जीना क्या होता है?''4 पूर्वजों के बसाये हुए बसेरों को छोड़ना सब के बस की बात नहीं होती। वह बसेरा हमारे वजूद के होने को ज़ाहिर करता है। कुछ तो विपत्ति के समय घर-द्वार छोड़कर वहाँ से पलायन कर लेते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं जो आखिरी साँस तक वहीं जमे रहते हैं। ''देखो गोबिन्दो, मेरे दादा हरमुखरायजी और मेरे पिता भजनलालजी राजस्थान के बिसाऊ से यहाँ एक लोटा-डोरी लेकर आए थे। उन्होंने बहुत मेहनत से तिल-तिल कर अपना कारोबार खड़ा किया।''5 यह कथन उपन्यास के केन्द्रीय पात्र 'कुलभूषण' के पिता का है जो अपने बेटों को पत्नी समेत बांग्लादेश की सीमा से परे भारत भेज देते हैं लेकिन स्वयं कुष्टिया नहीं छोड़ते। भला अपने बाप-दादा की खून-पसीने की कमाई को एक झटके में छोड़ कर चले जाना सब के बस की बात नहीं होती।

यह कैसा नया देश बना था! जो न तो ज़मीनी और न ही भावनात्मक स्तर पर एक था। कोई अपने आधे अंग को भला और आधे को बुरा कैसे कह सकता है! एक माँ अपने लाल को दो विपरीत संज्ञाओं से कैसे पुकार सकती है! इसका जवाब देना उतना आसान नहीं है। पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा अपने ही आधे अंग पूर्वी पाकिस्तान की अवहेलना करना कहाँ की बुद्धिमत्ता का कार्य था? ''पश्चिम पाकिस्तानी बंगालियों को चावल खानेवाले, काले, नाटे, पिलपिले लोग समझते हैं। उन्हें 'बिंगो' कहकर मज़ाक बनाते हैं। यहाँ के इस्लाम को भी घटिया क़िस्म का इस्लाम समझते हैं। बांग्ला भाषा को घटिया भाषा समझते हैं।''6 अरे मूर्खों के सरताज मानव पहले तू स्वयं धर्मों के चंगुल में फँसकर प्रसन्न हुआ फिर अपने ही धर्म को घटिया भी कहने लगा, ज़रा तो बुद्धिमत्ता दिखाई होती। कुछ व्यक्तियों के दुष्कर्मों के कारण पूरी कौम को बुरा नहीं कहा जा सकता। जेहल भाई अपने ही धर्म के असलम खान के बुरे मनसूबों से कार्तिक बाबू के बचाव के लिए श्यामा से कहते हैं- ''कार्तिक बाबू को उससे सावधान रहने को कहें। पर मेरा नाम कहीं आना नहीं चाहिए। असलम खान सोचता है कि मैं मुसलमान होने के नाते उसका ही साथ दूँगा। उसका ऐसा ही सोचते रहना सबके लिए ठीक है।''7 धर्म तबाही नहीं फैलाता, तबाही फैलाती है बुरी सोच, जो असलम खान जैसे लोग धर्म की आड़ लेकर उस सोच को अंजाम देने के कार्य करते हैं।

शरीर के दो टुकड़े किए, फिर उस लाश के आधे टुकड़े के भी कई टुकड़े किए जाएँ, इससे भयंकर दरिंदगी और किसे कहेंगे! विभाजन के पश्चात् पूर्वी पाक के पास अपनी भाषा यानी की मातृभाषा का सहारा था। जिसे बोलकर माँ से बिछुड़ने का एहसास कम हो जाता है, अगर उसी मातृभाषा को बदलकर अपरिचित भाषा से पहचान कराई जाए तो दर्द आकस्मिक बढ़ जाता है। ''पाकिस्तान वाले बांग्ला भाषा को हटाकर उर्दू लाना चाहते थे। स्कूलों से सुबह की प्रार्थना बांग्ला की जगह अचानक उर्दू में होने लगी थी। कुछ समझ में नहीं आता था कि जो बोला जा रहा है, उसका मतलब क्या है?''8 यह शारीरिक-मानसिक यातना से आगे आत्मिक यातना का कष्ट था।

बँटवारे, भेदभाव, अपना-पराया की नौबत क्यों आती है? क्योंकि बनानेवाले ने धरती बनाई जिसे सरहदों में बांट दिया गया, इंसान बनाया तो उसे धर्म, जाति, रंग-रूप, लिंग के आधार पर बांट दिया। वाह रे इंसान तेरी कलाकारी की क्या दाद दी जाए! कहीं न कहीं लेखिका इससे परे अपनी दृष्टि रखती हैं और कल्पना करती हैं- ''अगर सारी दुनिया में सबका एक

ही रंग होता, सब एक ही बोली बोलते और सबका एक ही धर्म और एक ही जाति होती, तो कितना बखेड़ा खत्म हो जाता।''9 अगर ऐसा होता तो इंसान सच में इंसान कहलाने योग्य हो जाता। आखिर धर्म को क्यों मानते हैं? इसीलिए कि जीवन भर उस परमसत्ता का हाथ ऊपर बना रहे, जीवन समाप्त होने पर परमसत्ता का सान्निध्य प्राप्त हो सके। धर्म को मानने का शायद मूल कारण यही है! लेकिन यह क्यों भूल जाते हैं कि अन्य धर्म को मानने वाला व्यक्ति भी तो उस खुदा, परमसत्ता, गुरु, ईशु के सामने इसी मुराद को पूरी करने के लिए उसे पुकार रहा है। रंग, रूप, लिंग के आधार पर इतनी दरिंदगी क्यों! जो इंसानियत की सारी सीमाओं को लांघ जाती है। ''उनमें से एक ने कहा-अरे यहाँ कोई बंगालिन तो मिली नहीं। इन मुसलमानों को असली मुसलमान बनाना है। हमारे बीज से इनके बच्चे पैदा होंगे, तभी यहाँ पाकिस्तान बनेगा।''10 लड़ाई का कारण चाहे कोई भी हो, लेकिन औरत का शरीर बीच में कैसे भी आ ही जाता है। लेखिका अनामिका ने अपने उपन्यास 'आईनासाज़' में लिखा है-''युद्ध हों या दंगे-फ़साद-सबसे क्रूरतम कोप झेलता है औरत का शरीर, उसका मन, उसका संवेदन''11

व्यक्ति अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए कड़े संघर्ष करता है। उसका यही उद्देश्य होता है कि अपने घर-परिवार की दैनिक जरूरतों के अलावा उनके भविष्य को भी सुरक्षित कर सकूँ। वह कड़ी मेहनत-संघर्षों के पश्चात् जब काबिल बन जाता है, फिर अचानक एक दिन उसे सब कुछ पीछे छोड़कर अपनों के साथ जान बचाते हुए भागना पड़ता है, उस मनः स्थिति को कौन समझ सकता है! ''क्या बताऊँ? मुझे देखकर कौन कहेगा कि यह ढाकेश्वरी कॉटन मिल नम्बर दो का हेड सुपरवाइजर सुभाष दास है, जिनके नीचे पाँच सौ लोग काम करते थे! ये जो शरीर पर कपड़े हैं न, ऐसे गन्दे कपड़े सुभाष दास ने कभी नहीं पहने। पर बीती बातें तो बीत गयीं। यहाँ आर.आर. डिपार्टमेंट से मदद मिल जाए, तो रायपुर के पास माना कैम्प में चला जाऊँगा। वहाँ सरकार रिफ़्यूजियों को ज़मीन दे रही है। मकान बनाने के लिए लोन दे रही है और काम करने के लिए भी।''12 व्यक्ति अपने पूरे जीवनभर संघर्ष स्वयं के लिए नहीं बल्कि परिवार की खुशी के लिए करता है। वह संघर्ष बच्चों के भविष्य के लिए, अगर बेटी है तो संघर्ष के बारे में कहा ही क्या जाए! हर पिता की तरह रमाकान्त के मन में भी ये भाव अवश्य ही रहे होंगे कि बेटी ललिता का जीवन सँवारकर एक दिन संपन्न घर में उसकी शादी कर सकूँ। उसे क्या पता था कि यह यथार्थ भी एक दिन सपना बन जाएगा। वह और उसका पूरा परिवार शरणार्थी के रूप में अपना जीवन जीने के लिए अभिशप्त होगा। उसकी बीबी कुलभूषण से कहती है- ''बाबू, तुम तो देख ही रहे हो। मेरी बेटी ललिता चौदह साल की हो गई है। इधर-उधर खाने का जुगाड़ करती फिरती रहती है। फ़रीदपुर में रहते, तो क्या उसे ऐसा करने देते? अब तक तो ब्याह हो जाता। मैं उसे क्या दोष दूँ? वह आठ साल की थी तब हम कलकत्ता के सियापदह प्लेटफ़ार्म पर आकर कई महीने पड़े रहे। तभी वह पेट के लिए जुगाड़ करना सीख गई थी। एकदम सुबह-सुबह धापा के खेतों से ठेलागाड़ी में सब्जियाँ आतीं। ललिता उसमें से गोभी-बैंगन चुराकर ले आती। डाँटने पर कहती-पेट तो सब्जी से ही भरता है।''13

उपन्यास के केन्द्रीय पात्र कुलभूषण की स्थिति भी कुछ ज्यादा अच्छी नहीं थी। वह ऐसा पात्र है जो न तो स्वयं को अपने भाईयों की तरह यहाँ का मूल निवासी ही कह सकता है और न ही शरणार्थी। वह सुभाष दास से अपनी स्थिति कुछ इस प्रकार व्यक्त करता है- ''दादा, मेरी हालत आपसे ज़्यादा अच्छी नहीं है। मेरे बड़े भाई लोग कलकत्ता में पहले से ही आकर बस गए थे। अब मैं माँ को लेकर आया हूँ तो उनकी आँखों में काँटे की तरह चुभ रहा हूँ। रोज़ मुझे नालायक, आवारा, कामचोर जैसी उपाधियाँ मेरे मुँह पर ही दी जाती हैं।''14 यहाँ तक कि उसे अपना गुजारा करने के लिए किसी अन्य नाम को अपने साथ ढोना पड़ता है-''नॉर्थ कलकत्ता के तेलीपाड़ा में भाड़े के छोटे-से मकान के एक तल्ले पर कोई गोपाल चन्द्र दास रहता है, कुलभूषण जैन नहीं।''15 प्रिंटिंग मशीन में काम करते हुए जब उसपर चोरी का इल्जाम लगाया गया, जिसके लिए उसे चार दिनों की जेल यात्रा भी करनी पड़ी। उस समय वह जज से कहता है- ''साहब शक्ल पर मत

जाइए। यह शक्ल आपकी भारत माता की दी हुई है, जिसने अपने ही लोगों को मारे और लूटे जाने के लिए एक दूसरी सरकार के हवाले कर दिया।''16 अगर कुलभूषण शरणार्थी यह बात उस देश के कानून से कह रहा है, जो देश उसका अपना देश है, लेकिन वह वहाँ शरणार्थी बना न्याय की गुहार लगा रहा है, तो ज्यादा इसमें असमंजस की बात नहीं है। इसका सामना एक नहीं बल्कि लाखों कुलभूषण को करना पड़ा, वही कुलभूषण जब आँसू बहाता है तो कोई नहीं जानता इसके पीछे कारण क्या है-''पर कुलभूषण जैन ही जानता था कि वह सिर्फ़ और सिर्फ़ ईस्ट बंगाल की अपनी गंगा-'गोराई' नदी के लिए रो रहा है।''17 बात केवल पूर्व पाकिस्तान के कुलभूषण द्वारा अपनी गंगा-गोराई नदी के लिए आँसू बहाने की नहीं, वह पश्चिमी पाकिस्तान से भारत आने वाले कुलभूषण की भी है, भारत से पश्चिम या पूर्व पाकिस्तान गए कुलभूषण की भी है, विभाजन का दर्द किसी एक ही दिशा ने झेला ऐसा नहीं, बल्कि देश की चारों दिशाओं ने झेला था।

जब पूर्वी पाक के हालात बद से बदत्तर होते चले जा रहे थे, फिर भी कुछ कार्तिक बाबू जैसे भी लोग थे जिन्हें भरोसा था कि उनके साथ सरकार कोई अन्याय नहीं करेगी। कार्तिक बाबू अपने इसी विश्वास से कहते हैं-''जागेश्वरी मिल मेरे दादा कालीप्रसन्न चक्रवर्ती की पचास साल पहले बनाई हुई मिल है। यहाँ के सारे मुसलमान कालीबाबू को देवता की तरह मानते हैं। तुम जानते ही हो, डिप्टी मजिस्ट्रेट हो या पुलिस के बड़े अधिकारी बराबर मुझसे मिलने आते रहते हैं। वे मेरा कोई नुकसान कभी नहीं होने देंगे।''18 यह विश्वास ज्यादा लम्बे समय तक नहीं अडिग रह पाता वह जल्द ही टूटता है, जब गिरफ्तार करते समय कार्तिक बाबू को सुनने को यह शब्द मिले-''आप पाकिस्तान के दुश्मन हैं।''19 इन शब्दों ने विश्वास की तो जैसे इमारत सहित बुनियाद को ही ढहा दिया हो। हमदर्दी कुछ इस प्रकार से पाकिस्तान सरकार द्वारा कार्तिक बाबू को दी गई-''श्रीमान कार्तिक बाबू को हम उन्हीं के घर में क़ैद करके नज़रबन्द रखेंगे। उनके बदले उनके बेटे को गिरफ्तार कर जेल ले जाया जाएगा। पाकिस्तान सरकार देश के दुश्मनों के साथ इससे ज़्यादा कोई रियायत नहीं कर सकती।''20 इतना बड़ा दिल जिसके आगे समुन्दर की गहराई भी कम पड़ जाए। एक पिता तो वैसे ही मौत को एक दिन गले लगा लेगा जिसे यह ज्ञात हो कि उसका बेटा जेल की सलाखों के पीछे है। कार्तिक बाबू के भाई तो पूर्वी पाक से भागकर भारत आ गए थे, उन्होंने यहाँ आकर अपना जीवन पुनः शुरू कर लिया था लेकिन वे पीछे जागेश्वरी मिल के मालिकों में अपना नाम छोड़ आए थे, उन्हें क्या पता था कि इसकी सजा उनके भाई को भुगतनी थी। ''जागेश्वरी मिल के मालिकों में कार्तिक बाबू के कलकत्ता वाले भाईयों के भी नाम हैं। इसी आधार पर उन्हें भी इंडियन माना जा रहा है यानी देश का दुश्मन कहा जा रहा है।''21 यहाँ तक कि कार्तिक बाबू का बैंक खाता एवं घर भी सरकार के फ़रमान से ज़ब्त कर लिया गया। यह उस व्यक्ति के साथ किया जा रहा था जिसके बाप-दादाओं ने उस समाज के लिए बहुत कुछ किया। ''कार्तिक बाबू के दादा ने पचास साल पहले जागेश्वरी मिल बनायी। इतने सारे घर-मकान, मिल-पाड़ा, बगीचे, मन्दिर, स्कूल, क्लब, पुस्तकालय बनवाये। वे देश के दुश्मन कैसे हो सकते हैं?''22 इंसानियत की विभाजन की आड़ में कैसे धज्जियाँ उड़ायी गईं, कार्तिक बाबू के संग बीतीं अनेक कहानियों द्वारा यह जग ज़ाहिर होता है।

'ऑपरेशन सर्चलाइट' इतिहास का एक ऐसा शब्द जिसके साथ लाखों मासूमों की चीखें गूँजती हैं। जो पश्चिमी पाकिस्तान की ओर से पूर्वी पाकिस्तान पर की गई थी। 'ऑपरेशन सर्चलाइट' यानी कि पूर्वी पाक के एक-एक व्यक्ति को चुन-चुनकर मारना। इस दरिंदगी को प्रकृति कुछ ऐसे समेट रही थी- ''घोर नरक था। चारों तरफ़ पूरी दुनिया जैसे श्मशान बन गई थी। आकाश में चील, कौवे और गिद्ध मँडरा रहे थे। हर तरफ़ जलने की गन्ध, खून की गन्ध, जलते मांस की गन्ध पूरे नारायणगंज में फैली थी।''23 कुष्टिया में जब 'ऑपरेशन सर्चलाइट' खुलेआम क़त्लेआम का माहौल बना हुआ था, उस समय अंजान श्यामा का पिता गोबिन्दो कुष्टिया से बाहर था। वह हँसी-खुशी नौका से 6-7 लोगों के साथ कुष्टिया की भूमि पर नाव से पैर रखने ही वाला था- ''तभी अचानक गोलियाँ चलने की आवाज़ से नदी का किनारा गूँज उठा। कोयल झप

से उड़ गयी। एक पल में जो लोग हँस-बोल रहे थे, नदी की रेत पर तड़पते हुए या एकदम शान्त पड़े हुए नज़र आए।''24

भारत के जब दो टुकड़े हुए उसका भयंकर परिणाम भी भारत को ही देखना पड़ा। हर दिन बढ़ती शरणार्थियों की संख्या को जीवनयापन की सुविधाएँ मुहैया कराना भारत के लिए कोई आसान काम नहीं था। ननीगोपाल साहा कुलभूषण से कहता है कि-''पार्टीशन के बाद से ही इसी काम में लगा हूँ। उसी समय कलकत्ता में हरेक सौ आदमी में सत्ताईस ईस्ट बंगाली रिफ़्यूजी थे। कितने रिफ़्यूजी कैम्प खोले गए। पर बंगाल में और कितने आदमी समाते? तब सरकार ने मध्यप्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश में जगह खोजी जहाँ इन लोगों को बसाया जा सके।''25 उस समय देश किन परिस्थितियों से गुजरा होगा, इसका एहसास सहज ही किया जा सकता है। पूर्वी पाकिस्तान उर्फ़ पूर्वी बंगाल या बंगाल क्या नाम कहकर संबोधित किया जाए क्योंकि तीनों ही नाम एक ही शख्स के हैं और चौथा नाम उसे 'बांग्लादेश' भी मिला। लेकिन मूल नाम बंगाल ही मान लें इस स्थिति में कि दर्द सहकर बेटा माँ की गोद में ही चैन महसूस करता है। पूर्वी पाक गए बेटे की वह माँ थी पश्चिम बंगाल जहाँ से वह अब दूर होना नहीं चाहता था लेकिन उस माँ की मजबूरी कुछ ऐसी हो गई थी कि उससे बिछुड़े कई लाल एक साथ गोद में आन पड़े जिनके लिए उसका आँचल छोटा पड़ गया था। ''पाँच साल पहले यहाँ के लगभग सारे, सौ से ऊपर रिफ़्यूजी कैम्प बंगाल की सरकार ने बन्द कर दिए। कहा कि दण्डकारण्य जाओ, वरना सरकारी सहायता बन्द कर दी जाएगी। कैम्प से भगाने के लिए टयूबवेल तक बन्द कर दिए गए। लोग भूखे-प्यासे मर रहे थे, पर जुलूस बनाकर नारे लगाते रहे कि हम बंगाल से बाहर नहीं जायेंगे।''26 भारत में उन शरणार्थियों को बसाने के लिए प्रकृति का दोहन आरंभ होना तो स्वभाविक था। ''एक बड़ी जगह में बड़ी-बड़ी मशीनों से शाल-महुआ-आम-चम्पा के बड़े-बड़े पेड़ धक्का मार-मारकर गिराए जा रहे हैं। जिन पक्षियों के बसेरे टूट रहे थे, वे चीखते-चिल्लाते इधर-उधर उड़ रहे थे।''27

राजा से आकस्मिक रंक में जीवन परिवर्तित हो जाए, जब वह व्यक्ति स्वयं के लिए शरणार्थी शब्द सुनता है, उसके मन में दबे कितने दर्द एक साथ उभर आते होंगे। सुभाष दास इसी दर्द को कुछ इस तरह प्रकट करते हैं- ''रिफ़्यूजी शब्द सुनते ही कलेजे में जैसे घूँसा लगता है। हम जैसे इन्सान ही नहीं रहे। उससे एक दर्जा नीचे रिफ़्यूजी बन गये। लोगों को क्या मालूम कि घरबार छूटने का दर्द क्या होता है।''28 रिफ्यूजी शब्द को लेखिका कुछ इस तरह से परिभाषित करती हैं, जिसमें उनके हृदय का अगाह दर्द छिपा हुआ है-''रिफ़्यूजी तो बेचारा तक़दीर का मारा होता है। उसके गाँव का नाम पूछने भर देर है, वह आपको अपनी जन्मपत्री सुना देगा।''29 कोई भी व्यक्ति अपने अतीत से अपना वर्तमान और भविष्य बेहतर करने की कोशिश में लगा दिखाई देता है, लेकिन रिफ्यूजी के लिए ऐसा नहीं-''उनके लिए समय वर्तमान से भविष्य की ओर नहीं जाता। वर्तमान से भूतकाल की तरफ जाता है।''30

निष्कर्ष : यह विभाजन कुछ ही व्यक्तियों की सोच का नतीजा था, करोड़ों की आबादी का नहीं। बेहतर होगा कि उस आबादी को किसी धर्म का नाम न दिया जाए। आम जन अपने मोहल्ले, परिवेश, कार्यक्षेत्र आदि स्थलों पर प्रेम से रहना चाहता है। उसके जीवन में धर्म-जाति के बंधनों से ऊपर परिवार जनों के पेट भरने की चुनौती सामने होती है। विभाजन से पहले और बाद में बात धर्म की नहीं, अपनी शक्ति दिखाने की थी। किसी को डराकर, धमकाकर, मारकर उसके अपने घर से ही उसका वजूद मिटा देना, उसे हड़प कर अपना डेरा जमा लेना, रातोंरात रईस बन जाने का कितना आसान तरीका है- ''या कि यह युद्ध एक बहाना है कुछ लोगों के लिए मुफ़्त में अमीर बनने का।''31 सत्य ही तो है युद्ध किसी एक की मंशा पूरी करने के लिए लाखों मासूमों की कुर्बानी की मांग करता है। युद्ध से पहले और बाद की स्थिति में कोई ज्यादा अंतर नहीं होता, जीता हुआ भी सब कुछ हारा हुआ सा नज़र आता है और हारा हुआ सब कुछ जीता हुआ।

संदर्भ

1 विपिन चन्द्र, प्रकाशन वर्ष 2019, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंटल ब्लैवस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन, हैदराबाद, पृ.-246
2 वही, पृ.-246
3 अल्का सरावगी, प्रकाशन वर्ष 2020, कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-15
4 वही, पृ.-39
5 वही, पृ.-62
6 वही, पृ.-81
7 वही, पृ.-115
8 वही, पृ.-81
9 वही, पृ.-54
10 वही, पृ.-184-185
11 अनामिका, प्रकाशन वर्ष 2020, आईनासाज़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-7
12 अल्का सरावगी, प्रकाशन वर्ष 2020, कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-96
13 वही, पृ.-145-146
14 वही, पृ.-97
15 वही, पृ.-12
16 वही, पृ.-190
17 वही, पृ.-74
18 वही, पृ.-105
19 वही, पृ.-119
20 वही, पृ.-120
21 वही, पृ.-121
22 वही, पृ.-120
23 वही, पृ.-99
24 वही, पृ.-165
25 वही, पृ.-95
26 वही, पृ.-135
27 वही, पृ.-153
28 वही, पृ.-97
29 वही, पृ.-147
30 वही, पृ.-160
31 वही, पृ.-126

आधुनिक जीवन की झलक में 'चक्रव्यूह'

अखिला आर
शोध छात्रा
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
9446157264
daffodils176@gmail.com

सारांश

कुँवर नारायण का काव्य संग्रह 'चक्रव्यूह' सन् 1956 में प्रकाशित हुआ जिसमें विविध विषयों पर लिखित 71 कविताएँ संकलित हैं। नई कविता में विद्यमान आधुनिक भावबोध तथा अस्तित्व की तलाश का स्वर संकलन की कविताओं में मुखरित है। प्रकृति, प्रेम, अन्धविश्वास का खंडन, मिथकों एवं पुराणों को वर्तमान से जोड़ना आदि बहुमुखी प्रवृत्तियाँ संकलन को अलग स्वरुप प्रदान करता है। आधुनिक मानव के संघर्षों को कवि ने अनुभूत किया है, इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता पाठकों के अन्तर्मन को स्पर्श करती है। मिथक एवं पुराणों के ज़रिए तत्कालीन युवा वर्ग की मानसिकता को प्रतिफलित करने का कार्य कवि ने किया है। साथ ही अस्तित्ववाद, क्षणवाद आदि को तत्कालीन युवा मन की आइने से प्रस्तुत करने का प्रयास उन्होंने अपने इस संग्रह में किया है। आधुनिक जीवन की जो खाका उन्होंने प्रस्तुत संकलन के ज़रिए खींचा है, उसे उसकी गहनता में समझते हुए उस पर अपनी संवादात्मक टिप्पणी ज़ाहिर करना इस आलेख का उद्देश्य है।

बीज शब्द (Key words)

कुँवर नारायण, चक्रव्यूह, आधुनिक जीवन, क्षणवाद, अस्तित्ववाद, अस्तित्व की तलाश

शोध आलेख

मानव अनुभूतियों को सुन्दर एवं संवेदनायुक्त ढ़ंग से प्रस्तुत करने में कविता हमेशा से ही सक्षम है। साहित्य के शुरुआती दौर से लेकर आज तक उसने अपना प्रभाव कायम रखा है। हालांकि आज के समय को गद्य युग कहा जाता है, किन्तु पाठक वर्ग आज भी कविता की जादूई दुनिया की ओर उतनी ही घनिष्ठता से खिंचे चले आते हैं जितना कि पूर्ववर्ती युगों में। कहने का तात्पर्य यह है कि कविता एक ऐसी विधा है जो समय के पार जाकर जीवन सत्य को जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करती है। अतः वह कालजयी है। कविता के प्रभाव को उसके आकार से आँका नहीं जा सकता। यानी, कविता चाहे छोटी हो या बड़ी, लेकिन उसमें बात को गहराई के साथ प्रस्तुत करने की ताक्कत होती है। जैसे, गागर में सागर भरने की क्षमता। युगीन परिस्थितियों तथा बदलते मानवीय संवेदनाओं का प्रभाव किसी भी साहित्यिक विधा के सामान कविता में भी नज़र आती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक युग का प्रतिफलन उस युग की कविता में अवश्य मिलती है।

हिंदी काव्य में एक नवीन चेतना भरने वाली धारा है – 'नई कविता' जो 'दूसरा सप्तक' (1951) के साथ हिंदी में अवतरित हुई है। यह सर्वविदित है कि कोई भी काव्यधारा एक निश्चित समय में अचानक जन्म लेकर किसी दुसरे समय में अचानक समाप्त नहीं होती। इसी अर्थ में नई कविता में भी कवियों को कुछ आगे पीछे से जोड़ सकते हैं। अब तक हिंदी कविता में पुरानी परम्परा का जो अनुगमन होता चला, उससे ऊबकर एक ताज़ेपन या नूतनता लाने का प्रयास नए कवियों ने किया। यानी, पुरानी काव्य रूढियों, प्रतिमानों, काव्य रचना के ढ़ंग, सौन्दर्य के मानदण्ड आदि सभी चीज़ों को टुकराकर

बदलते युग के अनुरूप काव्यसम्बन्धी मान्यताओं में भी बदलाव की माँग उन्होंने की। जब परिस्थितियाँ एवं मानव की जीवन शैली में परिवर्तन होता है, तब उसी को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य क्यों पुराने लीक पर ही चले ? उसमें भी परिवर्तन आवश्यक है, ताकि वह तत्कालीन जीवन को अंकित करने में काबिल हो। इसी विचार के साथ नए कवियों ने खुद अपने लिए नए प्रतिमानों, बिम्बों, उपमानों, मान्यताओं आदि का गठन करने के साथ-साथ विभिन्न काव्य विषयों एवं शिल्प का भी चुनाव किया। तब नई कविता की इस लहर ने काव्य जगत् के लिए एक नई दृष्टि प्रदान की। अर्थात् हिंदी काव्य जगत् में नई कविता का आगमन ने एक हलचल मचाया। लेकिन इस धारा को बहुत सारे आरोपों एवं अस्वीकार भावनाओं का सामना करना पड़ा। फिर भी नए कवि अपने विचारों पर अडिग रहें। इस प्रकार देखने पर नयी कविता को हम आधुनिक हिंदी काव्य के विकास में मील के पत्थर के रूप में मान सकते हैं।

नई कविता में एक प्रमुख नाम है कुँवर नारायण, जिन्होंने 'तीसरा सप्तक' (1959) के ज़रिए हिंदी साहित्य जगत् में पदार्पण किया था। कहानी, निबंध आदि विधाओं में भी उन्होंने अपनी कलम चलाई है। उनका पहला एवं महत्वपूर्ण काव्य संग्रह 'चक्रव्यूह' का प्रकाशन सन् 1956 में हुआ जिसमें चार खंड़ो में विभक्त 71 कविताएँ मिलती हैं। विभिन्न विषयों पर कविता लिखने के साथ ही उन्हें अत्यन्त काव्यमय नामों वाले अध्यायों में रखा है। इन खंड़ो के नाम इस प्रकार हैं -'लिपटी परछाइयाँ', 'चिटके स्वप्न', 'शीशे का कवच', तथा 'चक्रव्यूह'। आधुनिक कविता की लगभग सभी प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में द्रष्टव्य है। जैसे, आधुनिक मानव का संघर्ष, पीड़ा, दुःख-दर्द, उसके मन की अनिश्चितता आदि के साथ ही अस्तित्ववाद, क्षणवाद जैसे महत्वपूर्ण वादों को भी अपने शब्दों में समाने का कार्य उन्होंने किया। इतना ही नहीं, मिथकों एवं पुराणों के कथानकों के सहारे आधुनिक समय की जटिलताओं को दिखाने का प्रयास भी इन कविताओं में देख सकते हैं। प्रकृति तो सदा से ही कवियों का प्रिय विषय रहा है। अपनी कविताओं में प्रकृति के सुन्दर रूप को दिखाकर हमारे जीवन में प्रकृति की अहमियत को दर्शाने का भी प्रयास कवि ने किया है। यानि जीवन और जगत में व्याप्त सभी विषयों पर उन्होंने विचार किया है। अतः नई कविता की प्रतिनिधि संकलन के रूप में इस संकलन को देख सकते हैं।

"कविता हमारे हर्षोल्लास, संघर्ष और दुःख दर्द की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। वह हमारे जीवन और भाषा में रची बसी है। अग्निपक्षी की तरह उसमें अपने ही भस्म से बारबार निकल कर जी उठने की अमर जीवन-शक्ति है।"[1] कविता के बारे में कुँवर नारायण का प्रस्तुत कथन ही उनकी काव्य दृष्टि का परिचय कराती है। वे कविता में छिपी असीम शक्ति में विश्वास करते हैं, जो बारबार दबाने पर भी नए ओज के साथ उभर आती है। जैसे, कहा जाता है कि सत्य को छिपाने की लाख कोशिश किया जाए, वह छिपता नहीं। इस दृष्टि से देखा जाए तो 'चक्रव्यूह' का अत्यंत महत्व है। कुँवर नारायण ने तत्कालीन समाज के जीवन यथार्थ को अपनी कविताओं में उतारा है। आज़ादी के बाद भारतीय जनता में एक तरह का मोहभंग छा गया। आज़ादी की उम्मीद में रहने वाली जनता भारतीय शासकों के पैरों के नीचे कुचलते गए। साथ ही वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप, जीवन में हमेशा प्रथम स्थान की ओर आधुनिक मानव दौड़ता रहा। इसके बीच उसे खुद का अस्तित्व तक नष्ट हो गया और वह अपने से अलग होकर कुछ और बनता चला। तब वह अपने अस्तित्व की तलाश में लग गया। आधुनिक समय में व्यक्ति की सबसे बड़ी खोज अपने अस्तित्व या स्वत्व की ही है। इसी स्वर को कुँवर नारायण ने अपनी कविताओं में मुखरित किया है। अस्तित्व की अहमियत को जानकर आधुनिक

मानव जीवन की अनिश्चितता को भी पहचानता है। तब वह हर क्षण को विश्वास में रखता है। यानि इस नश्वर जगत् में इस पल के आगे क्या होगा, कोई नहीं जानता। अतः क्षणवाद से आधुनिक समाज प्रभावित होने लगा। कवि स्वयं इसी समाज का ही हिस्सा है। आधुनिक समाज में रहकर वे भी इन सभी भावनाओं का अनुभव करते थे। अतः दुनिया को अपनी नज़रिये से देखकर स्वयं की अनुभूतियों को ही कविताओं के ज़रिए दिखाते हैं। इनकी कविता में क्षण की महत्ता का अंकन इस प्रकार हुआ है :

"कितना गहन
हर एक क्षण,
कितना कसा
जीवन बसा,
कितना वज़न
हर एक कण..."[2]

अस्तित्ववादी विचारों के प्रभाव के कारण लोगों में मृत्युबोध, खंडित व्यक्तित्व का आभास, संसार की उपेक्षा, अपने अस्तित्व की चिंता आदि बढ़ने के साथ-साथ जीवन में व्यर्थता बोध भी बढ़ गया। तत्कालीन समय में लोगों के मन में जो बैचैनी उत्पन्न हुई थी, वह कवि की बैचैनी बन गई। जनता के व्यक्तित्व का संकट कवि के व्यक्तित्व का संकट बन गया। 'एक आश्वासन' नामक कविता में इसी बैचैनी को कवि ने अभियक्त किया है :

"अन्तर के चिंतन में
डूबे है दुःख अनेक,
बहता चुप आँखों से
हकलाता मौन एक: "[3]

कुँवर नारायण की कविताओं के बारे में मुक्तिबोध ने कहा है – "कुँवर नारायण की कविता में अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना और जीवन की आलोचना है।"[4] इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन यथार्थ को बिना किसी ओढ़नी के, पाठकों के सम्मुख पेश करने का कार्य किया है। पूर्ववर्ती युगों में लोग यदि कोई वायवीय शक्ति में आश्रय पाते थे तो तत्कालीन युग में कवि व्यक्ति के भीतर की शक्ति को पहचानने की बात करते हैं। ईश्वर, धर्म जैसे आधारविहीन बातों के प्रति नकारात्मक भावना आधुनिक युग की पहचान है। अब मानव बुद्धि को महत्व देता है। इसी तरह कुँवर नरायण भी इश्वर को टुकराते हैं, जो कठिन समय में व्यक्ति की सहायता नहीं करता, सिर्फ मंदिर की मूर्तियों में कैद रहता है। उनके विचार में ईश्वर अपाहिज है जो आश्रितों के पास पहुँचने में असमर्थ है। इश्वर के प्रति उनमें जो रोष है, उनकी पंक्तियों में प्रकट होता है :

"हम बनते रहे तुम्हारे पग पर चढ़े फूल
तुम वह चलता निरपेक्ष चरण जो रुका नहीं :"[5]

वे ईश्वर के ऊपर व्यक्ति और उसके भी ऊपर कर्म को महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति

और संसार के बीच कर्म का रिश्ता है।

कवि शब्द की ताक्कत को पहचानते हैं। अज्ञेय ने भी शब्द और उसके अर्थ के महत्व पर विचार किया है। उसी प्रकार नए कवि होने के नाते भी, कुँवर नारायण ने भाषा को अभियक्ति का सशक्त माध्यम माना है। कविता बनाने के पहले अपने अंतर्मन में उमड़ने वाले विचारों को शब्दों में कैसे उतारा जाए, कविता रचने की प्रक्रिया क्या है, इसे भी उन्होंने कविता के ज़रिए दिखाया है :

"कोख से उगलने दो
लहरों की गुत्थियाँ,
निरुद्देश्य भँवरों में
नचने/फँसने दो यहाँ वहाँ..."[6]

'चक्रव्यूह' को जगदीश गुप्त ने नई कविता का प्रतिनिधि संकलन के रूप में देखा है। अतः नई कविता की प्रवृत्तियाँ इसमें द्रष्टव्य है। आधुनिक युवा मन में जो आत्मपहचान की ललक एवं जीवन रहस्य को समझने की कोशिश है, उसे इन कविताओं में देख सकते हैं। जीवन की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता, अनिश्चितता से व्यक्ति का मन शंकाग्रस्त एवं प्रश्नाकुल हो जाता है। 'एक दाँव' नामक कविता की पंक्तियाँ इसे दर्शाती है :

"आज मैं हूँ।"
"कल नहीं हूँ।"
एक निश्चय के अनिश्चित वाक्य।
दिन बुझा कर रात करती साँझ।"[7]

कवि यह जानते हैं कि संसार में हर चीज़ का अंत एक दिन ज़रूर होगा। फिर एक नया जगत् का निर्माण होगा। मृत्यु और जीवन के बीच वे एक अद्भुत संतुलन स्थापित करते हैं।

किसी भी व्यक्ति की जीवन दृष्टि अपने जीवनानुभवों एवं परिस्तिथियों से ही रूपायित होती है। वैसे ही व्यक्ति किसी भी चीज़ का समर्थन या विरोध करना सीखता है। समाज की असमानताओं के खिलाफ आवाज़ उठाकर सबको समानाधिकार दिलाने के लिए हमेशा से ही साहित्यकार प्रयत्नरत हैं। कुँवर नारायण भी इसी प्रकार अपने समाज एवं प्रकृति आदि से प्रभावित होकर ही साहित्य सृजन करते आए हैं। हम जानते हैं कि प्रकृति हमारे जीवन का आधार है, जिससे अलग होकर हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। इसी को अभिव्यक्त करके जीवन में प्रकृति की अहमियत को दिखाने का कार्य कुँवर नारायण की कविताओं में द्रष्टव्य है। उसी प्रकार प्रेम को भी अपनी कविताओं में उन्होंने स्थान दिया है। तत्कालीन समाज में मानसिक प्रेम की अपेक्षा शारीरिक प्रेम अर्थात् दैहिक वासनाओं को महत्व दिया जाता है। कवि ने इस तरह की युगीन मानसिकताओं का भी अंकन किया है। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया है कि केवल सुख-भोग में विलीन रहने से जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं होता। दुसरे शब्दों में कहे तो, कवि जीवन डगर में भटकती जनता को सही राह दिखाने का प्रयास करते हैं। उनकी पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण देती है :

"आमाशय,

यौनाशय,
गर्भाशय,...
जिसकी ज़िंदगी का यही आशय,
यही इतना भोग्य,
कितनी सुखी है वह,
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य !"[8]

हम जानते हैं कि कविता या साहित्य का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक साथ विकसित होते हैं। पूर्ववर्ती युगों में जो काव्य प्रवृत्तियाँ थी, आज लोग उससे अलग होकर सोचने लगे। इसी सोच को उन्होंने अपनी कविताओं के ज़रिए अभिव्यक्त किया है। आधुनिक भावबोध से युक्त युवा वर्ग को आवाज़ देने की कोशिश 'चक्रव्यूह' की कविताओं में मिलती है। मानव जितना आधुनिक होगा, उसकी मानसिकता उतनी संकीर्ण होगी। वह खुद के घेरे में सिमटता जाएगा। कई प्रकार के मानसिक संघर्षों से झूझकर वह निराशा की स्थिति में पहुँच जाएगा जिससे मृत्युबोध की राह में जाने के लिए वह मजबूर हो जाता है।

कुँवर नारायण ने परंपरा एवं आधुनिकता दोनों को अपनाकर ही अपनी कविताओं का सृजन किया है। हमारे मिथक और पुराण भारतीय संस्कृति की अहम हिस्सा है जिनसे वे भी काफी हद तक प्रभावित हुए हैं। मिथकीय एवं पौराणिक बिम्बों एवं प्रतीकों के प्रयोग से तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को प्रभावी ढ़ंग से उतारने में वे सफल हुए। अभिमन्यु, भीष्म, पांडव, कौरव आदि पात्रों का ज़िक्र कवि ने किया है। उनकी जीवन दृष्टि विकसित होने में इन सबका भी योगदान रहा है। इस संकलन के नाम से ही यह बात स्पष्ट है। आज की दुनिया में हर व्यक्ति को, जीवन में आने वाली समस्याओं का सामना स्वयं करना पड़ता है। कवि भी स्वयं इन सभी चीज़ों का अनुभव करते होंगे। तभी उन्होंने यह जाना कि खुद के अस्तित्व या खुद की सच्चाई को समझने से ही खुद की मदद कर सकते हैं। जीवन संघर्षों में फँसकर चक्रव्यूह में फँसे अभिमन्यु की भाँति व्यक्ति, या फिर कवि भी स्वयं तड़पते हैं। कवि के शब्दों में :

"मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा,
मुझे हर आघात सहना,
गर्भ-निश्चित मैं नया अभिमन्यु, पैतृक-युद्ध!"[9]

कुँवर नारायण जीवन में ईमानदारी से काम करने का पक्षधर हैं। आज की दुनिया में लोग खोखला जीवन जीते हैं, जिसे उन्होंने अपनी कविताओं में अंकित किया है। साथ ही साथ आज की उपभोक्तावादी दुनिया में अपने ईमान को भी बेचने वाले लोगों पर भी विचार किया है। मूल्यों का ह्रास, समाज में व्याप्त भेद-भाव आदि को देखकर , मानव चिंताग्रस्त हो जाता है। जीवन की रहस्यात्मकता को जानने के लिए आधुनिक मानव आतुर रहता है। जीवन के प्रति सकारात्मक भावना के साथ कवि यह सन्देश देते हैं कि जीवन में आये दिन उभर आने वाले प्रतिबंधो को पार करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। क्योंकि हारने वालों को दुनिया भूल जाता है, जीतने वाले ही सदा स्मरणीय रहेंगे।

यह सर्वविदित है की नई कविता में शब्द को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रस्तुत संग्रह के शीर्षक से लेकर ही यह बात

ज्ञात होता है। जनसाधारण की भाषा से लेकर प्राचीन भाषा संस्कृत तक उन्होंने इस्तेमाल किया है। इस संग्रह के चार खंड़ो के नाम भी आधुनिक तनावग्रस्त मानव की अनुभूतियों एवं भावनाओं को व्यक्त करने वाले हैं। साथ ही कविता में प्रयुक्त शब्दों से भाषा पर कवि की पकड़ को समझ सकते हैं। कविता में विषय के अनुरूप भाषा या शब्दों का प्रयोग किया है। अलंकारों, प्रतीकों, बिम्बों पर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। उनकी कविता में से हम इन बातों को देख सकते हैं :

"पागल-से, लुटे-लुटे
जीवन से छुटे-छुटे
ऊपर से सटे-सटे,
अन्दर से हटे-हटे,
कुछ ऐसे भी दुनिया जानी जाती है :"[10]

इस प्रकार देखने से कह सकते हैं कि 'चक्रव्यूह' कविता संग्रह से कुँवर नारायण की काव्य प्रतिभा का सीधा साक्षात्कार होता है। अपने चारों ओर व्याप्त विषयों को गहराई से जानकर, अपनी नज़रिए से व्यक्त करने का कार्य इसमें मिलता है। एक ही विषय को विभिन्न ढ़ंग से अभिव्यक्त करने में भी वे सक्षम हैं, उसमें पुनरावृत्ति का आभास भी नहीं मिलता। आधुनिक व्यक्ति के मानसिक संघर्षों को भी उन्होंने वाणी दी है। कवि जिस समाज में रहते हैं, जिन चीज़ों का अनुभव करते हैं, उसी की छवि उनकी कविताओं में मिलती है। हिंदी साहित्य के लिए ही एक अमूल्य निधि के रूप में उनकी रचनाएँ विद्यमान हैं। सकारात्मक विचारों से युक्त कविताओं के साथ-साथ जीवन के कटु यथार्थों को भी दिखाने का प्रयास इन कविताओं में द्रष्टव्य है। संक्षेप में कह सकते हैं कि जीवन यथार्थ को दिखाने में कुँवर नारायण की कविताएँ अत्यंत सफल सिद्ध होती हैं।

सन्दर्भ

1. कुँवर नारायण -दिशाओं का खुला आकाश, वाणी प्रकाशन, 2012, नई दिल्ली, पृ.15
2. कुँवर नारायण-चक्रव्यूह , राधाकृष्ण प्रकाशन, 2011, नई दिल्ली, पृ.27
3. वही, पृ.76
4. (सं)नेमिचंद्र जैन- मुक्तिबोध रचनावली भाग -5, राजकमल प्रकाशन,1980, नई दिल्ली पृ.473
5. कुँवर नारायण-चक्रव्यूह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2011, नई दिल्ली, पृ.90
6. वही, पृ.77
7. वही, पृ.69
8. वही, पृ.43
9. वही, पृ.111
10. वही, पृ.122

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का महत्व

मुकेश कुमार,
एम०फिल शोधार्थी, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी,बिहार
संपर्क: 852 175 8547
ईमेल: mukeshgouhar2525@gmail.com

शोध सार

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' हिंदी नवजागरण के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन्होंने निबंध, नाटक, आलोचना, काव्य ,पत्रकारिता आदि विधाओं से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। और भारतीय जनमानस में एक नई चेतना का संचार किया। वे स्वत्व पर विशेष रूप से जोर दिये और स्वभाषा, स्वदेशी, स्वाभिमान स्वधर्म व स्वराज की बात पुरजोर तरीके से रखे। हिन्दी नवजागरण में प्रेमघन का महत्व अन्यतम है।

बीज शब्द
हिन्दी नवजागरण, भारतीय जनमानस, ब्रिटिश सरकार, प्रेमघन, स्वत्व ।

शोध आलेख

बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन हिंदी नवजागरण के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। आप भारतेंदु मंडल के लेखक, कवि,निबंधकार,आलोचक, नाटककार एवं कुशल पत्रकार हैं। आपका जन्म 1855 ई० मिर्जापुर उत्तर प्रदेश में हुआ। आपका जन्म ऐसे समय में हुआ जब भारत कई समस्याओं से जूझ रहा था।अंग्रेजों की आर्थिक नीति से भारत कमजोर हो रहा था। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत की अकूत संपत्ति को इंग्लैंड भेज रही थी।आपके जन्म के 2 वर्ष बाद हुई 1857 की क्रांति अखिल भारतीय आन्दोलन का रूप धारण कर रही थी और जनमानस में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हो रही थी।

भारतीयों में आपसी भेद-भाव के जगह आपसी एकता के भाव को बल मिल रहा था। अंग्रेजों की शोषण नीति, उपनिवेशवाद के खिलाफ हिंदू-मुस्लिम एकता दिख रहा थी। रामविलास शर्मा जी कहते हैं कि 1857 ई०की क्रांति के बाद भारतेंदु युग में खड़ी बोली हिन्दी का विकास हुआ। इस युग में खड़ी बोली हिन्दी की अनेक विधाओं का जन्म हुआ जिसमें नाटक, उपन्यास, कहानी और आलोचना आदि विधा समृद्ध हुई।

इस संदर्भ में भारतेंदु युग के कवि बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम हिन्दी जगत में इनका नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है। इन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी बोली हिंदी के विकास में योग दिया । इसके साथ ही इन्होने भारतीय जनमानस में एक नई चेतना जागृत की। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तत्कालीन परिस्थितियों की नब्ज को भली-भाँति टटोलते है। वे दूरद्रष्टा है, लेखक है, कवि है, पत्रकार है समाज सेवी है, सांस्कृतिक योद्धा है और देश प्रेमी भी हैं। वह अपने देश की वर्तमान परिस्थिति व भविष्य को लेकर चिंतन-मनन करते हैं। आप देश की सामाजिक कुरीतियाँ, ऊँच-नीच, भेदभाव और असमानता का विरोध करते हैं और स्वधर्म की अच्छाइयों को भारतीय जनमानस में जागृत करने का काम करते हैं। आप अपने समृद्ध अतीत की विरासत से अपने पत्र-पत्रिकाओं व लेखों के माध्यम से भारतीय जनमानस को अवगत कराते हैं। भारत की वर्तमान स्थिति, अंग्रेजों का प्रभाव, भारतीयों पर अंग्रेजी हुकूमत तीव्र रूप से चलना, इसपर बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' क्षोभ व्यक्त करते हैं। अपने लेखों, नाटकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि

विधाओं के माध्यम से अंग्रेजों के प्रति आक्रोश जाहिर करते हैं,अंग्रेजों को शोषक बताते हैं। अंग्रेजों की नीति से शोषित भारतीय के मन में ऊर्जा का संचार किया।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भारतीय सभ्यता संस्कृति व अपने पूर्वजों के शौर्य, पराक्रम और वीरता की गाथा को स्मरण कराकर हताश निराश मन में नई स्फूर्ति, नई ऊर्जा का संचार किया। अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए प्रेरित किया। राष्ट्र धर्म के साथ ही हिन्दू समाज का जागरण, धर्म सुधार, धर्मान्तरण की चिंता, धर्म की रक्षा की भावना तथा धर्म रक्षकों के प्रति सम्मान ये सभी इनकी साहित्य विधा में मिलते है। चेतना के इस युग में प्रेमघन जी की दृष्टि समाज और धर्म पर पड़ी। प्रेमघन जी ने अपने गद्य काव्य को इन भावनाओं से प्रभावित कर तत्कालीन समाज तथा धर्म की समुचित व्यवस्था का चित्र ही बना डाला। प्रेमघन के काव्य पर तत्कालीन स्वामी दयानंद सरस्वती के साहचर्य का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। 'विधवा विपत्ति वर्षा' इसका एक उदाहरण है। जिस प्रकार विधवा विपत्ति वर्षा में प्रेमघन विधवा की दशा का वास्तविक चित्र चित्रित करते हैं, उसी प्रकार हिंदू धर्म के आडंबरों, आनाचारों तथा कुविचारों की बड़ी कटु आलोचना करते हैं। "प्रेमघन ने एक और तो अपने साहित्य में हिंदू धर्म के आडंबरों तथा आनाचारों की कटु आलोचना की, तो दूसरी ओर हिंदू धर्म को नवीन विचारों की ओर अग्रसर कर, नवीन उन्नतिमय मार्ग का प्रदर्शन कराया- जिसके फलस्वरुप प्रेमघन जी के साहित्य में वैचारिक लेखों की विशेष प्रधानता दिखाई पड़ती है"।[1]

स्वभाषा की चिंता प्रेमघन की साहित्य की मूल चिंताओं में एक है। "उन्नसवीं सदी के अंतिम चरण में वाणी के जिन साधकों ने हिंदी को प्राण दान दिया है, उनमें प्रेमघन का अन्यतम स्थान है "प्रेमघन ने हिंदी गद्य को स्थिरता प्रदान की है, उन्होंने हिंदी गद्य को प्रौढ़ता दी और परिष्कार किया। 'कलम की कारीगरी' के रूप- आनंद में कादम्बिनी और नागरी नीरद की छटा से हिंदी काव्यकाश को सुशोभित करता है।"[2]

सर सैयद अहमद खान के रवैये से हिंदी-उर्दू विवाद प्रारंभ हुआ। भारतेंदु युगीन पत्रकारों, लेखकों और बुद्धिजीवियों ने हिंदी के पक्ष में आवाज उठाई। उर्दू को बाजार और वेश्याओं की भाषा कहा जाने लगा। नागरी विवाद भाषा विवाद बना। फिर सांप्रदायिक विवाद बन गया। भारतेंदु मंडल तथा बाहर भी हिंदी के पक्ष में तथा उर्दू के विरोध में लेख लिखे जाने लगे।मुसलमान उर्दू की वकालत कर रहे थे और हिंदू हिंदी की। हिंदी चूँकि चेतना और भाषा दोनों स्तर पर मराठी, बंगला आदि से संवाद कर रही थी। ऐसे में उर्दू इस समन्वित चेतना की भाषा नहीं हो सकती थी।

इस तरह के हिन्दी-उर्दू विवाद में प्रेमघन ने हिंदी का पक्ष लिया और उर्दू का डटकर विरोध किया।

"पूरबवत सो बीच कहचरी उर्दू बीबी।
बैठी ऐंठी करत अजहूँ सौ सौ विधि सीबी।।
लखि आवत नागरी नागरी बरन बरन तकि।
नाक सिकोरति, भौंहँ मरोरति औचकहिं चकि"।[3]

प्रेमघन ने अंग्रेजों की आर्थिक नीति की कठोर आलोचना की है। भारत का कच्चा माल को सस्ते दामों पर विदेश को निर्यात और विलायत से कई गुणे अधिक मूल्य पर देश में आयात होता है और बिका करता है। प्रेमघन लिखते हैं-

"हम अतिकष्ट से भूमि जोतते,अन्न बोते,सींचते, काटते और दां ओसा और गांव स्वच्छ राशि मात्र लगाते, परंतु उसको खाते हैं दूसरे द्वीप के लोग।हम उसे बेचकर क्या पाते हैं? सीप, बटन या सींग की कंघी, कागज के चित्र और मिट्टी के खिलौने। हम सौ सौ दुःख झेलकर कपास बोते, परंतु रूई निकाल विदेश भेज देते और उसके बदले में विदेशीय बने कपड़े

मोल लेते। उसके सीने को सुई या यंत्र तथा बटे सूत भी वहीं से लेकर सीते, वहीं के सिद्ध रंग से उसे रंगते और वहीं के बने बटन लगा कर पहिनते, उसे हाथ मुंह धोने के लिए साबुन भी वहीं से लेते, लिखने के कागज,कलम, रोशनाई वहीं से मंगाई जाती, पढ़ने की किताबें भी वहीं से आती। यदि यहाँ भी छपती तो सब सामान वहीं से आता। यदि लोटा , थाली और लोहे की संदूके, हम यहाँ बनाते, तो तांबे,पीतल और लोहे की चदरें वहीँ की लेकर। कहाँ तक गिनायें बहुतेरा कोरा माल प्रायः यहां से एक रुपये मूल्य पर वहाँ जाता तो घूमकर पचीस पचास का होकर यहाँ आता। हम जिसे रुपये पर बेचते तो फिर उसी को पचास रुपये पर मोल लेते हैं। चार रुपये का बैल का चमड़ा यहाँ से जाता, तो वहाँ से पचास रुपये के जूते और सैकड़ों के बेग बनकर आते। यहां से दस रुपये की रूई जाती तो पाँच सौ की आधी बनकर आती"।[4]

स्वदेशी आन्दोलन की भावना प्रेमघन के चिन्तन में है।

डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं- "कांग्रेस ने अभी स्वदेशी आंदोलन विधिपूर्वक न आरंभ किया था न बंगाल में बंग भंग आंदोलन ने जन्म लिया था। केवल हिन्दी में भारतेन्दु ने स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात बहुत पहले ही किया था। 'तदीय समाज' के सदस्यों के लिए स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार उन्होंने अनिवार्य रखा था"।[5]

अंग्रेजों की शोषण नीति रवैये से कवि दुखी थे। कई प्रकार के टैक्स महसूल आदि लगाकर अंग्रेज सरकार भारत को आर्थिक दृष्टि से खोखला बना दिया। अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण नीति का विरोध प्रेमघन इस तरह करते हैं-

"लूटी विलायत भारत खाय।
माल ताल बहु विधि फैलाय।।
ताको मासूली छुटि जाय।
जमै लागै लाभ दिखाय।।
देसी मालन इहाँ बिचाय।
घाटा भारत के सिर जाय।।
रोओ सब मुँह बाय बाय।
हय हय टिक्कस हाय"।।[6]

प्रेमघन ने आनंद कादम्बिनी में स्वदेशी वस्तुओं को स्वीकार और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करते हैं। इन्होंने स्वदेशी को सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में देखा। प्रेमघन की कजली और बुढ़वा मंगल की व्याख्या से यह स्पष्ट है। इनके युगीन कवियों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आह्वान किया। बालमुकुंद गुप्त ने स्वदेशी वस्तुओं का उत्पादन कर आत्मनिर्भर बनने और व्यवहार में लाने पर जोर दिया-

"छोड़ो सभी विदेशी माल, अपने घर का करो ख्याल।
अपने चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ"।[7]

निबंध:

"निबंध आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से निबंध शब्द के विभिन्न शब्द कोशों की सहायता से भले ही कितने ऐसे अर्थ निकाल लिये जायँ तो अंग्रेजी ऐसे शब्द के समानार्थक प्रतीत होते हैं"।[8]

हिन्दी गद्य में निबंध का उदय आधुनिक युग में ही हुआ था। भारतेन्दु युग के मुख्य साहित्यकार बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आनंद कादम्बिनी (मासिक) और नागरी नीरद (सप्ताहिक) पत्रिकाओं का संपादन किया। इन पत्रों में अनेक निबंध

प्रकाशित हुये। जैसे- "हिंदी भाषा का विकास, परिपूर्ण प्रयास, उत्साह आलंबन आदि। प्रेमघन की भाषा में अलंकारिकता कृत्रिमता और चमत्कारोत्पत्ति का प्रवास मिलता है"।[9]

रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु युग को नवजागरण का दूसरा चरण मानते हैं।
"प्रेमघन का समय प्रायः आन्दोलनों और विशेष परिवर्तनों का समय था, जिसमें नवीन सभ्यता शिक्षा व नीति के प्रभाव स्वरूप सभी क्षेत्रों में नवीन समस्याएं उत्पन्न हो रही थी। क्या धर्म और क्या समाज क्या राजनीति और क्या आर्थिक स्थिति, सभी दृष्टियों से देश का काया पलट हो रहा था। परम्परा और नवीनता के संघात से देश की परंपरागत तीव्रता का जैसा अनुभव भारतेंदु के समसामयिक लेखकों का हुआ वह अभूतपूर्व था, अतः प्रेमघन की दृष्टि का अपने समय में ज्वलंत समस्याओं पर केंद्रित रहना स्वाभाविक था यही कारण है कि न केवल उनकी ही प्रत्युत अनेक समसामयिक अन्य लेखकों की भी प्रवृत्ति प्रायः वैसे ही रही है प्रेमघन में युग चेतना अपेक्षाकृत आधुनिक थी। अतः उनमें अपने समय की स्थिति व समस्याओं को ऐतिहासिक परंपराक्रम में देखने की प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। प्रेमघन भाषा, आलोचना, पत्रकारिता, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि विषयों पर निबंध लिखे हैं"।[10]

आलोचना:

"आधुनिक हिंदी आलोचना का आरंभ भारतेन्दु युग से हुआ है। कहा जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र 'कविवचन सुधा' और हरिश्चंद्र में कुछ नोट समालोचना के रूप में निकाला करते थे"।[11]
आलोचना एक गद्य विधा के रूप में विकसित हुयी।
"आधुनिक आलोचना का सूत्रपात भी इसी युग में हुआ था और इसका श्रेय इस काल के दो लिखो को दिया जाता है यह तो बालकृष्ण भट्ट को और दूसरा पंडित बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन ने श्रीनिवासदास कृत संयोगिता स्वयंवर की आलोचना और गदाधर सिंह कृत बंगविजेता के अनुवाद की आलोचना आनन्द कादम्बिनी के कई पृष्ठों में विस्तार पूर्वक की थी। उनकी ये आलोचनाएं उनकी व्यक्तिगत रूचि पुस्तकों के गुण दोष उद्घाटन तक ही सीमित है। कहीं-कहीं भाषा संबंधी मुद्दों पर व्यापक रूप से विचार किया गया है"।[12]
आनन्द कादम्बिनी' में प्रकाशित प्रेमघन की सभी आलोचना का उल्लेख है-

- मधुतरंग, (आ.क.ख.1.सं. 2,)
- नीलीदेवी, (ख-1 पृ. सं. 6-7-8)
- संयोगिता स्वयंवर और आलोचना (आ.का.मा.2)
- मेघ(10-11-12) बंग विजेता की आलोचना"
- प्रेमघन सर्वस्व भाग-2,पृष्ठ संख्या 441-445
- श्री गोपिका गीतम और प्रेम पुष्पहार या 6 मेघ 5-6
- सौ अजान एक सुजान (आ.का.मा.6 में 11-12)
- महाविद्या तथा नवीन भारत (आ.का.मा.7 में 3-9)
- आनन्द कादम्बिनी: माला-2, वि.सं. 1943

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचना के क्षेत्र में भी प्रेमघकन का बड़ा नाम है।

नाटक:

प्रेमघन ने अपने विभिन्न नाटकों एवं प्रहसनों के माध्यम से देश की वर्तमान परिस्थितियों से अवगत कराकर भारतीय जनमानस में एक नयी चेतना का संचार किया और देशप्रेम के प्रति भाव उत्पन्न किया।

नाटक और चौदह प्रहसन आदि की रचना प्रेमघन ने की है-

भारत सौभाग्य (1881 ई.)

वीरांगना रहस्य महानाटक (1881 ई.)

माधुवी माधव नाटक (1885 ई.)

प्रयाग समागन (1911 ई.)

प्रसनल आलाप-

1.पाठशाला कुतूह (1872 ई.)

2.घोघेमल साहू ओर सिविलाइज्ड जेंटिलमैन (1881 ई.)

3.रावो रोवो रोते जावो (1881 ई.)

4.बीबी महतरानी और ब्रह्मणी की बातचीत सन (1881 ई.)

5.जुबली जमघट या कि यारों का ठट्ठ सन (1887 ई.)

8.पशुप्रपंच (1904 ई.)

9.अपूर्व सम्मिलन (1904 ई.)

10.कुट्टी और जुट्टी 1907 ई.

11.उपासक और परिहासक सन 1907 ई.

12.वक्ता और श्रोता 1907 ई.

13.एक आर्य समाजी बरात के बराती और उनके दर्शक 1893 ई.

14.पांडे और पादरिन का समागम 1894 ई.

बदरीनारायण चौधरी अपने नाटकों के माध्यम से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। और जनमानस में जागृति उतपन्न की। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' अपने अतीत का स्मरण करते हैं, बलिदानी वीरों को याद करते हैं और पुनरुत्थानवादी चेतना को जागृत करते हैं और वर्तमान दुर्दशा से दुखी होता है-

"पाटलिपुत्र गयो कहां, तेरो गजब गरूर।
नहिं चित्तौर वह जहं रहे, एक एक से वीर।
रहो न वह पंजाब अब, रहो न वह कशमीर।
पूना करी सूना गयो, कितै शिवाजी वीर"।।[13]

निष्कर्ष: इसप्रकार हिन्दी गद्य की विकास परंपरा, निबंध,आलोचना, नाटक तथा पत्रकारिता की दृष्टि से प्रेमघन का महत्व अन्यतम है। इसके अतिरिक्त देशभक्ति और राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी प्रेमघन महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी नवजागरण का कोई विमर्श प्रेमघन के बगैर पूरा नहीं हो सकता।

संदर्भ सूची:

1. भूमिका: प्रेमघन सर्वस्व भाग-2 पृ. सं.-12-13
2. वही, पृ. सं.-7
3. आनंद वधाई: प्रेमघन सर्वस्व भाग-1 पृ. सं.-314
4.स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशी बहिष्कार: प्रेमघन सर्वस्य भाग-2 पृ. सं.- 215-216
5. डॉ रामविलास शर्मा: भारतेंदु युग, पृ. सं.-112
6. होली की नकल या मोहर्रम की शक्ल: प्रेमघन सर्वस्य भाग-1, पृ. सं.-186
7. डॉ० चन्द्रप्रकाश आर्य : राष्ट्रीयता की अवधारणा पृ. सं.-200
8. डॉ० शैलेश जैदी: संपादक तलाश, त्रैमासिक पत्रिका, अलीगढ़
9. डॉ० गणपति चंद्रगुप्त: साहित्यिक निबंध, पृ. सं.- 440
10. डॉ० प्रताप सिंह: बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की कृतियों में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना, पृ. सं.-229
11. डॉ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय: आधुनिक हिंदी का इतिहास, पृ. सं.-156
12. डॉ धीरेंद्र वर्मा: हिंदी साहित्य कोश, भाग-2, पृ. सं.-368 (ज्ञान मंडल लि. वाराणसी-4)
13.पितर प्रलाप : प्रेमघन सर्वस्व भाग-2, पृ. सं.-157-158

THE FIRE OF SONAKHAN "SONAKHAN KE AAGI" - AN EPIC HEROIC CHHATTISGARHI VERSIFICATION OF BRAVEHEART VEERNARANYAN SINGH BY LAXMAN MASTURIYA

Dr Vineeta Diwan[1] Mr Arun Jaiswal[2]

Assistant Professor, English, Department of Arts and Humanities, Kalinga University, New Raipur e mail- diwan.vineeta@gmail.com,9340666247

Assistant Professor, Department of Journalism and Mass Communication, Mandsaur University, Mandsaur e mail- arunjgzp@gmail.com, 9026053870

ABSTRACT-

Veernarayan Singh, the benevolent landlord of Sonakhan, spearheaded the revolt of 1857 in Chhattisgarh. He was leading the rebellion of Sonakhan against selfish feudal lords and their illegal hoarding of grains during the severe famine. The rebellion was finally crushed by Deputy Commissioner Eliot. Veernarayan Singh, the brave heart and a man of fiery character, kissed the noose on 10 December 1 1857 and gave away his life by confronting the British army in order to save the life of his fellow rebels. The long narrative versification of "Sonakhan ke Aagi" by Laxman Masturiya, an eminent literary figure, lyricist, singer , poet and writer of Chhattisgarh chronicles the valour and heroism of Shaheed Veernarayan Singh in the form of an epic heroic poem in Chhattisgarhi language. The poetic narrative sings the glory of the land of Chhattisgarh and martyr Veernarayan Singh who emerged as a fire of revolt from the land of Sonakhan. The composition of poetry in the language of the soil enhances the beauty of the narrative and propels the essence of nativity and ethnicity of the region. The inspiring poem and the signature art of Laxman Masturiya highlights the iconic persona of Veernarayan Singh as an unforgettable saga, an inspiration for the future generations as an exemplar for ages to come.

keywords- *language development, Apabhramsha, Indo Aryan , Bhakti, medieval, modern phase*

Article

Chhattisgarhi language, just like other languages has evolved from old Aryan language. The language of the Aryans gradually changed with advancing times and underwent great transformations leading to the formation of many modern languages and dialect. Chhattisgarhi language is also one of the language developing from the Aryan as parent language. Chhattisgarhi emerged as a dialect with advancing time. According to the eminent linguists the linguistic development of Indian languages is divided into three categories-

[1] Classic Indo- Aryan language era- 1580-500 BC

[2] The Medieval Indo- Aryan language era- 500BC- 1000 BC

[3] The Modern Indo- Aryan language era- 1000 BC- till date

The Classic era language is evident in the vedic literature, scriptures and first stone tablet of Sanskrit known as Girnar stone tablet of 150 BC credited to Rudradaman. With the advent and emergence of Buddhism in Chhattisgarh the usage of local language also came into play along with Pali as the common medium of exchange. The later dialects denominated as Apabhramsa meaning corrupt or non grammatical language was the one that deviated from the norms of the Sanskrit grammar. Apbhramsa is a prominent source to study the linguistic history from the period spanning from 12 to 16 th century. Chhattisgarhi language is believed to develop from Ardhamagadhi Apabhramsa that also led to the development of East Hindi, Awadhi and Bagheli. Chhattisgarhi is a dialect evolving from East Hindi having no literary works created in olden times, but in recent decades the language acquired richness with literary works glorifying the Chhattisgarhi indigenous and evolutionary cultures.

The Saga era literature in Chhattisgarh was infused with gestures of courage and love which did not follow any scripting rules and succeeded orally as folklores from one generation to another. Later in the modern era these oral forms came under scripting which included Kevla Rani, Ahiman Rani, Rewa Rani and Raja Veer Singh's sagas which were some of the leading and exceptional works. The mythical narrations included Phulbasan and Pandwani. The sagas were written were written as treatise poetry which described occult practices, life of people , fundamental desires and helplessness of womankind. The medieval saga showcased Fulkunwar devi, Dholamaru, Lorik Chanda as prominent works. The compositions of this time reflected Bhakti literature and the advent of Kabirpanthis in Chhattisgarh. Some of medieval literary figures included Babu Revaram, Prahlad Dubey, Gopal Mishra and Makhan Mishra. The modern age of Chhattisgarhi literature started from 1900 onwards which included novels, short stories plays and much more.

Laxman Masturiya was an eminent poet, lyricist, singer and literary genius of the modern literary age of Chhattisgarh. He was also the editor cum publisher of the monthly magazine "Loksur" and was awarded " Aanchlik Rachnakar Samman" by the former Governor of Madhya Pradesh. Apart from literature, Laxman Masturiya was also interested in politics and fought elections on the behalf of Aam Aadmi Party from Mahasamund in the year 2014.

The literary art and poetic style of Laxman Masturiya is a pen picture and realistic portrayal of the simplicity of rural life of Chhattisgarh, its people and their culture. His poetries voiced the true essence of Chhattisgarhi life, its social and religious traditions, the myths and beliefs of the region that placed him in the category of " Jan Kavi" or " The People's Poet" . Though he composed some of his literary works in Hindi also but it was his outstanding contribution in Chhattisgarhi language and literature that brought an overwhelming response from the audience and popularized his works. On one hand his works convey the helplessness of the poor, downtrodden and dejected and on the other hand Masturiya strongly voiced the fury and blazing flames of India's freedom fighters by depicting the heroic character of Shaheed Veernarayan Singh, the first freedom fighter and revolutionist from Chhattisgarh who threw a tough challenge against the British rule.

"Sonakhan ke Aagi" or " The Fire of Sonakhan" is an adoration and a glowing tribute to the martyr Veernarayan Singh through an Epic Heroic versification in the form of a block poetry depicting his life journey, right from his birth to the last breath of his life which was infused with patriotic feelings and revolutionary ideas against injustice towards mankind. The poem showcases visual imageries, metaphors and similes to the zenith of ornamental language chosen to highlight the infuriating character sketch and biography of Veernarayan Singh. The poem greatly appreciates the land of Chhattisgarh blessed with the bounties of nature generating a favourable atmosphere for its growth and cultural diversity. The poem Sonakhan k Aagi begins with the glorification of Chhattisgarh state and its rich cultural diversity, its position in India and its proud factor:

(*translated in English for this research work by the contributor)*

Dharam Dham Bharat Bhuiya k

In the holy land of India

Manjh ma he Chhattisgarh Raj

The central region is of Chhattisgarh raj

Jihan k maati Sonha dhanha

This land's soil is as rich as gold

Loha Koyla ugle khaan

And the mines disgorge coal and iron

Jahan Sihawa k maatha le

There from the facade of Sihava

Nikle Mahanadi k dhaar
springs out the Mahanadi
Paavan Pairi Shivnath teer
And near the holy Pairi and Shivnath
Sahar pahar k mangalhaar
Cities garland like Mangalhaar

Jonk nadi Indravati tak le
From river Jonk to Indravati
Gadh Chhattisgarh Chhati kas
looks like broad chest of Garh Chhattisgarh
Utti bar Sarguja katakat
The North lined by furious Sarguja
Dakkhin Bastar baagi kas
And Bastar is the rebel rising in South

Purab le Sarangadh garje
Sarangarh roars from the East
Pachhim le Rajnandgaon
And Rajnandgaon from the west
Ek na ek din rar machahi
to announce that one day he will revolt
Beta Mor Son pankhin k
My son riding on the wings of gold

In the above four stanzas the poet begins with the glorification of Chhattisgarh as state situated in the centre of India. He regards India as the holy land of which Chhattisgarh is a crucial part. He denominates Chhattisgarh as the " Chhattisgarh Raj" to highlight its rich legacy of Princely states on which the denomination of the state has been done when it boasted of thirty six forts and their rule. He glorifies the rich mineral deposits of Iron and coal as they are abundant in the Bastar, Korba and Chirimiri region. The soil of the state is rich soil due to which Chhattisgarh is also known as the "Paddy Bowl" of the country. Masturiya maintains the theme of glorification of land and its people throughout the poem and personifies Chhattisgarh as a brave mother of a brave son,

about who she predicts that one day he will bring a revolutionary change in the state, a turbulence by riding on the "golden wings" which is a metaphorical expression of Sonakhan, the birth place of martyr Veernarayan Singh.

Sonakhan is a small town in district Raipur, tehsil Baloda bazaar is also a Panchayat abounding in large scale tribal population basically consisting of Gond, Binjhwar, and Kanwars. The land of Sonakhan still buries in its heart the fire of rebel when Naxalism broke out during 1967 at Naxalbari district of North Bengal. The spirit of revolution is depicted to be deeply embedded not only in the land of Sonakhan but also in regions of Rajnandgaon and Bastar which was the pivot of the multiple freedom movements against Britishers in Chhattisgarh including names like Thakur Pyarelal, and Tribal rebellions including the Halba, Maria, Muriya, Rani rebellion and the famous Bhumkal revolution lead by Gundadhur, the brave fighter of Bastar. The names of the places allude the stories associated with the acts of bravery performed by great revolutionaries and freedom fighters from Chhattisgarh during the war of Independence. The proud Mother Chhattisgarh (Chhatisgarh dai) is confident that one day her son from Sonakhan will surely bring about a turning point in the historical chapters of Chhattisgarh. Laxman Masturiya's style establishes a strong connection between Veernanaryan Singh and his native state.

The lines further indicate some of the most renowned cities of Chhattisgarh and the reasons behind their credit and fame. Not only the descriptions talks about places but also the culture of Chhattisgarh and places of spiritual significance. The stanza reflects the prominence and spread of Shaivism among the common people who worship Lord Shiva not only for his wrath but also as a a benevolent God who drank poison for the sake of humanity. There have been allusions of Sage Valmiki and Raja Harishchandra and Dharamraj Yudhishthir who have close connections with Chhattisgarh.

Jahan Bhilai Korba Thade
Where Ghilai and Korba exist
Patthar sirmit bhare khadan
And have rich stone mines and cement plants
Tamba, peetal, tin, kaanch ke
Where brass, bronze, tin and glass
Ihi maati ma thathi khan
This is the soil where they are found in abundance...

Shiv base jihan mankhe man ma

Where Shiva rules the mind of his people and is worshipped

Amrit baat karen bispaan

Who after distributing the elixir of life to all gulped poison

Maya me maate mud katawe

Who out of his wrath had cut the head (Lord Ganesha)

Daya ma jeev tak de dai daan

And who out of love can even do charity of life

The mythology tales of Ramayana and Mahabharata are strongly connected with the region of Chhattisgarh or Dakshin Kosala. The state has a significant role in the life of Lord Rama, whose maternal home is situated here and is the birthplace of his mother Mata Kaushalya. It is believed that Lord Rama along with his wife and brother Laxman had started their exile in the Dandakaranya region of Bastar where they spent more than ten years out of their fourteen years of exile. Presently the work is in process for the Ram Van Gaman tourism circuit which aims at developing such places which were linked with Lord Ram including nine locations - Sitamarhi Harchauka, Ramgarh, Shivrinarayan, Turturiya, Chandkhuri, Prayagraj, Sihava, Chitrakoot, and Sukma with a budget provision of Rs 137 crores 45 lakhs.

Shaivism is regarded as one of the oldest religious beliefs in Chhattisgarh which is a large number of Shiva temples in the region. It is believed that a particular religious sect was at times promoted by the rulers of the state and in this context the Kalchuris who ruled Chhattisgarh for loner times promoted Shaivism who is believed to be their ideal God. During their rule they constructed large number of Shiva temples and also Shaivism is evident in the coins, scriptures and images at temples. Through the legendary and mythological references of Lord Shiva and Lord Ram, Masturiya highlights the rich and strong ethical grounds of the people in Chhattisgarh deeply influenced with the preaching of Ramayana and deriving inspirations from the life of Lord Ram and Lord Shiva, who for the sake of the world drank the poison and distributed the elixir of life to all. If Shiva's wrath can destroy, his love has the ultimate credit of creation.

Masturiya further highlights the significance of Valmiki's ashram located at Chandkhuri and where Sita is believed to spend her life with her sons Luv and Kush who gained education at Valmiki's Gurukul. He also regards the legendary tale of Raja Harishchandra who was the son of Chhattisgarh and who for the sake of truth and charity was even ready to give away his life. He regards the soil

of Chhattisgarh as gold and no less magical than touchstone which transformed every normal or inferior thing into gold when he praises

Saran pare bhikhmanga aaen

Beggars came here for refuge

Chhin bhar ma hogin dhanwan

And in no less time they became rich

Tapsi aaen ihi maati ma

Hermits came to this land

Mya karin ban gin bhagwan

And became demi Gods when they loved this land

Praising the soil of Chhattisgarh Masturiya further adds that changing times in the history of the state also changed the circumstances and situations and everything became topsy turvy. A time came when the honest suffered hand to mouth condition whereas the dishonest and cheats led a luxurious life. He expresses sorrow over the people who came here to seek rfuge in their worst time and after they became self sufficient they exploited the people of the state who once pitied them and gave them shelter. In other words Masturiya strongly criticizes the outsiders coming to the state and later exploiting the natural resources, bounties of nature and the local people whom they eyed as the inferiors and low class.

Land acquisition is the core of political and social disputes in the tribal areas of Chhattisgarh. On one hand the Naxal extremists enforce their justice by supporting land alienation and on the other hand the government' s definition of development is industrialization which follows the policy of moving tribal people out of their land and expose the rich subterranean territories. Masturiya also exposes the exploitation of th local people by landlords, zamindars and extortion of money from the poor as taxes.

Masturiya shifts the subject steadily from exploitation of the locals to the exploitation of the nation when he contextualizes the Revolt of 1857 and its heroic figures from all over India. e presents the big picture of the revolt all over India and depicts how it was led by Veernarayan Singh at Chhattisgarh who took the command of the state :

Foonkin sankh san santawan ma

In the year 1857 they blew the conch

Kaapin bairi ge ghabray

The enemies were frightened

Sah Bahadur Laxmibai auw

It was Shah, Bahadur, Laxmibai and

Nana Tope Surinder Sahay

Nana Sahib, Tatya Tope, Surinder and Sahay

Mandsaur le Khan Firoza

From Mandsaur it was Khan Firoza

Gwalior k Baija Rani

From Gwalior it was Baija Rani

Saheed Kunwarsingh Aarawaale

Shaheed Kunwarsingh from Aara

Maanpur k mardan baaghi ...

And Mardan Baagi from Maanpur

Uhi samay ma Chhattisgarh k

At that time only from Chhattisgarh

Garajis Veernarayan Singh

Veernarayan Singh roared

Ramrai k baghwa beta

The lion cub of Ramrai

Sonakhan dharti k dheer

Was the brave heart of Sonakhan

Masturiya portrays Veernarayan Singh and his string contribution in the revolt of 1857 when the central state also led the movement. He discusses the drought of year 1857 when the villages starved and numerous people died. He reflects the intensity of the draught and famine by using the phrase "even root cultivations were not there to eat". The severe famine even made the birds and animals also migrate. At this time the business class people had their coffers full of money and Godowns full of grains. In order to help the poor Veernarayan Singh nearly begged before the landlords to give him grains on credit so as to help the poor and needy. The rich and selfish landlords refused to help Veernarayan, in turn of which, he robbed off the entire grain and distributed evenly among all villagers. The business class and the feudal lords complained the British officials who immediately got Veernarayan arrested and later brought to Raipur for keeping imprisoned. However Veernarayan did not give up before the British and absconded from the jail

with the help of one friend. After coming out Veernarayan was again reminded of his liability towards his people who called him his "Mukhiya".

Mor jinagi mor parja khatir

My life is meant for my people

je mola mukhiya maane he

Who have regarded me as their chief

Jameendar main Sonakhan k

I am the landlord of Sonakhan

Sona upje mor maati ma

Gold is the harvest of my land

Jihan k bhuindhar bhookh marat he

But now the landowners here are starving

Aag barai mor chhati ma

Due to this my heart is on fire

The above lines reflect Veernarayan Singh's belongingness towards his place and people and a strong sense of determination to resolve their problems during the famine. The idea of crops bringing prosperity in the region has been strongly connected with the term 'golden harvest' in which the excellent soil quality is responsible for profitable harvest. When Veernarayan saw his people starving he neither begged nor asked for the charity but asked to get grains on credit from the feudal lords who blatantly rejected his idea. An oldest adivasi resident of Sonakhan, Charan Singh speaks on Veernarayan's self respect and self esteem staying intact even in the moments of crisis-

"He did not seek charity," says Charan Singh, the oldest Adivasi resident in this largely tribal village.He asked the merchants and lords to open the godowns and let the poor eat." Like in so many famines, the granaries were full. "And he said that when the first crop came, people would replace the grain they were given. When they refused, he led the poor to seize and distribute the grain." The struggle that followed spread across the region as the tribals took on their oppressors." ('Sonakhan: When Veernarayan died twice, PARI, People's Archive of Rural India, August 14, 2015)

While Veernarayan was captured in Sonakhan, it was due to the betrayal of his own brother in law who joined hands with General Smith who was instructed not to leave even a single stone unturned

in capturing Veernarayan. General Smith called more forces from Bilaspur, Bilaigarh and Bhatgaon, still he could not show down the soaring high spirits of Veernarayan, who despite his starving people did not surrender. He said that dying merely by starvation is a coward's death, but fighting empty stomach and embracing death is an act of bravery , and through these words he inspired his people to fight against General Smith.

Ghoda Kareliya ma chadhe Narayan
Mounting on his horse
Gali gali kinjre alakh jagaye
Narayan explored every corner of the village to kindle the rebel fire
Bhookh ma to jeev tadpat jaahi
Our soul is restless due to hunger
Ran joojh maro swarag mil jaye
Its better to fight and die with a purpose, so that you go to heaven
Anyayi k anyay sahne
To suffer the exploitation of an exploiter
sab le bade hove anyay
Is also biggest exploitation
kaat k paapi la khud kat jave
its better to kill the sinner and sacrifice one's life
Dharam karam Geeta gun gaye
As of this kind of death is even praised in the Bhagwadgita
Bina Suraji ka jingani
A life without Swaraj
Murda he tan mare pran
The body is dead with a dead soul
Bina maan sabhimaan k mankhe
Without self respect and self esteem
Gaay garu aud kukur samman
A human is no less than cattle and stray dogs

The rhyme scheme ab, ab is followed throughout the poem in the quatrains, with imageries and similes abounding in the poem. The comparison of a human without Suraaj (Swaraj) self esteem

and self respect is just like a body without soul that has no mission, no objective of the life incapable of doing anything for his people. Similarly a human being's identity is reduced to cattle who with her mentality are always good followers but worst leaders as they lack the decisive power and will power to take initiatives in life. The preaching of Verrnarayn and his ethics have been beautifully interwoven in the Chhattisgarhi language that is highly motivating and inspiring patriotism. The powerful diction of Masturiya's poetic style arouses strong patriotic feelings in one's heart and makes an individual realize the true worth and meaning of his birth as a human on this planet. This thought is quite evident in the coming lines when he rebukes his people on humanity and being a superior animal :

Dharam Dham ma Raj karat he
This land of Dharma is ruled by
Kayar kukur dhan lobhi
Coward dogs and greedy rogues
Murda kas jinagi jeetho
You all are like dead bodies
Dhikkar tunhar maanus yoni
Its a shame upon your life as a human

The lines express revolutionary and rebelling spirit of Masturiya against the injustice on the locals inflicted by the selfish moneylenders and feudal lords through the protesting tongue of Veernarayan Singh. Masturiya brings out the true essence of humanity and purpose of human life that is not meant just for taking birth and dying but idea is that even birth and death should have a noble purpose which can be none other than humanitarian outlook and noble actions. The aspects of self esteem, self reliance and self respect have been considered as the qualities distinguishing man from animals. A voice has been raised against herd mentality and following the footsteps with blind faith as it is capable of destroying a whole nation and generation. There is a muscular voice for awakening of the labours and peasants who must understand their worth and fight for their rights:

Jaag Kisanha, Jaag kamaiyya
Be Awake farmers, be awake workers and labourers
Haq bar lado maro jung ma
Fight for your rights and sacrifice your life in the rebellion
Laaj bachale apan kul ke

Save the honour of your clan

Rang matha man rang man ma

Colour your forehead and your thoughts with the colour of war

The pathetic and heart rendering scene of Veernarayan Singh after arrest and blown on the canon mouth brings tears into the eyes of every patriot who lives his nativity, his soil and his people. A mixture of strong pathos, passions and aggression is evident in the lines that convey the tragic demise of Veernarayan Singh. The soil of the land stands personified as a silent witness of Veernarayn's martyrdom. The lines are quite moving infused with patriotic feelings and sacrificing one's life for the sake of motherland with an undaunted spirit. The philosophy of karma has also been highlighted as even God can forgive but the motherland will never forgive the ones who betrayed Veernarayan and shook hands with the British. The deadly silence after the order of blowing Veernarayan on the canon mouth is heart breaking and makes the soul restless :

Taan k chhati khade Veersingh

Veersingh stood with his chest erected

Bedhadak dekh rahe muskaye

He had a smile on his face and remained unaffected

Order hot bhaye sannata

As the order was given for killing there was a deadly silence

Chhootis top garaj garjaye

The canon blew with a deep roar...

Mankhe sang gaddari karke

Those who cheat others

Maafi pa jahi beimaan

May be forgiven

Maati sang gaddari karhi

But those who cheat and betray the motherland

Ola nai bakse bhagwan

Will never be spared even by God

These valuable words of Masturiya on karma are significant for all times as betrayal towards the motherland is an unforgiving sin. The martyrdom of Veernarayan Singh was exceptional as he embraced death with a smiling face at the same time with a guilt in his heart that his own people

betrayed him for whom he lived his whole life and sacrificed everything.

Hunger is still an issue in Sonakhan which is not a goldmine as the name suggests. One of the tribal Shyamsunder Kanwar says that every year the population is decreasing on account of migration leading to a drop in the literacy drive for the region. Still the land is under the control of those forces which were strongly opposed by Veernarayan Singh, and which includes the merchant class, moneylenders and feudal elements. The politics of the protest which was strongly favoured by Veernarayan has lost with receding times and unfortunately the politics of patronage has won. He was an authentic folk hero who was demolished by the embrace of the elite, but the issues he raised are still alive.

Beer narayan k sapna ha

The dream of Veernarayan

Turat havae adhoora he

Is still broken and unfulfilled

Dhadhke chhati Chhattisgarh k

The chest of Chhattisgarh has still fire buried in its heart

Dukh k badhti poora he

Due to the increasing sorrow

Are naag tai kaat nahi to

Hey Naga, you don't sting

Jee bhar k fufkaar to re

But at least make hissing sound

Arre baagh tai marr nahi ta

Hey Tiger! do not kill

Garaj garaj dhutakkar to re

But at least you roar loudly

Ek na ek din e mati k

One day again the pain of this land

peera rar machahi re

will again give rise to rebellion

Nari katahi bairi man k

The nerves of the exploiters will be cut

Nawa Suruj phir aahi re

And a new sun will rise again

In the concluding lines of the poetry Masturiya comments upon the helplessness of the people as an intentional passivity whose fire needs to be kindled with changing times and in this context he says indirectly that ' Hey Naga, do not sting but at least hiss, hey tiger, do not kill but at least roar' which reflects the idea that the fire of rebellion which is still buried in the heart of Sonakhan should not extinguish, but stay alive with time, even if it does not show itself it must be retained that "Sonakhan was the place where Shaheed Veernarayan Singh was born". Though the dreams of Veernarayan Singh are unaccomplished till date , but the fire of Sonakhan will up rise one day and will rebel with all might against the injustice done to the innocent locals who are still the victims of the feudal and merchant class, who still are migrating with a starved face and empty stomach. Standing on the threshold of the past and present the poet is still hopeful for better days to come and the rising of a *'Nawa Suruj'* or a new sun bringing a better future.

CITATIONS

1. 'Sonakhan k Aagi' Gurtur Goth, Masturiya Laxman, https://gurturgoth.com/sonakhan-ke-aagi/ December 9, 2017
2. 'Reviving Chhattisgarh Heritage History' https://www.sundaygudimanlive.co/business/reviving-chhattisgarhs-heritage-history
3. 'Influence of Shaivism in Chhattisgarh' DIGICGVision https://www.digicgvision.in/2021/04/chhattisgarh-me-shaiv-dharm.html, 2021
4. 'Red Alert in Chhattisgarh' Down to Earth,Mitra, Maureen Nandini, https://www.downtoearth.org.in/coverage/mining/red-alert-in-chhattisgarh-8554, 31 October, 2006
5. 'Revolt of 1857 in Chhattisgarh' ,CG Exam Preparation https://chhattisgarh.pscnotes.com/chhattisgarh-history/revolt-of-1857-in-chattisgarh/#:~:text=Chhattisgarh%20took%20active%20part%20in%20the%20Revolt%20of%201857.&text, 2015
6. Chhattisgarhi Dictionary, Learn Chhattisgarhi, https://chhattisgarhidictionary.learnchhattisgarhi.com/, 2021

 ISSN: 2454-2725

आलेख

कोविड़ 19 के परिप्रेक्ष्य में साहित्य और समाज

डॉ.श्रीलता विष्णु

महाभारत में यमदेवता ने यज्ञ बनकर युधिष्ठिर से पूछा था कि संसार में सबसे तेज़ चलनेवाली वस्तु कौन-सी है युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि संसार में सबसे तेज़ चलनेवाली वस्तु हमारा मन है। एक क्षण में वह हमें एक जगह से दूसरी जगह ले जाता है और दूसरे ही क्षण में यहाँ से कहीं और। उन दिनों या बाद के समय में भी यह कल्पना भी न की गई होगी कि कोई चीज़ इसकी बराबरी कर सकता है। वर्तमान समय ने बेतुकी बातों को भी सच में परिणत करके हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। यदि हम कोविड़ 19 को ही ले लें तो अणुयुक्त किसी चीज़ को छूने मात्र से हमारा पूरा शरीर अणुग्रस्त हो जाता है। दो वर्ष पहले हम ने सोचा भी नहीं था कि ऐसी कोई बीमारी मानव का हत्यारा बनकर हमारे बीच व्याप्त होगी। आज हम इस महामारी के चपेट में आ ही गई है। जब हम ने प्रकृति पर हस्तक्षेप किया जैविक वस्तुओं का भक्षक बना और प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया को बदल डाला तो यह छोटा सा, देखने में तुच्छ वैरस मानव समाज की स्वाभाविक प्रक्रिया पर प्रश्न चिह्न डालकर प्रत्यक्ष हुआ। अपनी स्वतंत्रता को, चाल-चलन को इसने प्रभावित किया है। विज्ञान ने भी कोविड के सामने अपना हथियार डाल चुका है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय जब भारतीय आज़ादी हासिल करने के लिए लड़ रहे थे तो अब तो कोविड़ से स्वतंत्रता, कोविड़ से मुक्ति हम चाहते हैं। और उसके लिए लड़ रहे हैं। दुनिया में इतना परिवर्तन होगा कि हम कोविड के पहले या कोविड के बाद आदि संज्ञा से उसका संबन्धित करेगा। विकसित राज्य की अवधारणा को भी कोविड़ ने बदल डाली है। वैज्ञानिक क्षेत्र में , प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कितना भी विकसित हो कोविड़ के सामने सब नागण्य है।

दुनिया भर के मानव की यह मिथ्या धारणा रही थी विशेषकर इस उत्तर आधुनिक युग में, संसार की कोई भी चीज़ उन्हें हरा नहीं सकती। उन्हें ऐसा लगने लगा था कि उन्होंने प्रकृति के रहस्यों को जान पाया और प्रकृति के परे हो गया। संस्कृति के कई तत्वों को भी हम भूल बैठे। अथर्ववेद में कहा गया है-

माता भूमिः पुत्रोहं पुथिव्याः

यह भूमि हमारी माता है मैं इसका पुत्र हूँ। इसके पारिस्थितिक संतुलन को, माँ की संतानों ने ही बिगाडा है। हमारी आर्ष संस्कृति ने वास्तव में हमें यह सीख दी थी कि वृक्षों को काटना पाप है। यदि हमें इसे काटना पड़े तो वृक्षों से अनुमति माँगनी होगी।

"फलदानं तु वृक्षाणां च्छेदने जप्यमृकशतम
गुल्मवल्ली लतानां चु पुष्पितानां चवीरुधां''

ऐसा उपदेश वैदिक साहित्य हमें दे रहा है।

पर्यावरण पर सृष्टि की रूपरेखा इस कदर बदलेगी शायद ही हमने कभी कल्पना की होगी। आज प्रकृति की ओर मुड़ना मानव के लिए अनुपेक्षणीय हो गया है। कोविड़ संकट का कारण, मानव की असीमित लिप्सा और बेकाबू प्राकृतिक दोहन है। मानव- मानव पर, मानव-प्रकृति पर स्वाभाविक रिश्ता बनाते हुए ही विकास के पथ पर हमें आगे

बढ़ना होगा। इस साल भी जून पाँच को हम ने विश्व पर्यावरण दिवस मनाया। इस कोविड़ काल में पर्यावरण के प्रति कुछ गंभीर सतर्कता एवं सजगता हम ने दिखाया। कोरोना महामारी हमें बहुत कुछ सिखा रही है।

कामायनी में अन्तदृष्टि संपन्न प्रसाद जी ने इस ओर पहले ही हमें चेतावनी दी थी – "अरे अमरते के चमकीले पुतलों/ तेरे वे जयनाद/ काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानो दीन विषाद/ प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे, भूले मद में भोले थे/ हाँ, तिरते केवल सब विलासिता के नद में'' (चिन्ता, पृ.13)

भारत के मनीषी विचारक दार्शनिक कवि एवं प्रबल क्रांतिकारी नेता कबीर को, संपत्ति के पीछे भागते हुए मनुष्य को देखकर यों बताना पड़ा –

साई इतना दीजिए जा मैं कुटुम्ब समाय
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।

कबीर ने अपनी सहज प्रतिभा एवं सबल आत्मवत्ता के बल पर समाज के कदाचारों एवं दुर्भावनाओं के विरुद्ध इतना ज़ोरदार आन्दोलन चलाया था कि वे अपने युग तथा परवर्ती अनेक युगों के लिए निस्वार्थ क्रान्तिकारिता के आदर्श मार्गदर्शक हो गए हैं। आज के इस कोविड काल में जाति-पाँति के विरुद्ध कबीर द्वारा कहे गए वाक्य कितना सार्थक सिद्ध होता है। इस कोविड काल में सांप्रदायिकता फैलाने की कोशिश भी हो रही है। क्या कोरोना वैरस किसी जाति या वर्ण या धर्म देखकर मानव के अन्दर घुस जाता है। सांप्रदायिकता तो कितना निरर्थक या बेतूकी बात है – इसे भी हमें कोविड़ समझा रहा है। सूर्य, अग्नि, वायु, जल सब पर प्रकृति मानव को समान अहसास कराती है। कोविड ने इन्सान और ईश्वर के बीच के अन्दर को भी मिटा दिया है। दोनों बंद दरवाज़ा के भीतर रहा। मन्दिर मज़जिद गिरजा घर सब बंद पद था। सब में ताला लगा हुआ था। मानव ने सीमा पार कर दिया है। इसका परिणाम भी भुगताना ही पडता है।

महान आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने पहले ही चेतावनी थी कि ज्यों ज्यों औद्योगीकरण बढ़ता जाएगा। विज्ञान के चरण मानव जीवन पर गहरी छाप छोड़ने लगेंगे समाज और साहित्य की अस्मिता केलिए संकट की स्थितियाँ बनेंगी। लेकिन उन्होंने यह कहकर हमें धीरज बँधाया था कि दबावों और संकटों के बावजूद मनुष्य की रागात्मक वृत्ति निशेष नहीं रह जाएगी। जब तक मनुष्य की संवेदनाएँ बची हुई हैं तब तक साहित्य का अस्तित्व सुरक्षित और भविष्य निरापद है। लेकिन वर्तमान माहौल में स्थितियाँ विघटन को बढ़ावा दे रही है। राजनीति, धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि में आपसी वैर और अलगाव उभर कर आ रहे हैं। अखंडता, जीवन मूल्य और आदर्शों का तिरस्कार कर पूर्णतः प्रौद्योगिक संस्कृति को मनुष्य स्वीकार कर चुके हैं। प्रोद्योगिकी और तकनीकी के द्रुत विकास ने मानव अपसंस्कृति का निर्माण किया है। उसके सामने मनुष्य कितना लाचार है विवश है यह भी सोचने के लिए इस कोविड काल में हम बाध्य बन गए हैं। विभिन्न प्रचार माध्यमों, विज्ञापनों और ब्रान्ड संस्कृति ने मानव को अंधेरे गुफे में धकेल दिया है। नयी उपभोक्तृ संस्कृति की ओर मानव ने मैग्रेट किया है। इक्कीसवीं सदी में उपभोक्तावाद का दुष्परिणाम भी हम देख रहे हैं। खुला बाज़ार मनुष्य की जीवन-शैली को भी बदल डाला है। अपने बनाए उत्पाद्य या स्वदेश वस्तुओं एवं स्मॉल स्केल इन्डस्ट्री को अब भारतीय समाज में जगह मिलनी ही चाहिए। भारत के वित्तमंत्री निर्मला सीतारामन ने इसकेलिए कई पॉकेजों की घोषणा भी की थी। यदि यह पूर्ण रूप से कायम कर पाये तो समाज के बहुत सारे लोगों की स्थिति बहत्तर हो जाएगी। हम आत्मनिर्भर भी हो जाएँगे। इस कोविड काल की आपदा को अवसर बनाकर हमें अपने ही राज्य के उत्पाद्यों को ही इस्तेमाल करने का संकल्प करना है। संकल्प से ही सिद्धि होती है। वास्तव में भारत के बाहर भारतीय उत्पाद्यों का बड़ी माँग है, डिमेंड है। इसका उत्पादन एवं वितरण भारत में ही करें तो हमारी सामाजिक संस्कृति वापस आएगी, अपनी अस्मिता वापस आएगी। कोविड 19 काल

से हमें ऐसा ही कुछ लाभ उठाना चाहिए। गले लगाने की और हाथ मिलाने की प्रथा को हटा कर हमारी अंजली जुटाकर नमस्ते की मुद्रा को विदेशी लोग अपनी सभ्यता का भाग बना दिया है।

पश्चिमीकरण की ओर के मानसिक विस्थापन से मानव पश्चिमी संस्कृति की सुख सुविधाएँ और स्वच्छन्त जीवन चाहता है पर उनसे होनेवाले सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवमूल्यन को हम नकार नहीं सकते। प्रेम और यौन संबन्धों के बदलते समीकरणों ने हमारे रिश्ते नाते को भारतीय भूमि से उखाड़कर एक नयी ज़मीन पर खड़ा किया है। आज के इस वैश्विक वातावरण में पति-पत्नी संतान ऐसा कोई भी नहीं सिर्फ "मैं" ही "मैं" हूँ। सारे रिश्ते खंडित-विखंडित हो चुके हैं, विरूपित-विस्थापित हो चुके हैं। गोविन्द मिश्र की कैंपस, देवेन्द्र की क्षमा करो ये वत्स, राजी सेठ की यह कहानी नहीं, स्वयंप्रकाश की गौरी का गुस्सा, अजय निवारिया की देहदंश, लवलीन का चक्रवात जैसी कई कहानियाँ इस विखंडित रिश्ते को सामने ला रही है।

कवि राजेश जोशी की कविता की पंक्तियाँ हैं – संयुक्त परिवार/अब सिर्फ आलबम में रहते हैं। परिवार के सारे लोग एक साथ/ टूटने की प्रक्रिया में/क्या क्या टूटा कोई नहीं जानता।

यह तो हम ज़रूर बता सकते हैं कि इस कोविड़ के समय ने परिवार के सारे लोगों को एक साथ रहने का मौका तो ज़रूर दिया है। अपने घर की सुरक्षा और कहाँ मिल पाता है। माँ-बाप को बिना तनाव के, बिना भाग-दौड के अपने बच्चों के साथ घर के आत्मीय वातावरण में बिताने का अवसर इस लॉकडाउन या तालाबंदी ने दिया है। इससे कई आर्थिक परेशानियाँ तो अवश्य हुई हैं उससे हम आँख मूँद नहीं सकते। फिर भी पारिवारिक ऊष्मा एवं ऊर्जा से हम ज़रूर लाभान्वित हुए हैं। यह तालाबंदी मानव जाति के इतिहास में पहली बार पूरी दुनिया में एक साथ आयी है। समाज पर इसका असर तात्कालिक नहीं दीर्घकालिक है। साहित्य और समाज इससे बहुत कुछ प्रभावित होगा।

कोविड़ 19 ने मानव के सामने कई नई बातों को खोल रखा है। मनुष्य को समाज में जीना होता है प्रत्येक मनुष्य का जीवन इसलिए समाज से संबद्ध और नियंत्रित होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने भावव्यापारों को, आवश्यकताओं को संयत और नियंत्रित करके जीना है। यह नियंत्रण सामाजिक नियमों के आधार पर चलाना भी है क्योंकि सामाजिकता से व्यक्ति जीवन संबद्ध ही होता है। व्यक्ति मानस को सामाजिक जीवन के लिए सर्वधा अनुकूल बनाने के लिए स्वाभाविक रूप से सामाजिक अनुशासन के लिए तैयार करने की प्रक्रिया को मानुषीकरण कहते हैं यह मानुषीकरण ही सच्चे अर्थ में संस्कृतिकरण है। पशुसामान्य वृत्तियों से मनुष्य का विशुद्धीकरण अथवा उदात्तीकरण ही संक्षेपतः सामाजिक संस्कृति का तात्पर्य है।

नागण्य मनुष्यता का दर्दनाक चित्र भी हमें इस काल में अतिथि मज़दूर के पलायन के रूप में देखना पडा। इस घटना ने मानव सभ्यता पर नया मुहावरा गढ़ा है। यह सांस्कृतिक विघटन व्यक्ति का विघटन है। यह विकास की गलत दिशा का परिणाम है। युग की पद थ्वनि साहित्य में युगद्रष्टा कवियों द्वारा गूँज उठी है। इक्कीसवीं शती के दहलीज पर खड़े रखकर कवि अरुण कमल ने लिख ही दिया है। उस मेरा चेहरा फूटा हुआ। कंप्यूटर अपने ही घर में किराए दार हम जा रहे हैं इक्कीसवीं शताब्दी की ओर खड़े रखकर कवि अरुण कमल ने लिख ही दिया है।

और मेरा चेहरा फूटा हुआ। कंप्यूटर का दाना
अपने ही घर में किराए दार हम
जा रहे हैं इक्कीसवीं शताब्दी की ओर

भूखे नंगे जलंधर, सूरत, अलिगढ़
भोपाल, हैदराबाद होते
गड्ढ़ों में जमा आदमी के खून से हाथ मुँह धोते
ढहे महानों की छाँह में ठंडाते
अनाथ बच्चों विधवाओं भिखमंगों के साथ
उठ पठ हम शरणार्थी भविष्य के। (सबूत काव्य संग्रह)

समाज विज्ञान और साहित्य पर सकारात्मक सोच-विचार अनुपेक्षणीय है। भारतीय साहित्य गतिशील है इसमें युगीन परिवर्तन होते रहे हैं। जनता की सकारात्मक मनोव्यापार को, सोच- विचार को ठीक रास्ते पर चलाने का दायित्व साहित्य निभा रहा है। समता और ममता की संवेदीना बरतना साहित्य का दायित्व बनता है। कोविड़ से मुक्ति केलिए उन्हें समाप्त करने के लिए मनःस्थिति की बदलाव ज़रूरी है। कोई जैव या अजैव हथियार हमारे पास है ही नहीं। कोरोना काल में उससे प्रभावित कई रचनाएँ रची है। वैश्विक संकट के समय में रचने गुनने का माद्दा बेहद ज़रूरी है। साहित्य के साथ समाज समाज के साथ साहित्य यही रीति है, यही चलन है दोनों सहकर्मी है। कोरोना व्यंग्य की **कोरोना गो गो** जैसी कविताएँ तो अल्पकालिक ही है। विश्व युद्ध के पहले और उसके बाद कई कविताएँ कई रचनाएँ लिखी गईं जिनमें जनता की जीवन-स्थितियाँ युद्ध का प्रभाव जैसी कई बातें रेखांकित की गयीं वैसे ही इस आपात काल की भीषणता से प्रभावित स्तरीय रचनाएँ वे चाहे कविता हो, नाटक हो, उपन्यास हो, कहानियाँ हो ज़रूर सामने आएँगी। परवर्ती युग के समाज के लिए भी यह अवश्य लोभकारी सिद्ध होगा। Words worth ने कहा है Spontaneous overflow of powerful feelings recollected in intrananquility ऐसे रीकलक्टड़ कई बातें सुन्दर प्रभावी रचनाओं का रूप धारण करके सामने प्रस्तुत होंगी जिनमें विश्वभर के अनुभव एवं दुरनुभवों का अहसास होगा, स्पंदन होगा, धडकन होगा। ये रचनाएँ वैश्विक संबन्धों को उजागर कर देंगी। मानव जीवन की गति को इस छोटे-से वैरस ने धीमी तो कर दिया है। लेकिन हमेशा की तरह मानव इस बार भी लडेंगे, उठ खड़े हो जाएँगे। इस के लिए हम प्रतिबद्ध हैं।

प्रोफसर और अध्यक्षा
शीशंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय
कालड़ी ,एर्णाकुलम जिला ,केरल
ई मेल –sreelathavishnu2018@gmail.com
मोब 09497273927

प्रेम का अजब त्रिकोण 'अमृता, साहिर और इमरोज'

डॉ. हरीश नवल

आज मैं वारिसशाह से कहती हूँ।

'अपनी क़ब्र से बोल/और इश्क की किताब का कोई पन्ना खोल पंजाब की एक बेटी के रोने पर तूने पूरी गाथा लिख डाली थी/देख आज पंजाब की लाखों रोती बेटियाँ तुझे बुला रही हैं/उठ दर्द मंदों को आवाज़ देने वाले और अपना पंजाब देख/खेतों में लाशें बिछी हुई हैं और चनाव लहू से भरी है। किसी ने पाँचों नदियों में दिया ज़हर मिला/और उन नदियों ने धरती को उसी पानी से दिया सींच।'

यह प्रख्यात कवयित्री अमृता प्रीतम की प्रसिद्ध कविता 'आज्ज आखाँ वारिस शाह नू' का एक अंश है यह कविता विभाजन के बाद प्रकाशित अमृता प्रीतम का पहला संग्रह है जो 1949 ई॰ में 'लंमीआं वाटां (चिर प्रतीक्षित)' के नाम से छपा मेरा परिचय भी उनसे इसी कविता के माध्यम से हुआ। विभाजन की त्रासदी पर आधारित यह कविता हमारे परिवार को उन यादों में ले जाती रही जो उन्होंने विभाजन के समय झेली थीं, जिनकी कड़वाहट आज तक नहीं गई है। मेरा जन्म पंजाब में 1947 में ही हुआ था, मैं बचपन से ही विभाजन की लोमहर्षक गाथाएँ सुनता था जिन्हें अमृता प्रीतम ने अपने उपन्यास 'पिंजर' में जीवंत बनाए रखा हुआ है। मैंने अमृता जी के गद्य का प्रथम अनुभव इसी उपन्यास से लिया था। अनुमानतः उन्होंने सौ पुस्तकें लिखीं। विभाजन के समय वह 28 वर्ष की थी। पिंजड़ 31 वर्ष की आयु में लिखी गई, जो एक बहुत परिपक्व रचना है। इससे एक वर्ष उन्होंने 'डॉ॰ देव' जैसा प्रेम संबंधों पर आधारित उपन्यास लिखा जो मैंने 'पिंजर' के कुछ वर्षों के बाद पढ़ा था और उसका प्रभाव भी मेरे मन पर अत्यधिक रहा। यही कारण था कि जब वर्षों बरस बाद 'ब्यूटेक्स फिल्म्स' के निर्माता श्री जैन ने मुझसे किसी साहित्यिक कृति पर दूरदर्शन के लिए धारावाहिक लिखने का अग्रह किया, तब मैंने 'डॉ॰ देव' पर निर्माण का प्रस्ताव रखा और उन्हें वह उपन्यास पढ़ने को दिया। वे एक ही सिटिंग में उसे पढ़ गए और उसकी पटकथा लिखने का अनुबंध मुझसे करने को कहा। मैंने श्री जैन से कहा कि पहले वे अमृता जी से स्वीकृति ले लें।

हम दोनों ने अमृता जी से समय लिया और उनकी स्वीकृति हाथों हाथ प्राप्त की। मैं इससे पूर्व उन्हें एक बार मिल चुका था। नाटककार रेवतीसरन शर्मा के घर एक छोटी सी गोष्ठी हुई थी जिसमें अमृता जी मुख्य अतिथि थी। उस गोष्ठी में मेरी अमृता जी से मिलने की वर्षों की कामना पूर्ण हुई थी। उसी का हवाला देकर मैंने उनसे समय लिया था। अमृता जी ने बहुत गंभीर स्वर में कहा था, 'मेरी हर किताब मेरी जान का एक हिस्सा है, इस पर जेसा इसमें लिखा है वैसा ही धारावाहिक बनना चाहिए।'

मैंने अमृता जी को आश्वस्त किया था कि उन्हें हम बनाने से पहले हर एपिसोड की पटकथा दिखाया करेंगे और वे उसमें संपादन या संशोधन कर सकेंगी इसपर वे ख़ुश हुईं और पंजाबी में मुझसे कहा, 'तू बड़ा बीबा लगदाँ हैं।'

पटकथा तो पूरी लिखी गई और अमृता जी को भेजी भी गई किंतु दुर्भाग्य से श्री जैन के आकस्मिक देहावसान से धारावाहिक का निर्माण नहीं हो सका।

सर्वविदित है कि अमृता जी साहिर लुधियानवी को बेतहाशा प्यार करती थीं और इमरोज अमृता प्रीतम जी को साहिर और अमृता की प्रेम गाथा न केवल चर्चित रही अपितु उस पर जावेद सिद्दिकी ने एक पूर्णकालिक नाटक 'तुम्हारी अमृता'

लिखा जो देश भर में अनेक स्थलों पर मंचित हुआ। इसी थीम पर 'एक मुलाक़ात' नाटक रचा गया। इस नाटक में साहिर और अमृता प्रत्यक्ष दिखते हैं और इमरोज नैपथ्य में रहते हुए भी मानो सादृश्य होते हैं। आजकल जो रंगकर्मी मुख्य भूमिकाएँ निभा रहे हैं, वे हैं साहिर के रूप में शेखर सुमन और अमृता प्रीतम के रूप में उन्हें साकार किया दीप्ति नवल ने।

साहिर और अमृता प्रेम में थे किंतु साथ न रहे, साहिर प्रसिद्ध गायिका सुधा मल्होत्रा से श्प्रेम करने लगे लेकिन अमृता साहिर को ताउम्र भुला नहीं पाईं। उनके जीवन के एक ख़ास मोड़ पर इमरोज आए जब वह अपनी एक पुस्तक का कवर बनवाने के लिए चित्रकार इमरोज से मिलीं यह बात 1958 ई॰ की है। तब अमृता जी लगभग चालीस वर्ष की थीं। इमरोज अमृता के मोहपाश में बिंध गए। वे दोनों मिलते थे लेकिन अमृता के मन में कभी भी इमरोज के प्रति मोहब्बत का वैसा ज्वार नहीं फूटा जैसा उनके मन में साहिर के लिए रहा। दरअसल उनके दिल में साहिर थे तो इमरोज कैसे आते। लेकिन इमरोज अमृता से बेतहाशा पूर्ण समर्पित भक्तिभाव से प्रेम करते रहे। वे अमृता के साथ रहने लगे थे। माना जाता है कि उनका साथ रहना लिविंग टुगेदर का प्रथम दौर था।

मैंने इमरोज के ये भाव स्वयं देखे हैं। अमृता प्रीतम सूफी संतों पर कार्य कर रही थीं, उन्हीं दिनों मेरा उनके घर जाना हुआ। संदर्भ था मराठी पत्र 'जनवाणी' के 'इंदिरा गाँधी स्मृति विशेषांक' का जिसके लिए मुझे इंदिरा गाँधी जी के संबंध में अमृता जी से इंटरव्यू लेना था। अपने अतिव्यस्त समय में से उन्होंने इंदिरा जी के लिए मुझे फौरन समय दिया था। इंदिरा जी से उनके संबंध बहुत मैत्रीपूर्ण थे। अमृता जी राज्यसभा की सदस्या भी रही थीं।

मैं इंटरव्यू लेने उनके बंगले में गया और मेरा स्वागत इमरोज भाई ने किया। इमरोज अत्यंत शालीन और मृदुल व्यवहार वाले शख्सियत हैं। वे बहुत बड़े चित्रकार हैं और अब तो शायर भी। तब मुझे उन्हीं से ज्ञात हुआ था कि उन्होंने घड़ियों के डायलों के बहुत से डिजाइन चित्रित किये हैं। वे मुझे घुमावदार सीढ़ियों से ऊपर लेकर गए, इतने अदब से कि मुझे बहुत संकोच हो रहा था।

अमृता प्रीतम ने उस रोज बड़ी संजीदगी से इंदिरा जी के विषय में बहुत कुछ बताया जिसमें एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने इंदिरा जी के विषय में आगाह किया था कि उनके जीवन पर संकट है जिसे टाला जा सकता है, उसका उपाय भारतीय स्टैंडर्ड टाइम को बदल दिया जाए। अमृता जी के अनुसार उन्होंने इंदिरा जी से इस विषय में बात भी की जिसे इंदिरा जी ने गंभीरता से सुना और विचारा। इंदिरा जी ने ऐसा करने से इंकार किया और सब नियति पर छोड़ने की बात की .... जब मैं और अमृता जी वार्तालाप में निमग्न थे, सौम्य इमरोज भाई उसी मध्य कॉफी के दो प्याले और कुछ बिस्किट हमारे समक्ष रख गए, जिस पर अमृता जी ने मेरे मन की बात उनसे कही कि वे भी हमारे साथ कॉफी पीयें। वे अपना प्याला ले आए और चुपचाप कॉफी पीने लगे और मैं कॉफी के साथ-साथ इमरोज और अमृता प्रीतम के चेहरे के भावों को पीता रहा। अमृता जी का अनुग्रह और इमरोज का समर्पण भाव मुझे दिख रहे थे, उस बीच अमृता जी और इमरोज जी ने किसी प्रकाशन के विषय में भी कुछ बातें की। मैं उन इमरोज पर मुग्ध हो रहा था जो अमृता प्रीतम पर बेशाख्ता मुग्ध थे।

इंटरव्यू के उपरांत मैंने उनसे विदा ली और सीढ़ियों की ओर बढ़ गया, पीछे अमृता जी की आवाज़ आई, 'मैं छोड़ने आऊँगी दरवाज़े तक' मैंने उनसे ऐसा न करने का निवेदन किया और सीढ़ियाँ उतर गया और पुनः पलटकर देखा वे इमरोज के साथ नीचे उतर रही थीं, इमरोज उन्हें ऐसे ला रहे थे जैसे कोई माली फूलों को सहजेकर ला रहा हो।

विशेषांक छपने पर मैं अमृता जी को देने गया तब भी प्यालियाँ इमरोज ही लाए थे। उस दिन अमृता जी ने अपने सूफी-संत विषयक कार्य की बृहत् चर्चा की जिस दौरान मैंने उन्हें बताया कि मेरे दादा पंडित त्रिलोक नाथ 'आजम' उनके बड़े भाई

पंडित दुर्गा प्रसाद 'सूफी' और उनके चाचा पंडित इलायचीराम जी भी सूफी काव्य रचते रहे हैं। इस पर वे बहुत उत्साहित होकर बोलीं, 'मेरे पास शायद पंडित इलायचीराम का संदर्भ है।' उन्होंने मुझसे तीनों मेरे पुरखों के काव्य संग्रह उन्हें प्रदान करने के लिए कहा। जब मैंने बताया कि मेरे दादा 'आज़म' जी का साथ अभी भी हैं और वे नब्बे वर्ष के हो चुके हैं और अभी भी लिखते हैं, तब वह अत्यंत हर्षित हुईं।

मैंने उनका जितना साहित्य उन तीनों का मेरे पास था उन्हें सौंप आया और फोन पर उनकी बात दादाजी से करवाई थी दादाजी भी बहुत ख़ुश हुए थे। वे अमृता जी के साहित्यिक क़द से पूरी तरह वाकिफ़ थे।

यह मेरी अमृता प्रीतम जी ने हुई आख़िरी मुलाक़ात थी। 2005 ई॰ में वे कहने को संसार से विदा हुईं लेकिन वो आज भी हमारे साथ हैं। इमरोज भाई के शब्दों में 'उसने जिस्म छोड़ा है साथ नहीं! वह अब भी मिलती है .....

इमरोज ने इश्क के दर्द को सहा अथवा नहीं किंतु अमृता प्रीतम के शब्दों में, 'उम्र भर दा इश्क बेआवाज़ है/हर मेरा नग्मा मेरी आवाज़ है/हरफ मेरे तरफ़ उठ दे हन इवें/सुलगदें इन रात भर तारें जिवें।

उम्र भर का इश्क बेआवाज है/हर मेरा नग्मा मेरी आवाज़ है/मेरे अक्षर तड़प उठते हैं ऐसे/सुलगते हैं रात भर तारे जैसे।

डॉ. हरीश नवल, 65 साक्षरा अपार्टमेंटस, ए-3 पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063
9818999225

साहित्यिक रचनाएँ: कविता

मोतीलाल दास की कविता

अभिशाप

वह अक्सर
बातें करती रहती है
अपने आप से
और खोजती रहती है
अपने आपको
अपने ही भीतर
कहीं भीतर तक

अक्सर
उसकी खोज
गेंद में तब्दील हो जाती है
और वह लुढ़क जाती है
अपने ही आंगन में
कहीं दूर तक

अक्सर वह
अपने होने के सवाल पर
ताकती है
अपने ही आईने को
और उसका चेहरा
विभक्त हो जाता है
टुकड़े टुकड़े में

वह जानती है
आईना झूठ नहीं बोलती
यदि बोल पाती तो
कभी नहीं रोती
उनके प्रहार से
जब वह आता
हर रोज रात को
बहुत चुपके से.

मेरे तुम्हारे कांटे

जब
तुमने तय कर दी है
हमारी सीमाएं
बांध दी है तुमने
हमारी दृष्टि
ठोक दी है तुमने
उनमें कीलें
तब
धरा से गगन तक
खेत से पहाड़ तक
कहां बच पाया है
कोई रास्ता
जो जा सके
तुम्हारे महलों में
और पा सके
दीपक की वो ज्योति
जिससे
शायद ही रोशन हो
हमारी झोपड़ियां

जब
तुमने तय कर दी है
हमारी सांसें
बारूद के मुहानों पर
दाग दी है तुमने
हमारे सपनों में
मिसाईलों के गोले
तब

मीनारों के पार ताकना
और भर लेना
अपने आंचल में
उन अनगिनत तारों को
जो शायद
तुम्हारे आकाश में
कभी चमके ही न हो
एक सपना ही तो है

अब कहां बची है
अपने अंतस में वो आग
कि जिससे
बुझाया जा सके
पेट के सवालों को
और टांगा जा सके
एक टेंट
छत की शक्ल में
उस भूमि में
जहां अपनों के बीच
अपनापन तो हो

जब अपनों के बीच
अपनी रेखाएं ढूंढते हैं हम
बिना छत के
दृष्टि देखती है
विनय से उगलते आग को
और पदचाप मिटते जाते हैं
सारे रास्तों से
तब तुम
भले अट्टहास करते फिरते हो
पर कहीं कोने में
तुम भी ताकते हो
उसी आकाश को
जहां तुम्हारे तारे गायब हैं
और तुम्हारे खाली हाथ
सीमा से परे
क्षितिज की ओर बढ़ते हैं.

मोतीलाल दास, बिजली लोको शेड, बंडामुंडा, राउरकेला – 770 032, ओडिशा
मो.9931346271/7978537176

 ISSN: 2454-2725

साहित्यिक रचनाएँ: कहानी

स्पर्श

पारुल
Parul.du8130@gmail.com

पति को मृत्युशैया पर देख मंजु होश-हवास खो बैठी थी। अपने पति की मृत्यु का दर्द तो था ही, पर इससे अधिक उसे अपने बेसहारा होने का दु:ख सता रहा था। पति की अर्थी उठी नहीं कि सास ने उसे 'अपने' घर से निकाल दिया। "ये चुड़ैल मेरे बेटे को खा गयी... ये बच्चा भी न जाने कहाँ से मुंह काला करा कर लायी है।" मंजु की कोख में पल रहे बच्चे की तरफ इशारा कर के उसने कहा। लेकिन मंजु पर लगाये ये आरोप निराधार थे। पति से उसे आज तक उपहार स्वरूप 'मार' ही मिली थी। हेमंत के जीवन में दो ही कार्य थे, शराब पीना और लड़ाई करना। पति-पत्नी के सुखद लम्हों के रूप में उसकी स्मृतियों में धुंधलाहट नहीं, अंधेरा था। उसके जीवन में देह-सुख शून्य समान था। पन्द्रह वर्षीय मंजु का विवाह, फिर एक साल बाद गर्भवती होने पर पति की मृत्यु। उस पर भी आत्मसम्मान को चोट पंहुचाते ऐसे बेबुनियादी आरोप।

"मंजु... अरी मंजु... क्या सोचती रहती है... तेरा आधा समय तो यूँ बुत बने सोचते हुए ही चला जाता है। साहब आ गये हैं, जा चाय बना ले।" मंजु तो जैसे अतीत से वर्तमान की सैर कर लौटी हो। जी दीदी, अभी लायी। वह अपने बेटे रमन के साथ पिछले बीस साल से शहर आ कर किराए के घर में रहने लगी है। अपने गुजर-बसर के लिए लोगों के घर में काम करने जाती है। वह अपने रमन को खूब पढ़ाना चाहती है, इसलिए दिन-रात मेहनत करती है। खुद अनपढ़ है तो क्या हुआ, रमन के सहारे तो खुद के सपनों को पूरा कर सकती है।

जब मंजु काम से घर लौटी तो रमन घर में ही था। उसे देखते ही वह अपने दिन-भर की थकान भूल जाना चाहती है। पर इस चाह को वह पूरा नहीं कर पाती। रमन हमेशा मोबाईल फोन में कुछ न कुछ करता रहता है। इस 'कुछ' का अर्थ मंजु नहीं जानती। उसे कहाँ मोबाईल चलाना आता है। रमन मंजु से अधिक समय फोन के साथ ही गुज़ारता था। मंजू को उसकी यह आदत परेशान भी करती थी। "बेटा सारा दिन तू इस फोन में लगा रहता है, कभी पढ़ भी लिया कर। तेरे लिए ही मैं इतनी मेहनत कर रही हूँ... इसी आस में कि तू एक दिन ज़रूर मेरा नाम रौशन करेगा।" मोबाईल से ध्यान हटा कर रमन कहता है "हाँ मां तू चिंता मत कर, मैं सारा दिन पढ़ाई ही करता हूँ। तुझे नहीं पता फोन में भी पढ़ाई होती है।" रमन की बात पर विश्वास करने के अलावा उसके पार कोई अन्य विकल्प भी नहीं था। इसी तरह सुनहरे भविष्य के इंतज़ार में मंजु अपने बेटे के साथ जीवन निर्वाह कर रही थी। अगली सुबह जब वह स्नानघर से निकली तो दरवाजे पर राधेश्याम जी खड़े थे। जब वे मंजु को ललचाई नजरों से देखने लगे तो मंजु ने अपनी त्यौरियां चढ़ाई। वे कुछ सकपका कर बोले "क्या बात है मंजु रानी आज कल दिखायी नहीं देती ?" मंजु बिना कुछ बोले ही अपने काम में लग गयी। "इस महीने का किराया अभी बाकी है, कब दोगी ? भई ऐसे तो गुज़ारा नहीं हो पाएगा।" मंजु ने कहा "मैंने कितनी बार कहा है पैसे आते ही आपको भिजवा दूंगी। आपको इस उम्र में यहाँ आने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा, रमन के हाथ भिजवा दूंगी।"

इतना कहकर मंजु फिर अपने काम में लग गयी और राधेश्याम जी की दाल न गलने पर वे भी बड़बड़ाते चले गये। राधेश्याम जी का इस तरह धमकना पहली बार नहीं था। आए दिन वे उस पर अपनी गिद्ध दृष्टि गढ़ाए रखते, कब मौका मिले और कब...। मंजु ने कभी दूसरा विवाह करने के बारे में नहीं सोचा, ऐसा नहीं था। पर मंजु को सब उसकी देह को चाहने वाले ही मिले, कोई जीवनसाथी कहलाने लायक नहीं मिला। जो उसे सच्चे मन से अपनाना चाहता हो। रमेश उसकी सहेली प्रिया का भाई था। दोनों एक-दूसरे को चाहने लगे थे। पर एक दिन रमेश ने कहा "तू रमन को किसी अनाथाश्रम में छोड़ कर मुझसे शादी कर ले।" ये सुनकर मंजु का प्रेम-महल मानो ढह सा गया। उसने रमेश का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उसके बाद उसने विवाह का ख्याल अपने मन से निकाल फेंका। उसकी दुनिया स्वयं उसके और रमन के बीच सिमट के रह गयी।

एक दिन मंजु काम से बहुत थकी-हारी लौटी थी। उसने जल्द सारा काम निपटा कर अपने और रमन के लिए भोजन बनाया, रमन की राह देखते–देखते न जाने कब उसकी आँख लग गयी। अक्सर रमन घर देर से ही आता था। वापस आ कर यही कहता कि मैं दोस्त के घर पढ़ रहा था। अचानक दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ हुई। मंजु ने दरवाज़ा खोला और रमन को डांट लगायी "कहाँ था तू ? इतनी देर से तेरी बांट जोह रही हूँ ?" डांट को लगभग अनसुना करते हुए वह अन्दर आ गया। मंजू ने उसे फिर बोला "तू मेरी बात सुन रहा है ?... कहाँ था अब तक ?" तब अचानक रमन ने मां को गले लगा लिया और माफ़ी मांगने लगा। न जाने क्यों मंजु को यह स्पर्श और दिन से कुछ अलग लगा। फिर उसने सोचा यह उसका भ्रम होगा और उसे खाना परोस कर वह भी खाना खाने बैठ गयी। इस बीच दोनों के मध्य कोई वार्तालाप नहीं हुआ। मानों दोनों ही एक-दूसरे से नज़रे चुरा रहे हों। आज मंजु ने अपना बिस्तर भी रमन से थोड़ा हटकर लगाया। अपने ही बेटे के स्पर्श से आज उसका मन आतंकित हो रहा था। मंजू उस स्पर्श की अजनबीयत को भली-भांति पहचान सकती है। ये सपना नहीं था, ये हकीकत थी। 'वह' कोई और नहीं उसकी अपनी संतान है। अपनी ही संतान से उसे अपनी हिफाज़त करनी पड़ रही है। एक मां को लेकर भी किसी के मन में वासना का कीड़ा बिलबिला सकता है ? सोच कर ही उसे उबकाई आने लगी। उस घिनौने स्पर्श को याद कर उसके बदन पर चीटियाँ दौड़ने लगी। उसके अपने बेटे ने मां-बेटे के पवित्र रिश्ते को कितने अपरिचित सा रिश्ता बना दिया। यह अजनबीयत क्या कभी दूर हो पाएगी ? ये वही रमन है, जिसे उसने अपना दूध पिलाया है, उसी ने इस निर्मल स्पर्श को मैला कर दिया। कपड़े तो अक्सर मैले करता ही था, कपड़े आसानी से धुल जाते थे, पर अब मंजु क्या करे। इस मैल को वह कैसे साफ़ करे ?

पुस्तक समीक्षा

मध्यकालीन काव्य की नूतन मीमांसा

प्रियंका मिश्रा
शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 110007
Email id : pri.mishra1593@gmail.com

मध्यकालीन कविता का पुर्नपाठ डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय का सद्यः प्रकाशित अलोचनात्मक ग्रंथ है जिसमें सम्पूर्ण मध्यकाल को नये सिरे से विश्लेषित किया गया है। इस ग्रंथ में वर्तमान दौर की पाठ केन्द्रित आलोचना पद्धतियों के आलोक में सम्पूर्ण मध्यकालीन कविता को नये संदर्भो में पढ़ा गया है।साथ ही उसके ऐसे अनछुए और अनदेखे संदर्भो को उद्घाटित किया गया है जिस पर अभी तक आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। लेखक ने मध्यकालीन कविता में अभिव्यक्त विचारों और दार्शनिक पद्धतियों ,भाव संपदा और भक्तिभावना का बदलते संदर्भों के आलोक में गहन विमर्श प्रस्तुत किया है। हमारा मध्यकालीन साहित्य आदर्श-यथार्थ और लोक-जीवन के गतिशील संदर्भों का ऐसा अद्भुत आख्यान है जो बदलते जीवन संदर्भों के अनुरूप अपनी नई व्याख्या की मांग करता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ना समीचीन होगा।

डॉ. उपाध्याय ने प्रथम अध्याय के अन्तर्गत'भक्तिकाव्य और उत्तर आधुनिकता' का विशद विवेचन किया है। इन्होंने उत्तर आधुनिकता के अभिलक्षणों को ध्यान में रखकर लिखा है कि ,"भक्तिकाव्य को लेकर एक खुला विमर्श आज के उत्तर-आधुनिक दौर की अपरिहार्य माँग है। भक्तिकाव्य में अर्थ की ऐसी अनेक सुनी-अनसुनी अनुगूँजें हैं जिन्हें सुनने-सुनाने का कार्य उत्तर आधुनिक समीक्षा पद्धतियाँ बखूबी कर सकती हैं। यह हिन्दी साहित्य के इतिहास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनात्मक आन्दोलन है जिसे भारतवर्ष का प्रथम नवजागरण भी माना जा सकता है। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से यह साहित्य इतना उत्कृष्ट और विपुल है कि उसकी श्रेष्ठता को लक्षित करने के लिए 'स्वर्ण युग' जैसे शब्दबन्ध का प्रयोग किया जाता है। इसमें नवजागरण की प्रतिध्वनि तथा दलितों-पीड़ितों, उपेक्षितों के प्रति अशेष संवेदनशीलता परिलक्षित होती है। भारतवर्ष के इतिहास में यह वह दौर है जब समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग के रचनाकार सृजन के क्षेत्र के क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रिय दिखलाई पड़े जो उत्तर-आधुनिकता का भी एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण है। भक्तिकाव्य शास्त्रीय रुढ़ियों, सामाजिक वर्जानाओं, धार्मिक संकीर्णताओं के विरुद्ध लोक चेतना के स्वाभाविक उन्मेष का प्रतिफलन है। काव्य अपने समस्त भाववैभव और शास्त्रसम्पन्नता के साथ इस काल में ही प्रकट हुआ। इसमें न केवल मध्ययुगीन समाज, संस्कृति, सामन्ती समाज की विसंगति और साहित्य की अधिकतम प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं अपितु युग-युगान्तर को प्रेरित-प्रभावित और रसमग्न करने की क्षमता है। इसकी विविधतापूर्ण सर्जनात्मक उपलब्धि, जीवन और जगत के लौकिक-अलौकिक आयामों का चित्रण तथा जीवन मूल्य और सन्देश सार्वभौम-शाश्वत महत्व के अधिकारी है। इसमें दर्शन काव्य सम्पत्ति बन गया है और दोनों का अन्तराल मिट गया है। भक्तिकाव्य में बहुत कुछ ऐसा है जो काव्य समीक्षा के बदलते प्रतिमानों के समक्ष चुनौती प्रस्तुत करता है तथा हर नई विश्लेषण पद्धति को समीक्षण के लिए सर्जनात्मक और बौद्धिक उत्तेजना प्रदान करता है। आज हम उत्तर-आधुनिक समीक्षात्मक प्रतिमानों के आधार पर उसका पुनर्पाठ तैयार करके उक्त चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। भक्तिकाव्य कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकता।"1

डॉ. उपाध्याय ने सम्पूर्ण भक्तिकाव्य के बदलते संदर्भ में मूल्यांकन करने के उपरान्त यह सिद्ध किया है कि

,"भक्तिकाव्य भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म,दर्शन ,जाति, समाज तथा राष्ट्र के चैतन्य तथा अस्मिताबोध को उद्भासित करने वाला साहित्य है। इसमें सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् तथा प्रेय एवं श्रेय का विलक्षण सामंजस्य हुआ है।"2

इसी क्रम में दूसरा अध्याय 'वैश्वीकरण के दौर में संत नामदेव के काव्य की प्रासंगिकता' का विवेचन किया गया है। लेखक का मानना है कि संत नामदेव अपनी काव्यवाणी द्वारा भारतवर्ष के विविधतापूर्ण जीवन और सामाजिक मूल्यों के निरूपण में व्याप्त कुरीतियों तथा आडंबरों का जो विरोध किया है वह आज और भी प्रासंगिक है।आपने कबीर पर संत नामदेव के प्रभाव का भी सोदाहरण उल्लेख किया है।

'भारतीय योग परम्परा और कबीर' शीर्षक अध्याय में यह बताया गया है कि ,"यदि आज अन्तराष्ट्रीय योग दिवस मनाया जा रहा है और वह विश्वस्तर पर प्रचलित प्रसारित हो रहा तो इसमें कबीर जैसे कवियों एवं योगियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज संपूर्ण विश्वसमुदाय इसके महत्व से परिचित होकर इसकी प्रासंगिकता को और भी बर प्रदान कर रहा है।"3 डॉ. उपाध्याय ने कबीर साहित्य में चित्रित गुरु के स्वरूप का वर्तमान संदर्भ में आकलन भी किया है। इनका मानना है कि," कबीर किसी भौतिक गुरु के बजाय सतगुरु की चर्चा करते हैं जो ब्रह्म तक ले जाने का रास्ता है ।"4 इसमें लेखक ने वर्तमान समय और समाज की सापेक्षता में कबीर के सद्गुरु संबंधी विचारों का विश्लेषण किया है।इसके उपरान्त 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कबीर संबंधी मूल्यांकन का पुर्नपाठ' तैयार किया गया है। इनका मानना है कि," आचार्य शुक्ल ने जिस तरह कबीर की प्रखर प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए उनके काव्य के मार्मिक स्थलो ं की पहचान की तथा उसमें निहित लोकधर्मिता को सराहा है वह इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने कबीर का जो पाठ तैयार किया था आज भी प्रामाणिक एवं प्रासंगिक है। ऐसी स्थिति में उनके योगदान को सही संदर्भ में देखने की जरूरत है।"5

इसी क्रम में' सूफी काव्य का समाजशास्त्र एवं वर्तमान समय' नामक अध्याय आता है जिसमें लेखक ने एकांतिक समझे जानेवाले सूफी काव्य में निहित सामाजिकता, लोक समपृक्ति और मानवीय मूल्यों के विमर्श द्वारा उसके सर्जनात्मक महत्व को रेखांकित किया है। इसी तरह जायसी का विरह वर्णन नामक अध्याय में लेखक यह सिद्ध करता है कि," यह उनके काव्य की चरम उपलब्धि है। प्रेम पत्र के इस अमर गायक का वियोग- वर्णन ही उन्हें महाकवियों की पांत में बिठाने के लिए पर्याप्त है।इस दृष्टि से इनका विरह वर्णन संपूर्ण विश्व साहित्य में श्रेष्ठतम स्थान का अधिकारी है। "6 लेखक जायसी के बाद 'पुष्टिमार्ग एवं सूरदास 'नामक अध्याय में पुष्टि मार्ग के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए सूरदास के काव्य में उपलब्ध उसके उत्कर्ष को उद्घाटित करता है।यह अध्याय पुष्टिमार्ग के स्वरूप विश्लेषण की दृष्टि से अतिशय महत्वपूर्ण है।

डॉ. उपाध्याय के प्रिय कवियों में महाकवि गोस्वामी तुलसीदास भी हैं जिन पर इस पुस्तक में सर्वाधिक नौ अध्याय हैं। सर्वप्रथम' रामायण और रामचरितमानस में प्रतिष्ठित मूल्यों की सार्वभौमिकता' को उद्घाटित किया गया है। इसके उपरांत लेखक ने अनेक उदाहरणों और प्रमाण के साथ रामचरितमानस को आदर्श सामाजिक व्यवस्था का महाकाव्य सिद्ध किया है। इसी तरह सामाजिक प्रतिबद्धता लोकवृत्त नामक अध्याय में लेखक ने तुलसी के जीवनबोध एवं भावबोध और सौंदर्यबोध की सापेक्षता में उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता को रेखांकित किया है। लेखक के अनुसार वह अतिशय व्यापक गहरी और सार्थक है।इसी क्रम में ' हिंदी के पहले नारीवादी कवि हैं तुलसी' शीर्षक अध्याय आता है।कदाचित् डॉ. उपाध्याय पहले आलोचक हैं जिन्होंने तुलसीदास को तर्क एवं प्रमाण के साथ हिंदी का पहला नारीवादी कवि सिद्ध किया है। लेखक का मानना है कि तुलसी के संदर्भ को समझे बगैर जिन लोगों ने उनको नारी विरोधी सिद्ध करने का कार्य किया है वे आलोचनात्मक विवेक के साथ ईमानदार नहीं है।यह हिंदी आलोचना की दिशा बदलना वाला अध्याय है। इसके उपरांत 'जिसमें सब रम जाएं वही राम हैं' शीर्षक अध्याय आता है जिसमें लेखक ने राम की नये संदर्भ में और वैज्ञानिक व्याख्या की है और यह सिद्ध किया है कि ऐसा कवित्वपूर्ण और सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तित्व समूचे विश्व

साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी है। इसी तरह' रामलीला की परम्परा और तुलसीदास' नामक अध्याय में रामलीला के विकास में तुलसीदास के योगदान का अत्यंत गहरा विश्लेषण करते हुए रामचरितमानस को रामलीला की परंपरा का मेरुदंड कहा है।

इस पुस्तक का सबसे चौंकाने वाला अध्याय 'तुलसीदास एवं ताजमहल 'है जिसमें लेखक ने तुलसीदास के वास्तुकला संबंधी ज्ञान को ताजमहल की वस्तुकला से बहुत आगे सिद्ध किया है। लेखक का मानना है कि" तुलसीदास का वास्तुविषयक और स्थापत्य कला संबंधी ज्ञान ताजमहल की कला से भी बढ़कर था। तुलसीदास ने जनक के मंडप निर्माण की प्रक्रिया का जो चित्र खींचा है वह ताजमहल की वास्तुकला से बहुत आगे है क्योंकि वे निपुण स्थपति द्वारा बहुमूल्य पत्थरों से स्वाभाविक रंगसौंदर्य प्रस्फुटित करते हुए केवल भोगों और पक्षियों का निर्माण ही नहीं करवाते अपितु उसमें उन यांत्रिक विशेषताओं को भी भर देते हैं जिसके कारण पवन- संचरण से प्रस्तर के भौरों का गुंजार पक्षियों से उनका नैसर्गिक मधुर कूजन अनुस्वनित हो। हवा चलने से पत्थरों के रंग-बिरंगे पक्षी एवं भरे गुंजार कर बैठे, यह तुलसी की कला- प्रतिभा का प्रकर्ष है।"7

इसके साथ ही अगले अध्याय में 'तुलसी की भाषा' का विविध संदर्भो में विश्लेषण किया गया है और उन्हें बहुभाषाविद् कहते हुए यह निष्कर्ष दिया गया है कि तुलसी की भाषा की सत्यता और जनसुलभता ने उनकी लोकप्रियता को अमरत्व प्रदान किया है। लेखक ने तुलसीदास पर लिखे गए सबसे बड़े अध्यायों 'आचार्य कवि गोस्वामी कवि तुलसीदास का काव्य चिंतन है जिसमें उनके काव्यशास्त्रीय चिंतन और अवदान का विस्तृत विश्लेषण किया गया है ।इसके अन्तर्गत तुलसी के काव्य की रचना प्रक्रिया उनकी विश्वदृष्टि, जीवन दृष्टि और समीक्षा दृष्टि को विश्लेषित करते हुए उनके काव्य में विद्यमान काव्य स्वरूप,, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य वस्तु तथा कलात्मक सृजन की मूल शक्ति का विश्लेषण किया गया है। लेखक ने तुलसी के समाजशास्त्रीय चिंतन और भाषिक चिंतन को स्पष्ट करते हुए उनके काव्यशास्त्रीय अवदान को भी सही संदर्भ में रेखांकित किया है। लेखक की दृष्टि में तुलसी का काव्य-चिंतन मौलिक सर्वांगपूर्ण और लोकोपयोगी है सच्चे अर्थों में आचार्य कवि हैं।इनके काव्य चिंतन के सम्यक निर्वचन द्वारा हम हिंदी के स्वायत्त काव्यशास्त्र की अवधारणा को मूर्त रूप दे सकते हैं।

इसी क्रम 'वैश्विक सन्दर्भ में गुरु जांभोजी के वाणी की प्रासंगिकता' तथा 'भारतीय पर्यावरणीय दृष्टि और संत जाम्भोजी का चिंतन 'शीर्षक आलेख आता है जिसमें लेखक ने भारतीय पर्यावरणीय दृष्टि का विकास दिखलाते हुए जाम्भोजी द्वारा प्रवर्तित उन्तीस नियमों के आलोक में वैश्विक पर्यावरण का विमर्श प्रस्तुत किया है। साथ ही वर्तमान परिदृश्य में संत वील्होजी के काव्य की प्रासंगिकता का निर्वचन भी किया है। लेखक ने भक्तिकालीन कवियों का काव्य चिंतन नामक अध्याय में भक्ति काल के सभी महत्वपूर्ण कवियों का काव्यशास्त्रीय चिंतन प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि इसके सही विवेचन द्वारा हिंदी का स्वतंत्र काव्य शास्त्र निर्मित हो सकता है। इसी तरह रीतिकालीन कवियों का काव्य चिंतन भी प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने रीतिकालीन काव्यचिंतन के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि-,"इसने न केवल हिंदी की काव्यशास्त्रीय परम्परा को गति प्रदान की अपितु उसमें एक शास्त्रीय विमर्श का वह जज्बा भी भर दिया जिसके कारण वह समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में नेतृत्वकारी भूमिका में आ गई।इस क्षेत्र में कोई भी भारतीय भाषा उसके समक्ष नहीं ठहरती क्योंकि गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से विशिष्ट दिशाओं में जिन लक्षण ग्रंथों का निर्माण हुआ वे अपना प्रतिमान आप ही हैं।" 8 इसके उपरांत 'मनीषी परंपरा के साहित्यिक आचार्य नित्यानन्द शास्त्री' शीर्षक आलेखक आता है जिसमें शास्त्री जी को सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ आलोचनात्मक प्रतिभा का धनी भी बतलाया गया है।

इस पुस्तक में 'मराठी रामकाव्य का स्वरूप विश्लेषण भी मिलता है। इसमें मराठी राम काव्य के विकासमान

स्वरूप का गहरा विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का अंतिम अध्याय 'अयोध्या कालयात्री है' शीर्षक से है जिसमें अयोध्या के संस्कृति और राजनीतिक इतिहास को बड़ी वस्तुनिष्ठता के साथ अभिव्यक्त किया गया है।यह अयोध्या के संपूर्ण व्यक्तित्व का निर्धारक अध्याय है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'मध्यकलीन कविता पुनर्पाठ सम्पूर्ण मध्यकाल पर एक नया विश्लेषण प्रस्तुत करने वाला आलोचना ग्रंथ जो न केवल मध्यकालीन काव्य की गतिशील संदर्भों में व्याख्या करता है अपितु उसके मूल्यांकन के लिए नये औजार भी उपलब्ध कराता है। लेखक के ही शब्दों में ''मध्यकालीन साहित्य अपनी सम्पूर्ण संरचना में विचार, दर्शन, भाव-भक्ति, आदर्श यथार्थ समय-समाज, व्यष्टि-समष्टि, शास्त्र-लोक, उच्चतर, नैतिक मूल्यों और चराचर जगत की चिन्ताओं का बहुरंगी समुच्चय है। इसमें जीवन और जगत की कोई ऐसी गति तथा कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिससे जूझते हुए हमारे कवि उन अनुगूँजों तथा आशयों तक न पहुँचे हों जो मनुष्यमात्र के उज्ज्वल भविष्य के प्रति विवेकपूर्ण संकेत करते है। इन कवियों ने जीवन और जगत की मार्मिक झांकी प्रस्तुत करने के साथ-,साथ काव्यचिंतन, काव्यस्वरूप, काव्यभाषा, काव्यशिल्प तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के नए क्षितिज उद्घाटित किए हैं। यह ग्रंथ संपूर्ण मध्यकालीन साहित्य में निहित बहु-आयामी साभिप्रायता को उजागर करने के उद्देश्य से उसमें गहरे छिपे अनेक स्तरों तक जा।"9 कहने का आशय यह है कि प्रस्तुत आलोचना ग्रंथ बदलते संदर्भों और नई चुनौतियों के आलोक में मध्यकालीन साहित्य की अंतरात्मा को उद्घाटित करता है।उसे नए संदर्भ और प्रतिमान के आधार पर विश्लेषित करता है।लेखक ने सर्वत्र विश्लेषण में स्वतंत्र विवेक,मौलिकता ;नवीनता और गहनता का परिचय दिया है। संक्षेप में, यह पुस्तक वैचारिक आग्रह से मुक्त होकर वर्तमान समय की प्रासंगिकता के अनुरूप सम्पूर्ण भक्तिकाल के पुनर्पाठ का गम्भीर एवं साहसिक प्रयास है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1- मध्यकालीन कविता का पुर्नपाठ- डॉ.करुणाशंकर उपाध्याय, पृष्ठ- 11
2- वही. पृष्ठ- 50
3- वही. पृष्ठ- 60
4- वही. पृष्ठ- 67
5- वही.पृष्ठ- 76
6- वही.पृष्ठ- 104
7-- वही. पृष्ठ- 159-160
8- वही.पृष्ठ- 240

समीक्ष्य पुस्तक - वज्रपात (कहानी)

समीक्षा आलेख - ग्राम और कस्बे के फलक

सुषमा मुनीन्द्र

युवा कथाकार ओम प्रकाश मिश्र के इस पहले कहानी संग्रह 'वज्रपात' में दस कहानियॉं हैं। वज्रपात, सी पोल, छुट्टी आदि ऐसी परिपक्व और व्यवस्थित कहानियॉं हैं कि लगता नहीं यह ओम प्रकाश का पहला कथा संग्रह है। ओम प्रकाश को ग्रामीण -कस्बायी पृष्ठभूमि की गहरी समझ है। अतः अधिकॉंश कहानियों में ग्राम और कस्बे की स्थिति-परिस्थिति-मनः स्थिति रची-बुनी गई है। लेकिन ये कहानियॉं ग्राम और कस्बे का रोजनामचा भर नहीं है, यहॉं इक्कीसवीं सदी के बदलाव प्रखरता से दर्ज हैं। इसीलिये कहानियॉं आकार में छोटी होते हुये भी बड़ा फलक बनाती हैं। प्रगतिशील दिमाक और संवेदनशील दिल से लिखी गई कहानियॉं कहन की सादगी के बावजूद स्मृति में रह जाती हैं। वज्रपात, सी पोल, किरपाले काकू की जेल यात्रा, माधव, कूरी, बंद किवाड़ कहानियॉं ग्रामीण पृष्ठभूमि पर हैं लेकिन कथ्य पृथक हैं। पात्र अभाव और त्रास से गुजरते हैं तथापि अपनी भीतरी शक्ति के जोर पर स्थिति का भरसक विरोध करते हैं। इनके विरोध से जुड़कर लोग साबित करते हैं संगठन में बल होता है।

छत्तीसगढ़ का नक्सलवाद कहानी 'वज्रपात' का कथ्य है। इस क्षेत्र में नक्सलियों को मामा कहा जाता है। स्वयं को आदिवासी चेतना के पहरुये कहने वाले मामा आदिवासियों के साथ बलात्कार, हिंसा जैसी क्रूरता करते हैं। कहानी की नायिका 'डोकरी' के परिवार पर बरपी क्रूरता को पढ़कर पाठकों के मानस में चीत्कार भर जाती है। लेकिन क्षीणकाय डोकरी साहस नहीं खोती। खाना खाने के लिये घर में बलात घुस आये नक्सलियों के भोजन में विष मिला कर, धारदार हथियार से उनकी अंचेत देह को छिन्न-भिन्न कर प्रतिशोध लेती है।

क्हानी 'सी पोल' का पंचायती चुनाव प्रजातंत्र की पोल खोलता है। गॉंव की राजनीति, शहर की राजनीति से दुरूह और पेंचीदा होती जा रही है। चुनाव में हिंसा, हत्या, आगजनी, बैलेट पेपर फाड़ना, पेटी लेकर भागना, पीठासीन अधिकारी से बैलेट पेपर छीन कर अपने प्रत्याशी के चुनाव चिन्ह पर ठप्पा लगाना जैसे कृत्य कहानी 'सी पोल' के पंचायती चुनाव में होने के कारण दो बार चुनाव रद्द होता है। सी पोल (तीसरी बार मतदान) शांति से सम्मपन्न हो सके इस हेतु जिलाधीश, पुलिस अधीक्षक वहॉं मौजूद रहते हैं। अधिकारियों की मौजूदगी में मतदाता ''वोट त ओट मा पड़ी (पृष्ठ संख्या 43)।'' जैसे साहस का परिचय दे सही प्रत्याशी को विजयी बनाते हैं। चूंकि यह चुनाव महिला आरक्षित सीट का चुनाव है, ओम प्रकाश ने महिला प्रत्याशियों की निर्बल स्थिति को भी पूरी वास्तविकता से प्रस्तुत किया है ''सरपंच पद के लिये जिस दिन से उसके (रुचिता का) नाम का पर्चा भरा गया, उसे रसोई से फुरसत नहीं मिली। (31)।'' सच है। प्रत्याशी महिला होती है लेकिन प्रचार, राजनीति, पद संचालन उसके पति और रिश्तेदार करते हैं। किसानों की स्थिति भी इन महिला प्रत्याशियों की तरह चिंतनीय है। उन्नत खेती, कर्ज माफी को कितना ही प्रचारित किया जाये सत्य यह है, अनाज उगाने वाले कृषक विपन्न, उनसे अनाज खरीद कर बेचने वाले व्यापारी धन्ना सेठ बन रहे हैं। कहानी 'किरपाले काकू की जेल यात्रा' का किसान काकू कर्ज नहीं चुका पाता। दल-बल के साथ आये सोसायटी के अधिकारी कर्ज के बदले उसका अनाज ले जाने पर उतारू हैं। अनुग्रह पर वसूली कर्मचारी मोहलत नहीं देते। काकू लाठी से उन्हें पीटने लगता है। प्रेरित होकर गॉंव वाले कर्मचारियों को पीट कर भगाते हैं। काकू को जेल होती है लेकिन वह अपने स्तर पर विरोध दर्ज कराता है। भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, बाजारवाद, आधुनिकता का जो शोर है उसकी आहट कहानी 'माधव' के मात्र पन्द्रह सौ की आबादी वाले छोटे गॉंव में नहीं पहुँची है। ''मैंने भी कुछ कहानियॉं लिखी हैं। पढ़ना चाहोगे ? मेरी कहानी 'रोटी' भूखे

पेट पढ़ना। मेरी कहानी 'कपड़ा' नंगे बदन पढ़ना। मेरी

कहानी 'मकान' फुटपाथ के किनारे लेट कर पढ़ना। (62)।'' ये पंक्तियॉं कई गॉंवों की तस्वीर हैं। गॉंवों में यह विपन्नता ही नहीं छुआछूत और अंधविश्वास भी मौजूद है। वहॉं आज भी 'चौरा' लगता है। कहानी 'कूरी' का निम्न जाति का समना बरुआ (पंडा) बनने के लिये कठिन तसीहा (परीक्षा) से गुजरता है। चौरा लगता है। कुल देवता उसकी देह में आते हैं। अशिक्षित ग्रामीण उस पर आस्था रखते हैं कि वह संकट दूर कर सकता है। शिक्षा से इस किस्म के भ्रम दूर हो सकते हैं पर 'स्कूल चलें हम ..... ' जैसा स्लोगन शायद ग्रामीण बच्चों के लिये नहीं है। कहानी 'बंद किवाड़' का मातृहीन ग्यारह साल का रमुआ पढ़ना चाहता है। उसका पिता उसे किसान परिवार में टहल करने के लिये लगा देता है। विद्रोहस्वरूप घर से भागा रमुआ दुर्योग से राम सुहावन ढाबे वाले के दमन चक्र में जा पड़ता है। इस कहानी में भी विरोध प्रमुख है। रमुआ के साथ दुष्कर्म की चेष्टा कर रहे राम सुहावन का रमुआ भरसक विरोध कर भागने लगता है। राम सुहावन उसके उदर में तेज धार वाला चाकू मार देता है। राहगीर की मदद से रमुआ अस्पताल पहुँचता है।

सफल हो, न हो पर रमुआ, डोकरी, काकू जैसे पात्र अपने स्तर पर जो विरोध करते हैं वह इन कहानियों की खूबी है।

'प्रेम नेम' और 'प्रिय आकाश अलविदा' प्रेम कहानियॉं हैं। प्रेम नेम में प्लेटोनिक लव है। प्रेमी का विवाह हो जाता है। प्रेमिका विवाह नहीं करती लेकिन प्रेमी के परिवार के प्रति ईर्ष्या, द्वेष न रखकर सद्भाव रखती है। साल में एक बार नियमित रूप से प्रेमी के घर आया करती है जहॉं उसका आदर होता है। यह आदर्श स्थिति है जबकि 'प्रिय आकाश अलविदा' में अस्वाभाविक स्थिति है। रेल यात्रा में प्रथम वर्ष का छात्र व बारहवीं की छात्रा आमने-सामने की बर्थ पर हैं। पहले ही परिचय में ट्रेन के गेट के पास जिस तरह प्रेमालाप करते हैं वह ग्राह्य नहीं होता। लेखक को ऐसी अतिरंजना से बचना चाहिये। यह अतिरंजना 'अप्रैल की रात' जैसी आभासी संसार की कहानी में ग्राह्य हो जाती है क्योंकि फंतासी में कल्पना को इन पंक्तियों की तरह मुक्त उड़ान दी जा सकती है ''प्रभात ने जिस समय समाधि स्तूप के निकट पैर रखा उसी समय उसके दोनों ओर फिर प्रकाश पुंज जगमगा उठे। उसके आगे-पीछे ऐसी कलाकृतियॉं भागती हुई दिखाई पड़ रही थीं जिनके हाथ में जलती मशालें थीं। ये आकृतियॉं विशेष प्रकार की डरावनी ध्वनि करती हुई भाग रही थीं। (67)।'' पूरी कहानी में फंतासी के भरपूर प्रयोग को देखकर कहा जा सकता है ओम प्रकाश सुंदर सस्पेन्स कहानियॉं लिख सकते हैं। 'फौजी' इस संग्रह की सुंदर कहानी है। छुट्टी न मिलने का रंज हवलदार रामानुज को इतना क्षुब्ध करता है कि फौज की नौकरी छोड़ देने का तात्कालिक ख्याल आता है लेकिन ड्यूटी करते हुये सीमा पार जब उसे घुसपैठिये का आभास होता है उसकी चेतना में सिर्फ और सिर्फ कर्तव्य है। वह घुसपैठिये को पकड़वा कर अपनी ड्यूटी को अर्थ देता है।

समग्रता में कहूँ तो ओम प्रकाश मिश्र को अपने अंचल के प्रसंग, परिदृश्य, बोली का अच्छा ज्ञान है जो कहानियों को स्वाभाविक बनाता है। पात्रों के भीतर की सरलता और व्यवहार की सादगी स्वाभाविकता को बढ़ाती है।

पुस्तक - वज्रपात (कहानी संग्रह)
लेखक - ओम प्रकाश मिश्र
प्रकाशक - संदर्भ प्रकाशन
जे-154, हर्ष वर्धन नगर
भोपाल (म0प्र0)
संस्करण - 2018

सुषमा मुनीन्द्र
द्वारा श्री एम. के. मिश्र
जीवन विहार अपार्टमेन्ट्स
द्वितीय तल, फ्लैट नं0 7
महेश्वरी स्वीट के पीछे
रीवा रोड, सतना (म0प्र0)-485001

पुस्तक समीक्षा

अलग-अलग भंगिमाओं को समेटता कहानी संग्रह 'गँड़ासा गुरु की शपथ'

डॉ.मधुलिका बेन पटेल
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग
तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तिरुवारूर
ben.madhulika@gmail.com

गँड़ासा गुरू की शपथ' हाल ही में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित कुन्दन यादव का कहानी संग्रह है। कुल बारह कहानियों वाला संग्रह है यह। 'मजबूती का नाम महात्मा गांधी' आकार की दृष्टि से सबसे लंबी कहानी है और 'फूलचंद का स्कूटर' सबसे छोटी। सभीं कहानियों में मुख्य कहानी के साथ-साथ काशी की अलग-अलग भंगिमाओं को उसी के अंदाज में उकेरा गया है। इस संग्रह की सभीं कहानियाँ अगल-अलग परिदृश्य को लेकर सामने आती हैं। सभीं में काशी का अलग-अलग रंग समाया है। कुछेक कहानी काशी के बाहर की होते हुए भी भाव और भाषा की दृष्टि से अलग नहीं जान पड़ती। ये कहानियाँ कहीं मजेदार हो जाती हैं 'गँड़ासा गुरु की शपथ' और 'अंवरागेटा और सिरी' कहानी के श्रीनाथ के कॉमिक्स वाचन की तरह और कहीं 'जूता' व 'राजा काशी हव' की तरह गला भर देती हैं। सभीं कहानियाँ अलग-अलग किस्म की कहानियाँ हैं। रचनाकार ने घर-बाहर, थाना-पुलिस, बाल मन, वृद्ध मन, सतही राजनीति, टेलर, स्कूटर, थोथी प्रगतिशीलता आदि को भी अपनी कहानियों में समेट लिया है। कहना न होगा कि उन्होंने सभीं भंगिमाओं को बहुत नजदीक से देखा है।

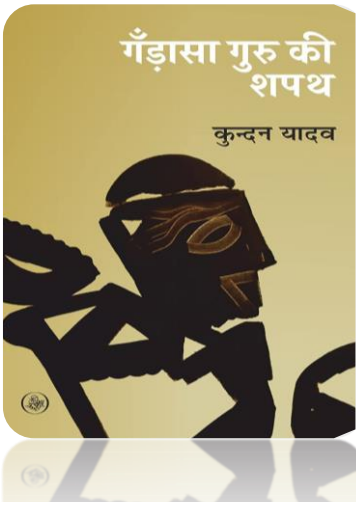

'कोतवाल रामलखन सिंह' इस संग्रह की पहली कहानी है। कोतवाल रामलखन की नौकरी की पुनः बहाली के बहाने कटु यथार्थ से सामना होता है। मीटिंग के दौरान रामलखन बताते हैं कि सट्टा-हवाला के खिलाफ एक्शन लेने पर बदली आम बात है। देखिए कहानी का अंश -

""रामलखन सिंह ने इतना ही कहा, "जनाब, मैं आपकी बातों को हल्के में नहीं ले रहा था, लेकिन आपका हुक्म तामील होना सम्भव नहीं है। पिछले साहब भी इसी चक्कर में छह महीने में ही पीएसी में चले गए। इधर और कुछ तो है नहीं। बस, हवाला और सट्टा का ही हिसाब-किताब है। मान लीजिए, हम लोग तो आप के आदेश से संतोष कर लेंगे लेकिन सत्ता पक्ष के बहुत बड़े लोगों की शह है इन चीजों में। अगर हुजूर ने ज्यादा कड़ाई की तो ई लॉबी बहुत पउआ वाली है। समझ लें कि आज की तारीख में उनका कोई कुछ उखाड़ नहीं सकता।"''[1]

कोतवाल रामलखन द्वारा अपराध रोकने के लिए अपनाये गये नायाब तरीके पढ़ते हुए प्रतीत होता है कि कहानीकार समाज में ऐसे नायाब तरीके स्थापित करना चाहते हैं और वे खुद रामलखन के चरित्र में कनवर्ट हो जाते हैं, लेकिन कहानी

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 10

में आगे बढ़ने पर वे रामलखन को पुनः अपने चरित्र के रूप में गढ़ देते हैं। आखिर, कहानीकार चरित्रों का निर्माता जो होता है। वह अपनी रचना में कभी खुद अपने ही चरित्रों में ढलता है और कभी अपने को अलगा भी लेता है। इस कहानी में रचनाकार कई चुटीले प्रसंगों के बीच गंभीर बात कह जाते हैं जैसे, "मानवाधिकार उनके लिए होता है जो मानव वाला काम करे।"[1] यह इस कहानी का प्राण वाक्य है। इस कहानी में एक अलग अंदाज में साफ किया गया है कि पुलिस विभाग अगर दूर तक ईमानदारी पर चलने का प्रयत्न करे तब भी सत्ता के दमखम के आगे उसकी एक नहीं चलती।

दूसरी कहानी 'आवभगत' भीष्म साहनी के 'चीफ की दावत' की मुख्य थीम से अलग है, लेकिन मेहमान के आगमन पर दावत की तैयारी की हलचलें कुछ-कुछ वैसी ही हैं। कहानी में पहले हिस्से के आवभगत में पति-पत्नी के झगड़े के आपसी संवाद कहानी को मजेदार बनाते हैं। हमारे समाज में हर किस्म के घरेलू झगड़ों में आस-पड़ोस के लोगों द्वारा मजा-मनोरंजन तलाश लिया जाता है। इस कहानी के पहले हिस्से पर विराम तब लगता है जब लड़-झगड़ के पत्नी मायके चली जाती है। अब शुरू होता है कहानी का अगला हिस्सा। जैसे-जैसे कहानी कच्ची पगडंडी की भांति आगे बढ़ती है, मन हरियर होता जाता है। कैलाश के हृदय की हरियरी सबका मन मोह लेती है। कहानी में छोटा सा तड़का भी लगा है दारू को भगवद् कृपा मानकर। और हो भी क्यों न, आखिर इसके ऊपर कई निर्णायक फैसले जो टिके होते हैं। बोतल व्यवस्था के बाद कुछ ऐसा राग उतपन्न होता है कि बोतल पसंदों को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की अनुभूति से सिंचित कर देता है। यहाँ क्यों न बच्चन साहब याद आएं "बैर कराते मंदिर मसजिद/ मेल कराती मधुशाला।"

अगली कहानी 'अंवरागेटा और सिरी' में चार मोड़ हैं। पहली, एक्सीडेंट वाली घटना, दूसरी जूता लेने वाली, तीसरी कॉमिक्स पढ़ने वाली और चौथी, श्रीनाथ के लाचार हो जाने वाली। कहानी का पहला दृश्य शीर्षक की ओर इशारा करता है तभी पाठक को लगता है कि शीर्षक खुल गया है, लेकिन यह खुलता है अंत में। इस कहानी की खासियत यह है कि हर दृश्य पढ़ने के बाद पाठक जब उसके साथ चलने लगता है तभी, एक मोड़ आ जाता है और पाठक का सामना दूसरे दृश्य से होता है, लेकिन उसे अटपटा या विसंगति सा कुछ महसूस नहीं होता। कहानी में बनारसियों, विशेषकर पुरुषों की पान के प्रति ललक साफ नजर आती है। पान खाते समय वाक्य की ध्वनि की टाँगें किस प्रकार लड़खड़ाती हैं इससे कहानीकार भली भाँति अवगत हैं। वे इसका जीवंत ध्वन्यात्मक दृश्य दिखाते हैं- ‘‘"श्रीनाथ के मन में एक पल में पान थूकने का विचार आया लेकिन मुँह में घुलते हुए पान से वे बेरुखी न कर सके। एक तरफ दबा कर तुरन्त पँहुचे और गाड़ी स्टार्ट की। साहब भी बैठ गए और पूछा, "छोटे बेटे का कोचिंग सेंटर देखे हो?" श्रीनाथ ने सिर हिलाते हुए आवाज निकाली, "हूँ।" साहब ने फिर कहा, "वहीं ले चलो और टिफिन बॉक्स रखवा लिया था?" श्रीनाथ कहना चाहते थे, "पता नहीं सोहनवा रखा होगा।", लेकिन उच्चारण निकला, "पड़ा वई वोअवनवा अक्खा वोआ।"’’[2] यहां फ़िल्म 'तीसरी कसम' में आशा भोंसले द्वारा गाये गये गीत 'पान खाये सैयां हमारो... साँवली सुरतिया होठ लाल लाल हायss हायss मलमल का कुरताss मलमल के कुरते पे छींट लाल लाल' जैसा मनोहारी मामला नहीं है, बल्कि वुडलैंड के जूतों से खार खाये साहब पान खाने के कारण श्रीनाथ का निलंबन का आदेश निकाल देते हैं। कहानी में लेखक ने एक और जरूरी बात की ओर इशारा किया है। बड़े शो रूम के ड्यूटी बॉय के यह कहने कि 'इस शो रूम का सामान आप जैसों के लिए नहीं है'। दरअसल, यह एक बीमार मानसिकता का लक्षण है कि गरीब या साधारण दिखने वालों के साथ बातचीत में तुच्छता जाहिर करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 14
[2] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 51

अगली कहानी है 'गँड़ासा गुरु की शपथ' जिसका शीर्षक कहानी संग्रह का शीर्षक भी है। कहानी अपने चुटीले अन्दाज में आगे बढ़ती है। गजाधर तिवारी को मिली 'गँड़ासा गुरु' की उपाधि से कहानी का प्रारम्भ होता है। कहानी का सिरा पकड़ कर जैसे ही आगे बढ़ते हैं वैसे ही दो दृश्य आकर्षित करते हैं। हममें से अधिकांश जन इससे अवगत हैं। वैसे तो दोनों बातें आम हैं, लेकिन कहानी में आ जाने से खास लगती हैं। पहला- गांवों में बेवकूफी भरे साहस भी चर्चा का विषय बन जाते हैं। "डॉक्टर को यह निहायत बेवकूफी भरी करतूत लगी लेकिन गजाधर बाबू की हिम्मत की चर्चा आसपास के गाँवों में फैल गयी और लोग उनको 'गँड़ासा गुरु' कहने लगे।"[1]

दूसरी बात, पुलिस का घटना स्थल पर अत्यधिक हो-हल्ला मचाते आना- "जुए के संचालन को लेकर गाँव के कई लोगों ने उनकी शिकायत की लेकिन पुलिस कभी नहीं आई। जब आई भी तो इतना हो-हल्ला मचाते हुए आई कि जुआरी समुदाय पहले ही सचेत हो गया और पुलिस दल 'गँड़ासा गुरु' के यहाँ जलपान आदि कर के लौट गया।"[2]

कहानी के अन्तिम हिस्से में क्लाइमेक्स है, लेकिन पूरी कहानी में कहीं भी शिथिलता नहीं है। कदम-कदम पर जुआरियों द्वारा अपनाये गए दाँव-पेंच ज्ञात होते हैं। इस कहानी में उस विडम्बना की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि जो कार्य कानून की नजर में गुनाह है, उसे अलग जामा पहना कर खुलेआम उसे वैध घोषित कर दिया जाता है। यहाँ तक कि उसे महज वैधता का प्रमाण-पत्र ही नहीं प्रदान किया जाता है, वरन कानून के पैरोकारों के हाथों ही उसे करवाया भी जाता है। "गँड़ासा गुरु ने घोषणा की, अब माननीय डीएम साहब और माननीय विधायक जी, महादेव जी और माता पार्वती के रूप में द्यूत क्रीड़ा में भाग लेंगे।"[3] इस कहानी का शीर्षक पढ़ते ही कौतूहल उपजता है 'कौन हैं गँड़ासा गुरु'?, क्या है उनकी शपथ और क्यों? लेकिन पाठक को इतना अनुमान अवश्य हो जाता है कि जरूर किसी मजेदार प्रसंग का लिफाफा खुलने वाला है गँड़ासा गुरु के बारे में और कहानी पढ़ने के बाद अनुमान के मुताबिक हास्य-व्यंग्य व यथार्थ के तमाम दाँव-पेंच पारदर्शी हो जाते हैं।

'जूता' कहानी बाल मनोविज्ञान की कहानी है। इसमें जूते के बहाने बालक सार्थक में होते बदलावों की कहानी कही गयी है। यह कहानी पाठक के मर्म को छूती है। ग्रामीण इलाके के प्राथमिक विद्यालय में गरीब विद्यार्थियों के साथ सार्थक अपने-आप को साफ-सुथरे, कपड़े-जूते, टिफिन, वाटर बॉटल से लैस पाकर असहज महसूस करता है। उसे लगता है कि उसके और उसके साथियों के बीच एक दीवार है जो उनसे घुलने-मिलने में बाधा बन रही है। यह कहानी पढ़ते-पढ़ते 1980 ई. में सई परांजपे के निर्देशन में बनी फिल्म 'स्पर्श' याद आ जाती है जहाँ नवजीवन अंध विद्यालय के दृष्टिहीन छात्रों के बीच एक सामान्य छात्र पपलू अपने आप को उपेक्षित समझ कर अंधा बनना चाहता है।

'जूता' कहानी अपने किस्म की बिल्कुल अलग कहानी है। इसकी खास खूबी यह है कि कहानी पढ़ते-पढ़ते पाठक स्वयं सार्थक में कब तब्दील हो जाता है, उसे पता ही नहीं चलता। वह सार्थक द्वारा अन्य छात्रों के साथ की जाने वाली मस्ती को महसूस करने लगता है। "अब वह पूरी मस्ती से अपने बाल-सखाओं के बीच विद्यालय के दौरान पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद कर पा रहा है। कभी कबड्डी खेल रहा है तो कभी खो-खो, कभी ओल्हा-पाती तो कभी आइस-पाइस, कभी नंगे पाँव फुटबाल तो कभी गुल्ली-डंडा। कभी वह किसी सहपाठी के खेत से गन्ने चूसता, कभी ताजा गुड़ खाता, कभी किसी के घर से आई दही या मट्ठा आदि का स्वाद लेता। कभी शाकाहारी होते हुए भी तालाब में मछली मारने वालों की

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 60
[2] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 61
[3] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 71

डंडी पकड़ कर बैठता तो कभी पुआल के ढेर पर उछलता-कूदता या फिर किसी पेड़ पर चढ़कर फल खाता।"[1] अब ऐसी मस्ती भला किस पाठक ने न की होगी। कहानी के आखिरी हिस्से में पहुँचते-पहुँचते पाठक भी भावुक हो जाता है ठीक बालक सार्थक की तरह।

संग्रह की अगली कहानी 'दादी के दीनानाथ' वृद्ध की मनोदशा को लेकर लिखी गयी कहानी है। शुरुआत में कहानीकार ने तफसील से पूरे खानदान का परिचय दिया है। पारिवारिक बंटवारे के समय एक बड़ी विडंबना को इन शब्दों में उकेरा गया है, "घर का बंटवारा हुआ, नकदी व गहने के साथ बर्तन भाड़े भी बांट दिये गए। अगर दादी कोई वस्तु होतीं तो उनका भी बंटवारा हो जाता लेकिन दादी में जान बसती थी और जान बांटी नहीं जा सकती।"[2] बंटवारे के बाद वृद्धों को बंटा हुआ दाना-पानी मिलता है। इस महीने इनके यहाँ, उस महीने उनके यहाँ।

कुछ लोग वृद्धों की सेवा इस लालच में करते हैं कि उनके पास पुराने गहने, पैसे वगैरह होंगे जो उनके मरने पर उसी के हो जाएंगे। इसलिए गांवों में आज भी वृद्ध अपने पास कुछ गहने, पैसे, पेंशन वगैरह छुपा के रखते हैं। इस कहानी में दादी भी खजाने का रहस्य बना कर रखना चाहती हैं। दरअसल, वृद्धों को यह ज्ञात होता है कि अगर उनके पास कुछ जमा-पूंजी न हुई तो बुढ़ापे का सहारा कोई न बनेगा। अधिकांश परिवार के सदस्य इस लालच में वृद्धों का सहारा बनते हैं अन्यथा बिलबिलाते वृद्धों की संख्या में कोई कमी नहीं है।

हालाँकि, गाँवों में वृद्धों को वृद्धाश्रम भेजने की रवायत अभी नहीं आई है तथापि एक बेटे से दूसरे बेटे के यहाँ भेजी जाने वाली रवायत खूब है। इसके साथ-साथ के कभी-कभी तो सबसे तंग आ कर वे खुद ही काँपती ठठरियों को हिला-डुला कर खाना पकाती हैं। इस कहानी में दादी के खजाने का रहस्य बनाये रखने के पीछे समाज के लालच की बहुत बड़ी सचाई को उजागर किया गया है। इसके अलावा दादी का यह कथन जो खाट पर पड़े-पड़े निकलते रहते हैं, "हे दीनानाथ! कितने दिन और रुकना है; उठा ल हमको हे नाथ! एक बार हम पर भी रहम करा।...कौन जनम का सजा भोग रहे हैं।"[3] यह लगभग सभीं अति वृद्धों का कथन है खासकर, महिलाओं का। कहानी में ज्ञात होता है कि दादी मन ही मन अधिक जीना चाहती थीं। यह यथार्थ है कि लोग जैसे-जैसे वृद्ध होते चले जाते हैं, उन्हें अधिक जीने की लालसा बढ़ती चली जाती है, कम से कम अपने नाती-पोते का मुँह देखने या शादी-ब्याह देखने की खातिर। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि वृद्ध जब अतिशय अशक्त हो जाते हैं फिर भी उनमें मरने या आत्महत्या जैसा विचार नहीं आता, नवयुवकों की तरह। कारण कि वे मानसिक रूप से सबल होते हैं। ऐसे में सवाल यह है कि वे (वृद्ध महिलाएं) ऐसा कहती क्यों है? इसके पीछे दो कारण नजर आते हैं। एक, वे अपनी थकती, दुखती, अशक्त देह के कारण इस प्रकार भगवान को याद करती हैं। दूसरा कारण यह है कि उन्हें ज्ञात होता है कि परिवार के अधिकांश जनों को वे नहीं सुहाती, खासतौर पर उनकी बहुओं को। यह बात गॉवों में आम है। यहाँ तक कि वृद्धों के सामने परिवार-समाज के अधिकांश जन मजाक में ही सही, लेकिन यह कहते मिल जाएंगे कि 'इनकर जिनगी पूरै होत ह' या 'केतना दिन अउर जियबऽऽ' या फिर 'बस पड़ल-पड़ल खात बाड़ऽऽ'। अब ऐसे में वृद्धों को अपने होने का अपराधबोध सा होने लगता है और वे अपने को ले जाने के लिए ईश्वर से अरदास करने लगते हैं, लेकिन सबको सुना कर।

कहानीकार ग्रामीण इलाके की एक महत्वपूर्ण बात नोट करना नहीं भूलते। दवा विक्रेता को लोग डॉक्टर साहब कहते हैं।

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 79
[2] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 85
[3] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 84

यहां तो लोग दवा से किसी भी प्रकार जुड़े व्यक्ति को डॉक्टर समझते हैं, दवा-विक्रेता तो फिर भी डॉक्टर की लिखावट पढ़ लेता है। इस संग्रह में बनारसिया समाज को इतनी बारीकी से देखा गया है कि कहानियों में कई ऐसे वाक्य मिल जाएंगे जो डिक्टो बनारसियों के मुँह से निकलती हैं। एक ऐसा ही अंश देखिए-"सीखो आनन्द से कि माता-पिता और बड़ों की सेवा का कितना पुण्य मिलता है! देखना, वह फर्स्ट क्लास पास होगा क्योंकि उसे इतना बड़ा आशीर्वाद जो मिल रहा है...तुम लोग भीख माँगोगे और उसको नौकरी भी मिल जाएगी।"[1] यह बड़ी विडंबना है कि फर्स्ट क्लास पास होने के लिए पुण्य और आशीर्वाद की आवश्यकता समझी जाती है।

कुन्दन यादव की कहानियों की भाषा में भाव, ध्वनि और दृश्य एक साथ उपस्थित हैं। इसकी एक बानगी 'भगेलू सिंह' कहानी के शुरुआत में ही दृष्टव्य है, "रामनगर किले पर तैनात पीएसी के क्वार्टर गार्ड के जवान ने शाम के चार बजने की सूचना पीतल के घण्टे को चार बार बजा कर दी। तभी चुंगी पर आते दिखे भगेलू सिंह। सफेद लुंगी और गंजी पहने। सहेबन धोबी की दुकान पर दो मिनट के लिए रुके, कुछ खादी के कुर्ते और धोतियाँ इस्तरी करने को दीं और लल्लन की पान की दुकान पर आ एक पान खिलाने को कहा, और फिर मौसम को कोसते हुए इन्द्रदेव को एक मीठी गाली दी और बगल के पत्थर पर बैठ गये।"[2]

'भगेलू सिंह' कहानी में झूठी शान के भूखे व्यक्तियों की कारगुजारी को तफसील से उकेरा गया है। नेता चाहे पद पर हों या न हों नेतागिरी नहीं छूटती। भगेलू सिंह ऐसे ही नेता हैं। अपने एरिया में अपनी धौंस बनाये रखने के लिए व्यक्ति क्या-क्या कर सकता है यह इस कहानी से ज्ञात होता है। ऊपर से वह व्यक्ति बनारसी हो तो फिर क्या कहना। वह है ही हरियरी के बीच लाल मिर्च। पका बनारसी जानता है सेर के सामने सवा सेर बनकर कैसे उसे पटखनी देनी है। बनारसी मुँह में पान ही नहीं घुलाता, न्यूयार्क स्यूयार्क को भी घुला कर पिच्च से थूक देता है। कम से कम शो तो ऐसा ही करता है। दूसरों को अपने आगे बच्चा साबित करने की कला में ये माहिर होते हैं। कहानी का एक दृश्य, ""भगेलू सिंह ने रघुनाथ से चाय के लिए बैठने को कहा और जयराम से बोले,"अबे खाली चाय पिलाओगे? अपना बच्चा इतने दिन बाद आया है, चल कुछ नाश्ता ले आ।"" जिला अध्यक्ष के लिए 'बच्चा' संबोधन पर पाठकगण अवश्य ध्यान देंगे। अपनी शान बरकरार रखने के लिए भगेलू सिंह द्वारा किये गए उधातम पढ़ कर मजा आता है। इस कहानी से अभिनेता अजय देवगन की फिल्म 'दृश्यम' याद आती है। इस फ़िल्म के निर्देशक निशिकांत कामत हैं। बहरहाल, दोनों की कहानी में बहुत अंतर है किन्तु दृश्य दिखाने की कलाबाजियां बिल्कुल एक सी लगती हैं। यह समाज दृश्य देखने का इतना आदी है कि जो न दिखे, वह उसे भी देख लेता है। कन्हैया हलवाई ने भगेलू सिंह को टीवी तक में देखने की बात समाज में ठीक वैसे ही प्रचारित की जैसे गाँव के बड़े-बूढ़े भूत को उठा कर पटक देने या फिर उसे सुर्ती-चूना देने की बात बताते हैं।

'मजबूती का नाम महात्मा गांधी' कथन एक सूक्त वाक्य की तरह है जो अगली कहानी का शीर्षक है। इस वाक्य को प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल के व्याख्यान और लेखन से लिया गया है। मेरी अध्ययन की सीमा के अनुसार इस वाक्य पर यह पहली कहानी है। इस कहानी में समाज के सड़े रूप से लड़ने के लिए गांधी जी का सहारा लिया गया है। इसमें समाज का भयावह रूप महेन्दर सिंह के स्वप्न में उभर कर आता है। यह अंश पाठक को उसे पुनः पढ़ने के लिए रोक लेता है। "मदिरा के नशे में चूर अट्टहास करता हुआ जातिवाद उनकी बेटी को बार-बार भाले से कोंच रहा है और वह छटपटा रही है। प्यास से पानी माँग रही है। शैलेश थोड़ी दूर पर पानी का गिलास लिए खड़ा है, लेकिन छुआछूत जो कि जातिवाद का भाई है,

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 88
[2] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 93

शैलेश के ऊपर ख़ंजर से आक्रमण करता है और पानी का गिलास फेंक देता है। फिर शैलेश का खून पीकर अट्टहास करते हुए उछलता है और जातिवाद मीना के बालों को पकड़कर घसीटते हुए उसे अन्धे कुएँ में लटकाने जा रहा है। महेन्दर अपने घर से लाठी-भाला लेकर बेटी की रक्षा करना चाहते हैं, लेकिन उनका पूरा गाँव एक साथ उनको दबोच कर उनको रोक लेता है। पत्नी छाती पीट रो रही है और वह खुद चिल्ला रहे हैं, रो रहे हैं लेकिन सब हँस रहे हैं।

परम्परा खून के छीटों वाली सफेद साड़ी में नाच रही है। उसके हिंसक तांडव के बाद परंपरा का पति रिवाज आ करके सभी गाँव वालों को शाबाशी देता है और इसके साथ चेतावनी भी देता है कि तुम लोग भी अगर हमारी कदर नहीं करोगे तो हमारे सैनिक और सिपहसालार तुम्हारे बच्चों का यही हाल करेंगे-हा-हा-हा-हा!"[1] कहानी में जो स्वप्न है, वह इस समाज का कठोर, वीभत्स यथार्थ है।

आज भी कुछ अलग करने वाले व्यक्तियों पर समाज का भय हावी है; क्योंकि समाज उनके प्रति हिंसक हो उठता है। भले ही किसी की हानि न हो फिर भी अलग करने वाले व्यक्तियों को घेर कर उनकी जघन्यतम हत्या तक कर दी जाती है। आश्चर्य है कि ऐसा समाज जितना प्रेम करने पर आक्रोशित होता है, उतना लूट, शोषण, अन्याय व हत्याओं आदि पर कभी नहीं। यह समाज अपने स्वार्थों के लिए उसी नियम-कायदों में किस तरह की ढील दिए हुए होता है इसकी एक बानगी देखिए- ""सरपंच ने चीख कर कहा, "पागल मत बण महेन्दर। संतों, फकीरों और डॉक्टरों की जात नहीं देखी जाती।""[2]

'उल्टे बाँस बरेली' कहानी शुरू से ही बांधती चलती है बिल्कुल ट्रेन की यात्रा की तरह। खुद हिन्दी मीडियम से पढ़ने वाले माता-पिता अपने बेटे या बेटी के हिन्दी न जानने पर गर्व महसूस करते हैं। इसे कहानी के शुरुआत में ही दिखाया गया है। भाषा न जानने पर गर्व! बड़ी विडंबना है। इसके बाद जैसे-जैसे ट्रेन आगे बढ़ती है वैसे कहानी और उसी तरह रामसरन की प्रगतिशीलता के लच्छेदार भाषण। उसमें तो पाठक बिल्कुल खो सा जाता है। उसकी तन्द्रा काफी दूर चले जाने पर सहसा झटके के साथ भंग तब होती है जब रामसरन के साथ खाने वाले सहयात्री के डोम होने का पता चलता है। जैसे रामसरन सहयात्री के डोम होने का अनुमान नहीं लगा पाता ठीक उसी तरह पाठक को भी इस बात की जरा भी भनक नहीं लगती। उसे भी रामसरन के साथ ही पता चलता है। कहानी का क्लाइमेक्स यहीं है। उसके बाद रामसरन की थोथी प्रगतिशीलता टिफिन की तरह ट्रेन में ही छूट जाती है और यथार्थ 'सहयात्री' संबोधन वाले व्यक्ति के साथ स्टेशन पर उतर जाता है।

अगली कहानी 'देशभक्ति में फिजियोथेरेपी' 1980 के दशक में ले जाती है। दूरदर्शन युग, जिसमें कोई जल्दीबाजी न थी। टेलीविजन के लिए गजब का सात्विक क्रेज था। सात्विक इसलिए कि स्वस्थ प्रसारण को लोग स्वस्थ मन से ग्रहण करते थे। तब मोबाइल सृजित तनाव न था। बाकी कहानी में वर्णित पुलिसिया व्यवहार तो जग-जाहिर है ही। बात साफ है 'करैत और 'पुलिस से नजदीकी ठीक नहीं होती' ऐसा इस कहानी को पढ़ कर ज्ञान उत्पन्न होता। है। इसमें कई अलग तरह के प्रसंग हैं जैसे कौआ भगाने के लिए पिस्तौल की फायरिंग और मारपीट के खिलाफ फरियाद लेकर आये हुए आदमियों की ही डंडे से पिटाई और केस का निपटारा।

अगली कहानी 'फूलचंद का स्कूटर' पढ़कर हँसी आती है, लेकिन फूलचंद का दुख भी देखा नहीं जाता। दरअसल, जब अपनी वस्तु पर आस-पड़ोस के लोग अधिकार जमाने लगें तो ऐसा ही मानसिक दुख होता है और अधिकार जमाने वाले

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 113
[2] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 127

व्यक्ति थेथर हों तो यह दुख कई गुना बढ़ जाता है। कहानी के शुरुआत में ही कहानीकार ने बता दिया है कि 'लोग हजार लड़ाई-झगड़े के बावजूद परंपरा और मरजाद को लेकर व्यवहारिक थे। लोगों के आपसी सम्बन्ध ऐसे थे कि एक-दूसरे पर अपना हक समझते थे।''[1] यहाँ तो मोहल्ले की बात है, लेकिन गाँवों में यह भावना अभी भी बरकरार है। अपने खेत में मूली या चने की साग न हो तो बगल के खेत से साधुभाव से उखाड़ ली जाती है। मटर, चने, तरकारी या फल किसी की जमीन में हों पूरा गाँव उसे अपना समझता है। इसी तरह फूलचंद का स्कूटर भी आस-पड़ोस के लोगों द्वारा उनका समझा जाता रहा। बात यहीं तक नहीं रुकती। एक तो मना करने पर लोग मानते नहीं, ऊपर से लोगों की भीड़ में उस बात को इतनी कला से कहेंगे कि मना करने वाला व्यक्ति ही शर्मसार हो जाये। थेथरई का उत्कृष्ट नमूना देखना हो तो कहानी का यह अंश देखें - ""अमरनाथ इस बीच स्कूटर खड़ा कर के मुस्कुराते हुए पान घुलाता रहा। तब तक कई लोग गली में जमा भी हो गए। जब फूलचंद कुछ शान्त पड़े तो उसने नाली में पीक थूकते हुए कहा, "बस होय गयल तोहार भाषण? ई नौटंकी बन्द करबा कि अउर गरजे के हव?" फिर उसने जमा लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा, "देखा एनके सब लोग! सरवा मँगनी के स्कूटर पे एतना गुमान! पर्चा लगावलन कि जे एनकर स्कूटर छुई, उ हरामी हव। अब बतावा, चच्चा के गाली देवे से भतीजवन के बुरा लगी भला? और ओइसे दिन भर हमने के उल्टा सीधा कहत रहलन, ओकर कउनों हिसाब ना हव। और रहल बात स्कूटर छुए क, त भला गइला इंजीनियरवा के यहां से के ले के आयल एके? तोहैं ड्राईविंग हम सिखइली और हमारे ऊपर गुर्रात हउआ? फाइनल बात सुन ला- हमें तोहरे गरियइले से कौनों दिक्कत ना हव। चच्चा हउआ, तोहार हक हव गरिआवे क। और हाँ, स्कूटर बदे तू मना नाहीं कर सकतआ। तोहार ड्राइविंग गुरू होए के नाते हम जब चाहब तब ले जाब। इहै हमार गुरू-दक्षिणा हव।" फिर उसने लक्ष्मण को देखते हुए कहा, "कहो चच्चा, गलत कहत हई?"[2]

'राजा काशी हव' इस संग्रह की अंतिम कहानी है। इसे पढ़कर टेलर के पास जाने और तय समय पर सिले कपड़े न मिल पाने वाले व्यक्तियों का दुख उभर आता है। यह आम बात है कि एक बार टेलर को कपड़ा दे दो फिर दौड़ारी पर दौड़ारी। कपड़ा टेलर भरोसे। पहले कपड़ा देने वाला बताता है कि कपड़ा कब चाहिए। उसके बाद टेलर बताता है कि कपड़ा मिलेगा कब, लेकिन इस कहानी में मोड़ है। जिस टेलर के प्रति शुरू में पाठक खीझता है, उसके प्रति अन्त में कहानीकार भरे दिल से कृतज्ञता दिलवा देते हैं। आखिर कहानीकार की लेखनी शुरू में ही सब कुछ थोड़े ही बताएगी। पाठक कहानी की पंक्ति को पगडंडी की भाँति पकड़कर यात्रा करता है तब जाकर उसे ज्ञात होता है कि असल मोड़ कहाँ है। 'राजा काशी हव' शीर्षक की परतें अंत में खुलती हैं।

अब बात इस संग्रह की भाषा पर। सभी कहानियों में बनारसी भोजपुरी का ताना-बाना है। इस इलाके के लोगों को भाषा के कारण ये सभीं कहानियाँ अधिक आकर्षित करतीं हैं। काशी की भाषा, संस्कृति, जीवन-शैली, ठाठ, सुथरई, थेथरई की अदा इन कहानियों में सर्वत्र बिखरी है या यों कहें कि कहानी की बुनियाद भी यही है। इनमें कोई हड़बड़-धड़बड़ नहीं मची है। सब कुछ बनारस के बनारसीपन के चाल में चलता है। इन कहानियों को पालिश मार कर चमकाया नहीं गया है। ये अपने ठेठ, भद्दर, खद्दर अन्दाज में हैं। इनकी भाषा में लोक प्रचलित कहावतें हैं। एक कहानी में कम से कम एक कहावत। उदाहरण के लिए - 'कोतवाल के पेशाब से चिराग जला करते हैं' (कोतवाल रामलखन सिंह), 'चना-चबेना-चबेना गंगाजल जो पूरवे करतार, काशी कबहूँ न छाँड़िये विश्वनाथ दरबार'(आवभगत), 'माई करे कुटौनी-पिसौनी, बेटवा के नाम हव दुरगादास' (अंवरगेटा और सिरी), 'पुलिस वालन पे भरोसा और कीरा के बिल में हाथ नायल एक बराबर हव' (गँड़ासा गुरु की शपथ), झोली में घास नाहीं, सराई में डेरा'(उल्टे बाँस बरेली), डल्लू में डेढ़सेरा' (उल्टे बाँस बरेली), 'बात कहीं हम

[1] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 159
[2] गँड़ासा गुरु की शपथ : कुन्दन यादव; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज , प्रथम संस्करण ,पृष्ठ 165

छर्रा, गोली लगे चाहे छर्रा' (उल्टे बाँस बरेली), 'सब धान बाईस पसेरी' (देशभक्ति में फिजियोथेरेपी) आदि।

काशी की जमीनी भाषा पर मजबूत पकड़ है कहानीकार की या यों कहें कि उनकी लेखनी बखूबी जानती है कि खिसियाई औरत के मुखवृन्द से 'मुँह फुकौना', 'दढिजरौनू' गाली ही निकलती है। पुरुषों की जुबान पर 'ससुरा' बगैर काम नहीं चलता। विख्यात है कि काशी में बिना गाली पड़े तो शहर के कोतवाल भी नहीं रह पाते। गाली यहां की भाषा में वैसे घुली है जैसे खाने में नमक। मानना यह है कि इससे जीवन में मिठास बढ़ जाती है। अपनी कहानियों में रचनाकार कुन्दन यादव ने आद्योपांत इसका ख्याल रखा है। उनकी कहानियों के ये हिस्से आते ही 'काशी का अस्सी' बरबस याद आ ही जाता है। काशीनाथ जी ने तो बता ही दिया है कि काशी में किसे-किसे गाली पड़ सकती है। फिर कुन्दन यादव काशी की कहानी लिखते तो इस परम्परा को भला छोड़ कैसे सकते थे। यदि छोड़ देते तो भाषा बेजान होती और ये कहानियां इहाँ की न होकर उहाँ की मालूम पड़ती। चौथी कहानी के शीर्षक को इस संग्रह का शीर्षक भी बनाया गया है। अपने आकर्षक, चुटीले और नयेपन को समेटे 'गँड़ासा गुरु की शपथ' संग्रह पाठक को खूब आकर्षित करता है। कुल मिला कर काशी और उसके आसपास के इलाकों के जीते-जागते जीवन-यथार्थ को बड़ी बारीकी से इस संग्रह में उकेरा गया है।

Photo by Ashkan Forouzani